भगवान श्री महावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में प्रकाशित

भा व ना यो ग

एक विश्लेषण

प्रवक्ता
आचार्य श्री आनन्द ऋषि

सम्पादक
श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्रकाशक
श्री रत्न जैन पुस्तकालय, पाथर्डी

आचार्य प्रवर श्री आनन्द ऋषि अमृत-महोत्सव के प्रसंग पर

❁ भावनायोग

❁ प्रकाशक :
श्री रत्न जैन पुस्तकालय,
पाथर्डी, अहमदनगर (महाराष्ट्र)

❁ संप्रेरक
श्री कुन्दन ऋषि

❁ प्रथम बार :
वि० स० २०३१
ई० सन् १९७५ फरवरी
श्री महावीर निर्वाण शताब्दी वर्ष

❁ मुद्रक
श्री दुर्गा प्रिन्टिंग वर्क्स
दरेसी नं० २, आगरा ।

❁ मूल्य : १२) बारह रुपया

प्रकाशकीय

दो वर्ष पूर्व आचार्य प्रवर श्री आनन्द ऋषि जी म० के ७५ वे जन्म-दिवस को अमृत महोत्सव के रूप में मनाकर उनका सार्वजनिक अभिनन्दन करने का निर्णय किया गया था। इस प्रसंग पर एक सुन्दर महत्वपूर्ण अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन का भी निश्चय किया। जिसका संपादन भार सुयोग्य विद्वान श्रीयुत श्रीचन्दजी सुराना 'सरस' को सौपा गया।

अमृत महोत्सव प्रसंग पर आचार्य प्रवर के प्रवचन साहित्य का व्यवस्थित रूप में प्रकाशन कार्य चल ही रहा था। आनन्द प्रवचन के चार भाग छप चुके थे। आगे भी संपादित हो रहे थे। आचार्य प्रवर के विद्वान शिष्यरत्न श्री कुन्दन ऋषिजी की भावना थी कि 'भावना योग' से सम्बन्धित आचार्य प्रवर के कुछ विशिष्ट निबन्धो व संग्रह को भी इस अवसर पर नया रूप देकर प्रकाशित किया जाय तो इसमें पाठकों को बहुत ही लाभ होगा। श्रीचन्दजी सुराना से इस विषय में विचार-विनिमय किया गया और यह कार्य भी उनके हाथों में सौप दिया। श्री सुराना जी, जैन धर्म व आगम साहित्य के गम्भीर अध्येता व विचारक होने के साथ ही एक कुशल लेखक-सम्पादक भी हैं। आपकी भाषा-शैली प्रवाहपूर्ण व सम्पादन पद्धति आधुनिक अनुशीलनात्मक होने के साथ-साथ सरस भी है। आपने अनेक पुस्तकों का कुशल सम्पादन किया है। जिनमें "जैन धर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण", "तीर्थंकर महावीर", "कर्मग्रन्थ", आदि उल्लेखनीय हैं।

प्रस्तुत 'भावना योग' का सम्पादन श्री सुराना जी ने बड़ी निष्ठा और श्रम के साथ किया है। इसमें 'भावना' शब्द की परिभाषा से लेकर भावना के स्वरूप, परिवार व भेद-प्रभेद का बड़ा ही प्रमाण पुरस्सर तथा विस्तृत वर्णन किया है। जैन श्वेताम्बर एवं दिगम्बर ग्रन्थों के सूक्ष्मतम अनुशीलन के आधार पर भावना के सर्वाङ्ग स्वरूप को स्पर्श ही नहीं किया, बल्कि उद्घाटित करके भी रख दिया है।

सम्पादित सामग्री का आचार्य प्रवर ने पुनः अवलोकन किया एवं आवश्यक संशोधन आदि करके प्रकाशन में निर्दोष स्वरूप प्रदान किया है। आगे का कुछ अंश शीघ्रता के कारण आचार्य प्रवर देख नही पाये, पर हमें विश्वास है कि वह हर प्रकार से परिपूर्ण है।

ऐसे महत्वपूर्ण अनुशीलनात्मक ग्रन्थ के प्रकाशन पर हमें विशेष गौरव है और हम आशा करते हैं कि हमारे पाठकों को यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी व संग्रहणीय होगी।

भवदीय
मन्त्री श्री रत्न जैन पुस्तकालय

सम्पादकीय

एक प्रसिद्ध सूक्ति है—"भावना भवनाशिनी"—भावना के सम्बन्ध में जितना कुछ कहा जा सकता है, वह सार रूप में इस सूक्ति में समाया हुआ है। भावना की महिमा इससे अधिक और क्या हो सकती है, कि वह भव-परम्परा (जन्म-मरण) का नाश कर अजर-अमर रूप में अवस्थित होने का एक अनन्यतम साधन है। आठ वर्ण के इस वाक्य का विस्तार आठ पेज में या आठ सौ पेज में भी किया जा सकता है।

भावना शुद्ध भी हो सकती है, अशुद्ध भी। भावना से जीवन का ऊर्ध्वमुखी विकास भी होता है, और भावना मनुष्य के पतन में मुख्य कारण भी बनती है। इसलिए भावना का प्रयोग सोच-समझकर अमृत के रूप में किया जाय, एक योग के रूप में किया जाय ताकि उसके अशुद्ध प्रभाव से मुक्त रहकर हम जीवन को शुभ एवं शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित कर सके। भावना की शुभ धारा को आगमों में योग की संज्ञा दी है—

भावणा जोग सुद्धप्पा जले णावा व आहिया।

भावना योग से शुद्ध आत्मा जल में नौका की तरह होती है, जो संसार समुद्र को तैर कर परम मोक्ष पद तक पहुँच जाती है।

योग का अर्थ होता है—मिलन। भावना आत्मा को परमात्मा के साथ मिलाने वाला सर्वोत्तम योग है। भावना योग—आत्मा का आत्मा से मिलन है, आत्मा का आत्मा में रमण है।

जैन आगमों में भावना के सम्बन्ध में बड़ा ही गम्भीर चिन्तन मिलता है। भावना के विविध प्रकार, उसके अलग-अलग स्वरूप एवं उपलब्धियों पर इतना विस्तृत विचार जैन आगमों में मिलता है कि उसके सम्पूर्ण अनुशीलन में कई वर्ष लगा दिये जायँ तब भी कम है।

आगमोत्तरवर्ती आचार्य तो भावना योग के सम्बन्ध में और भी गहरे उतरे हैं। उसके शुभ-अशुभ लक्षी विविध पहलुओं पर विविध दृष्टियों से

सोचते रहे हैं और साधक जीवन पर पड़ने वाले उसके प्रभावों का विश्लेषण करते गये है।

भावना का मुख्य लक्ष्य वैराग्य है, ज्ञान इसका साधन है। बिना ज्ञान के वैराग्य होता है तो उसमे स्थायित्व नहीं आता। भावनायोग में ज्ञान और वैराग्य दोनों ही पक्षों पर विचार किया गया है। पहले वस्तु के स्वरूप पर चिन्तन किया जाता है, उसके यथार्थ रूप का ज्ञान प्राप्त किया जाता है, तदनन्तर आत्मा-अनात्मा आदि सम्बन्धों पर विचार करने से मन में एक जागृति, एक निर्वेद की लहर उठती है, जो आत्मा को वैराग्योन्मुखी बना देती है।

यह निर्वेद, जो ज्ञानपूर्वक होता है, हमारी एक अन्तर्मुखी चेतना है। यह जाग्रत चेतना ही आगे चलकर ध्यान एवं समाधि का रूप धारण करती है। अतः भावना की अगली सीढ़ी ध्यान व समाधि कही जाती है।

इस ग्रन्थ में भावनाओं का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है उसमें उक्त दोनों ही दृष्टियाँ रही है। पहले वस्तु का स्वरूप-बोध, फिर स्वरूपोपलब्धि। स्वरूपोपलब्धि ही वैराग्य है। इसलिए कह सकते है--भावना स्वरूपबोध से स्वरूपोपलब्धि तक की यात्रा है। इस यात्रा का, यात्रापथ और मंजिल तक का विवेचन 'भावना योग' मे किया गया है।

ग्रन्थ मे शुभ भावना का वर्णन करने से पूर्व अशुभ भावनाओं का वर्णन भी किया है। पहले एक विचार आया---अशुभ का वर्णन पहले क्यों? पहले शुभ का वर्णन करना चाहिए। फिर चिन्तन ने समाधान दिया---

अधम्मं परियाणामि
धम्मं उवसंपज्जामि
मिच्छत्तं परियाणामि
सम्मत्तं उवसंपज्जामि

पहले अधर्म को जानता हूँ, फिर धर्म को स्वीकार करता हूँ। पहले मिथ्यात्व को समझता हूँ, फिर उसे छोड़कर सम्यकत्व को ग्रहण करता हूँ। धर्म की स्वीकृति अधर्म के ज्ञान से सम्बद्ध है, अधर्म को जाने बिना धर्म को भी कैसे जानेंगे? मिथ्यात्व को पहचाने बिना सम्यकत्व को कैसे जानेंगे?

इसी प्रकार अशुभ को समझे बिना उसका त्याग कैसे होगा? उससे बचा कैसे जाये? और जब तक अशुभ से दूर नहीं हटेंगे, शुभ का दर्शन कैसे होगा?

अशुभ भावना जीवन के लिए जहर है साधना का पलिमंथु है। अतः पहले उसे जानकर ही अमृत के मार्ग में प्रवेश करना चाहिए। इस दृष्टि से एक खण्ड में अशुभ भावना के सम्पूर्ण स्वरूप का विवेचन कर चुकने के बाद शुभ भावनाओं का विवेचन किया है। पाठकों को यह क्रम उचित प्रतीत होगा, ऐसा विश्वास है।

भावना योग की मूल सामग्री है—आचार्य प्रवर श्री आनन्द ऋषि जी के कुछ प्रवचन, कुछ संकलन! आचार्य प्रवर जैन दर्शन, एवं आगमों के गम्भीर अध्येता तो हैं ही एक तपे हुए साधक भी हैं। चिन्तन-मनन और प्रवचन में ही उनके जीवन का बहुमूल्य समय बीतता है। वे स्वयं ध्यान योग में विशेष रुचि के साथ संलग्न हैं, भावनाओं के विविध पक्षों का अवलंबन लेकर वे चिन्तन-मनन करते रहते हैं। आचार्य प्रवर के विद्वान अन्तेवासी श्री कुन्दन ऋषिजी की प्रेरणा हुई, तो मैंने आचार्य प्रवर के भावना सम्बन्धी प्रवचन एवं संकलन को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया। प्रारम्भ में इस सामग्री को लगभग २०० पृष्ठों में ही देने की कल्पना थी। पर ज्यों-ज्यों गहरा उतरा, त्यों-त्यों रत्न ही रत्न पाता गया, उनके संग्रहण का लोभ छोड़ नहीं सका। एक सूत्र से दूसरा सूत्र, दूसरे से तीसरा सूत्र जुड़ता गया। भावना योग की सामग्री विस्तार पाती गयी। बीच-बीच में बहुत कुछ छोड़ने का भी प्रयत्न किया पर फिर भी सामग्री काफी हो गई।

मेरा अनुमान है, जैन साहित्य में लगभग सौ से अधिक ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनमें भावनाओं के सम्बन्ध में काफी विचार सामग्री मिलती है। आगमों में पाँच चारित्र भावना की सामग्री तो प्रायः व्यवस्थित है, अशुभ भावनाओं का एक दो स्थानों पर थोड़ा-सा क्रमिक उल्लेख है, उसके अलावा प्रायः सामग्री बिखरी हुई है। विचार सामग्री बहुत है, पर वन-उपवन में विकीर्ण पुष्पों की भाँति है, इधर-उधर बिखरी हुई। उत्तरवर्ती साहित्य में यह सामग्री व्यवस्थित हुई है। बृहत्कल्प भाष्य में, तत्वार्थ सूत्र में, योग शास्त्र, बारस अणुवेक्खा, कार्तिके-यानुप्रेक्षा, भगवती आराधना, शांत सुधारस, भावना शतक आदि ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं जिनमें व्यवस्थित शैली से भावनाओं पर विचार किया गया है। हाँ, ऐसा कोई एक ग्रन्थ शायद नही मिलेगा, जिसमें शुभ और अशुभ भावना के दोनों स्वरूपों पर एक ही ग्रन्थ में विचार किया गया है। अलग-अलग ग्रन्थों में अलग-अलग शैली से विचार प्रवाह बहा है।

यह पुस्तक पाँच खंडों में विभक्त है—**प्रथम खंड** में भावना का लक्षण, स्वरूप, परिभाषा और प्रकार आदि पर विचार किया गया है। विभिन्न सन्दर्भों में

भावना की जो विभिन्न परिभाषाएँ आचार्यों ने की हैं, उन पर एक ऐतिहासिक चिन्तन भी करने का प्रयत्न किया है।

द्वितीय खंड में अशुभ भावना के लक्षणों तथा भेद-प्रभेदों का विस्तार के साथ वर्णन किया है। बृहत्कल्प भाष्य की भाँति भगवती आराधना मूल व वृत्ति में पाँच कुत्सित (सक्लिष्ट) भावनाओं का विस्तृत वर्णन मिलता है। सार रूप में दोनों परम्पराओं की धारणाएँ यहाँ प्रस्तुत की गई हैं।

तृतीय खंड पाँच महाव्रत की २५ चारित्र भावनाओं का खंड है। प्रश्न व्याकरण सूत्र में २५ भावनाओं का बड़ा ही मार्मिक व जीवनस्पर्शी विवेचन मिलता है। उसी को आधार मानकर उनका वर्णन करने का प्रयास किया है।

चतुर्थ खंड वैराग्य की १२ भावनाओं से निर्वेद रसाप्लावित हो गया है। आगमवाणी को आधार मानकर इन भावनाओं पर तात्त्विक एवं व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से विचार हुआ है। आश्रव, संवर, निर्जरा, लोक व धर्म भावनाओं में उनके स्वरूप के साथ उन तत्त्वों का तात्त्विक विवेचन भी थोड़ा कर दिया गया है। अधिक विस्तार में तथ्य में नीरसता आने का भय रहा, अतः आगे चलकर सहज ही सकोच करना पड़ा।

पाँचवा खंड भावनाओं का एक गुलदस्ता ही बन गया है। मैत्री-प्रमोद आदि चार योग सहायक भावनाएँ तथा तप-सत्त्व-श्रुत आदि पाँच जिन कल्प-भावना जिन्हे 'तुला' भी कहा जाता है, इनका वर्णन इस खंड में है। पहले विस्तार काफी हो चुका था, अतः इस खंड में लेखनी को काफी संयत होकर चलना पड़ा है। फिर भी उपयोगी वर्णन प्रायः आ गया है।

परिशिष्ट में आगमो की तथा कुछ अन्य काव्यो की स्वाध्याय योग्य गाथाएँ है जो विभिन्न भावनाओ के चिन्तन मे विशेष उपयोगी होंगी।

मेरी कल्पना थी, परिशिष्ट के दूसरे उपखंड मे भावना विषयक श्वेताम्बर-दिगम्बर ग्रन्थों के तुलनात्मक स्थलों की सूची तथा कुछ महत्वपूर्ण पाठ भी दे दिये जायें, ताकि शोधविद्यार्थी अधिक लाभ उठा सकें किन्तु शीघ्रता के कारण ऐसा संभव नहीं हुआ। अगले संस्करण मे ऐसा प्रयत्न करूँगा।

आचार्य श्री आनन्द ऋषिजी के प्रवचनों का आधार लेकर उन्हीं के मार्ग दर्शन से मैंने यह प्रयत्न किया है कि प्रस्तुत ग्रन्थ एक अभाव की पूर्ति करने वाला बने। जैन साहित्यगत भावना सम्बन्धी सम्पूर्ण चिन्तन एवं विवेचन

पाठक को कहीं व्यास व कहीं समास शैली में एक ही स्थान पर प्राप्त हो जाय और साथ मे यह भी सूचना मिल सके कि किन आचार्यो ने किस रूप में अपना विचार प्रस्तुत किया है।

यह ग्रन्थ न शोध ग्रन्थ की पूरी विधि से लिखा गया है, और न प्रवचन शैली से। मेरा अनुभव है शोध ग्रन्थ जन-भोग्य कम होते है और प्रवचन साहित्य को शोध विद्यार्थी छूना भी अपनी विद्वत्ता का अपमान समझते हैं। इसलिए इन दोनों अतियों से बचकर मध्यम मार्ग से चलना श्रेयस्कर लगा। सामान्य पाठक इसमे चिन्तन-मनन की रोचक सामग्री प्राप्त करे और अनुसधाता भी प्राचीन साहित्य मे भावना योग के विकास-विस्तार की झलक तटस्थ दृष्टि से पा सके। इस दृष्टि से मैंने प्रयत्न किया है, इसमें सफलता या असफलता का मानदण्ड पाठकों के हाथ मे है।

हाँ, एक बात और है, पुस्तक सपादन मे काफी समय लगा, कल्पना थी २०० पृष्ठ की, बने हैं ५०० पृष्ठ। अमृत महोत्सव के प्रसंग पर इसका विमोचन भी निश्चित हो गया था अत: इस शीघ्रता के कारण आगे के कुछ खड आचार्य प्रवर गहराई से नही देख पाये। उनकी अनेक व्यस्तताओं में इतना समय भी नहीं हो सका, अतः यदि कही शास्त्रीय दृष्टि से दोष, अशुद्धि व अपूर्णता लगे तो पाठक सपादक की स्खलना समझकर क्षमा करे तथा प्रेमपूर्वक सूचित कर अनुग्रहीत करे।

मुझे आशा है 'भावना योग' पुस्तक पाठकों व विचारकों को, अध्यात्म, योग तथा वैराग्य-भाव के उपासकों को उपकारी होगी। इसी मे मेरे सम्पादन श्रम की सार्थकता है।

१ फरवरी १९७५ —श्रीचन्द सुराना 'सरस'

अनुक्रमणिका

खण्ड १

भावना : परिभाषा और प्रकार



भावणा जोग सुद्धप्पा जले नावा व आहिया।
नावा व तीर सम्पन्ना सव्व दुक्खा ति अट्टइ॥

—सूत्रकृतांग १।१५।६

जिस साधक की अन्तरात्मा भावना योग से विशुद्ध होती है वह आत्मा जल-स्थित नौका के समान संसार सागर से तिरकर सब दुःखों से मुक्त हो, परम सुख को प्राप्त करता है।



१. जीवन महल की नींव–भाव [विचार]

कबीरदास का एक प्रसिद्ध दोहा है—

समझा-समझा एक है, अनसमझा सब एक।
समझा सोई जानिए, जाके हृदय विवेक॥

जिस हृदय में विवेक का, विचार का दीपक जलता है, वह हृदय देव-मन्दिर-तुल्य है। जिस हृदय में विवेक-विचार का दीपक नहीं है, वह अन्धकार-मय हृदय श्मशान के समान है। जब तक हृदय में विवेक तथा विचार की ज्योति नहीं जलती, तब तक कोई कितना ही उपदेश दे, समझाये-बुझाये, शास्त्र सुनाये—सब भैंस के सामने बीन बजाने के समान है, अन्धे के सामने कत्थक नृत्य दिखाने के बराबर है और बहरे के समक्ष शास्त्रीय संगीत गाने के तुल्य है। विचार शून्य मनुष्य कभी भी भले-बुरे का, हित-अहित का निर्णय नहीं कर सकता। इसलिए कहा है—आँख का अन्धा संसार में सुखी हो सकता है, किन्तु विचार का अन्धा सुखी नहीं हो सकता। विचारान्ध को स्वयं ब्रह्मा भी सुखी नहीं कर सकते—**ब्रह्मा पि तं नरं न रंजयति।**

विचार, और विवेक जीवन-महल की नींव है। सुरम्य प्रासाद, आलीशान भवन और आकाश से बातें करने वाले महल आखिर किस पर टिके होते हैं? नींव पर। यदि महल की नींव नहीं है या नींव कमजोर है तो प्रथम तो ऊँचा महल खड़ा ही नहीं हो सकता और यदि महल खड़ा कर भी दिया जाए तो कितने दिन टिकेगा? पास निकलने वालों की जान को भी और जोखिम! तो जीवन में यदि विचार नहीं है, विवेक तथा भावना नहीं है, तो वह जीवन, मानव का जीवन नहीं कहला सकता, वह जीवन निरा पशु-जीवन है।

आप सोच रहे होंगे कि जिस विचार का जीवन में इतना महत्त्वपूर्ण स्थान है, वह विचार क्या है? उसका अर्थ क्या है? वैसे तो मनुष्य विचार-शील प्राणी है, विचार करना उसका स्वभाव है। शास्त्र में बताया है—प्राणी नरक में अत्यन्त दुःखी रहता है, स्वर्ग में अत्यन्त सुखी। नरक की यंत्रणाओं और वेदनाओं में उसे कुछ विचार सूझता नहीं और स्वर्ग के सुखों में उसे विचार करने की फुर्सत नहीं। इस प्रकार स्वर्ग और नरक की योनियाँ तो

विचारशीलता की दृष्टि से शून्य है। तिर्यंच गति में प्राणी विवेकहीन रहता है—तिरिया विवेगविकला तिर्यंच विवेक विकल-रहित होते है। उसमें बुद्धि, भावना, विचार और विवेक जैसी योग्य शक्ति नही होती। फिर मनुष्य-योनि ही एक ऐसी योनि है, मानव-जीवन ही ऐसा जीवन है, जिसमें विचार करने की क्षमता है, शक्ति है, विवेक व बुद्धि की स्फुरणा है, योग्यता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि विचार मनुष्य की विशिष्ट सम्पत्ति है।

विचार का अर्थ सिर्फ सोचना-भर नही है। पहले सोच, फिर विचार। यानी सोचने के आगे की भूमिका है विचार। भारत के चिन्तनशील मनीषियों ने कहा है—

कोऽहं कथमयं दोषः संसाराख्य उपागतः।
न्यायेनेति परामर्शो विचार इति कथ्यते॥[1]

मैं कौन हूं? मेरा कर्त्तव्य क्या है? मुझमें ये दोष क्यों आये? संसार की वासनाएँ मुझ में क्यों आई? इन सब बातों का युक्ति पूर्वक परामर्श, चिन्तन करना विचार है।

इस प्रकार के विचार से सत्य-असत्य का, हित-अहित का परिज्ञान होता है और उससे आत्मा को विश्रान्ति-शान्ति मिलती है। कहा है—

विचाराद् ज्ञायते तत्त्वं, तत्त्वाद् विश्रान्तिरात्मनि।[2]

विचार और भावना

विचार जब मन में बार-बार स्फुरित होने लगता है तब वह भावना का रूप धारण कर लेता है। नदी में जैसे लहर-पर-लहर उठने लगती है तो वे लहरें एक वेग का रूप धारण कर लेती है, उसी प्रकार पुन: पुनः उठता हुआ विचार जब मन को अपने सस्कारों से प्रभावित करता है तो वह भावना का रूप धारण कर लेता है। विचार पूर्व रूप है, भावना उत्तर रूप। वैसे सुनने में बोलचाल में विचार, भावना एव ध्यान समान अर्थ वाले शब्द प्रतीत होते है, किन्तु तीनों एक दूसरे के आगे-आगे बढने वाले चिन्तनात्मक सस्कार बनते जाते हैं, अतः तीनो के अर्थ में अन्तर है।

विचार के बाद भावना, भावना के बाद ध्यान

जीवन निर्माण में विचार का जो महत्त्व है, वह चिन्तन एवं भावना के रूप में ही है। बाइबिल में कहा है—'मनुष्य वैसा ही बन जाता है, जैसे उसके विचार होते है।' 'विचार ही आचार का निर्माण करते हैं, मनुष्य को बनाते

---

१. योगवाशिष्ठ २।१४।५०
२. वही, २।१४।५३

है'—इन सब उक्तियों का सार विचार को भावना के रूप में प्रकट करने से ही है। मैंने एक बार कहा था—

जैसा संचा दीजिए, वैसा ही आकार।
मानव वैसा ही बने, जैसा रहे विचार॥

विचार का महत्त्व सिर्फ विचार के रूप में ही नहीं, किन्तु सद्विचार, सुविचार या चिन्तन-मनन के रूप में है और चिन्तन-मनन ही भावना का रूप धारण करते हैं। भावना संस्कार बनती है, उससे जीवन का यह महत्त्वपूर्ण निर्माण होता है। इसलिए मैं आपको विचार से भावना की ओर मोड़ना चाहता हूँ।

भव और भाव

भाव शब्द से भावना बना है, इसी का तुलनात्मक शब्द है, भव। दीखने में, बोलने में—भव एवं भाव में एक मात्रा का अन्तर है, किन्तु यही एक महान् अन्तर है। भव का अर्थ है—संसार और भाव का अर्थ है—विचार। भव रोग है और भाव उसकी चिकित्सा है। आचार्यों ने बताया है—

भवन्त्यस्मिन् कर्मवशवर्तिनः प्राणिन इति भवः संसारः।[1] कर्म के वशीभूत हुए प्राणी जिसमें जन्म-मरण धारण करते हैं, भ्रमण करते हैं, चक्कर काटते हैं, वह संसार—भव है। और भाव का अर्थ है मन की प्रवृत्ति—

भावोऽन्तःकरणस्य प्रवृत्तिविशेषः[2]

अन्तःकरण की प्रवृत्ति, हलचल, विचारों की लहरें ये भाव है। इसी को अभिप्राय भी कहते है—**भावश्चित्ताभिप्रायः**[3]—भाव अर्थात् चित्त का अभिप्राय। चेतना के अन्तर-संसार में उठने वाली तरंगे भाव है। तो इस प्रकार भाव का अर्थ हुआ—संसार-मुक्ति का साधन। एक प्राचीन आचार्य ने कहा है—

भवो जन्म-जरा-मृत्युर्भावस्तस्य निवारणम्।

भव—जन्म जरा, बुढ़ापा, मृत्यु आदि का चक्र, प्रवाह है, और भाव उसका निवारण है। भव से छुटकारा चाहने वाले को भाव की उपयोगिता, भाव की प्रक्रिया समझनी होगी कि भाव के द्वारा, विचारों के द्वारा किस प्रकार भव से मुक्ति मिल सकती है? यही विवेचन अगले प्रकरण में आपके सामने प्रस्तुत किया जा रहा है।



१. पंचाशक० १, (अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग ५ भव शब्द)
२. सूत्रकृतांग श्रु० १, अ० १५ की टीका।
३. आचारांग श्रु० १ अ० २ उ० ५ की टीका।

२. जाकी रही भावना जैसी

आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—

भावरहिओ न सिज्झइ ।[1]

भाव (भावना) से रहित आत्मा कितना भी प्रयत्न करे, वह मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता ।

शास्त्र में मोक्ष के जो चार मार्ग बताये हैं—'**दाणं च सीलं च तवो भावो एवं चउविहो धम्मो** ।'[2]—दान, शील, तप और भाव—यह चार प्रकार का धर्म है । अर्थात् दान, शील, तप और भाव—इनमें अन्तिम मार्ग भाव है । एक प्रकार से यों कह सकते हैं कि दान, शील, तप भी तभी मुक्ति के मार्ग होते हैं, वे भी सिद्धिदायक, फलप्रदायक तभी होंगे जब उनमें भाव होगा । भावना से शून्य दान, शील, तप आदि केवल शरीर-कष्ट और अल्प फल देने वाले ही होंगे । इसीलिए तीनों को आखिर में भाव के साथ जोड़ा गया है । दान के साथ में दान देने की शुद्ध भावना होगी, शील, (ब्रह्मचर्य) पालने में भी सच्ची भावना होगी और तप करने में भी यदि भाव शुद्ध होंगे तभी वे मुक्ति के कारणभूत बनेंगे । इसलिए यह बात शत प्रतिशत सही है कि—**भाव रहिओ न सिज्झइ**—भाव शून्य आचरण कभी भी सिद्धिदायक नहीं होता ।

आचार्य भद्रबाहु ने कहा है कि—**वाएण विणा पोओ न चएइ महण्णवं तरिउं** ।[3] जैसे हवा के बिना अच्छे-से-अच्छा जहाज भी समुद्र में चल नहीं सकता । वैसे ही अच्छे-से-अच्छा चतुर साधक भी भाव के बिना संसार सागर को पार नहीं कर सकता । नाव को चलाने में जैसे पवन कारण है, वैसे ही धर्म रूप, साधना-रूप नाव को संसार-समुद्र से तैरने में—भाव ही मुख्य कारण है । भाव के बिना सर्वत्र अभाव-ही-अभाव है ।

---

१. भाव पाहुड ४

२. सत्तरिसय ठाणावृत्ति, द्वार १४१ पृ० ७०

—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग ४, पृ० २२८६

३. आवश्यकनिर्युक्ति ९५

भगवान् कहाँ ? भाव में

लोग मन्दिर में जाकर मूर्ति को पूजते हैं। कोई पत्थर की मूर्ति को, कोई सप्त धातु की मूर्ति को और कोई सोना तथा हीरों-पन्नों की मूर्ति के सामने सिर झुकाता है, उसे भगवान मानकर पूजता है। तो क्या भगवान् उस मूर्ति में है ? है तो कौन-सी मूर्ति में है ? सोने-चाँदी की मूर्ति में भगवान् हैं या पत्थर की मूर्ति में ? या हीरों-पन्नों की मूर्ति में भगवान हैं। आप कहेंगे भगवान् मूर्ति में थोड़े ही है, भगवान् तो भाव में हैं, मन में हैं। राजस्थानी में कहावत है—**'मानै तो देव, नहींतर भींत का लेव।'** इसी भाव की महिमा गाते हुए आचार्य चाणक्य ने कहा है—

> **न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृण्मये।**
> **भावेषु विद्यते देव स्तस्माद् भावो ही कारणम्॥**[1]

देवता, भगवान् न लकड़ी की मूर्ति में है, न सोने व पत्थर आदि की मूर्ति में है। भगवान् तो सिर्फ भाव में है। इसलिए भाव ही मुख्य कारण है।

कबीरदास ने कहा है—

> **मुझको कहाँ ढूंढे बन्दे ! मै तो तेरे पास में।**
> **ना मैं मक्का, ना मैं काशी, ना काबे कैलास में।**
> **मैं तो हूँ विश्वास में॥**

भगवान् कहते है, मूर्ख भक्त ! तू मुझे कहाँ ढूंढ रहा है ? मैं न तो मक्का-मदीना में हूँ, न यरुसलम (ईसाई तीर्थ) में; न काशी में, न कैलास मे, न शिखर जी में और न गिरनार में। मैं कहीं बाहर में या नदी-पर्वत आदि तीर्थों में नहीं रहता हू। मैं तो तेरे पास मे ही हू। जहाँ जिस जगह तेरा विश्वास जम गया, जहाँ तेरी भावना जम गई, उसी स्थान में मैं प्रकट हो जाता हूँ। मेरा निवास मूर्ति या तीर्थ में नहीं, भाव में है, दिल में है। पदमपुराण में एक प्रसंग है कि एक बार नारद जी ने विष्णु से पूछा—भगवन् ! आपका निवास स्थान कहाँ है ? विष्णुजी ने उत्तर दिया—

> **नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।**
> **मद् भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद !॥**

अर्थात् न मैं वैकुण्ठ में रहता हूँ, न शेषशय्या पर और न योगियों के हृदय में, किन्तु मेरे भक्त जहाँ भावना के साथ मुझे पुकारते हैं, मैं वहीं उपस्थित रहता हूं। उर्दू के एक शायर ने कहा है—

> **दिल में तसवीर है यार की जब गर्दन झुकाई देखली।**

1. चाणक्यनीति ८।११

तेरे भगवान् की तसवीर तेरे मन मे, भाव में ही है, बस यों गर्दन झुकाई, अर्थात् अन्तर में झाँका कि वहीं भगवान् के दर्शन हो जाएँगे।

तो इस समूचे विवेचन का अर्थ है कि भगवान्, धर्म या साधना का अस्तित्व किसी बाह्य वस्तु में नहीं, अपने अन्तर में है, और वह अन्तर की शक्ति और कुछ नहीं, सिर्फ भाव है।

भाव के बिना सब द्रव्य है

दान, शील, तप, स्वाध्याय, पूजा आदि जितने भी धार्मिक कृत्य हैं, उन सबका फल तभी होता है, जब इनमें भाव हों, अर्थात् इनके साथ भावना का योग हो। भावशून्य क्रिया कभी फलप्रदायिनी नहीं हो सकती। आचार्य सिद्ध सेन ने भ० पार्श्वनाथ की स्तुति करते हुए कहा है—

> आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि
> नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
> जातोऽस्मि तेन जनबांधव ! दुःखपात्रं
> यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः ॥[1]

हे प्रभो ! अनेक वार आपके दिव्य वचन सुनकर भी, आपकी पूजा सत्कार करके भी, और क्या, आपके देव-दुर्लभ दर्शन पाकर भी भक्तिपूर्वक उनमें मन नहीं लगाया। इसी कारण तो जन्म-जन्म में भटकते हुए दुख पा रहा हूँ, क्योंकि भावशून्य क्रिया कभी फलदायी थोड़े ही होती है।

भाव रहा तो थोड़ा-सा सत्कर्म भी बहुत बड़ा फल देता है, और भाव नहीं रहा तो जन्म-भर किये गये सत्कर्म भी व्यर्थ तथा अल्पतम फल देने वाले होते है। कहा जाता है—

> नमक बिना ज्यों भाव अलूना
> आँख बिना ज्यों जीवन सूना
> भाव बिना त्यों धर्म अपूना

आख के बिना ज्यो जीवन सूना है, नमक बिना मसालेदार भोजन अलूना है, उसी प्रकार भाव के बिना समस्त धर्म क्रियाएँ अपूर्ण है, अधूरी है।

जैनधर्म भाव-प्रधान धर्म है। यहा प्रत्येक वस्तु का विवेचन, द्रव्य और भाव—दो दृष्टियों से किया जाता है। द्रव्य का अर्थ है—भावनाशून्य प्रवृत्ति। जैसे प्राण रहित शरीर होता है, उसे द्रव्य जीव कहते है, वैसे ही भाव रहित धर्म को, द्रव्य धर्म कहते है। साधुपन, श्रावकपन, सामायिक, प्रतिक्रमण—

---

१. कल्याणमन्दिर स्तोत्र ३८

सभी को द्रव्य और भाव की अलग-अलग कसौटियों पर कसा गया है। जिस क्रिया के साथ उपयोग नहीं होता, भाव नहीं होता, वह द्रव्य क्रिया है। आप प्रतिक्रमण कर रहे हैं, अथवा सामायिक कर रहे हैं; वेषभूषा, आसन आदि सब जमा लिये, मुँह से पाठ का उच्चारण भी करने लगे, लेकिन मन, भावना कहीं अन्यत्र भटक रही है तो? आपका शरीर स्थानक में बैठा है और मन दुकान में, तो क्या आपकी सामायिक भाव सामायिक होगी? नहीं। आप मुंह से प्रतिक्रमण का पाठ बोल रहे हैं और मन कहीं किसी से राग-द्वेष कर रहा है, कहीं लेन-देन, खाने-पीने की चिन्ता में लगा है तो वह प्रतिक्रमण भी सिर्फ द्रव्य प्रतिक्रमण होगा। अनुयोग द्वार सूत्र में आवश्यक के दो भेद बताये गये हैं—द्रव्य आवश्यक और भाव आवश्यक। भावना रहित सिर्फ शब्दों का उच्चारण करना—द्रव्य आवश्यक है और शब्दों के साथ भाव, मन उसी में अनुरक्त हो जाए, तब वह भाव आवश्यक होता है। बताया गया है—**तब्भावण भाविए अन्नत्थ कत्थइ मणं अकरेमाणे**···उच्चारण किये जाने वाले शब्दों की जो भावना है, उस भावना से भावित होकर जो मन को उसी में स्थिर करता है, उसी को भाव आवश्यक होता है।

फलं भावानुसारतः

कभी-कभी आप लोग देखते हैं, सुनते भी है कि क्रिया कुछ और चल रही है और फल कुछ दूसरा ही आ रहा है। आप लोगों को आश्चर्य हो सकता है कि यह क्या! वास्तव में देखा जाए तो फल क्रिया के पीछे नहीं, भाव के पीछे चलता है। आगम मे बताया है, धर्म मे स्थिर, उपयोग-युक्त संयमी साधु-रास्ते से चलता है, उसके पैर से किसी जीव की विराधना हो जाती है, दीखने में हिंसा प्रतीत होती है, किन्तु वास्तव में वह साधु हिंसक नहीं, बल्कि अहिंसक ही है। उसे उपयोगपूर्वक गति करने में पाप बन्ध नहीं, किन्तु कर्म निर्जरा होती है।

जा जयमाणास्स भवे विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स।
सा होई निज्जरफला, अज्झत्थ विसोहिजुत्तस्स॥[1]

जो यतनावान साधक अन्तर विशुद्धि (निर्मल भावना) से युक्त है और आगमविधि के अनुसार आचरण करता है, उसके द्वारा कभी-कभार हिंसा (जीव विराधना) होने पर भी वह कर्म निर्जरा का कारण होती है।

आप आश्चर्य करेंगे कि ऐसा क्यों? क्या यह साधु के साथ पक्षपात नहीं है? वास्तव में विचार करेंगे तो यहाँ भावना का सर्वोपरि महत्त्व आपके ध्यान में

१. ओघनियुक्ति, गाथा ७५८-५९

आयेगा, भाव शुद्ध होने पर हिंसा भी अहिंसा हो सकती है, कर्मबन्ध के कारण भी निर्जरा के कारण बन जाते हैं। इसका कारण है, पुण्य-पाप क्रिया के अनुसार नहीं, किन्तु भाव के अनुसार होते हैं। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा है—

जे आसवा ते परिस्सवा ।[1]

जो आस्रव हैं, कर्मबन्ध के हेतु हैं, वे ही भावना की पवित्रता के कारण परिस्रव—अर्थात् कर्म निर्जरा के कारण हो जाते हैं। जितने, जो-जो कारण संसार वृद्धि के हैं, भावना बदलने से वे ही सब कारण संसार मुक्ति के हो जाते हैं। आचार्य भद्रबाहु का यह कथन भावना की फल शक्ति का परिचायक है।[2] योगवासिष्ठ में महर्षिव्यास ने कहा है—

अमृतत्वं विषं याति सदैवामृतवेदनात् ।
शत्रुर्मित्रत्वमायाति मित्रसंवित्तिवेदनात् ॥

अमृत रूप से चिन्तन करने पर विष भी अमृत बन जाता है। शत्रु को बराबर मित्र दृष्टि से देखने पर शत्रु भी मित्र बन जाता है। श्रीमद्भागवत में कहा है—

यत्र-यत्र मनोदेही, धारयेत् सकलं धिया ।
स्नेहाद् द्वेषाद् भयाद् वापि, याति तत्तत्स्वरूपताम् ॥

प्राणी, स्नेह-द्वेष या भय से अपनी भावना को, मन को, जहाँ-जहाँ लगता है, वहाँ मन वैसा ही स्नेही-द्वेषी और भयाकुल हो जाता है। अर्थात् स्नेह का चिन्तन करते रहने पर स्नेही, द्वेष की भावना रखने पर द्वेषी और भय की भावना रखने पर भयभीत बन जाता है। वीतराग पुरुष के निकट जाति-द्वेष रखने वाले सिंह-बकरी चूहा-बिल्ली वैर-विद्वेष भूलकर निर्वैर क्यों हो जाते हैं? इसका कारण है—उनकी वीतराग भावना। उनकी वीतरागता का प्रभाव अन्य प्राणियों की भावना पर भी होता है और उनकी भावना बदल जाती है।

मैं बता रहा था कि हम जो कुछ क्रिया करते हैं, उसका फल भावना के अनुसार ही हमें मिलता है। भावना शुद्ध रही तो आधे घण्टे में ही महान् कर्म निर्जरा कर सकते हैं। संस्कृत में कहावत है—

बुध्धं वेयानुसारेण कृषिर्मेघानुसारतः ।
लाभो द्रव्यानुसारेण पुण्यं भावानुसारतः ॥

१. आचारांग ४।२
२. ओघनिर्युक्ति ५२

गाय-भैंस को जैसी खुराक दी जाती है, उसी के अनुसार वह दूध देती है; जैसा मेघ बरसता है, वैसी ही खेती होती है ; दुकान में जैसा, जितना माल-सामान रखा जाता है, उसी के अनुसार लाभ या कमाई हो सकती है, और क्रिया में जैसी भावना होती है, उसी के अनुसार पुण्य होता है। इसलिए जिस कार्य में जैसी भावना रहेगी, उसी के अनुरूप फल प्राप्ति होगी। कहा है—

मंत्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी॥

मंत्र में, तीर्थ में, ब्राह्मण के प्रति, देवता, भगवान् के प्रति, ज्योतिषी के प्रति, औषध के प्रति और गुरु के प्रति जिसकी जैसी भावना होती है, उसे उसी प्रकार की सिद्धि मिलती है, अर्थात्

जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी॥
—रामचरितमानस

जिसकी जैसी भावना रही, वह प्रभु की मूर्ति उसी रूप में देखता है।

राजस्थान में एक कहानी बहुत प्रसिद्ध है—

दोय जणा बीज बावण ने जाय, मारग में मिलिया मुनिराय।
एक देखने हुओ खुशी, इणरा माथा जिसा सिट्टा हुसी।
बीजो मन में करे विचार मोड़ो मिलियो मारग मझार।
मस्तक मुंड पाग सिर नाहीं, कड़बो हुसी पण सिट्टा नांहीं॥

किसी गाँव में दो किसान रहते थे। आषाढ़ का महीना आया, बादल आकाश में छाये, वर्षा हुई और दोनों ही अपने-अपने हल उठाकर खेतों में गये। रास्ते में गाँव के बाहर निकलते ही कोई मुनिराज मिल गये। मुनिराज चातुर्मास करने के लिए गांव में आ रहे थे। मुनि का मस्तक सफाचट था, यह देखकर दोनों किसान विचार करने लगे। पहले ने सोचा—शकुन तो बहुत अच्छे हुए हैं। मैं बाजरा बोने जा रहा हूँ और नंगे सिर वाला साधु सामने मिला है तो जरूर इस बार साधु के सिर जितने बड़े-बड़े सिट्टे होंगे।

इधर दूसरे किसान के मन में भी विचार आया—नंगे सिर वाला मोड़ा (साधु) मिला है। शकुन अच्छे नहीं हुए। साधु के सिर पर पगड़ी नहीं है, इसलिए कड़बी तो होगी, लेकिन सिट्टे नहीं होंगे। संयोग की बात कि दोनों ने जैसा विचार किया, वैसा ही हुआ। पहले किसान के खेत में खूब सिट्टे हुए, बाजरा हुआ। दूसरे के खेत में टिड्डियाँ आ गईं, बस कड़बी-ही-कड़बी रह गई।

जिसने जैसी भावना की, वैसा ही फल मिल गया। जिसकी भावना अच्छी थी, उसे अच्छा फल मिला। जिसकी भावना बुरी हुई उसे बुरा फल मिला।

इस प्रकार हमारे जीवन में, हमारे धार्मिक एवं आध्यात्मिक अभ्युत्थान में भावना एक प्रमुख शक्ति है। भावना पर ही हमारा उत्थान और पतन है—भावना पर ही विकास और ह्रास है। शुद्ध, पवित्र एवं निर्मल भावना जीवन में विकास और उत्थान का मार्ग प्रशस्त करती है। इसलिए भावना को सदा उज्ज्वल और पवित्र रखना चाहिए।



३. भावना की परिभाषा

धर्म आदि क्रियाओं में भाव की कितनी उपयोगिता है, इस विषय में विचार किया गया है। भाव एक कुंजी है—चाबी है, जिससे धर्म रूप द्वार खोला जाता है। भाव एक औषध है, जिससे भव रूप रोग की चिकित्सा की जाती है। भाव एक ऐसी परम शक्ति है, जो प्रत्येक धर्म क्रिया में, जीवन के प्रत्येक व्यवहार में अपना प्रभाव दिखाती है। कहा जाता है—**जैसी नीयत वैसी बरकत**—अर्थात् जैसी नीयत—भावना होती हैं, वैसा ही फल मिलता है। भावना का यह महत्त्व समझ लेने के बाद अब यह बताया जाता है कि भावना का वास्तविक अर्थ क्या है और उसका स्वरूप क्या है? आगम एवं प्राचीन ग्रन्थो में भावना का किस रूप में, कितने विभिन्न प्रकारों मे वर्णन किया गया है, यह विवेचन भी आगे प्रस्तुत किया जा रहा है।

भावना—अनुप्रेक्षा

आगमों में कहीं-कहीं भावना को अनुप्रेक्षा भी कहा गया है। स्थानांग सूत्र मे ध्यान के प्रकरण में धर्म ध्यान आदि की चार अनुप्रेक्षाएँ बताई गई हैं।[1] वहाँ अनुप्रेक्षा का अर्थ भावना किया है। ईक्षा का अर्थ है, दृष्टि अथवा देखना। इसके साथ 'प्र' उपसर्ग लगने पर 'प्रेक्षा' शब्द होता है। प्रेक्षा—अर्थात् गहराई मे, बारीकी से किसी वस्तु पर विचार करना, किसी विषय का चिन्तन करना। यह चिन्तन जब आत्मा आदि उदात्त विषय से सम्बन्धित होता है, तब उस चिन्तन को 'अनुप्रेक्षा' कहते हैं। अनुप्रेक्षा अर्थात् आत्मचिन्तन। अनुप्रेक्षा का एक अर्थ यह भी है कि वार-बार चिन्तन तथा मनोयोग को एक विषय पर स्थिर करके, किसी एक वस्तु को केन्द्र बनाकर चिन्तन करना। यही स्थिति 'ध्यान' की है। अतः भावना का अग्रिम रूप ध्यान माना गया है।

आचार्य उमास्वाति ने भी भावना के स्थान पर 'अनुप्रेक्षा' शब्द का प्रयोग किया है। वहाँ कहा है—

स्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा[2]

---

१. स्थानांग ४।१

२. तत्त्वार्थसूत्र ९।७

धर्म आदि भगवद् कथित विषयों पर चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी 'भावना' के स्थान पर 'अणुवेक्खा' शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने तो बारह भावना पर स्वतन्त्र ग्रन्थ का ही प्रणयन किया है, जिसका नाम है, 'बारस अणुवेक्खा'।

उत्तराध्ययन सूत्र में भी 'अणुप्पेहा' शब्द को आध्यात्मिक चिन्तन के अर्थ मे ही प्रयुक्त किया है। वहाँ गौतमस्वामी ने पूछा है—'भंते! अनुप्रेक्षा से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है।'[१]

भगवान् ने उत्तर में बताया है—'अनुप्रेक्षा (वैराग्य भावना, तत्त्व चिन्तन) से जीव आयुष्य कर्म को छोड़कर सात कर्म प्रकृतियों में सघन बन्ध वाली प्रकृति को शिथिल, दीर्घकालीन एवं तीव्र अनुभाव वाली प्रकृति को अल्पकालीन एवं मन्द अनुभाव वाली बनाता है।'

इस प्रकार भावना, अनुप्रेक्षा और ध्यान ये शब्द प्रायः समानार्थक भी हैं। हाँ, भावना और ध्यान शुभ-अशुभ दोनों ही हो सकते हैं, जबकि अनुप्रेक्षा को शुभधारावाही माना है। अतः हम यहाँ पर भावना शब्द को मुख्य मानकर उसी की विभिन्न परिभाषाओं पर विचार करेंगे।

भावना की परिभाषा

भाव से भावना शब्द बना है। भाव का अर्थ है—विचार, अभिप्राय।

आचार्य शीलांक ने भाव की परिभाषा करते हुए कहा है—

भावश्चित्ताभिप्रायः[२]

भावोऽन्तःकरणस्य परिणतिविशेषः[३]

चित्त का अभिप्राय भाव है।

अन्तःकरण की परिणति विशेष भाव है।

विचार, अभिप्राय जब बार-बार मन में रमने लगते है, बार-बार उठने लगते हैं, तब वह 'भाव' अर्थात् भावना का रूप धारण कर लेता है। प्राचीन विचारकों ने भावना का अर्थ पुनः-पुनः चिन्तन, अध्यवसाय, वासना और संस्कार के रूप में किया है।

१. उत्तराध्ययन २९।२२
२. आचारांग टीका श्रु० १, अ० २, उ० ५
३. सूत्रकृतांग टीका श्रु० १, अ० १५

किसी भी विषय पर मनोयोगपूर्वक चिन्तन करना भावना है। चिन्तन से मन में संस्कार जागृत होते हैं। जैसा चिन्तन बार-बार होगा, धीरे-धीरे वैसे ही संस्कार बद्धमूल हो जायेंगे और वे जीवन में पद-पद पर हमारे आचरण को प्रेरित करेंगे और सफल बनायेंगे। अतः भावना एक प्रकार का संस्कार अथवा संस्कार मूलक चिन्तन है। इसे हम विचारों की तालीम (ट्रेनिंग) भी कह सकते है।

आवश्यक सूत्र के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य हरिभद्र ने भावना की परिभाषा करते हुए लिखा है—

भाव्यतेऽनयेति भावना।[1]

जिसके द्वारा मन को भावित किया जाए, संस्कारित किया जाए—उसे भावना कहते है।

आयुर्वेद की विधि के अनुसार औषधों को प्रभावशाली व तीव्र गुणकारी बनाने के लिए उन्हें रस आदि में डुबोया जाता है, जिसे रस की भावना कहते हैं। जैसे कोई औषध आंवले के रस के साथ पांच बार मिलाई गई, घोटी गई या संस्कारित की गई तो उसे आंवले के रस की पांच भावना दी गई, ऐसा माना जाता है। इससे औषध में आंवले का प्रभाव व गुण आ जाता है। सौ बार व हजार बार भी भावना दी जाती है और उससे औषध में उतनी ही अधिक मात्रा में उस वस्तु का, रस आदि का असर आ जाता है। भावना का यही अर्थ मानसिक अध्यवसाय के रूप में लिया गया है। मन को जिन विचारों के रस में बार-बार संस्कारित किया जाता है, उन विचारों को हम भावना कह सकते है। वह भावना वासना भी कही जाती है। आचार्य हरिभद्र ने इसीलिए भावना को वासना भी कहा है—**भावना-वासना**।[2]

आचार्य मलयगिरि ने भावना को परिकर्म (विचारों की साज-सज्जा कहा है। जैसे शरीर को तेल, इत्र, अंगराग आदि से बार-बार सजाया जाता है, वैसे ही विचारों को अमुक विचार के साथ बार-बार जोड़ना) भी कहा है—**परिकर्म्येति वा भावनेति वा**।[3] चित्त के सूक्ष्म संस्कारों को, बार-बार स्फुरित होने वाली विचार तरंगों को अध्यवसाय भी कहा जाता है और इस अर्थ में भी भावना को लिया गया है—**भावना अध्यवसाये**।[4] जैनाचार्यों ने पुनः-पुनः

१. आवश्यक ४, टीका
२. वही, (अभिधान राजेन्द्र कोष भाग ५, पृ० १५०५)
३. बृहत्कल्प भाष्य, भाग २ गा० १२८५ की वृत्ति, पृ० ३९७
४. आचारांग श्रु० १, अ० ८, उ० ६ टीका

चिन्तन करने को भावना माना है—**पुनः पुनश्चेतसि निवेशणं भावना**[1]—विचारों का बार-बार चित्त में आना-जाना, उन्हें संस्कारों का रूप देना भावना है। संस्कारों की जागृति, विचारों की निरन्तर शृंखला भी भावना है। जैसे जल का प्रवाह आगे से आगे बढ़ता हुआ उस-उस क्षेत्र को सजल, सरसब्ज बनाता जाता है, वैसे ही विचारों की धारा जब निरन्तर बहती हुई मन को उन्हीं विचारों में भिगो देती है, तन्मय बना देती है तो वह विचारधारा 'भावना' का रूप ग्रहण कर लेती है। अनुयोगद्वार सूत्र की टीका में भावना की यही व्याख्या की गई है—

अव्यवच्छिन्न पूर्व-पूर्वतर संस्कारस्य पुनः पुनस्तदनुष्ठानरूपा भावनेति।[2]

—पूर्व से पूर्वतर अर्थात् संस्कारों की अस्खलित धारा का प्रवाह तथा उस धारा को कार्यरूप में परिणत करना—यह भावना है। यहाँ संस्कार और संस्कार जन्य चिन्तन धारा—दोनों को ही भावना का रूप दिया गया है। वास्तव में जिन विचारों के सातत्य से, जिन विचारों के संघर्षण से मन तदनुरूप भावित हो जाता हो, उन विचारों को हम भावना कह सकते हैं। यही बात एक प्राचीन जैनाचार्य ने इस प्रकार कही है—

भाविज्जइ वासिज्जइ जीए जीवो विसुद्धचेट्ठाए सा भावणत्ति वुच्चइ।[3]

जिन चेष्टाओं व विचारों से जीव भावित हों, उसे भावना कहा जाता है। इस परिभाषा के अनुसार भावनाएँ असंख्य प्रकार की हो सकती हैं, अर्थात् जितने प्रकार के मानसिक संकल्प, उतनी ही प्रकार की भावनाएं।

भावना की इतनी विविध परिभाषाएँ इसलिए उपस्थित की गई हैं कि भावना के सम्बन्ध में आचार्यों ने विविध प्रकार से, अनेक दृष्टिकोणों के साथ जो चिन्तन-मनन किया है वह हमारे सामने स्पष्ट हो सके। क्योंकि जैन आचार्यों ने भावना के सम्बन्ध में बड़ा ही गहरा एवं व्यापक विश्लेषण किया है। भावना का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि वह सामान्य चिन्तन से प्रारम्भ होकर जप और ध्यान की उच्चतम भूमिका तक चला जाता है। साधारण रूप में हिंसा, अहिंसा क्रोध आदि कषाय तथा वैराग्य प्रधान जितना भी चिन्तन है, वह सब भावना

१. संधा० १, अधि० १ (अभिधान राजेन्द्रकोष भाग ५, पृ० १५०५)
२. अनुयोगद्वार टीका (अभि० पृ० १५०५)
३. पारसणाहचरियं पृ० ४६०

के व्यापक क्षेत्र में आ जाता है। भावना के कितने विभिन्न रूप हैं, यह आगे के पृष्ठों पर जब पढ़ेंगे तो सहज ही पाठकों के मन में यह समाधान हो जाएगा कि वहाँ शुभ-अशुभ तथा कर्त्तव्य आदि का चिन्तन, मनन, भाषण, व्यवहार आदि प्रत्येक क्रिया के साथ भावना जुड़ी होने से, भावना का अनेक दृष्टिकोणों से अनेक अर्थों में प्रयोग किया गया है। इसीलिए एक आचार्य ने भावना का स्वरूप—

सम्यक् क्रियाभ्यासे[१]—क्रिया का सम्यक् अभ्यास भावना है—माना है। यही बात आचार्य मलयगिरि ने दुहराई है—

'अभ्यास इति वा भावनेति वा एकार्थम्'[२]—उनका आशय है, अभ्यास ही धीरे-धीरे भावना के रूप में परिणत होता है, अतः भावना को सतत अभ्यास भी कह सकते हैं। आचार्य हरिभद्र ने उसे ध्यान की पूर्वभूमिका भी माना है—

पुव्व कयब्भासो भावणाहि झाणस्स जोग्गयमुवेइ।[3]—पूर्वकृत अभ्यास के द्वारा भावना बनती है, और भावना का पुनः पुनः अभ्यास करने पर ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है। योगदर्शनकार पतंजलि ने भी इसीलिए जप एवं भावना को समान सिंहासन पर बिठा दिया है—**तज्जपस्तदर्थभावनम्**[४] इष्ट का जप करना, अर्थात् अपने इष्टदेव के स्वरूप का मन में चिन्तन करना, उनके स्वरूप की भावना करना कि 'मेरे आराध्य प्रभु का अमुक स्वरूप है, मेरा अमुक स्वरूप है, मेरे और उनके स्वरूप में स्वरूप दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। जो स्वरूप उनका है, वही मेरा है—**अप्पा सो परमप्पा**—जो आत्मा है, आत्मा का अनन्त ज्ञान दर्शनात्मक जो स्वरूप है, वही परमात्मा का स्वरूप है, अतः **सोऽहं**—वही मैं हूँ। इस प्रकार की स्वरूप भावना करना 'जप' है तथा ध्यान की पूर्वभूमिका भी है। एक प्रकार से भावना का एकनिष्ठ रूप जप है और जप की अन्तिम स्थिति ध्यान है।

इस प्रकार प्राचीन आचार्यों के विचारों के प्रकाश में हमने भावना की परिभाषा समझी है। इतना विस्तार इसलिए अपेक्षित है कि शास्त्रों में भावना के जो विविध रूप मिलते हैं, उन्हें इन परिभाषाओं के प्रकाश में समझा जा

---

१. उत्तराध्ययन, अ० १२ वृत्ति
२. बृहत्कल्पभाष्य, भाग २, गाथा १२९० की वृत्ति
३. हरिभद्र का ध्यानशतक ३०
४. पातंजल योगसूत्र १/२८

सकता है। आगमों में भावना को कहीं अत्यन्त वैराग्य-प्रधान आत्मविचारणा के रूप में लिया है, कहीं मनोबल को सुदृढ़ करने वाली साधना के रूप में। कहीं चारित्र को विशुद्ध रखनेवाले चिन्तन और आचरण को (अभ्यास को) भी भावना के रूप में बताया गया है तथा मन के विविध शुभाशुभ संकल्प-विकल्पों को भी भावना बताया है। ये सब स्वरूप समझाने के लिए ही यहाँ पर भावना की विविध परिभाषाएँ बनाई गई हैं। वस्तुतः मन में उठने वाले किसी भी ऐसे विचार को, जो कुछ क्षण स्थिर रहता है और जिसका प्रभाव हमारी चिन्तन धारा व आचरण पर पड़ता है, उसे हम भावना कह सकते हैं।



४. भावना की उभयमुखी धारा

भावना पानी की तरह तरल, चंचल और रंगहीन वस्तु है। पानी में यदि काला रंग मिला दिया जाय तो वह काला हो जायेगा, लाल रंग घोल दिया जाए तो लाल। दुर्गन्धित—बदबूदार कोई वस्तु डाल दी जाय तो पानी बदबू मारने लगता है। यदि सुगन्धि मिला दी जाय—गुलाव, केवड़ा, खश का द्रव डाल दिया जाए तो वह सुगन्ध से महकने लगेगा। पानी से कोई पूछे—'पानी तेरा रंग कैसा ?' तो वह क्या उत्तर देगा ? जैसा तुम चाहो वैसा ही। पानी का आकार कैसा ? जैसा तुम्हारे पास बर्तन हो वैसा ही। यदि तुम्हारे पास घड़ा है तो पानी घड़े का आकार ले लेता है, यदि लोटा है तो लोटे का और गिलास है तो गिलास का। जैसा रंग, जैसी गंध और जैसा वर्तन होता है, पानी का भी वैसा ही रंग, वैसी ही गंध और वैसा ही आकार बन जाता है। यही बात भावना के सम्बन्ध में है।

सद्भावना और दुर्भावना

यह तो बताया जा चुका है कि भावना का अर्थ है चित्त की वृत्तियां। यदि चित्त की वृत्तियां पवित्र है, परोपकार में संलीन है, धर्म और प्रभुभक्ति में निमग्न हैं तो भावना की धारा निर्मल, सुगन्धिमय होगी, वह भावना, सद्भावना, शुभ भावना कहलायेगी, यदि चित्तवृत्तियाँ मलिन हैं, दूषित हैं, गंदी हैं तो भावना भी गंदी, अपवित्र और मलिन होगी, वह भावना, दुर्भावना और अशुभ भावना कही जाएगी।

महर्षि पतंजलि ने भावना को नदी की धारा के समान माना है—**चित्तनदी नाम उभयतो वाहिनी**[1] चित्त रूप नदी दोनों ओर बहती है—ऊपर भी, नीचे भी, शुभ में भी, अशुभ में भी। नदी की धारा को जिधर मोड़ दिया जाए, उधर ही उसका प्रवाह हो जाता है। यदि उसे ईख और गेहूँ के खेत की सिंचाई करने की ओर मोड़ दिया जाय तो वह मधुर इक्षुरस और जीवनदायी अन्न पैदा कर देगी। यदि उसे गन्दी ऊकरडी की ओर बढ़ा दिया अथवा तमाखू और अफीम के खेत में मोड़ दिया तो गन्दगी बढायेगी, नशीली और मादक वस्तुएँ भी पैदा कर देगी। इसी प्रकार भावना है। यदि भावना का प्रवाह

---

१. योगदर्शन (व्यासभाष्य)

शुभ चित्त वृत्तियों से प्रेरित रहा, उच्च और पवित्र भावों के साथ चलता रहा तो वह जीवन में सुख, आनन्द और शान्ति का बाग खिला देगी। यदि भावनाएँ निकृष्ट रहीं, अशुभ और अपवित्र विचारों से दूषित रहीं तो वह सदा दीनता, दुःख, चिन्ता, भय और अशान्ति के काँटे ही पैदा करती रहेगी। श्रीमद्भागवत में कहा है—

> यत्र यत्र मनो देही धारयेत् सकलं धिया।
> स्नेहाद् द्वेषाद् भयाद्वापि याति तत्तत् स्वरूपताम् ॥[1]

प्राणी स्नेह, द्वेष और भय से प्रेरित होकर अपने मन को, भावना को बुद्धि द्वारा जहाँ-जहाँ ले जाता है, मन वैसा ही आकार धारण कर लेता है। स्नेह से प्रेरित मन स्नेही, भय से भययुक्त और द्वेष से द्वेषी हो जाता है। इसीलिए तो महान श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु ने बताया है—

> जे जत्तिया य हेउ भवस्स ते चेव तत्तिया मुक्खे।[2]

संसार में जितने कारण, जितने निमित्त भव के हैं, संसार परिभ्रमण के हैं, बन्धन के हैं, वे उतने ही निमित्त, भव से मुक्ति के भी बन सकते हैं। राग-द्वेष, कालुष्य आदि से प्रेरित होकर जो भाव संसार के कारण बनते हैं, वे ही भाव राग-द्वेष, कालुष्य से रहित होने पर मुक्तिदायी बन सकते हैं। अमृत—जहर बन सकता है और जहर अमृत बन सकता है। तो, इस प्रकार भावना के दो रूप हमारे सामने आते हैं—एक शुभ भावना और दूसरी अशुभ भावना। शुभ भावना को प्रशस्तभावना या असंक्लिष्ट भावना भी कहा जा सकता है। भावना का स्वरूप-विवेचन करते हुए बताया है—

> दुविहाओ भावणाओ, असंकिलिट्ठा य संकिलिट्ठा य।
> मुत्तूण संकिलिट्ठा, असंकिलिट्ठाहि भावंति।[3]

दो प्रकार की भावनाएँ कही गई हैं—असंक्लिष्ट भावना, अर्थात् शुभ भावना और संक्लिष्ट भावना अर्थात् अशुभ भावना। इनमें संक्लिष्ट भावना को छोड़कर असंक्लिष्ट भावना का अभ्यास करना चाहिए।

जीवन को उन्नत एवं विकसित बनाने के लिए शुभभावना आवश्यक है, अपनाने योग्य है और अशुभ भावना त्याज्य है। अशुभ भावना से जीवन संक्लेश-

१. श्रीमद्भागवत ११।९।२२
२. ओघनिर्युक्ति ५२
३. बृहत्कल्प भाष्य १२९१

मय बनता है, प्राणी दुःखी और चिंतित रहता है, इसलिए वह जीवन के लिए जहर है। शुभ भावना से जीवन में प्रसन्नता की शीतल लहरें उमगती हैं, आनन्द और शान्ति की वर्षा होती है, मन निर्भय, निराकुल और परम आह्लाद में निमग्न रहता है, इसलिए शुभ भावना जीवन के लिए अमृत है।

यद्यपि हमारा वर्ण्य विषय शुभ भावना ही है, तथापि अशुभभावना का रूप एवं स्वरूप भी समझना आवश्यक है; आगमों में एवं अन्य ग्रन्थों में दोनों भावनाओं का बड़े विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। अतः अशुभ भावना का विवेचन हम अलग से 'अशुभ भावना' प्रकरण में कर रहे है।



५. भावना के प्रकार

पिछले प्रकरण मे यह बताया जा चुका है कि चित्त की वृत्तियों को भावना कहा जाता है। भावना के दो रूप हैं—शुभ और अशुभ। शुभ भावना ध्यातव्य है, अशुभ भावना ज्ञातव्य। शुभ आदेय है, अशुभ हेय। क्योंकि कोई भी मनुष्य जान-बूझ कर अपने घर को गंदा, मलिन करके कूड़े-कचरे से भरना नही चाहता, प्रत्येक मनुष्य अपने घर या आवास को स्वच्छ, सुन्दर तथा विविध प्रकार के पुष्पो द्वारा तथा साज-सामान से सजाकर आकर्षक व रमणीय बनाये रखना चाहता है। यही बात भावना के संदर्भ मे समझनी चाहिए। भावना हमारा संस्कार निर्माण करती है, जीवन को मोड़ देती है और अन्तःकरण रूप आवास या मन्दिर को सजाती है, संवारती है, इसलिए हम चाहते हैं कि सदा शुभ भावना से मन रूप मन्दिर रमणीय बना रहे।

भावना के अनेक भेद है। भावना से मन को भावित करने के पहले हमें यह भी समझना चाहिए कि भावना आखिर है क्या, उसका स्वरूप क्या है, उसके भेद, प्रभेद क्या है ? यद्यपि सामान्य पाठक इतनी गहराई मे नही उतरता, वह तो बस शुभ भावना का आश्रय लेकर अपना कल्याण करने की सोचता है, किन्तु तत्त्व का रहस्य जानने वाला प्रबुद्ध पाठक भावना के सम्बन्ध में उसके रूप-स्वरूप, प्रकार और परिवार आदि के विषय मे गहरा विचार करता है, मनन करता है और फिर हेय तत्त्व को छोड़ता है, आदेय को स्वीकारता है। प्रबुद्ध पाठक की जिज्ञासा तृप्ति के लिए यहा भावना के प्रकारो का विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

मूलतः भावना के दो भेद है—शुभ भावना और अशुभ भावना। आगम की भाषा में इसे असंक्लिष्ट भावना (प्रशस्त भावना) और संक्लिष्ट भावना (अप्रशस्त भावना) कहा जाता है।

अशुभ भावना

अशुभ भावना जो कि हेय है, उसके नौ और पाच भेद बताये गये हैं। नौ भेद ये हैं[१]—

---

१. पाणिवह-मुसावाए अदत्त मेहुण परिग्गहे चेव।
कोहे माणे माया लोभे य हवंति अपसत्था।

—अभिधान राजेन्द्र, भावना शब्द

हिंसानुबंधी भावना,
मृषानुबंधी भावना,
स्तेयानुबंधी भावना,
मैथुन सम्बन्धी भावना,
परिग्रह सम्बन्धी भावना,
क्रोधानुबंधी भावना,
मानानुबंधी भावना,
मायानुबंधी भावना,
लोभानुबंधी भावना।

वास्तव में ये नौ भेद अव्रत और कषाय से सम्बन्धित हैं। इनके सम्बन्ध में स्वतंत्र वर्णन विशेष उपलब्ध नहीं होता. किन्तु फिर भी इनका विषय तो इनके नाम से ही स्पष्ट हो जाता है। अमुक-अमुक विषय के सम्बन्ध में चिन्तन करना जो कि आर्त-रौद्र ध्यान के अन्तर्गत है, वह अमुक भावना कही जाती है। जैसे मन में जब हिंसा का विचार उठे, किसी की हत्या करने, किसी को त्रास व पीड़ा देने का भाव जगे और उस विषय में विविध विकल्प मन को तरंगित करने लगें तब वह चिन्तन हिंसानुबंधी भावना कहलाता है। इसी प्रकार अन्य भावनाएं भी समझनी चाहिए।

अशुभ भावना के पाँच भेद और है, जिनका वर्णन आगमों में व उत्तरवर्ती साहित्य में काफी विस्तार के साथ मिलता है। पाँच अशुभ भावनाएं इस प्रकार हैं[1]—

१. कंदर्पी भावना, २. किल्विषी भावना, ३. अभियोगी भावना,
४. आसुरी भावना, ५. सम्मोही भावना।

उत्तराध्ययन सूत्र एवं स्थानांग सूत्र मे पाच के स्थान पर चार अशुभ भावनाओं का ही वर्णन मिलता है। वहाँ निम्न प्रकार से नामोल्लेख है—

उत्तराध्ययन[2]	स्थानांग[3]
कन्दर्प भावना,	आसुरी भावना,
आभियोगी भावना,	आभियोगी भावना,
किल्विषी भावना,	संमोही भावना,
आसुरी भावना।	देव-किल्विषी भावना।

१. कंदप्प देव किब्बिस अभिओगा आसुरा य सम्मोहा।
— बृहत्कल्प भाष्य, १२९३

२. अध्ययन ३६। गा० २६१ से २६४

३. स्थान ४। उ० ४, सूत्र ३५४

इनके नाम क्रम में कुछ भेद होते हुए भी भावना के स्वरूप में कोई भेद नहीं है। दोनों ही स्थान पर चारित्र को दूषित करने वाली वृत्ति के रूप में भावना का वर्णन किया गया है।

अशुभ भावना का विस्तृत वर्णन अगले प्रकरण में किया जा रहा है, यहाँ सिर्फ भावनाओं के प्रकार की सूचना मात्र दी जाती है।

शुभ भावना

यह तो बताया जा चुका है कि भावना चित्त की वृत्ति का नाम है। चित्त-वृत्तियां अनेक प्रकार की अर्थात् असंख्य प्रकार की हो सकती हैं, तब भावना की सीमा भी निश्चित कर पाना कठिन हो जाता है। जितनी प्रकार की चित्तवृत्तिया, उतनी ही प्रकार की भावनाएं। किन्तु इतने असीम दायरे में चलने से कही-कही साधक भटक जाता है। मार्ग असंख्य होते हुए भी उसे अपनी यात्रा के लिए कोई न कोई मार्ग निश्चित करना पड़ता है। इसी प्रकार भावनाओं के असंख्य रूपों को कुछ खास सीमाओं मे, कुछ विशेष रूपों में बांधा गया है। आगमों तथा आगमोत्तर साहित्य में भावनाओं के सम्बन्ध में, खास-कर शुभ भावनाओं के सम्बन्ध में बहुत ही विस्तार के साथ चर्चाएं की गई हैं। हम उनकी विस्तृत चर्चा तो शुभ भावनाओं के प्रकरण में करेंगे, यहाँ तो सिर्फ उनका नामग्राही परिचय दिया जाता है।

चारित्र भावना

भगवान महावीर ने कहा है—'जो श्रमण पाच महाव्रतों की पच्चीस भाव-नाओ में सदा यत्नशील रहता है, मनोयोग पूर्वक उनका चिन्तन करता है वह संसार में परिभ्रमण नही करता।'[1] इन भावनाओं के निदिध्यासन से व्रतों में स्थिरता आती है,[2] मनोबल दृढ़ होता है, और तत्-तत् व्रत सम्बन्धी पवित्र सस्कार मन में बद्धमूल हो जाते हैं—इसलिए इन भावनाओं का अपना महत्व है। चारित्र को सतत उज्ज्वल रखने और मन को चारित्र मे स्थिर रखने के लिए इन भावनाओ का आगमों में विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। ये पांच महाव्रत रूप चारित्र से सम्बन्धित होने के कारण हम इन्हें 'चारित्र भावना' कह सकते हैं।

आचारांग[3], समवायांग[4] और प्रश्नव्याकरण[5] सूत्र में पांच महाव्रतों की

---

१. उत्तराध्ययन ३१।१७
२. तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंच-पंच। —तत्वार्थ सूत्र ७।३
३. भावना अध्ययन २५ वा।
४. समवाय २५ वां
५. संवर द्वार अध्ययन ६ से १० तक

पच्चीस भावनाओं का विस्तृत वर्णन मिलता है। समवायांग में सिर्फ नामोल्लेख है, जबकि आचारांग और प्रश्नव्याकरण में काफी विस्तार के साथ बड़ा ही सुन्दर और भावपूर्ण वर्णन किया गया है। प्रश्नव्याकरण का वर्णन तो अत्यधिक सरस तथा जीवनस्पर्शी है।

आचारांग तथा समवायांग में पांच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं के नाम इस प्रकार हैं—

आचारांग[1]	समवायांग[2]
अहिंसा महाव्रत—	**अहिंसा महाव्रत—**
(१) ईर्या समिति,	(१) ईर्या समिति,
(२) मनपरिज्ञा,	(२) मनोगुप्ति,
(३) वचनपरिज्ञा,	(३) वचन गुप्ति,
(४) आदान-निक्षेप समिति,	(४) आलोक भाजन-भोजन
(५) आलोकित पान-भोजन,	(५) आदान भांड पात्र निक्षेपणा समिति
सत्य महाव्रत—	**सत्य महाव्रत—**
(१) अनुवीचि भाषण	(१) अनुवीचि भाषण,
(२) क्रोधप्रत्याख्यान,	(२) क्रोध विवेक (क्रोध का त्याग)
(३) लोभप्रत्याख्यान,	(३) लोभ विवेक (लोभ का त्याग)
(४) अभय (भयप्रत्याख्यान),	(४) भय विवेक (भय का त्याग)
(५) हास्यप्रत्याख्यान,	(५) हास्य विवेक (हास्य का त्याग)
अचौर्य महाव्रत—	**अचौर्य महाव्रत—**
(१) अनुवीचि मितावग्रह याचन,	(१) अवग्रहानुज्ञापना,
(२) अनुज्ञापित पान भोजन,	(२) अवग्रह सीमा परिज्ञान,
(३) अवग्रह का अवधारण,	(३) स्वयं अवग्रह की अनुग्रहणता,
(४) अभीक्षण अवग्रह याचन,	(४) साधर्मिकों से अवग्रह की याचना तथा परिभोग।
(५) साधर्मिक के पास से अवग्रह याचन।	(५) साधारण भोजन को आचार्य-आदि को बताकर परिभोग करना।

---

१. भावना अध्ययन

२. २५ वां समवाय

ब्रह्मचर्य महाव्रत—	ब्रह्मचर्य महाव्रत—
(१) स्त्री कथा का वर्जन,	(१) स्त्री पशु नपुंसक युत शयनासन वर्जन,
(२) स्त्रियों के अंग-प्रत्यंग का अवलोकन वर्जन,	(२) स्त्री कथा का वर्जन,
(३) पूर्वभुक्त भोग की स्मृति का वर्जन,	(३) स्त्रियों की इन्द्रियों का अवलोकन वर्जन,
(४) अतिमात्र तथा प्रणीत पान-भोजन वर्जन,	(४) पूर्वभुक्त तथा पूर्वक्रीड़ित काम-भोगों का स्मरण नहीं करना,
(५) स्त्री आदि से ससक्त शयनासन का वर्जन।	(५) प्रणीत आहार का वर्जन।

अपरिग्रह महाव्रत—	अपरिग्रह महाव्रत—
(१) मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द में समभाव,	(१) श्रोत्रेन्द्रिय रागोपरति,
(२) ,, ,, ,, रूप में समभाव,	(२) चक्षुरिन्द्रिय रागोपरति
(३) ,, ,, ,, गन्ध में समभाव,	(३) घ्राणेन्द्रिय रागोपरति
(४) ,, ,, ,, रस में समभाव,	(४) रसनेन्द्रिय रागोपरति,
(५) ,, ,, ,, स्पर्श में समभाव।	(५) स्पर्शनेन्द्रिय रागोपरति।

इस प्रकार दोनों आगमों के वर्णन में थोड़ा बहुत भाषा भेद है, किन्तु विषय का भेद नहीं है। जैसे—चाहे क्रोध प्रत्याख्यान कहें या क्रोध विवेक, बात एक ही है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र में भी पच्चीस भावनाएं प्रायः इसी प्रकार हैं, कहीं-कहीं क्रम आगे पीछे है, तथा विषय को प्रतिपादन करने के लिए कुछ शाब्दिक भिन्नता भी है। फिर भी प्रतिपाद्य में कोई अन्तर नहीं है।

आगमों के उत्तरकालीन साहित्य में चारित्र की पच्चीस भावनाओं का जो वर्णन आता है उसमें कहीं-कहीं शब्दों का काफी गहरा अन्तर आ गया है, जिससे इनका प्रतिपाद्य विषय कुछ अलग-अलग भी दीखने लगता है। जैसे आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने षट्प्राभृत ग्रन्थ के अन्तर्गत चारित्र प्राभृत में पच्चीस भावनाओं का वर्गीकरण कुछ भिन्न रूप में भी किया है, वह इस प्रकार है—

१. अहिंसा महाव्रत—

(१) वचनगुप्ति,
(२) मनोगुप्ति,

(३) ईर्यागुप्ति,
(४) सुदान निक्षेप,
(५) अवलोकित पान-भोजन।

२. **सत्य महाव्रत—**

(१) अक्रोध,
(२) अभय,
(३) अहास्य,
(४) अलोभ,
(५) अमोह।[1]

ध्यान देने की बात है कि आगमों में जहां 'अनुवीचि भाषण' को सत्य महाव्रत की भावना में मुख्य स्थान दिया है, वहाँ आचार्य कुन्दकुन्द ने अमोह को उसी स्थान पर रखा है। लगता है चारित्र प्राभृत के टीकाकार को अनुवीचि भाषण की उपेक्षा अखरी है, अतः उन्होंने इसी के साथ एक दूसरा प्रकार भी प्रस्तुत किया है, जिसमें अमोह के स्थान पर अनुवीचि भाषण को रखा है। जैसे—

अकोहणो अलोहो य भय हस्स विवज्जिदो।
अणुवीचि भासकुसलो विदियं वदमिस्सदो॥[2]

टीकाकार ने अमोह का अर्थ 'अनुवीचि भाषण कुशलता' ही किया है, किन्तु अनुवीचि भाषण का तात्पर्य उनका सर्वथा भिन्न-सा प्रतीत होता है। आगमों आदि में 'अनुवीचि भाषणता' का अर्थ है—'अनुविचिन्त्य भाषणं' विचार पूर्वक बोलना, चिन्तन करके बोलना, जबकि चारित्र प्राभृत की टीका में कहा है—"वीची वाग्लहरी नामनुकृत्य या भाषा वर्तते सानुवीची भाषा—जिन-सूत्रानुसारिणी भाषा" अनुवीची भाषा पूर्वाचार्यसूत्रपरिपाटीमनुल्लंघ्य भाषणीय मित्यर्थः।" वीची का अर्थ है लहर अथवा वचन तरंग, उस वचन तरंग का अनुसरण करके बोली जाने वाली भाषा अनुवीची भाषा है अर्थात् सूत्रों का अनुसरण करने वाली और पूर्वाचार्य, पूर्व परम्परा का अनुगमन करने वाली भाषा अनुवीचि भाषा है। आगे चलकर इस भाषा पर भी चिन्तन चला

१. कोह भय हास लोहा मोहा विवरीय भावणा चेव।
विदियस्स भावणा ए पचेव य तहा होंति॥
—चारित्र प्राभृत ३२

२. चारित्रप्राभृत ३२ की टीका।

होगा और फिर आचार्य आगम-गत परिभाषा के नजदीक आ गए और फिर अनुवीची भाषण के दोनों ही अर्थ करने लग गए।[1]

अचौर्य महाव्रत की भावाना तो वहाँ सर्वथा नए रूप में ही प्रस्तुत की गई है। जैसे—

३. अचौर्य महाव्रत[2]

(१) शून्यागार निवास,
(२) विमोचितावास,
(३) पर-उपरोध न करना,
(४) एषणा शुद्धि,
(५) साधर्मिक अविसंवाद (साधर्मिकों के साथ विसवाद न करना।

४. ब्रह्मचर्य महाव्रत

(१) महिला अवलोकन विरति,
(२) पूर्वभुक्त का स्मरण न करना,
(३) ससक्त वसति विरति,
(४) स्त्री राग कथा विरति,
(५) पौष्टिक रस विरति।

५. अपरिग्रह महाव्रत

(१) मनोज्ञ अमनोज्ञ शब्द में राग-द्वेष का वर्जन
(२) „ „ रूप मे „ „ „ „
(३) „ „ रस में „ „ „ „
(४) „ „ गंध मे „ „ „ „
(५) „ „ स्पर्श मे „ „ „ „

इस प्रकार कहीं-कहीं नाम भेद और कहीं-कहीं शब्द-शैली का भेद होते हुए भी पच्चीस भावनाओं के स्वरूप में प्रायः सर्वत्र समानता है। वैसे आचार्य उमास्वाति ने अचौर्य महाव्रत की भावनाओं में कुन्दकुन्दाचार्य का अनुगमन

१. अनुवीचि भाषणं अनुलोमभाषणमित्यर्थ……विचार्य भाषणं अनुवीचि भाषणमिति वा। —तत्त्वार्थ राजवार्तिक ७/५

२. सुण्णायार निवासो विमोचितवास जं परोधं च।
एसणसुद्धि सउत्तं साहमी संविसंवादो। —चारित्र प्राभृत ३३

किया है, किन्तु ब्रह्मचर्य की भावना में कुछ नयी बात भी कही है, जैसे उन्होंने ब्रह्मचर्य की पांच भावनाएं इस प्रकार बतायी हैं[1]—

(१) स्त्रीराग कथा वर्जन,
(२) मनोहर अंग निरीक्षण विरति,
(३) पूर्वरतानुस्मरण परित्याग,
(४) वृष्येष्ट रस परित्याग (पौष्टिक आहार वर्जन),
(५) स्व-शरीर संस्कार त्याग (शरीर की शोभा-विभूषा वर्जन)।

शोभा-विभूषा का परित्याग करने का उपदेश आगमों में भी स्थान-स्थान पर आया है और ब्रह्मचर्य की नववाड़ तथा दस समाधिस्थान में भी—

विभूसं परिवज्जेज्जा सरीर परिमण्डणं।[2]

शरीर परिमण्डन रूप विभूषा के त्याग का निर्देश दिया गया है, अतः इस में भी आगम की भावना स्पष्ट ध्वनित हो रही है।

इस प्रकार चारित्र को सुस्थिर एवं निर्दोष रखने के लिए इन पच्चीस भावनाओं का अनुचिन्तन, मनोयोग के साथ पुनः पुनः मनन करना आवश्यक है। ये चारित्र की पच्चीस भावनाएँ हैं।[3]

आठ अनुप्रेक्षाएँ

चारित्र भावना के अतिरिक्त आगमो में आठ अनुप्रेक्षाओं का भी वर्णन आता है। अनुप्रेक्षा का अर्थ है आत्मचिंतन अथवा आत्मा सम्बन्धी निदिध्यासन। धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षा और शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षा इस प्रकार आठ अनुप्रेक्षाएं बताई गई है,[4] जो इस प्रकार है—

धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं—

१. एकत्वानुप्रेक्षा—आत्मा के एकत्व पर चिन्तन,
२. अनित्यानुप्रेक्षा—बाह्य संयोगों की अनित्यता का चिन्तन,
३. अशरणानुप्रेक्षा—संसार में अशरणता का चिन्तन,
४. संसारानुप्रेक्षा—संसार सम्बन्धी विचित्रता का चिन्तन।

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं—

१. अनन्त वृत्ति अनुप्रेक्षा—अनादि भव परम्परा का चिन्तन,
२. विपरिणामानुप्रेक्षा—पदार्थों की परिणमनशीलता का चिन्तन,

---

१. तत्वार्थसूत्र ७।७
२. उत्तराध्ययन १६।६
३. पच्चीस भावनाओं का विस्तृत वर्णन अगले प्रकरण में देखिए।
४. स्थानांग सूत्र ४।१

३. अशुभानुप्रेक्षा—बाह्य संयोगों की अशुभता का चिन्तन,
४. अपायानुप्रेक्षा—बंध हेतु आस्रव आदि पर चिन्तन।

इन अनुप्रेक्षाओं से आत्मा अशुभ ध्यान से हटकर शुभ ध्यान में स्थिर होता है, उसके संस्कारों में सांसारिक वस्तुओं के प्रति विरक्ति और उपेक्षा का भाव दृढ़ होता है। इसलिए धर्म एवं शुक्ल ध्यान में इनका विशेष महत्त्व है।

वैराग्य भावना

यद्यपि १२ वैराग्य (अनित्यता आदि) भावनाओं में उक्त आठ अनुप्रेक्षाओं का समावेश भी हो जाता है, किन्तु आगमों में बारह वैराग्य भावनाओं का क्रमबद्ध वर्णन कहीं नहीं मिलता। वहाँ यत्र-तत्र प्रकीर्ण रूप में ही भावनाओं का वर्णन मिलता है, जैसे आठ अनुप्रेक्षाओं का वर्णन एक जगह कर दिया। इसके अलावा संवर-निर्जरा-बोधिदुर्लभ भावनाओं एवं लोक-स्वरूप का वर्णन अन्यत्र किया गया है। बीज रूप में प्रायः सभी भावनाओं का वर्णन मिलता है, किन्तु जैसा व्यवस्थित वर्णन २५ चारित्र भावनाओं का तथा आठ अनुप्रेक्षाओं का है, वैसा बारह वैराग्य भावनाओं का वर्णन नहीं है। बारह भावनाएँ वैराग्य प्रधान होने से उन्हें 'वैराग्य-भावना' कह सकते हैं, यद्यपि प्राचीन साहित्य में उनकी कोई एक संज्ञा निश्चित नहीं है, किन्तु उनका लक्ष्य वैराग्य की अभिवृद्धि ही है, तथा उनका चिन्तन भी वैराग्य मूलक ही है। आचार्य उमास्वाति ने इसीलिए कहा है—इन भावनाओं का चिन्तन—'संवेगवैराग्यार्थम्'[1] संवेग और वैराग्य की अभिवृद्धि के लिए है।

बारह भावनाओं का वर्गीकृत वर्णन सर्वप्रथम दिगम्बर परम्परा के महान आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ 'बारस-अणुवेक्खा' में मिलता है। संभवतः आगम-गत वर्णनों को आधार मानकर वैराग्य प्रधान चिन्तन को एक व्यवस्थित रूप देने के लिए ही आचार्य ने उन्हें बारह अनुप्रेक्षा के नाम से संकलित किया है। क्योंकि आठ अनुप्रेक्षाएं तो आगम में वर्णित हैं ही, चार और सकलित करके उनको बारह अनुप्रेक्षा के रूप में प्रस्तुत कर दिया है। वहाँ बारह अनुप्रेक्षाएं इस प्रकार बताई हैं[2]—

१. तत्त्वार्थसूत्र ७।७
२ अद्धुवमसरणमेगत्त मण्णसंसार लोगमसुचित्तं।
आसवसंवरणिज्जर धम्मं बोहि च चितेज्जा॥
—बारस अणुवेक्खा २ (रचना वि० २री सदी)

१. अनित्य,	५. संसार,	९. संवर,
२. अशरण,	६. लोक,	१०. निर्जरा,
३. एकत्व,	७. अशुचि,	११. धर्म,
४. अन्यत्व,	८. आस्रव,	१२. बोधिदुर्लभ ।

आचार्य कुन्दकुन्द के पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने इन वैराग्य प्रधान बारह भावनाओं के वर्गीकरण को बड़ा महत्व दिया और अपने ग्रन्थों में इन्हीं को आधार मानकर विस्तृत विवेचन भी किया है। आचार्य उमास्वाति ने अपने दो प्रमुख व प्रसिद्ध ग्रन्थों में बारह भावनाओं का सुन्दर वर्णन किया है। तत्वार्थसूत्र में[1] 'अनुप्रेक्षा' नाम देकर सिर्फ उनका संक्षिप्त सूचन किया है जबकि प्रशमरतिप्रकरण में—'भावना द्वादश विशुद्धाः' भावना संज्ञा देकर उनका बड़ी ही वैराग्य जनक ललित शैली में वर्णन किया है।[2] यद्यपि उनके क्रम में थोड़ा बहुत आगे-पीछे का अन्तर है किन्तु शब्दावली एक ही है। इस वर्णन को अनेक प्रसिद्ध आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में अपनी स्वतंत्र शैली में पल्लवित-पुष्पित किया है जिनके कुछ नाम यहाँ बता देना अपेक्षित होगा। श्रीमद्वट्टकेर,[3] आचार्य नेमिचन्द्र[4], सोमदेव सूरि[5], आचार्य शुभचन्द्र[6], आचार्य हेमचन्द्र[7], स्वामी कार्तिकेय[8], उपाध्याय विनयविजयजी[9], शतावधानी पं० श्री रत्नचन्द्र जी म०[10] आदि विद्वानों ने इन पर विस्तृत विवेचन किया है।

यहाँ पर जो उनका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया जाएगा, उसका आधार मूलतः तो आगम है ही, किन्तु आचार्य हेमचन्द्र का 'योगशास्त्र' और उपाध्याय विनयविजयजी का 'शान्त सुधारस गेय-काव्य' प्रमुख रूप से होंगे।[11] इसी के

१. तत्वार्थसूत्र ९।७
२. प्रशमरति प्रकरण ८।१४९-१५०
३. मूलाचार ८। (वि० श० ५)
४. बृहद् द्रव्यसंग्रह ३५ (वृत्ति) (वि० श० ११)
५. यशस्तिलक चम्पू २।१०५-५७ (वि० श० १२)
६. ज्ञानार्णव २ (वि० श० १२)
७. योगशास्त्र ४।५५-५६ (वि० श० १२)
८. कार्तिकेयानुप्रेक्षा २-३ (वि० श० १२)
९. शान्तसुधारस (वि० श० १७)
१०. भावना शतक (वि० श० २०)
११. (क) योगशास्त्र (४) में भावना विषयक क्रम इस प्रकार है—

...अनित्यतामशरणं भवमेकत्वमन्यताम् ॥५५॥
अशौचमाश्रवविधिं संवरं कर्मनिर्जराम् ।
धर्मस्वाख्याततां लोकं द्वादशीं बोधि भावनाम् ॥५६॥

आधार पर श्री रत्नचन्द्र जी म०, पूज्यपाद तिलोक ऋषि जी म०, कविवर श्री अमीऋषिजी म० आदि ने काव्यों की रचना कर भावना की महिमा गाई है।

योग भावना—

बारह प्रकार की वैराग्य भावनाओं के अतिरिक्त प्राचीन ग्रन्थों में कुछ अन्य भावनाओं का वर्णन भी किया गया है। यह वर्णन प्रायः बिखरा हुआ-सा है। कहीं मैत्री, प्रमोद आदि चार योग भावनाओं का, कहीं सत्व, तप आदि पांच भावनाओं का और कहीं ज्ञान, दर्शन आदि चार भावनाओं का वर्णन मिलता है। इनमें मैत्री आदि चार भावनाएँ जीवन व्यवहार एवं योग साधना की श्रेष्ठतम भावनाएं कही जा सकती हैं। वैराग्य भावनाए जहां एकान्त निर्वेदमूलक तथा निवृत्ति-प्रधान हैं, वहाँ ये चार भावनाएं जीवन की प्रवृत्तियों को सत् की ओर प्रेरित करने वाली है। वास्तव में ये न केवल श्रमण या श्रावक के लिए ही, किन्तु प्रत्येक मानव के लिए उपयोगी तथा आवश्यक है, इसलिए हम इन्हें योग भावना कह सकते है। सत्य तो यह है कि इन चार भावनाओं के आधार पर ही मानव जीवन का कर्मयोग सुन्दर रीति से चल सकता है।

इन चार योगोन्मुखी भावनाओं का व्यवस्थित वर्णन सर्वप्रथम आचार्य उमास्वाति ने तत्वार्थसूत्र में किया है, जो इस प्रकार है—

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि सत्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु।[1]

१. समस्त प्राणियो के प्रति—मैत्री भावना,

२. गुणाधिक जनों के प्रति-प्रमोद भावना,

३. दुःखी जनों के प्रति-कारुण्य भावना,

४. प्रतिकूलवर्ती लोगों के प्रति-माध्यस्थ भावना।

इसी को स्पष्ट करते हुए आचार्य अमितगति ने कहा है—

सत्वेषु मैत्री, गुणिषु प्रमोदं
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वं।
माध्यस्थ्यभावं विपरीत वृत्तौ,
सदा ममात्मा विदधातु देव।

(ख) शांत सुधारस (१) मे भावना विषयक श्लोक निम्न है—

अनित्यातामशरणते भवमेकत्वमन्यताम्।
अशोचमाश्रवं चात्मन्! संवरं परिभावय ॥७॥
कर्मणो निर्जरा धर्म-सुकृतां लोक-पद्धतिम्।
बोधि दुर्लभतामेता भावयन् मुच्यसे भवात् ॥८॥

१. तत्वार्थ सूत्र ७/६

जीवमात्र के प्रति मैत्री, गुणिजनों के प्रति गुणानुराग, दुःखी जीवों के प्रति करुणा तथा विपरीत वृत्ति वालों के प्रति मध्यस्थ भावना मेरी आत्मा में सदैव बनी रहे।

यद्यपि उक्त चारों भावनाएं बीज रूप में आगमों में यत्र-तत्र विद्यमान हैं, उनके स्वर भ० महावीर की वाणी में यदा-कदा ध्वनित होते रहे हैं। यथा—

मैत्री भावना—

'मेत्तिं भूएसु कप्पए'।[1]

प्राणि मात्र के साथ मित्रता रखें।

'मित्ती मे सव्वभूएसु।'[2]

मेरी सब प्राणियों के साथ मित्रता है।

प्रमोद भावना—

सुप्पडियाणंदा।[3] गुणीजनों को देखकर आनंदित होना चाहिए।

जे माणिया सययं माणयंति।[4]

जो मान्य (गुणी) जनों का सदा सम्मान करते हैं।

कारुण्य भावना—

साणुक्कोसयाए[5] ...प्राणियों के प्रति अनुकंपा रखने से......

माध्यस्थ्य भावना—

मज्झत्थो निज्जरापेही समाहिमणुपालए।[6]

मध्यस्थ भाव से निर्जरा की अपेक्षा रखता हुआ समाधि में स्थित रहे।

ये चार भावनाएं न केवल साधक-जीवन में किन्तु प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में पद-पद पर उपयोगी है। प्रत्येक जीवन व्यवहार में उतारने योग्य है, इस लिए यहाँ हम 'व्यवहार भावना' के रूप में मानते हुए भी योग की आवश्यक भावना मान कर योग भावना नाम देकर आगे इसका विस्तार से वर्णन करेंगे।[7]

---

१. सूत्रकृतांग १।१५।३ तथा उत्तराध्ययन ६।१२
२. श्रमणसूत्र
३. औपपातिक सूत्र, सूत्र १, प्रश्न २०
४. दशवैकालिक ९।३।१३
५. औपपातिक (भगवद् उपदेश)
६. आचारांग १।८।५
७. इन चार भावनाओं का वर्णन योगदर्शन में भी मिलता है। देखें पातंजल योगसूत्र १।३३

जिनकल्प भावना

उक्त भावनाओं के अतिरिक्त ग्रंथों में पांच जिनकल्प भावनाओं का भी वर्णन मिलता है। इन्हें 'जिनकल्प भावना' इसलिए कहते है कि जिनकल्प प्रतिमा स्वीकार करने को उद्यत हुए भिक्षु के लिए इन भावनाओं का अनुचिन्तन विशेष रूप से बताया गया है। इनका वर्णन करते हुए कहा है—

> **तवेण सत्तेण सुत्तेण एगत्तेण बलेण य।**
> **तुलणा पंचहा वुत्ता जिणकप्पं पडिवज्जओ ॥**[1]

जिनकल्प स्वीकार करने के इच्छुक श्रमण को पहले इन पांच भावनाओं से मन को भावित बनाकर उसके योग्य बनाना चाहिए। क्योंकि जिनकल्प का कठोर मार्ग स्वीकार करने में अत्यधिक सत्व, साहस और ज्ञान आदि की अपेक्षा रहती है, जिसका विकास, वृद्धि और संस्कार इन भावनाओं से सिद्ध होता है, इसीलिए आचार्यों ने इन्हें भावना न कहकर 'तुलना', 'तुला' कहा है, जिन पर अपने धैर्य-स्थैर्य-श्रुत आदि को तोला जा सके। पांच भावनाएं हैं—

१. तप भावना,
२. सत्व भावना,
३. श्रुत भावना,
४. एकत्व भावना,
५. बल भावना।

ये भावनाएं साधारण साधक के जीवन में भी धीरता, स्थिरता आदि का उचित विकास कर उसे आध्यात्मिक मार्ग पर अग्रसर करने में सफल हो सकती है, इसलिए इनका विस्तृत वर्णन आगे किया जाएगा।

भावनाओ का संक्षिप्त नाम सूचन किया जा चुका है। उनकी व्यवस्थित तालिका पृष्ठ ३५-३६-३७ पर दी गई है। इसे देखने से भावना के समस्त-भेद-प्रभेदों की जानकारी सुगमता से हो जायेगी।

ज्ञान चतुष्क भावना

कुछ ग्रन्थों में इन भावनाओं के अतिरिक्त चार भावनाओ का वर्णन भी मिलता है। जिन्हें हम 'ज्ञान चतुष्क भावना' कह सकते हैं। आचार्य हरिभद्र ने

---

१. बृहत्कल्प भाष्य गाथा १३२८। विस्तृत वर्णन आगे देखिए।

भावनाओं की तालिका

भावना

- अशुभ भावना
- शुभ भावना

अशुभ भावना

कंदर्प	आभियोगी	किल्विषी	आसुरी	सम्मोही	नवक
१. कन्दर्प,	१. कौतुक कर्म,	१. ज्ञान का अवर्णवाद	१. अनुबद्ध विग्रह,	१. उन्मार्ग देशना	१. हिंसा
२. कौत्कुच्य,	२. भूति कर्म,	२. केवली का ,,	२. संसक्ततपा,	२. मार्ग दूषणा,	२. मृषा,
३. द्रवशीलता,	३ प्रश्न,	३. धर्माचार्य का ,,	३. निमित्तादेशी,	३. मार्ग विप्रतिपत्ति,	३. अस्तेय,
४. हासकर,	४. प्रश्नाप्रश्न	४. संघ का ,,	४. निष्कृप,	४. स्व-मोह,	४. अब्रह्मचर्य
५. पर-विस्मापन।	५. निमित्त।	५. साधुओं का ,,	५. निरनुकंप।	५. पर-मोह।	५. परिग्रह,
					६. क्रोध
					७. मान,
					८. माया,
					९. लोभ,

शुभ भावना

चारित्र भावना (२५)	ध्यानानुप्रेक्षा (८)	वैराग्य भावना (१२)	योग भावना (४)	जिनकल्प भावना (५)	ज्ञानचतुष्क भावना (४)
१. अहिंसा महाव्रत-	१. धर्म्यध्यान-	१. अनित्य भावना,	१. मैत्री भावना	१. तपोभावना,	१. ज्ञान भावना,
(i) ईर्या समिति,	(i) एकत्वानुप्रेक्षा,	२. अशरण भावना,	२. प्रमोद भावना,	२. सत्व भावना	२. दर्शन भावना,
(ii) मनःसमिति,	(ii) अनित्यानुप्रेक्षा,	३. संसार भावना,	३. कारुण्य भावना,	३. सूत्र भावना,	३. चारित्र भावना,
(iii) वचन समिति,	(iii) अशरणानुप्रेक्षा,	४. एकत्व भावना,	४. माध्यस्थ्य भावना।	४. एकत्व भावना,	४. वैराग्य भावना।
(iv) एषणा समिति,	(iv) संसारानुप्रेक्षा,	५. अन्यत्व भावना,		५. बल भावना,	
(v) आदान समिति।	२. शुक्लध्यान—	६. अशुचि भावना,			
	(i) अनन्तवृत्ति-अनुप्रेक्षा,	७. आस्रव भावना,			
	(ii) विपरिणामानुप्रेक्षा,	८. संवर भावना.			
२. सत्य महाव्रत—	(iii) अशुभानुप्रेक्षा,	९. निर्जरा भावना,			
(i) अनुवीचि भाषण,	(iv) अपायानुप्रेक्षा,	१०. धर्म भावना,			
(ii) क्षमा भावना,		११. लोक भावना,			
(iii) अलोभ,		१२. बोधि दुर्लभ भावना।			
(iv) अभय,					
(v) हास्य मुक्ति।					

३. अचौर्य महाव्रत—

(i) विविक्त वास वसति,
(ii) अवग्रह याचन,
(iii) शय्या समिति,
(iv) पिण्डपात्र त्याग समिति,
(v) विनय प्रयोग

४. ब्रह्मचर्य महाव्रत—

(i) असंसक्तवास वसति.
(ii) स्त्री कथा वर्जना,
(iii) स्त्री अंग अवलोकन वर्जना,
(iv) पूर्व भोग स्मृति वर्जना,
(v) प्रणीत भोजन वर्जना,

५. अपरिग्रह महाव्रत—

(i) श्रोत्र-विषय में समभाव,
(ii) चक्षु-विषय में समभाव,
(iii) घ्राण-विषय में समभाव,
(iv) रस-विषय में समभाव,
(v) स्पर्श-विषय में समभाव।

शुभ भावनाएं कुल	= ५८
अशुभ भावनाएं कुल	= ३४

ध्यानशतक[1] में तथा आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण[2] में इनका विस्तृत वर्णन किया है। आचार्य हरिभद्र ने कहा है—

पुव्व कयब्भासो भावणाहि झाणस्स जोग्गयमुवेइ।
ताओ य नाण-दंसण चरित्त वेरग्ग जाणियाओ ॥३०॥

१. ज्ञान भावना,
२. दर्शन भावना,
३. चारित्र भावना,
४. वैराग्य भावना।

उक्त चार भावनाओं के द्वारा सतत अभ्यास करने से ध्यान की पूर्वभूमिका–पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है, जिससे साधक ध्यान की योग्यता प्राप्त कर लेता है। एक प्रकार से ये भावनाएं ध्यान का पूर्वाभ्यास है।

वैसे मैत्री, प्रमोद आदि भावनाओं को ज्ञान भावना, पांच महाव्रतों की भावना को चारित्र भावना तथा बारह भावनाओं को वैराग्य भावना के अन्तर्गत भी लिया जा सकता है।

कहीं-कहीं उक्त चार की संख्या में तप को और जोड़कर पांच नाम भी गिनाए गए है—

दंसण-णाण-चरित्ते-तवे-वेरग्गे य होइ उ पसत्था।
जा य जहा ताय तहा, लक्खण वोच्छं सलक्खणओ ॥[3]

इन भावनाओं का यत्किंचित् वर्णन आचार्य हरिभद्र एवं जिनसेन दोनों ने ही किया है। यहाँ पर सिर्फ भावनाओं के प्रकार तथा परिवार का विवेचन ही करना है, इसलिए उनका नामोल्लेख कर दिया गया है, विस्तृत वर्णन आगे किया जायेगा।

भावनाओं का यह विशाल परिवार इस बात की सूचना देता है कि चित्त-वृत्तियों को किसी-न-किसी प्रकार से शुभ की ओर उन्मुख रखना चाहिए। शुभ के संस्कार जैसे-जैसे सुदृढ़ होंगे, वैसे-वैसे आत्मा आध्यात्मिकता की ऊंचाई पर चढ़ती रहेगी और एक दिन भावना के बल पर वह सम्पूर्ण भव से ही मुक्ति प्राप्त कर यह सिद्ध कर देगी 'भावना भवनाशिनी', भावना 'भव' का, जन्म-मरण की अनन्त परम्परा का नाश करने वाली परम रसायन है। इसी लक्ष्य को प्राप्त करने हम आगे भावना योग का विस्तृत वर्णन करने उद्यत हुए है।

१. ध्यानशतक गाथा ३० से ३४।
२. आदिपुराण २१।९५ से १००।
३. अभिधान राजेन्द्र 'भावना' शब्द में उद्धृत गाथा।

खण्ड २

अशुभ भावना

जो संजओ वि एआसु अप्पसत्थासु भावण कुणइ ।
सो तव्विहेसु गच्छइ, सुरेसु भइओ चरणहीणो ।

—बृहत्कल्पभाष्य १२९४

यदि कोई संयती होकर भी अप्रशस्त भावना का आचरण करता है तो वह आयु पूर्ण कर उस भावना के अनुसार किल्विषिक आदि निम्न देव योनियों में उत्पन्न होता है। यदि इनका आचरण करने वाला चारित्र रहित व्यक्ति है, तो वह नरक-तिर्यंच-मनुष्य आदि की निम्न गतियों में जन्म लेता है।



१. अशुभ भावना का स्वरूप

मन जब राग-द्वेष, मोह आदि के अशुभ विकल्पों में उलझकर निम्न गति करता है, दुष्ट चिन्तन करता है, तो वह अशुभ भावना कही जाती है। अशुभ भावना जीव की दुर्गति का कारण बनती है, उसे पतन की ओर ले जाती है, ऊपर से नीचे की ओर ढकेलती है और कुछ कार्य न करते हुए भी सिर्फ भावना-मात्र से ही आत्मा महान दुष्कर्मों का बन्ध कर लेता है। आपने सुना है, प्रसन्न-चन्द्र राजर्षि ध्यानमुद्रा धारण किये धूप में आतापना ले रहे हैं, भयंकर कष्ट सहन कर रहे है और देखने वाले धन्य-धन्य कहकर चरणों में शीष झुका रहे है। उनकी उग्रसाधना को देखने से लगता है, कितने बड़े योगिराज हैं, यदि आयुष्य पूर्ण करें तो इसी क्षण मोक्ष में चले जाएँ। लेकिन जब राजा श्रेणिक भगवान् महावीर से पूछते हैं कि तपस्वीराज किस गति में जायेंगे तो भगवान उत्तर देते है—'प्रथम नरक।' 'दूसरी नरक' 'तीसरी नरक'। सभी श्रोता चकित रह जाते है। यह क्या! इतने बड़े योगिराज, और नरकगति में? बन्धुओ, इसका क्या कारण? वे शान्त खड़े हैं, ध्यान लगाये आतापना ले रहे है, और नरकगति? हाँ, यह है भावना का परिणाम। बाहर से साधु का वेश है, किन्तु भीतर में योद्धा बने हुए हैं। विचारों के रणक्षेत्र में शत्रुओं के साथ संग्राम कर रहे है और धड़ाधड़ उनके सिर उडा रहे हैं। बाहर वीतराग दीख रहे है, लेकिन मन के भीतर राग-द्वेष की उथल-पुथल मची हुई है। संक्लिष्ट भावना के कारण ही महान् तपस्वी, ध्यानयोगी की नरकगति बताई गई है। और जब भावना का प्रवाह बदला, धारा बदली तो कुछ क्षण बाद वही राजर्षि, जो सातवीं नरक के योग्य कर्म बाँध रहे थे, कर्मदलों का संहार कर केवल-ज्ञानी बन गये। देखते-ही-देखते देवगण कैवल्य महोत्सव करने धरा पर उतर आये—यह चमत्कार है, शुभ भावना का, असंक्लिष्ट भावना का। तो कारण यह है कि भावना जब अशुभ धारा में बहने लगती है तो वह मानव-जीवन को पतन की ओर, दुर्गति की ओर ले जाती है। तपस्वी और योगिराज को भी नरकगति का अथवा दुर्गति का अतिथि बना देती है। इसलिए शास्त्रों में अशुभ भावना का स्वरूप बताकर उसका त्याग करने की शिक्षा दी है।

नौ भेद

बृहत्कल्प भाष्य में भावना के प्रशस्त, अप्रशस्त यह दो रूप बताकर अप्रशस्त भावना के नौ भेद बताये गए है। कहा है—

> पाणिवह मुसावाए अदत्तमेहुण परिग्गहे चेव।
> कोहे माणे माया लोभे य हवंति अप्पसत्था ॥[1]

(१) हिंसा सम्बन्धी भावना,
(२) मृषावाद सम्बन्धी भावना,
(३) अदत्तादान सम्बन्धी भावना,
(४) मैथुन सम्बन्धी भावना,
(५) परिग्रह सम्बन्धी भावना,
(६) क्रोध सम्बन्धी भावना,
(७) मान सम्बन्धी भावना,
(८) माया सम्बन्धी भावना,
(९) लोभ सम्बन्धी भावना।

उक्त विषयों में मन की जो धारा बहती है, वह अशुभोन्मुखी होती है, मलिन होती है, चित्त की वृत्तियां दूषित रहती है और क्षण-क्षण कर्मों का नवीन बन्ध करती जाती हैं। इसलिए इन विषयों से सम्बन्धित विचारों को, चिन्तन को अशुभ भावना कहा गया है। अशुभ भावना को संक्लिष्ट भावना या अप्रशस्त भावना भी कहा गया है।

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने हिंसानुबन्धी अप्रशस्त भावना के प्रवाह में बहकर ही नरकयोग्य कर्मों का बन्धन किया था। हिंसानुबन्धी भावना की आग जब मन में प्रज्वलित होती है तो दया का रस सूख जाता है, मन निष्करुण, कठोर और क्रूर हो जाता है। असत्य सम्बन्धी भावना में मन चंचल, भयभीत और अस्थिर हो उठता है। स्तेय—चोरी की भावना में लीन मन लोगों के परिचय से डरता है, दूसरों को धोखा देने व फँसाने के लिए जाल बुनता रहता है। रात-दिन चोरी, दगा, झूठ और मायाचार के विकल्पों में ही उलझा रहता है। अब्रह्मचर्य की भावना से कलुषित अन्तःकरण मोह एवं वासना की गन्दगी से दूषित हो जाता है, वह परस्त्रियों की तरफ ताकता है, उनके प्रति दुष्ट विचार करता है और एक प्रकार से कामोत्तेजना में पागल-सा बना रहता है। इसी

१. बृहत्कल्पभाष्य (अभिधान राजेन्द्रकोष भाग ४ भावना शब्द में उद्धृत)

प्रकार परिग्रह, धन-धान्य आदि की ममता से ग्रस्त मन संसार में चारों ओर धन-ही-धन देखता है। वह प्राणों की बाजी लगाकर भी इज्जत, सुख और स्वास्थ्य की ओर दुर्लक्ष्य करके धनार्जन के लिए अहर्निश चिंतित रहता है।

इसी प्रकार अन्य अशुभ विचारों में लीन रहने वाला मन निरन्तर दूषित और अशान्त रहता है। जैसे क्रोध आदि की भावना भी मनुष्य को अशान्त और भ्रान्त बनाये रखती है। अर्जुन माली, जो एक मालाकार था, यक्ष का उपासक था, उसे हत्यारा बनाने वाली क्रोध भावना ही थी। क्रोधोन्मत्त होकर ही उसने प्रतिदिन सात प्राणियों की हत्या करने का दुष्ट संकल्प किया। रावण जैसे नीतिज्ञ, बलवान और विद्वान् राजा को भी संसार में कुत्ते की तरह अपमान और घृणा का पात्र बनाने वाली भी काम-भावना एवं मान-भावना थी। कामवश उसने सीता का हरण किया और फिर मान के वश होकर राम के साथ युद्ध किया, हार खाकर भी अपना हठ नहीं छोड़ा। मायादास और मम्मण जैसे सैकड़ों-हजारों प्राणियों को निरन्तर अशान्ति और लोभ की आग में जलानेवाली लोभ या परिग्रह भावना थी। तो इस प्रकार ये अशुभ भावनाएँ आत्मा को दुर्गति की ओर ले जाने वाली है।

चार तथा पांच भेद

उत्तराध्ययन सूत्र के ३६ वें अध्ययन[1] मे तथा स्थानांग सूत्र में चार अशुभ भावनाओं का वर्णन किया गया है। कहीं-कहीं उन चार भावनाओं में एक भावना का और नाम मिलता है। इस प्रकार पाँच अशुभ भावनाएँ ग्रन्थों मे बताई गई है। स्थानांग में चार-चार अशुभ भावनाओं के चार-चार अन्तर भेद करके अशुभ भावना के सोलह प्रकार बताये है। उत्तराध्ययन एवं स्थानांग में नाम तथा क्रम मे कुछ अन्तर भी है। बृहत्कल्प भाष्य में पाँच अशुभ भावना और उनके पच्चीस अवान्तर भेद मिलते हैं। उत्तराध्ययन मे भावनाओं का उल्लेख निम्नानुसार है—

(१) कन्दर्प भावना,
(२) आभियोग भावना,
(३) किल्विषी भावना,
(४) आसुरी भावना,

स्थानांग में चार अशुभ भावनाओं का वर्णन चारित्र के शुभ फल का

---

१. (क) उत्तराध्ययन ३६।२६१ से २६४
(ख) स्थान ४,

अपध्वंस (विनाश) करने वाली भावना के रूप में किया है। वहाँ नाम और क्रम इस प्रकार है—

आसुरे —आसुरी भावना,
आभिओगे —अभियोगी भावना,
सम्मोहे —सम्मोही भावना,
देवकिब्बिसे—देव किल्विषिकी भावना,

चारों भावनाओं के चार-चार प्रकार भी बताये है —

(१) आसुरी भावनाओं के चार भेद

१—क्रोधी स्वभाव,
२—अति कलह-शीलता,
३—आहारादि में आसक्ति रखकर तप करना,
४—निमित्त प्रयोग द्वारा आजीविका करना।

(२) अभियोगी भावना के चार भेद

१—आत्मोत्कर्ष—अपने मुँह से अपनी प्रशंसा करना।
२—पर-परिवाद—दूसरे की निन्दा करना।
३—भूतिकर्म—रोगादि की शान्ति के लिए अभिमंत्रित राख आदि देना।
४—कौतुक कर्म—अनिष्ट शान्ति के लिए मंत्रोपचार आदि कर्म करना।

(३) सम्मोही भावना के चार भेद

१—उन्मार्ग का उपदेश देना।
२—सन्मार्ग यात्रा में अन्तराय या बाधा डालना,
३—कामभोगों की तीव्र अभिलाषा करना,
४—अतिलोभ करके बार-बार नियाणा (निदान) करना।

(४) देव किल्विषिकी भावना के चार भेद

१—अरिहन्तों की निन्दा करना,
२—अरिहंत-कथित धर्म की निन्दा करना,
३—आचार्य उपाध्याय की निन्दा करना,
४—चतुर्विध संघ की निन्दा करना।

इस प्रकार चार अशुभ भावना तथा उनके सोलह भेद बताये है, जिनके आचरण से चारित्र दूषित होता है एवं चारित्र के फल का विनाश होता है।[१]

---

१ स्थानांगसूत्र ४।४, सूत्र ३५४ (मुनि कन्हैयालाल जी 'कमल' द्वारा सम्पादित)

आगमों में अप्रशस्त भावना के नाम व क्रम में कुछ अन्तर के साथ चार भावनाओं का वर्णन मिलता है, जबकि बृहत्कल्प भाष्य में इनके साथ सम्मोही भावना और जोड़कर पाँच अप्रशस्त भावनाएँ बताई गई हैं। इन पाँच भावनाओं का विस्तृत वर्णन इस प्रकार है—

कंदप्प देव किब्बिस, अभिओगा आसुरा य सम्मोहा।
एसा य संकिलिट्ठा, पंचविहा भावणा भणिया॥[1]

(१) कन्दर्प भावना,
(२) किल्विषिक भावना,
(३) आभियोगी भावना,
(४) आसुरी भावना,
(५) सम्मोही भावना।

भगवती आराधना में भी अशुभ भावनाओं के नाम उक्त संज्ञाओं से मिलते हुए है। यथा—

कंदप्प देवखिब्भिस, अभिओगा आसुरीय सम्मोहा।
एदाहु संकिलिट्ठा पंचविहा भावदा भणिदा।[2]

१. कान्दर्पी (कामचेष्टा)
२. कैल्विषी (क्लेशकारिणी)
३. आभियोगिकी (युद्ध भावना)
४. आसुरी (सर्वभक्षणी)
५. संमोही (कुटुम्ब मोहिनी)

ये पांच भावनाएँ संक्लिष्ट कही गयी है।

इन भावनाओं का विस्तृत विवेचन तथा उनके अशुभफल का दिग्दर्शन अगले प्रकरणों में कराया जा रहा है।

☆

१ बृहत्कल्प भाष्य, भाग २, गाथा १२९३।

२. भगवतीआराधना मूल १७९।३९९। तथा देखें—मूलाचार गाथा ६३, ज्ञानार्णव ४।४१।—जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३, पृ० २३६

२. कन्दर्प भावना

१. कन्दर्प भावना

कन्दर्प का अर्थ है काम (कन्दर्पः कामः)। काम, वासना, विकार आदि को बढ़ाने वाले, हास्य, कामचेष्टा एवं दुःशील को उत्तेजन देने वाले जितने भी भाव, वचन प्रयत्न और चेष्टाएं है, वे सब कन्दर्प भावना के अन्तर्गत लिए गये हैं।[1] इसके पाँच भेद हैं—

(क) कन्दर्प,
(ख) कौत्कुच्य,
(ग) द्रवशीलता (दुःशीलता),
(घ) हासकर,
(च) पर-विस्मापन।

इनमें से प्रत्येक के अनेक अवान्तर भेद है। जैसे—कन्दर्प के निम्न पांच भेद बताए गये हैं—

(१) **'कहकहं कहस्स हसणं'**—कहकहा लगाकर हंसना, अट्टहास करना। मुंह को फाड़कर दातों को बजाते हुए बहुत जोर से हंसना अट्टहास है।

नीतिशास्त्र में कहा गया है—स्वास्थ्य के लिए तथा मन को प्रफुल्लित रखने के लिए मनुष्य को कभी-कभी हंसना चाहिए। हंसता हुआ चेहरा खिले हुए फूल के समान सुन्दर लगता है किन्तु हास्य सीमित होना चाहिए। रोटी में जितना नमक जरूरी है, बस शरीर के लिए उतना ही अल्प हंसना। चेस्टर-फील्ड नामक विचारक ने कहा है—"बार-बार जोर से हंसना मूर्खता और बदतमीजी की निशानी है।"

नीतिकारों ने हंसने की मर्यादा बताते हुए कहा है—

चक्षुर्भ्यां हसति प्राज्ञः, ओष्ठाभ्यां खलु मध्यमः।
अधमश्चाट्टहासेन दन्ताभ्यामधमाधमः॥

---

१. (क) कन्दप्प कोक्कुयाइं दवशीले यावि हासकरणे य।
विम्हावेंतो य परं कन्दप्पंभावणं कुणइ॥
—बृहत्कल्प० १२९५

(ख) उत्तराध्ययन ३६।२६३

उत्तम मनुष्य आंखों से हंसते हैं, जब कोई हंसने का, मुस्कराने का प्रसंग आता है तो वे सिर्फ आंखों से मुस्करा देते हैं, उनकी आंखों में हंसी की एक रोशनी चमक जाती है, जिससे उनके मन की प्रसन्नता झलक उठती है।

मध्यम अर्थात् दूसरी श्रेणी के मनुष्य हंसते समय होठ बजा देते हैं। होठ बजाकर हंसना छिछलेपन का परिचायक है। खिलखिलाकर हंसना होठ बजाना, ताली बजाना ये सब साधारण मनुष्य के लक्षण है, हाँ, मध्यम श्रेणी वाले भी हंसते है तो बस दो क्षण। पानी के बुलबुले की तरह दो मिनट में ही उनकी हंसी शांत हो जाती है, और वे अपनी सामान्य स्थिति में आ जाते हैं। अधम या निकृष्ट प्रकृति के मनुष्य बहुत जोर से हंसते है, उनकी हा-हा, ही-ही की ध्वनि गूंजती है तो बस बहुत देर तक गूजती ही रहती है। उनका अट्टहास देखकर कभी-कभी भ्रम हो जाता है, ये कहीं पागल तो नहीं हो गए हैं। कभी-कभी अट्टहास करते-करते मनुष्य की मृत्यु भी हो जाती है। कहते हैं कि एसोसीस नामका एक चित्रकार एक बार अपना चित्र देखकर इतनी जोर से हंसा कि वह हंसते-हंसते ही मर गया।

कुछ मनुष्य तो अट्टहास से भी आगे बढ़ जाते है, दांत निपोर कर, ठहाका लगाकर इस प्रकार हंसते हैं कि उनकी हंसी से, दांतों की आवाज से, दीवारें भी गूंजने लग जाती है, उनकी हसी देखकर बच्चों को ही क्या, बड़ों-बड़ों को डर लगने लगता है, संशय होता है कि यह मनुष्य की हंसी है या किसी दैत्य या राक्षस की। इस प्रकार की हंसी मनुष्य की असभ्यता तथा जंगलीपन की सूचक है। वास्तव में समझदार और विवेकी मनुष्य को बहुत ही कम हंसना चाहिए। शास्त्र में कहा है—

सप्पहासं विवज्जए।

—दशवै० ८।४२

अतिहास नहीं करना चाहिए। संयमी व साधना-शील पुरुष को **'सव्वं हासं परिच्चज्ज अल्लीण गुत्तो परिव्वए'**—(आचारांग ३।२) सब प्रकार की हंसी-मजाक का परित्याग कर इन्द्रियों को संयत रखना चाहिए।

राजस्थानी के एक अनुभवी कवि ने कहा है—

'हंसिये नहीं गिवार, हंसिया हलकाई हुवै।
हंसिया दोष अपार, गुण जावै गहलो कहै॥'

दूसरे की भूल देखकर, हंसी की कोई बात सुनकर हंसना नहीं चाहिए। हंसने से अपने गुण का नाश होता है और दुनिया मूर्ख कहती है। साधु को तो इस प्रकार का हंसी मजाक बिलकुल ही नहीं करना चाहिए। कहा है—

'शाह तो झगड़ें सू बिगड़ें बिगड़ें ठाकर ब्याज डियो।
घर-घर फिरती नार बिगड़ें बिगड़ें जोगी हांसडियो ॥

जैसे दुकानदारी करने वाला व्यापारी अगर ग्राहकों से झगड़ा करने लग जाये तो उसकी दुकानदारी बिगड़ जाती है। क्योंकि दुकानदारी में सदा नर्माई रखनी पड़ती है—

'हाकिमी गर्म की, दुकानदारी नर्म की'

दुकानदार को सहनशील, नम्रवृत्ति वाला और मधुर भाषी होना पड़ता है। झगड़ालू की दुकानदारी चौपट हो जाती है। राजा और ठाकुर अगर ब्याजखोर बन जाये तो? उनकी ठकुराई नहीं चल सकती। स्त्री अगर घर-घर में भटकती फिरें तो उसके बिगड़ने में भी क्या देरी? इसी प्रकार साधु-संन्यासी अगर हंसी-मजाक करने लग जाये, भाड की तरह कुचेष्टा करने लग जाये तो उसकी साधुता में दाग लगने में क्या देरी है?

तो कन्दर्प भावना का पहला प्रकार है—अट्टहास।

(२) **कंदप्पो**—अपने हमजोलिए, बराबरी वालों के साथ मजाक करना, तरह-तरह की अश्लील बातें कहकर, सुनकर हंसना कन्दर्प है। यह उसका दूसरा प्रकार है।

(३) **अनिहुयासंलावा**—गुरुजनों के साथ, मित्रों के साथ, अपने उपकारी आदि के साथ निष्ठुर वचनों से बातचीत करना, उनके प्रति व्यंग्यवचन कहना, उनकी किसी भूल पर ताने कसना, यह सब 'अनिभृत संलाप' है। वास्तव में व्यंग एवं मजाक से बहुत बड़े अनर्थ हो जाते हैं। आपने सुना है महाभारत की नींव क्यों पड़ी? द्रौपदी के एक व्यंगवचन से, जो उसने दुर्योधन को कहा था कि "अंधे के बेटे तो अंधे ही होते है।" इसी एक व्यंगवचन ने पाडव कौरव कुल को मिट्टी में मिला दिया। इसीलिए राजस्थानी में एक कहावत है—

'रोग री जड़ खांसी, लड़ाई री जड़ हांसी।'

एक व्यंगवचन हजार गालियों से भी भयानक होता है, "एक मसखरी सौ गाल"। इसलिए मजाक, व्यंग्य और वह भी गुरुजनो आदि के साथ कभी नहीं करना चाहिए। जो करता है, वह अशुभ भावना से दूषित होता है।

(४) **कंदप्प कहाकहण**—कन्दर्प कथा कहना कन्दर्प भावना का चौथा दोष है। काम को जगाने वाली बातें करना, स्त्रियों के हास्य-विलास, हाव-भाव आदि का प्रदर्शन कर तथा उनको उत्तेजित करने वाली बातें कन्दर्प कथा या काम कथा कहलाती है। आचार्य जिनदास महत्तर ने कहा है—

'स्त्री-कथा (काम कथा) से कहने और सुनने वालों को मोह की उत्पत्ति होती है, दुनिया में, समाज में उनकी प्रतिष्ठा कम हो जाती है, लोग उनके चरित्र के विषय में शंका करने लगते हैं। ब्रह्मचर्य में दोष उत्पन्न होने की सम्भावना हो जाती है तथा सूत्र एवं अर्थ ज्ञान की हानि होती है।'[1] इसलिए ब्रह्मचर्य की नौ बाड़ों में तीसरी बाड़ में कहा है—

नो इत्थीणं कहं कहित्ता भवइ,[2]

स्त्रियों सम्बन्धी कथा नहीं करनी चाहिए। यह स्त्री कथा **'काम राग विवड्ढणी'**[3] काम राग को उत्तेजित करने वाली, बढ़ाने वाली है। कन्दर्प भावना का यह चौथा दोष है।

(५) **कन्दप्पुवएस**—कन्दर्प का उपदेश, काम व अब्रह्मचर्य का उपदेश देना, कामशास्त्र की बातें बताकर संसार का भोग बढ़ाना; काम की विधियाँ बताना ये सब अश्लील बातें इस भेद के अन्तर्गत आती हैं। इस प्रकार कन्दर्प भावना के इन पांचो लक्षणों को समझना चाहिए और समझकर छोड़ना चाहिए।

(ख) **कौत्कुच्य**—कन्दर्पभावना का यह दूसरा रूप है। कुत्कुच का अर्थ है भांड की भांति चेष्टा करना। भांड (विदूषक) या 'जोकर' स्वयं चुप या गंभीर बना रहता है लेकिन शरीर की नाक, भौंह, हाथ आदि की ऐसी चेष्टाएं दिखाता है कि दर्शक उन्हें देखकर लोट-पोट हो जाता है। सिनेमा, नाटक आदि में इस प्रकार के विदूषक लोगों को हंसाने के लिए लाये जाते हैं। पर आजकल तो लोग घर में, रात दिन के व्यवहार में भी ऐसी भांड चेष्टाएं करने लग जाते है, अपने मित्रों के सामने ही क्या, मां-बाप और बहनों तथा भाभियों के समक्ष भी ऐसी चेष्टाएं, ऐसी पोज बनाते है कि देखकर एक बार हंसी भले ही आये पर अन्त में तो लज्जा और घृणा ही आती है। इस प्रकार की शरीर कुचेष्टा को **काय कौत्कुच्य** तथा वाणी की कुचेष्टा को **वाक् कौत्कुच्य** कहते हैं। दूसरों की बोली की नकल करना, नाक से, मुंह से सीटी बजाना जिसे सुनकर दूसरे हंसे, आश्चर्य करे तथा, मौर, कोकिल, कुत्ता, बिल्ली आदि पशु पक्षियों की वाणी बोलकर दूसरों को हंसाने की चेष्टा करना वाक्-कौत्कुच्य है।[4]

---

१. निशीथचूर्णि उ० १ गा० १२१
२. उत्तराध्ययन १६।२
३. वही १६।२
४. भुम-नयण-वयण-दसणच्छदेहिं कर पाद कण्णमाईहिं।
तं तं करेइ जह हस्सए, परो अत्तणा अहसं ॥१२१७॥

शरीर एवं वाणी की इन कुचेष्टाओं से जहां अपने मन मे काम एवं मोह की जागृति होती है, वहाँ दूसरों के मन में भी, हास्य, मोह, कषाय आदि भावो को उत्तेजना मिलती है। इसलिए ये भाड चेष्टाएं कन्दर्प भावना का एक प्रमुख अंग है। सभ्यता एवं शालीनता की दृष्टि से भी इस प्रकार की चेष्टा, आदत मनुष्य को नीचे गिराती है। सिनेमा के परदे पर भी 'जोकर' को देखकर लोग हंसते जरूर है, पर उसके प्रति आदर नही रहता है। उसे तुच्छ, क्षुद्र और हीन व्यक्ति समझा जाता है। चरित्र की दृष्टि मे भी इस प्रकार की अश्लील चेष्टाए त्याज्य हैं। खासकर जो व्यक्ति अपने को बड़ा उत्तरदायी या समाज आदि में कुछ प्रमुख समझता है, उसे तो इस प्रकार की चेष्टाओं से जरूर बचना चाहिए। श्रावक के बारह व्रतों के अतिचार में अनर्थ दण्ड विरमण व्रत के पांच अतिचारो की गणना करते हुए कन्दर्प और कौत्कुच्य को अतिचार बताया गया है।[1] अर्थात् काम कथा आदि करना तथा वाणी एव काया से भाड-कुचेष्टा करना साधु के लिए ही नहीं, किन्तु श्रावक के लिए भी व्रत का दूषण है, अतिचार है। इस प्रकार की वृत्ति से आचार दूषित होता है।

(ग) द्रवशीलता (दुःशीलता)—यह कन्दर्पी भावना का तीसरा लक्षण है।

उत्तराध्ययन में[2] द्रवशीलता को दुःशीलता बताया गया है अर्थात् शील-स्वभाव की दुष्टता कहा गया है। वास्तव मे दुःशीलता एव द्रवशीलता में शब्द का ही भेद है, भावार्थ दोनों का एक ही है। आचार्य संघदासगणी ने द्रव-शीलता का विवेचन करते हुए बताया है—

भासइ दुयं दुयं गच्छए अ
दरिउ व्व गोविसो सरए।
सव्वद्दुय दुयकारी
फुट्टइ व ठिओ वि दप्पेणं।[3]

वायाकोक्कुइओ पुण, तं जंपइ जेण हस्सए अन्नो।
नाणाविह जीवरुए, कुव्वइ मुहतूरए चेव ॥ १२९८॥
—बृहत्कल्प भाष्य

१. (क) कन्दप्पे, कुक्कुइए···—उपासगदशा १
(ख) तत्त्वार्थ सूत्र ७।३२

२. उत्तराध्ययन ३६।२६५

३. बृहत्कल्प भाष्य गाथा १२९९

१. जल्दी-जल्दी बोलना,
२. जल्दी-जल्दी चलना, (दर्पित बैल की तरह)
३. प्रत्येक कार्य को जल्दी-जल्दी चपलता पूर्वक करना।

ये तीन लक्षण द्रवशीलता के हैं।

नीति में कहा गया है—भजन, भोजन और भाषण ये तीनों कार्य धीरे-धीरे करना चाहिए। भजन में अगर जल्दी करेंगे तो या तो पाठ छूट जाएगें, भजन अधूरा होगा, उच्चारण अशुद्ध होगा—इस प्रकार अशुद्ध और अधूरा भजन करने से भजन का तो लाभ नहीं होगा, उल्टा अशुद्ध उच्चारण आदि से भजन भंजन अर्थात् नुकसानदायी ही हो जाता है। इसी प्रकार भोजन भी शांति के साथ धीरे-धीरे खाना चाहिए। शीघ्रता में बड़े-बड़े ग्रास लेने से गले में अटकने का भय रहता है और पचन में भी बड़ी कठिनता होती है। देखने में लोगों को लगता है, यह इतना जल्दी-जल्दी खा रहा है, क्या कभी इसको खाने के लिए नही मिला? इस प्रकार जल्दी-जल्दी खाने से लोगों में हलकाई और शारीरिक नुकसान होता है। इसी प्रकार भाषण में शीघ्रता करने से शब्द साफ बोले नहीं जाते, सुनने वालों को पूरी बात समझ में नहीं आती, अधूरी बात का कही गलत अर्थ भी हो जाता है और अनर्थ हो जाता है। इसलिए बोलने में शीघ्रता नही करना चाहिए। शीघ्रता में विचार नहीं रहता। राजस्थानी में कहावत है—

'उतावला सो बावला, धीरा सो गंभीरा'

यही बात एक अंग्रेज विचारक ने कही है—'हेस्ट इज द मदर आफ वेस्ट' शीघ्रता बुराई की माँ है। 'जल्दी का काम शैतान का होता है'—इस उक्ति में सच्चाई है, अनुभव है। जो काम जल्दी में किया जाता है उसमें विचार-शून्यता रहती है और विचार शून्य कार्य हमेशा खतरनाक होता है। तुलसीदास जी ने कहा है—

सहसा करि पाछे पछताहो। कहहिं वेद बुध ते बुध नाहीं॥

जो जल्दबाजी में काम करता है, उसे पीछे पछताना पड़ता है। गुजराती में कहा जाता है—"पगथिये पगथियें चढाय, बहुभूख्या बे हाथे नहि खवाय। उतावले आंबा पाके नही। उतावल मां काचुं कपाय, अधरो माणस अथडायं छे।"

इस प्रकार शीघ्रता, उतावल, जल्दबाजी सभी कार्यों में त्याज्य है। बोलने में हमेशा गम्भीरता और धीरता रखनी चाहिए। शास्त्र में कहा है—

'अयंपिरमणुव्विग्गं भासं निसिर अत्तवं'[1]

---

१. दशवैकालिक ७।४९

वाचालता रहित, उद्वेग रहित शांत वाणी बोलना चाहिए। ऐसा विचार युक्त वचन बोलना चाहिए कि जिसे बोलकर पश्चाताप नहीं करना पड़े—'**जं वदित्ता अणुतप्पइ तं न वत्तव्वं**'[१] क्योंकि जो बात मुंह से निकल गई वह पीछे लौटाई नहीं जा सकती—"बोल्या अबोल्या थाय नहीं। थुक्यूं पाछुं गलाय नहीं।" इसलिए जल्दी-जल्दी बोलना, विवेक शून्य अनर्गल वचन बोलना वचन की दुःशीलता है।

द्रवशीलता का दूसरा दोष है, जल्दी-जल्दी चलना, मदमाते बैल की भांति उन्मत्त होकर चलना, दौड़ना गति का दोष है। कहा गया है—

'**शनैः कन्था शनैः पन्था**'

धीरे-धीरे गोदड़ी सीना चाहिए, धीरे-धीरे मार्ग में चलना चाहिए। जल्दी-जल्दी चलने से कहीं ठोकर लग जाये, नख, हड्डी आदि टूट जाए, किसी से टकरा जाय तो चोट भी आती है, लोगों में मजाक भी होता है। इस प्रकार 'घर में हाण लोक में हांसी।' शास्त्र में कहा है—

'**दवदवस्स न गच्छेज्जा**'[२]

दव-दव करते, भागते हुए ऊपर नीचे देखते हुए नहीं चलना चाहिए। चले तो नीची दृष्टि रखकर, भूमि को देखकर चलना चाहिए। रास्ते में आंखें फाड़-फाड़कर, घूर-घूर कर देखने से लोग असभ्य भी समझते है तथा उस पर चोर, उचक्का आदि होने का संशय भी कर लेते हैं।

बोलने चलने की तरह उठने-बैठने, कार्य करने में भी द्रुतशीलता, जल्दबाजी त्यागना चाहिए। जल्दबाजी मन की अस्थिरता, विचारों की उद्विग्नता को तथा स्वभाव की चपलता को सूचित करती है। लोग कहते हैं—'बन्दर सा चपल है।' इस प्रकार द्रुतकारिता, शील और स्वभाव की दुष्टता अविवेकपूर्ण भाषण, अविवेकपूर्ण निरीक्षण और अविवेकपूर्ण लेखन ये सभी कार्य दुःशील है।

(घ) **हासकर (हास्योत्पादन)**—कन्दर्प भावना का यह चौथा प्रकार है। नाना प्रकार के रूप, वेष बनाकर, तरह-तरह के वचन बोलकर, दूसरों की बोली की नकल कर, दूसरों को हंसाना हास्योत्पादन है। इस प्रकार की चेष्टाएँ करने वाला भी कन्दर्प भावनावाला कहा जाता है।

(च) **परविस्मापन**—दूसरों को विस्मय उत्पन्न हो, इस प्रकार की चेष्टा

---

१. सूत्रकृतांग १।९।२६
२. दशवैकालिक ५।१।१४

करना, इन्द्रजाल, जादू, हाथ की सफाई आदि दिखाकर दूसरों को चमत्कृत करना, तथा स्वयं चुपचाप रहना 'पर-विस्मयोत्पदन' है। कहा है—

> सुर जालमाइएहिं
> तु विम्हयं कुणइ तव्विहजणस्स।
> तेसु न विम्हयइ सयं
> आहट्ट-कुहेडएहिं च।[1]

—इन्द्रजाल, कौतुक, जादूगरी, सफाई आदि के द्वारा तथा पहेलियां, वक्रोक्तियां आदि कहकर लोगों को विस्मित करता रहे, किन्तु स्वयं उनके सामने बिलकुल गम्भीर और शांत बना रहे, यह पर-विस्मापन है।

यह विस्मापन दोष इसलिए है कि इसके मूल में लोगों को खुश करने की तथा अपना अहंकार व चातुर्य दिखाने की भावना रहती है। इसके साथ झूठ, दंभ और अहंभाव का पोषण होता है। मन सदा इस प्रकार के कुविचारों में लीन रहता है। जिससे आत्मा में अशांति, व्यथा तथा चंचलता बनी रहती है।

इस कन्दर्प भावना का निषेध करते हुए पूज्यपाद तिलोक ऋषिजी महाराज ने कहा है—

> कोइक संजमी मुख वाचालिक,
> गीत कुचेष्टा करे अविचारी।
> आलोयां विन करे काल कदाचित,
> उत्कृष्ट सौधर्म सुर अवतारी।
> कन्दर्पकारी कथा जु कहे अरु,
> जिय तिय वाद वदे हठकारी।
> परलोक विराधक कहें 'तिलोक' या,
> गौतम से जिनराज उचारी॥

शास्त्र में बताया है इस प्रकार की कन्दर्प भावना का आचरण करने वाला श्रमण, अगर उसकी आलोचना नहीं करे और बिना आलोचना किए ही मृत्यु को प्राप्त हो जाये तो स्वर्ग मे जाकर भी कन्दर्पी देवताओं में उत्पन्न होता है जो कि स्वर्ग में विदूषक का कार्य करते है। श्रमण ही क्यों, कोई भी व्यक्ति ऐसा आचरण करता है तो वह मनुष्य एवं तिर्यंच आदि गतियों में भी निम्न श्रेणी की जाति में जन्म धारण करता है।

☆

---

१. बृहत्कल्प भाष्य गाथा, १३०१

३. आभियोगी भावना

१. आभियोगी भावना

अभियोगी का अर्थ है दास, सेवक । आत्मा को दास्यकर्म के योग्य योनि में उत्पन्न होने निमित्तभूत भावना आभियोगी भावना है। अप्रशस्त भावनाओं के क्रम में उत्तराध्ययन में आभियोगी भावना को दूसरे क्रम पर रखा है, जबकि बृहत्कल्प में किल्विषिकी भावना को दूसरे क्रम पर बताया है। अस्तु क्रम के अन्तर में कोई खास बात नही है, अतः यहाँ आगम क्रमानुसार दूसरे क्रम पर आभियोगी भावना का वर्णन किया जाता है।

मंता जोगं काउं
भूईकम्मं च जे पउंजन्ति ।
साय-रस-इड्ढिहेउं
अभियोगं भावणं कुणइ ॥[1]

जो सुख, घृत-मिष्ठान्न आदि रस तथा अपने प्रभाव एव समृद्धि के लिए मत्र, योग (कुछ विशेष वस्तुओं को मिलाकर किया जाने वाला तंत्र) और भूति (भस्म आदि) कर्म का प्रयोग करता है, वह अभियोगी भावना का सेवन करने वाला है।

उक्त आगम गाथा मे मंत्र, तत्र और भूतिकर्म का प्रयोग करना अभियोग भावना का लक्षण बताया है। क्योंकि इस प्रकार के तांत्रिक प्रयोगों से कोई भी अत्यधिक लाभ नहीं हो सकता। धर्म तो हृदय परिवर्तन में है। अपनी अन्तर इच्छा से प्रेरित होकर यदि कोई किसी की सेवा, दान, तप आदि करता है तभी धर्म होता है। मंत्र प्रयोग से मनुष्य की भावना को बलात् बदला जाता है, एक प्रकार का मनिभ्रम पैदा करके उसके मन पर बाह्य प्रभाव डाला जाता है। इन प्रयोगों से प्रभावित होकर कोई कार्य करता है तब भी उसके अन्तर में एक बेचैनी-सी रहती है, व्यक्ति समझ नहीं पाता कि वह यह कार्य क्यों, किससे प्रेरित होकर कर रहा है, पर उसकी आत्मा भीतर में उद्विग्न जरूर हो जाती है, अतः मत्र तंत्र आदि के प्रयोग एक प्रकार से मनुष्य के अन्तःकरण को

१. उत्तराध्ययन, ३६।२६४

मूच्छित व अवचेतन बनाकर उसे बलात् प्रेरित करते हैं—इसलिए अध्यात्म की दृष्टि से यह हिंसा है, दासता है, पराधीनता है। जो दूसरों को दास बनाता है, वह स्वयं भी दास बनता है इस सिद्धान्त की पुष्टि भी इस अभियोगी भावना के प्रतिफल से स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि जैसा पीछे बताया जा चुका है, अभियोगी नाम सेवक एवं दास का है। अभियोगी भावना का सेवन करने वाला संयति मरकर परलोक में, स्वर्ग में जाता है तो वहा बड़े देवों का सेवक (नौकर) व दास बनकर उनकी सेवा बजाता है। यह इसी कर्म का फल है कि जिसने जबर्दस्ती किसी को अपना आज्ञानुचारी बनाया हो, मंत्रादि प्रयोग से बलात् दूसरों को अपने अनुकूल कर अपना स्वार्थ सिद्ध किया हो, उसे आगे दूसरों का आज्ञानुचारी बनना पड़ता है।

आचार्य संघदासगणी ने आगम की उक्त गाथा का विस्तार कर अभियोग कर्म के पाच प्रकार बताए हैं—

> कोउअ भूई, पसिणे
> पसिणापसिणे निमित्तमाजीवी।
> इड्ढि-रस-साय गुरुतो
> अभिओगं भावणं कुणइ ॥[1]

(क) कौतुक
(ख) भूतिकर्म
(ग) प्रश्न
(घ) प्रश्नाप्रश्न
(च) निमित्त

इन पाच प्रकार के प्रयोगों से जो अपनी ऋद्धि, रस एवं सुख आदि की प्राप्ति का प्रयत्न करता है, अथवा उन्हीं के सहारे आजीविका चलाता है, वह अभियोग भावना का आचरण करता है।

(क) कौतुककर्म

कौतुक शब्द का सामान्य अर्थ है आश्चर्य। किन्तु यहा पर इस शब्द का एक विशेष अर्थ में प्रयोग किया गया है, और वह है बच्चों, स्त्रियों आदि की रक्षा, वशीकरण, सौभाग्य सम्पादन के लिये किया जाने वाला टिकी, तिल, रेखा आदि का प्रयोग। आगमों में स्थान-स्थान पर पाठ आते हैं, "कयबलिकम्मे कय कोउयमंगले" बलि कर्म किया, कौतुक मंगल आदि किया, तो इसका अर्थ यही है कि स्नान आदि करके काली टिकी (बिन्दी) लगाना, ताकि नजर आदि न

---

१. बृहत्कल्प भाष्य गाथा १३०६

लगे। बच्चों को नहलाकर माताएं उनको काजल की टिकी लगाती है, उनके गले में काला डोरा बांधा जाता है। यह काली टिकी दृष्टि दोष को टालने के लिए होती है। इसी प्रकार सौभाग्यशाली स्त्रिया सिर पर या मांग में लाल बिन्दी लगाती है, सिन्दूर का टीका लगाती है, यह उनके सौभाग्य का चिन्ह माना जाता है। कुछ विशेषज्ञों का मत है कि काली बिन्दी दृष्टि दोष आदि से रक्षात्मक उपाय है, उसी प्रकार लाल बिन्दी, आकर्षण या मोहन का साधन है। सौभाग्यवती स्त्री लाल बिन्दी इसलिए लगाती है कि उसे देखकर पति का अनुराग व आकर्षण उसकी ओर बना रहे, अस्तु, ये प्रयोग सब कौतुक कर्म कहलाते हैं, संसारी मनुष्य अपनी रक्षा आदि के लिए इनका प्रयोग करता है। किन्तु जो त्यागी, ब्रह्मचारी तथा संसार से उदासीन है, वह इन कर्मों का प्रयोग क्यों करे ? उसे इस प्रकार के प्रयोगों से क्या लेना देना ? अतः कौतुककर्म का निषेध करते हुए बताया है, इस प्रकार के 'विस्नपन' का प्रयोग साधु न करें। इसी के अन्तर्गत होम (यज्ञ) शिरः परिरय, (सिर पर मंत्रित हाथ फिराना) धूप, असदृश-वेष ग्रहण (वेष बदलना) अवयासन (झाडी, पीपल आदि वृक्षों का स्पर्श) अवस्तोमन (थूथकार डालना) बध (कण्डे आदि बांधना) ये सब कर्म जिन्हें कौतुक कर्म कहा गया है, साधु या ब्रह्मचारी न करें। इन्हें करने वाला आभियोगी भावना वाला होता है।

(ख) भूतिकर्म

भूति नाम राख का है। ग्राम में रोग का उपद्रव होने पर, पशुओं में बीमारी आदि फैलने पर, शरीर में कोई उपद्रव होने पर, बर्तनों आदि सामान की सुरक्षा हेतु, व्यापार की वृद्धि हेतु, चोर आदि से सामान की रक्षा के लिए, ज्वर आदि रोगों को रोकने के लिए तथा अन्य ऐसे ही प्रयोजन के लिए विद्या से अभिमंत्रित राख देना, गीली मिट्टी आदि का लेप करना, मंत्रित नीबू आदि बाधना या उतारकर काटकर चौराहे पर फेंकना, डोरा, ताबीज, गंडा आदि बांधना, ये सब भूतिकर्म कहे जाते हैं। इनका प्रयोग करने में किसी का लाभ दीखता है तो किसी का नुकसान भी हो जाता है। ऐसे कामों में प्रायः एक का लाभ होता है तो उसमें अनेकों का नुकसान भी हो जाता है। कुछ कर्म ऐसे होते है जिनमें क्षणिक लाभ और भयंकर अलाभ होते हैं। बहुत से ऐसे प्रकरण सुनने में आते है जिनमें किसी बाबा या ओलिया फकीर आदि ने किसी को बताया कि तुम्हारे सन्तान नहीं होती है, तुम किसी के बच्चे को मारकर ऋतु समय में उसके रक्त से स्नान करो, या उसका मास खाओ अथवा अमुक घर जला दो तो संतान हो जाएगी। पुत्र प्राप्ति, धन प्राप्ति एवं भोग प्राप्ति के इच्छुक लोग इस प्रकार के घृणित तथा अन्यायपूर्ण कर्म कर लेते हैं, और लाभ की

बजाय भयानक हानि उठानी पड़ती है। इस प्रकार के दुष्ट कर्म भूतिकर्म कहे जाते हैं और प्रत्येक व्यक्ति को इनसे बचना चाहिए, कम से कम श्रमण तो ऐसे नीच कर्म न करें।

(ग) प्रश्न

अभियोग भावना का तीसरा प्रकार है—प्रश्न! बहुत से लोग किसी का शुभ-अशुभ, लाभ-हानि आदि बताने के लिए देवता आदि से प्रश्न करते हैं और फिर उनका उत्तर देते हैं। कुछ लोग अंगूठे में, उकरडी पर के कपड़े में, काँच में, तलवार में, पानी में एवं भीत पर देवता आदि को आकर्षित कर उनसे प्रश्न पूछते हैं। वे स्वयं भी उस देखते है और जिसको बिठाते है वह भी उस देव छाया को देखता है और उसमे प्रश्न किये जाते हैं, वह उनका उत्तर भी देता है।[1] कुछ लोगों के पास ऐसी विद्याएं होती हैं और कुछ लोग सिर्फ ढोंग भी चलाते हैं। अक्सर देखा जाता है ऐसे कामों में ढोंग बहुत चलता है। बहुत से पाखंण्डियों ने तो अपना धन्धा बना रखा है कि लोगों को मूर्ख बनाकर अपना पेट पालते रहो। उनका ध्येय होता है—"**रोटी खानी शक्कर से, दुनिया ठगनी मक्कर से**" किन्तु अगर किसी के पास ऐसी विद्याएं भी हों तब भी उसे ऐसी मलिन विद्याओं का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

(घ) प्रश्ना प्रश्न

प्रश्न सीधा भीत, जल आदि में छाया से पूछा जाता है और प्रश्ना-प्रश्न स्वप्न आदि में किया जाता है। जैसे किसी ने किसी व्यक्ति से प्रश्न किया मेरे घर चोरी हो गई है अथवा अमुक व्यक्ति गुम हो गया है वह कहाँ है, कब मिलेगा, चोर कौन है आदि। अब वह व्यक्ति अपनी अधिष्ठात्री देवी से स्वप्न में वही प्रश्न करता है, और वह आकर उत्तर दे जाती है। एक प्रश्न दो बार पूछा जाता है, इसलिए यह प्रश्नाप्रश्न कहलाता है। बहुत से व्यक्ति कर्णपिशाचिनी आदि की साधना किए हुए होते हैं, उनसे आप कुछ पूछेंगे तो वे आपका प्रश्न उससे पूछेंगे और वह उनके कान में आकर उसका फलाफल कह जाएगी। डोम आदि भी अपने कुल देवता से ऐसे प्रश्न करते हैं फिर जब

---

१. पण्हो उ होइ पसिणं जं पासइ वा सयं तु तं पसिणं।
अंगुट्ठुच्चिट्ठ-पडे, दप्पण-असि-तोय कुड्ड डाइं॥

—बृहत्कल्प भाष्य १३११

देवता उनके अंग में आता है तो वे विकराल रूप से चिल्लाते हैं, नाचते हैं और फिर पूछने वाले के प्रश्नों का उत्तर देते हैं।[1]

(च) निमित्त कथन

यह आभियोगी भावना का पाचवाँ प्रकार है। किसी शास्त्र विशेष का आधार लेकर लाभ-अलाभ, दुःख-सुख, जीवित-मरण का कथन करना निमित्त कहलाता है।[2] शास्त्र का निमित्त (आधार) लेने से उसे निमित्त कहा जाता है। अष्टांग महानिमित्त और षडंगनिमित्त, यों निमित्त के दो भेद भी मिलते हैं।

स्थानांग सूत्र में अष्ट महानिमित्त इस प्रकार बताये हैं—

१. **भौम**—भूमि विषयक शुभाशुभ का ज्ञान कराने वाला शास्त्र।

२. **उत्पात**—रुधिर वृष्टि आदि उत्पातों का फल बताने वाला शास्त्र।

३. **स्वप्न**—स्वप्न का शुभाशुभ फल बताने वाला शास्त्र।

४. **अन्तरिक्ष**—गाधर्व नगर आदि का शुभाशुभ फल बताने वाला शास्त्र।

५. **अंग**—चक्षु, मस्तक आदि अंगों के फरकने में शुभाशुभ फल की सूचना देने वाला शास्त्र।

६. **स्वर**—षड्ज आदि स्वरों का शुभाशुभ फल बताने वाला शास्त्र।

७. **लक्षण**—स्त्री-पुरुष, पशु आदि के शुभाशुभ लक्षण व उनका फल बताने वाला शास्त्र।

८. **व्यंजन**[3]—तिल मष आदि चिन्हों का शुभाशुभ फल बताने वाला शास्त्र।

इन आठ प्रकार के विषयों से सम्बन्धित अष्टांग महानिमित्त कहलाता है।
षड् निमित्त है—भूत, भविष्य एवं वर्तमान काल का—

(१) सुख (२) दुःख
(३) लाभ (४) अलाभ
(५) जीवन (६) मरण

---

१. पसिणापसिण सुमिणे विज्जाभिद्धं कहेइ अन्नस्स।
अहवा आइंखिणिया, घंटियसिट्ठं परिकहेइ॥
—बृहत्कल्प भाष्य गा० १३१२

२. लाभालाभादि ज्ञान निमित्तत्वाद् निमित्तमुच्यते।
—बृह० वृत्ति० भाग० २ पृष्ठ ४०४

३. स्थानांग सूत्र स्थान ८। सूत्र ६०८
—मुनि कन्हैयालाल जी 'कमल' सम्पादित

इनसे सम्बन्धित तीनों कालों का भविष्य आदि कथन करना षडंग निमित्त कहलाता है। गौशालक ने छह दिशाचरों से षडंगनिमित्त का अध्ययन किया था। जिसके आधार पर वह लोगों को अपने प्रभाव में लेता और अपने संघ का विस्तार करता गया। भविष्य आदि निमित्त कथन से कभी-कभी बड़े अनर्थ हो जाते हैं। निशीथ भाष्य[1] में एक कहानी आती है।

एक निमित्त शास्त्री एक बार ग्राम में आया। लोगों के झुंड उसके पास जमा होने लगे। एक क्षत्रिय-स्त्री जिसका पति बाहर युद्ध भूमि में गया हुआ था उसने निमित्त वेत्ता से पूछा—

"मेरा पति घर कब आयेगा ?"

"अमुक दिन अमुक प्रहर में तुम्हारा पति सकुशल घर आ जायेगा...।" निमित्त शास्त्री ने बताया।

क्षत्रियाणी प्रसन्न हो गई, उसने अपने पड़ोसियों को निमित्त शास्त्री की बात कही और पति का इन्तजार करने लगी। ठीक समय पर उसका पति घर आ पहुँचा अपने स्वागत की सब तैयारियाँ देखकर पति ने पूछा—

"तुम्हें मेरे आगमन की सूचना कैसे मिली ?"

पत्नी ने कहा—"अमुक नैमित्तिक ने मुझे आपके आगमन की तिथि आदि बताई, उसी के कहे अनुसार आज मैंने आपके स्वागत की तैयारी की व सब मित्र-स्वजनों को आमंत्रित भी किया।"

क्षत्रिय को निमित्तवेत्ता के प्रति संशय हुआ। उसे बुलाया गया और उसके भविष्य ज्ञान की परीक्षा करने के लिए क्षत्रिय ने पूछा—

"क्या तुम भविष्य बता सकते हो ?"

"हां, जो पूछो वही बतादूँगा।"

"बोलो, मेरी इस घोड़ी के पेट में क्या है, बछेड़ा है या बछेरी ?" क्षत्रिय ने अपनी घोड़ी की ओर संकेत करके पूछा।

निमित्तज्ञ ने कहा—"इस घोड़ी के पेट में पंचकल्याणी बछेरा है।"

क्षत्रिय ने उसी समय तलवार लेकर घोड़ी का पेट चीर डाला, रक्त की धारा फूट पड़ी और तड़फड़ाता बछेरा बाहर आ गया। देखने पर वह पंच-कल्याणी निकला।

क्षत्रिय ने निमित्तवेत्ता की ओर देखकर कहा—"तुम्हारा आयुष्य लम्बा है, वरना तुम्हारी बात सच्ची न निकलती तो इसी प्रकार तुम्हारा भी पेट चीर डालता।"

तो निमित्त कथन से इस प्रकार दो पंचेन्द्रिय प्राणियों की हत्या हुई। ऐसे

---

१. निशीथ भाष्य २६९४ —भाष्य कहानियां—मुनि कन्हैयालालजी 'कमल'

भयंकर अनर्थ निमित्त कथन से हो जाते है, इस कारण साधु को निमित्त कथन करने का निषेध है। निमित्त आदि के सहारे आजीविका चलाने वाले को 'पापश्रमण' कहा है—

"निमित्तेण य ववहरइ पावसमणे त्ति वुच्चइ।"[1]

इसी बात को कविवर श्री अमीऋषि जी म० ने यों स्पष्ट किया है—

ठगवेश विवेक बिना करिके,
शठ मूरख लोकन को भरमावें।
कोइ मंत्र दिखाय सिखावत तंत्र,
स्वरोदे मिलाय कं भाव बतावें।
ज्योतिष औषध सिद्ध रसायन,
भूमि निधान कही ललचावें।
करि अमृत यों परपंच मृषा,
नर जन्म पदारथ व्यर्थ गमावें॥

इसमें कवि ने मत्र, तंत्र, भूतिकर्म, ज्योतिष निमित्त आदि सभी कर्मों को अनिष्ट कारक बताकर इनसे बचने की चेतावनी दी है।

इन विद्याओं के प्रयोग से हिंसा और असत्य की वृद्धि होती है, जगत में दंभ, पापाचार, और अंधविश्वास फैलता है। इसके प्रयोग से हिंसा आदि को प्रोत्साहन देने वाला साधु एक ओर सुख-साता-ऋद्धि आदि की लोलुपता का शिकार होता है, दूसरी ओर हिंसा का भागी भी ! आगम में कहा है कि इस प्रकार की मलिन विद्याओं का प्रयोग करने वाला इस लोक मे तथा परलोक मे दुःख का भागी होता है—

जे लक्खणं सुविणं पंउजमाणे
निमित्त—कोऊहलसंपगाढे।
कुहेडविज्जासवदारजीवी
न गच्छई सरणं तम्मि काले॥[2]

—जो साधु लक्षण और स्वप्नों का शुभाशुभ फल बताता है, निमित्त-भूकम्प आदि द्वारा भविष्य कथन करता है। कौतूहल व संतान आदि के लिए अभिमंत्रित जल आदि से स्नान करवाता है, तथा असत्य एवं आश्चर्यकारिणी विद्याओं से अथवा हिंसादि आचरणों से अपना जीवन बिताता है, वह उनके कटुफल रूप कर्म भोगने के समय किसी की शरण को प्राप्त नहीं होता।

☆

---

१. उत्तराध्ययन १७।१८
२. उत्तरा० २०।४५ तथा देखें ८।१३

४. किल्विषिक भावना

किल्विषिक भावना

किल्विष का अर्थ है 'नीच', 'घृणित'। जो प्राणी अपने दुष्कर्म के कारण दुष्ट आचरण तथा निम्न जाति आदि के कारण लोगों में घृणा, अवहेलना का पात्र होता है उसे किल्विष कहते हैं। स्वर्ग में किल्विपिक देवों की एक जाति है, जो देवलोक के नीचे भाग में रहती है और उसका वहां पर वही स्थान है, जो मनुष्य लोक में हरिजन का, तथा सफाई करने वाले का। जिस भावना के कारण उस जाति में जन्म होता है उस भावना का नाम भी उसी के आधार पर किल्विषिक भावना रखा गया है। अप्रशस्त भावना में किल्विषिक भावना का तीसरा क्रम है। इसका स्वरूप बताते हुए कहा है—

> **नाणस्स केवलीणं**
> **धम्मायरियस्स संघ-साहूणं।**
> **माई अवण्णवाई**
> **किब्बिसियं भावणं कुणइ॥** [१]

(क) ज्ञान की,
(ख) केवली की,
(ग) धर्माचार्य की,
(घ) धर्मसंघ की,
(घ) साधुओं की।

इन पांचो की जो निन्दा करता है, अवर्ण वाद बोलता है वह मायावी किल्विषिकी भावना का आचरण करता है।

वृहत्कल्प भाष्य में संघ के स्थान पर 'सव्व' शब्द मिलता है और वहां मायी को अलग एक रूप मानकर पांच रूप पूरे किये गये हैं। [२]

किल्विपिक भावना का मुख्य सम्बन्ध निन्दा एवं कपट के साथ माना गया है। जो व्यक्ति अपने आराध्य पुरुषों की निन्दा करता है, लोगों में उनका

---

१. उत्तराध्ययन ३५।२६५
२. बृहत्कल्प भाष्य गाथा १३०२

अवर्णवाद बोलता है, कपट पूर्वक उनके छल-छिद्र देखता है तथा उनके कथन का अपमान तथा तिरस्कार करता है उसे किल्विषिक भावना वाला बताया गया है।

भाष्यकार आचार्य ने इसका विशेष विवेचन करते हुए बताया है—

(क) ज्ञान का अवर्णवाद

तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित आगम रूप श्रुतज्ञान को 'ज्ञान' कहा गया है। उस ज्ञान की अशातना करना महान पाप है। कुछ अज्ञानी लोग कहते हैं—

"आगमों में एक ही बात बार-बार क्यों दुहराई गई है? जो बात दशवैकालिक के षड्जीविका अध्ययन में कही गई है, वही बात शस्त्रपरिज्ञा (आचारांग) में कही है, बार-बार एक ही बात को कहने से शास्त्रों में पुनरुक्ति दोष है। साधु को वैराग्य और मोक्ष की ही चर्चा करनी चाहिए। मोक्षाभिमुख श्रमण को सूर्यप्रज्ञप्ति जैसे ज्योतिष विषयक विवेचन की क्या जरूरत है? शास्त्रों में जो बातें कही हैं वे असंगत है, वर्तमान विज्ञान के साथ वे मेल नहीं खाती, इसलिए असत्य है।" इस प्रकार शास्त्र की निन्दा करना, उसके गौरव को लाछित करना ज्ञान का अवर्णवाद है। वास्तव में शास्त्र में आचार आदि का वर्णन बार-बार किया गया है उनका लक्ष्य है कि इस विषय मे विशेष यत्नशील रहना चाहिए। जो बातें प्रत्यक्ष-विरुद्ध दिखे उनके विषय में भी संदिग्ध होना या अविचारपूर्ण निर्णय देना बुद्धि की क्षुद्रता है। जो सर्वज्ञ प्रभु का कथन है, उसका रहस्य क्या है? उसकी क्या अपेक्षा है? किस दृष्टि से और देशकाल की किस स्थिति को ध्यान में रखकर यह कथन किया गया है उसका विचार करना चाहिए। उस विषय मे अविचारपूर्ण बात कहना ज्ञान की निंदा है, श्रुत का अवर्णवाद है और वह किल्विषिक भावना का प्रथम लक्षण है।

(ख) केवली का अवर्णवाद

केवल ज्ञान के विषय में शंका करना कि सर्वज्ञ कोई नहीं होता, तीन काल का ज्ञान किसी को नहीं हो सकता। यहाँ बैठे हुए कोई पुरुष हजारों लाखों योजन दूरी की बात कैसे जान सकता है? इस प्रकार का सदेह मन में करना और लोगों में इस प्रकार की चर्चा कर भ्रम फैलाना केवली का अवर्णवाद कहलाता है। प्राचीन समय में केवल ज्ञान के विषय में यह भी एक विवाद चलता था कि उन्हें केवलज्ञान, केवलदर्शन एक साथ (युगपत्) होता है अथवा क्रमशः? वे जिस समय वस्तु को जानते है उसी समय देखते हैं या पहले जानते हैं पीछे देखते? इस प्रकार की चर्चा प्राचीन साहित्य में मिलती है, उस विषय को लेकर अनेक विवाद भी हुए हैं और कुछ हठाग्रही अपने पक्ष को तानकर केवल ज्ञान की निन्दा व उसके प्रति शंका करने लग गये। वास्तव में जीव का

स्वभाव ही ऐसा है कि एक समय में एक ही उपयोग होता है, जिस समय दर्शनोपयोग होता है उस समय ज्ञानोपयोग नहीं हो सकता, जिस समय ज्ञानोपयोग होता है उस समय दर्शनोपयोग नहीं होता। अब चाहे सामान्य जीव हो या केवली, स्वभाव के विरुद्ध उनका आचरण नहीं हो सकता। अतः यह माना गया है कि प्रत्येक जीव को पहले दर्शनोपयोग होगा फिर ज्ञानोपयोग। इस विषय में शंका व कुतर्क करना केवली अवर्णवाद कहा गया है।[1]

(ग) आचार्य का अवर्णवाद

धर्म संघ में जो आचार, ज्ञान, अनुशासन की व्यवस्था रखें, उन्हें आचार्य कहते हैं। उनके विषय में इस प्रकार कहना—

डच्चाईहिं अवन्नं भासइ वट्टइ न यावि उववाए।
अहितो छिद्दप्पेही पगासवादी अणणुकूलो॥[2]

"कि इनका कुल ऊँचा नहीं है, ये हीन या निम्न जाति के हैं, इन्हें लोक व्यवहार का ज्ञान नहीं है। इनसे तो मैं अधिक ज्ञानी हूँ, मैं इनसे अधिक अच्छा प्रवचन करता हूं।" इस प्रकार की बातों द्वारा आचार्य को नीचा बताने का प्रयत्न करना तथा आचार्य भगवान की सेवा में कभी नहीं बैठना, लोगों को अपने पास बिठाने की चेष्टा करना और स्वयं को ही आचार्य का मार्ग-दर्शक बताने का प्रयत्न करना उनका अवर्णवाद है। इसी प्रकार आचार्य की इच्छा के विरुद्ध आचरण करना। उनके प्रति अहितकारी तथा अप्रिय वचन बोलना। लोगों के समक्ष गुरु के दोष बताना तथा उनकी इच्छा के प्रतिकूल आचरण करना ये सब आचार्य के अवर्णवाद में गिने गये हैं।

जिन-शासन में आचार्य को भगवान का प्रतिनिधि बताया गया है। जलती हुई अग्नि में कूदना, पर्वत से टकराना और सोते हुए सिंह को जगाना जितना मूर्खतापूर्ण और खतरनाक है उससे भी अधिक खतरनाक, अहितकर है आचार्य की अवज्ञा व अवहेलना करना। इसलिए कहा है—'**नयावि मुक्खो गुरु हीलणाए।**'[3] गुरुजनों की हीलना करने वाले को कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। जिसे मोक्ष एवं कल्याण की कामना है उसे गुरुओं को सदा सम्मान देना चाहिए, उनकी वन्दना और पूजा-सत्कार करना चाहिए।

जो उन पूज्य गुरुजनों की निन्दा व अवर्णवाद बोलने वाला किल्विषिकी भावना का सेवन करता है।

१. बृहत्कल्प भाष्य गाथा १३०३-४ की वृत्ति के आधार पर
२. बृहत्कल्प भाष्य गाथा १३०५
३. दशवैकालिक सूत्र ९।१।१४

(घ) संघ का अवर्णवाद

जैनधर्म में संघ का बड़ा महत्त्व है। संघ को सहस्र दल कमल की, महासमुद्र की और महारथ की उपमा दी गई है।[१] संघ प्रासाद है, श्रमण-श्रमणी-श्रावक श्राविका रूप उसके चार महास्तम्भ हैं। जो व्यक्ति धर्म संघ की निन्दा करे, उसमें फूट डालने की चेष्टा करे तथा यह कहे कि संघ में शिथिलाचार है, भ्रष्टाचार है, संघ से हमें काम क्या, हमें अपनी आत्मा को ऊंचा उठाना है इत्यादि से संघ की स्थिति को कमजोर करने वाली बातें करते हैं, वे संघ का अवर्णवाद बोलते हैं ऐसा मानना चाहिए। वास्तव में संघ तो एक विशाल समूह है, स्वयं भगवान ने भी माना है कि इस संघ में प्रतिपदा के चन्द्रमा के समान अल्प प्रकाश तथा पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान सम्पूर्ण प्रकाशयुक्त दोनों ही प्रकार के श्रमण विद्यमान है, तब किसी को हीन बताकर उसकी अवहेलना करना कहाँ तक उपयुक्त है? क्या वे भगवान से भी अधिक अपने को शुद्ध आचारी और ऊंचा अध्यात्मवादी मानते हैं? संघ की अवहेलना करने वाली प्रत्येक उक्ति संघ का अवर्णवाद है और ऐसा अवर्णवाद इस किल्विषिक भावना के अन्तर्गत आता है।

(च) साधुओं का अवर्णवाद

संघ की भाँति संघ के साधुओं पर आक्षेप करना; उनके रीति-व्यवहार की निन्दा करना, अगर कोई प्राचीन परम्परा पर चलता है तो उसे दकियानूस या गुरुडमवादी कहना, अगर कोई युगानुकूल शास्त्र-सम्मत सुधार करता है तो उसे शिथिलाचारी कहना, इस प्रकार के माया एवं आवेश पूर्ण आक्षेप करना, व्यंग्य वचनों का प्रहार करना, उनके आचार-विचार की अनुपयुक्त निन्दा करना, तथा लोगों में उनका उपहास करके नीचा दीखाने की चेष्टा करना, यह सब साधु का अवर्णवाद है और किल्विषिक भावना का कारण है।

आचार्य संघदासगणी ने मायी विशेषण को अलग मानकर माया कपट करने वाले को भी किल्विषिक भावना के अन्तर्गत माना है, जैसे--अपने दोषों को छिपाना, दूसरों के गुणों को ढकना, बक वृत्ति से दूसरों के छल छिद्र देखते रहना, चोर की भाँति छुप-छुपकर पापाचरण करना और झूठ बोलना ये सब मायावी के लक्षण है और ऐसा आचरण करना किल्विषिक भावना का कारण है।

किल्विषिक भावना के कुछ और कारण भी शास्त्र में बताये है जैसे—

तवतेणे वयतेणे रूवतेणे य जे णरे।
आयार-भावतेणे य कुव्वइ देवकिव्विसं॥[२]

---

१. नन्दीसूत्र, संघ स्तुति

२. दशवैकालिक सूत्र ५।२।४६

तप की चोरी, व्रत, रूप, आचार आदि की चोरी करने वाला किल्विषी देवता में उत्पन्न होता है।

तप की चोरी का अर्थ है स्वयं तो तप नहीं करे, किन्तु दूसरे तपस्वी की ओट लेकर तपस्वी के रूप में अपनी पूजा-प्रतिष्ठा करवाए। कोई गृहस्थ आकर साधु से पूछे कि—"महाराज ! आप लोगों में एक तपस्वी साधु हैं, ऐसा सुना था, क्या वे आप ही हैं ?" ऐसे प्रश्न पर जो साधु या तो मौन रहे या कहे कि "साधु तो तपस्वी होते ही है।" ऐसा भ्रमपूर्ण उत्तर देकर तपस्वी न होते हुए भी लोगों में तपस्वी की पूजा पाने का प्रयत्न करना, यह तप की चोरी है। इसी प्रकार उत्कृष्ट व्रत आदि का आचरण न करने पर भी उत्कृष्ट व्रती कहलाने का ढोंग करना, विशिष्ट आचारी न होने पर भी लोगों में स्वयं को उत्कृष्ट एवं विशिष्ट आचारी बताने का दंभ करना तथा स्वयं विद्वान न होने पर भी दूसरों के ज्ञान-भाव-भाषा आदि को चुराकर अपनी बहुश्रुतता की छाप लगाने की चेष्टा करना, यह सब एक प्रकार का मायाचार है। अतः मायी के पांचवें भेद में भी इसे लिया जा सकता है।

इस प्रकार उक्त पाँच कारणों से जीव किल्विषिक भावना का आचरण करता है।



५. आसुरी भावना

आसुरी भावना

असुर का सीधा अर्थ है राक्षस ! दैत्य ! लाक्षणिक भाषा में क्रोध को भी असुर कहा गया है।[१] क्योंकि क्रोध आने पर मनुष्य राक्षस की तरह क्रूर एवं निर्विवेक हो जाता है। यहाँ पर क्रोधानुबंधी विचारणा को लक्ष्य करके ही आसुरी भावना का वर्णन किया गया है। कहा है—

> **अणुबद्धरोसपसरो**
> **तह य निमित्तं मि होइ पडिसेवी ॥**
> **एएहिं कारणेहिं**
> **आसुरियं भावणं कुणइ ॥**[२]

जो निरन्तर रोष-क्रोध को बढ़ाता रहता है और निमित्त विद्या का प्रयोग करता है, वह इन कारणों से आसुरी भावना का आचरण करता है।

आगम में आसुरी भावना के संक्षेप में दो कारण बताए हैं—निरन्तर क्रोध करना और निमित्त का प्रयोग करना। भाष्यकार आचार्य ने विस्तार करते हुए इसके पांच कारणों का वर्णन किया है। जो इस प्रकार है—

> **अणुबद्धविग्गहो विय**
> **संसत्ततवो निमित्तमाएसी ।**
> **निरक्किव निरणुकंपो**
> **आसुरियं भावणं कुणइ ॥**[3]

आसुरी भावना के पांच लक्षण हैं—

(क) अनुबद्ध विग्रह,
(ख) संसक्ततपा,
(ग) निमित्तादेशी,
(घ) निष्कृप,
(च) निरनुकम्प।

---

१. आसुरत्तं न गच्छेज्जा—दशवैकालिक सूत्र ८।२५
२. उत्तराध्ययन—३६।२६६
३. बृहत्कल्प भाष्य गाथा १३१५

इनका क्रमशः विवेचन इस प्रकार है—

(क) अनुबद्ध विग्रह

जो सदा कलह करता रहे, बात-बात में उत्तेजित होता रहे, जब देखो तभी क्रोध में दुर्वासा ऋषि की भाँति लाल-पीला रहे, यह अनुबद्ध विग्रह का पहला लक्षण है। बार-बार कलह करने वाला स्वयं को भी अशांत रखता है तथा दूसरों को भी असमाधि उत्पन्न करता है। इसलिए कहा है—**'कलहकरो असमाहिकरे'**[1] कलह करने वाला असमाधि को उत्पन्न करने वाला है। निरन्तर कलह करते रहने वाले को पाप-श्रमण कहा है—

वुग्गहे कलहे रत्ते पावसमणे त्ति वुच्चई ॥[2]

कलह से सम्पत्ति, शांति और सम्यता नष्ट हो जाती है इसलिए बार-बार कलह करने वाला विग्रहशील आसुरी भावना वाला होता है।

अनुबद्ध विग्रह में यह भी बताया गया है कि क्रोध करके, कलह करके उस पर फिर पश्चात्ताप नहीं करने वाला भी इसी भावना का शिकार है। क्योंकि एक तो पाप है कलह करना, और फिर उस पर पश्चात्ताप नहीं करना, यह दूसरा पाप है। इसलिए कलहकर्त्ता के मन में बैर की गाठ मजबूत है, इसका पता लगता है। क्रोध आना, कलह होना कोई बड़ी बात नहीं है, किन्तु अगर उस पर पश्चात्ताप कर लिया तो उसका वेग क्षीण हो जाता है, क्रोध की कटुता, कलह की उष्णता भंग हो जाती है। किन्तु यह पश्चात्ताप वही कर सकता है, जिसका हृदय सरल हो। आसुरी भावना वाला कलह एवं क्रोध करके उस पर पश्चात्ताप नहीं करता। आचार्य ने इसके आगे बताया है—

'न य खामिओ पसीयइ
सपक्ख-परपक्खओ आवि।'[3]

क्रोधी को कोई दूसरा आकर अपना अपराध खमाये, उससे क्षमा मागे कि—'मुझसे अमुक भूल हो गई, आप मेरी भूल क्षमा करें तो भी वह न तो उसे क्षमा प्रदान करता है और न अपने मन को ही शांत करता है, क्योंकि उसके भीतर क्रोध का—तीव्र कषाय का उदय है। जिसका कषाय मंद होता है उसका क्रोध जल पर खिंची रेखा के समान क्षणस्थायी होता है। नीतिकार ने कहा है—

"उत्तमस्य क्षणं कोपः मध्यमस्य प्रहरद्वयम्।
अधमस्य त्वहोरात्रं, नीचस्य मरणान्तकम् ॥"

---

१. दशाश्रुत स्कन्ध, १
२. उत्तराध्ययन १७।१२
३. बृ० भा०, गा० १३१६

—उत्तम पुरुष का क्रोध क्षण भर का होता है, मध्यम का दो पहर तक, अधम पुरुष का एक दिन-रात का और नीच पुरुष का जीवन भर बना रहता है। जिनका क्रोध जन्म-जन्म तक बना रहे, उनको तो नीचातिनीच कहना चाहिए।

सज्जन पुरुष को क्रोध आता है विलम्ब से, जाता है शीघ्र। क्रोध का कारण दूर होते ही उनका हृदय शान्त हो जाता है। आचार्य सोमदेवसूरि ने बताया है—

> "दानावसानः कोपो ब्राह्मणानाम्
> प्रणामावसानः कोपो गुरूणाम्।
> प्रियवचनावसानः कोपो वणिक् जनानाम्।"[1]

ब्राह्मणों का क्रोध दान मिलने से शांत हो जाता है, गुरुजनों का क्रोध प्रणाम (विनय) करने से शान्त हो जाता है, और वणिक् लोगों का क्रोध मधुर वचन बोलने से दूर हो जाता है। जिनका क्रोध विनय करने पर, मधुर वचन बोलने पर और क्षमा मांगने पर भी शान्त नहीं होता और वे प्रसन्न नहीं होते, उन्हें शास्त्र में तीव्र कषायी कहा है, और यह सब आसुरी भावना के अनुबद्ध विग्रह के लक्षण हैं।

(ख) संसक्ततपा

आहार-उपधि, वस्त्र-पात्र, पूजा-यश आदि में जिसकी आसक्ति होती है उसे संसक्त कहते हैं। ऐसा व्यक्ति अपनी पूजा के लिए, आहार आदि की प्राप्ति के लिए, लोगों में गौरव बढ़ाने के लिए तप आदि क्रियायें करता है, उसे 'संसक्ततपा' कहा गया है। वास्तव में आसक्तिपूर्वक कोई भी तप आदि आचरण करना व्यर्थ है, उससे न तो तप का फल होता है और न ज्ञान आदि की वृद्धि। पूजा-प्रतिष्ठा के लिए तप करके शरीर को सुखाने वाला लकड़ियों के लिए कल्पवृक्ष को काटने जैसी मूर्खता करता है। इसलिए भगवान ने कहा है—

> 'नो पूयणं तवसा आवहेज्जा।'[2]

तप करके अथवा तप के द्वारा पूजा-सत्कार आदि की भावना नहीं करनी चाहिए। पूजा की भावना में आसक्ति है और आसक्ति पाप की जड़ है, इसलिए आसक्तिपूर्वक तप करना भी आसुरी भावना का लक्षण है।

(ग) निमित्त देशी

निमित्त आदि का कथन करना आसुरी भावना का तीसरा लक्षण है।

---

१ नीतिवाक्यामृत ७।३५
२ सूत्रकृतांग, १।७।२७

यद्यपि निमित्त-कथन करना आभियोगी भावना में बताया गया है, पुनः यहाँ बताया है, इसकी संगति यह है कि आजीविका के लिए निमित्त-कथन करना आभियोगी भावना है और अहंकार तथा क्रोधवश किसी का अहित करने, किसी को भयाक्रान्त करने के लिए निमित्त-कथन करना आसुरी भावना के अन्तर्गत माना गया है।

(घ) निष्कृप

कृपा नाम है करुणा का। चलते-फिरते कहीं किसी स्थान पर यदि किसी जीव की हिंसा हो जाती है तो उसे देखते ही मनुष्य के मन में अपने कृत्य के प्रति ग्लानि-सी होती है, "अहो ! मैंने असावधानीवश अमुक प्राणी की हिंसा कर दी।" यह ग्लानि, पाप के प्रति अनुताप करुणा का लक्षण है। इस प्रकार की करुणा जिसके हृदय में नहीं हो, पाप व हिंसा करके भी जो पश्चात्ताप नहीं करता है, उसे निष्कृप कहा गया है—

"काउं च नाणुतप्पइ एरिसो निक्किपो होइ।"[1]

पाप करके जिसे अनुताप न हो, वह निष्कृप है।

उत्तराध्ययन में बताया है—'जिसके हृदय में दया व करुणा का अंश नहीं होता, वह पापी मार्ग में आये त्रस जीवों को और वनस्पतिकाय आदि का मर्दन करता हुआ, मसलता हुआ और चूर करता हुआ चलता है, जैसे उनकी आत्मा ही नहीं है, उन्हें कोई पीड़ा ही नहीं होती। ऐसी क्रूर व निष्करुण वृत्ति वाला मनुष्य पापात्मा कहलाता है।'[2] मनुष्य को सोचना चाहिए कि कभी किसी हाथी के पैर के नीचे आने पर हमें जो पीड़ा व कष्ट का अनुभव होता है, हमारे पैर के नीचे आयी चींटी को भी उसी प्रकार की पीड़ा और तकलीफ का अनुभव होता है। फिर किसी क्षुद्र प्राणी को पैर से कुचल देना कितना बड़ा पाप है ? किन्तु यह तो वही सोच सकता है जिसके हृदय में कृपा व करुणा हो, निष्कृप व्यक्ति तो इस संवेदन से ही शून्य होता है।

(च) निरनुकम्प

किसी की हिंसा करके उस पर पश्चात्ताप नहीं करना 'निष्कृप' का लक्षण है और दूसरे को दुःखी देखकर, कष्टों से कांपता देखकर भी जिसका कठिन हृदय कम्पित नहीं हो, वह 'निरनुकंपता' का चिन्ह है। आचार्य ने कहा है—

---

१ बृहत्कल्प भाष्य गाथा–१३१६

२ उत्तराध्ययन—१७।६—सम्मद्दमाणे पाणाणि बीयाणि हरियाणि य।

"जो उ परं कंपंतं
दट्ठूण न कंपए कढिणभावो।
एसो उ निरणुकम्पो,
अणु पच्छाभावजोएणं।"[1]

जो कठोर हृदय दूसरे को पीड़ा से प्रकम्पमान देखकर भी स्वय प्रकम्पित नहीं होता, वह निरनुकम्प (अनुकम्पा रहित) कहलाता है। चूंकि अनुकम्पा का अर्थ ही है 'कांपते हुए को देखकर कम्पित होना।' तुलसीदास जी ने संत का वर्णन करते हुए कहा है—"मक्खन तो सिर्फ स्वयं पर ताप आने मे पिघलता है. किन्तु सन्त जन तो जगत के ताप से पिघलते रहते है। दूसरो के कष्ट से दुःखी होना यही सन्त का लक्षण है।" बाइबिल में कहा है—

"दयावान वह है, जो पशुओं पर भी दया करे।"

इसी प्रकार की बात मुहम्मद साहब ने कही है—

"रहम करने वाले पर रहमान रहम करता है। तुम जमीन वालों पर रहम करोगे तो तुम्हारे पर आसमान वाला रहम करेगा।"

अनुकम्पा करने वाला वास्तव में दूसरे की नहीं, किन्तु अपनी ही अनुकम्पा करता है, स्वयं पर ही दया करता है। कहते है--एक बार अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहिम लिंकन मीटिंग में जा रहे थे। मार्ग में एक सुअर कीचड में फंसा हुआ तड़प रहा था। राष्ट्रपति ने देखा, उनका हृदय पसीज गया। उन्होंने सुअर को निकालने का प्रयत्न किया। आसानी से नहीं निकला तो अपने हाथों से खींचकर निकाला। इस कार्य में समय लग गया, कपड़े भी गन्दे हो गये, उधर मीटिंग का समय काफी निकल गया था। जल्दी के कारण राष्ट्रपति उन्हीं कपड़ों में सीधे मीटिंग मे चले गए। वहाँ उपस्थित अन्य सदस्यों ने विलम्ब का और इस प्रकार कपड़े कीचड़ मे भरे होने का कारण पूछा। राष्ट्रपति ने घटना सुना दी। लोगों ने धन्यवाद के साथ कहा—"आपने बेचारे सुअर का दुःख मिटा दिया, आप बड़े दयालु हैं।" लिंकन बोले—"मैने दुःख तो अपना ही मिटाया है, सुअर का नही। सुअर का दुःख मुझसे देखा नहीं गया।"

---

१. बृहत्कल्प भाष्य गाथा-१३२०

तो इसे अनुकंपा कहते हैं। अनुकंपा रहित हृदय में सम्यक्त्व रत्न नहीं टिक सकता। सम्यक्त्व के पांच लक्षणों में अनुकंपा एक लक्षण है। जो निरनुकंप, अनुकम्पा-शून्य है, वह सम्यक्त्वी तो हो ही नहीं सकता। इसलिए कहा है—'मन में सदा अनुकम्पा रखो'—**'क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वं'**—दुःखी जीवों के प्रति कृपालु बने रहो। जो कृपा एवं अनुकम्पा से हीन आचरण करता है उसे आसुरी भावना वाला समझना चाहिए। कृपालु, अनुकंपा वाला देवता है तो अनुकम्पाहीन राक्षस है, असुर है। वह असुर ही आसुरी भावना से ग्रस्त होता है।

इस प्रकार आसुरी भावना के ये पांच लक्षण बताये गये है।



६. सम्मोही भावना

सम्मोही भावना

अप्रशस्त भावना का पांचवां भेद है—सम्मोही भावना। पहले बताया जा चुका है कि इसका वर्णन उत्तराध्ययन में नहीं है, किन्तु बृहत्कल्पभाष्य आदि ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

'सम्मोह' का अर्थ है—मोह या मूढ़ता। यहाँ पर जिस प्रकार 'आसुरी भावना' के बाद सम्मोही भावना बताई गयी है, वैसा ही क्रम गीता में भी मिलता है। वहाँ भी कहा है—

"क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।"[1]

क्रोध से अत्यन्त मूढ़ता पैदा होती है और मोह-मूढ़ता से स्मृतिविभ्रम हो जाता है। क्रोध से मनुष्य की चिन्तन शक्ति क्षीण हो जाती है, जो कुछ थोडा बहुत विचार का प्रकाश रहता भी है तो जब मोह का सघन आवरण बुद्धि पर छा जाता है, तो फिर विचार लोक में गहरा अंधकार व्याप्त हो जाता है। बुद्धि में विभ्रम, विक्षिप्तता और चंचलता पैदा हो जाती है। गीता में तो आगे यहाँ तक कह दिया है—

"स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।"

सम्मोह मनुष्य के विनाश की अन्तिम स्थिति है, बस जब सम्मोह की दशा में पहुँच गया, बुद्धि में विपर्यास और स्मृति में विभ्रम आ गया तो फिर प्राणी विनाश के मुंह से बच नहीं सकता। इसीलिए श्री कृष्ण अर्जुन से कहते है—

"यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥"[2]

जब तेरी बुद्धि मोह के दल-दल को बिलकुल तर जायेगी, मोह से पार हो जाएगी, तभी तू कुछ सुनने योग्य होगा और सुने हुए के वैराग्य को प्राप्त करेगा।

---

१. गीता—२।६३
२. गीता—२।५२

जब तक प्राणी मोह से घिरा रहता है, वह अज्ञान के दल-दल से मुक्त नहीं हो सकता—

'मंदा मोहेण पाउडा।'[1]

मूर्ख जीव मोह से आवृत रहते हैं। यह मोह जब और गहरा हो जाता है तो उसे सम्मोह कहते है। सम्मोह से व्याप्त भावना को सम्मोही भावना कहा गया है। इसलिए सम्मोही भावना का सम्बन्ध बुद्धिविपर्यास के साथ जोड़ा गया है। सम्मोही भावना के पांच लक्षण इस प्रकार हैं—

'उम्मग्गदेसणा मग्गदूसणा मग्गविप्पडीवत्ती।
मोहेण य मोहित्ता, सम्मोहं भावणं कुणइ॥'[2]

(क) उन्मार्ग-देशना,
(ख) मार्गदूषणा,
(ग) मार्गविप्रतिपत्ती,
(घ) स्व-मोह,
(च) पर-मोहकता

ये पांच लक्षण सम्मोही भावना के हैं।

(क) उन्मार्ग-देशना

उन्मार्ग-देशना का अर्थ है मार्ग के विपरीत देशना देना। यहां मार्ग से अर्थ है—ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप रूप मोक्षमार्ग। क्योंकि प्रत्येक आत्मा की अन्तिम प्राप्तव्य—आखिरी मंजिल मुक्ति है, मोक्ष है, वह मोक्ष आत्मा का अपना घर है, स्वस्थान है, उस स्वस्थान तक पहुँचने का जो साधन है, वही मार्ग है।

शास्त्रों में मोक्ष का मार्ग बताते हुए कहा है—

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गुत्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं॥[3]

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चार की आराधना करना, यही मुक्ति का मार्ग है। जिनेश्वर देव जो सर्वदर्शी हैं उन्होंने इसे ही मोक्ष का मार्ग बताया है। शास्त्र में स्थान-स्थान पर मोक्षमार्ग की चर्चाएं आई है। कहीं ज्ञान-क्रिया—दो मार्ग बताए है, कहीं-कहीं ज्ञान, दर्शन और चारित्र, और कहीं ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, इस प्रकार चार भेद बताये गये है। यह भेद वास्तव में निरूपण

१. सूत्रकृतांग, ३।१।११
२. बृ० भा०, गाथा-१३२१
३. उत्तराध्ययन-२८।२

शैली का ही है, मूलतः तत्त्व मे कोई अन्तर नहीं है। स्थानाग सूत्र में धर्म के चार द्वार बताए हैं —

खंति, मुत्ति, अज्जवे, मद्दवे।[1]

क्षमा, निर्लोभता, ऋजुता, मृदुता ये चार धर्म के द्वार है। वास्तव में जो धर्म का द्वार है, वही मोक्ष का द्वार है। मूल बात यही है कि जिस मार्ग पर चलने पर आत्मा मुक्ति की ओर अग्रसर हो, मुक्ति-मंजिल नजदीक आये वही सच्चा मार्ग है। उक्त मोक्ष-मार्ग, ज्ञान आदि की उपेक्षा करके जो इसके विपरीत प्ररूपणा करे, वह उन्मार्गदेशना है। ज्ञान आदि की निन्दा करना पीछे किल्विषिक भावना में बताया गया है, यहाँ पर उन ज्ञानादि की उपेक्षा करके उनके विपरीत मार्ग की प्ररूपणा की जाती है। जैसे कुछ व्यक्ति कहते है कि ज्ञान से क्या लाभ है, ज्ञानी को कष्ट होता है, मूर्ख मजे मे रहता है। '**मूर्खः सुखं जीवति**' ससार में मूर्ख सुख से जीता है। उसे न कोई चिन्ता सताती है, न किसी का भय और न कोई व्याधि-उपाधि। राजस्थानी में एक पद्य प्रसिद्ध है—

भणियां मांगे भीख, अणभणियां घोडां चढ़े।
सुगुणा आछो सीख, भाइड़ा! भणज्यो मती।।

तो इस प्रकार ज्ञानवाद की जगह अज्ञानवाद की सीख देना, क्रिया की जगह अक्रिया की, पुरुषार्थ की जगह आलस्य की या सिर्फ नियतिवाद की प्ररूपणा करना 'उन्मार्ग देशना' है। शास्त्र मे उन नियतिवादी, अक्रियावादी और अज्ञानवादियों को उन्मार्गगामी—'**सव्वे ते उम्मगपट्ठिया**' उन्मार्ग में प्रस्थित कहा है।[2]

मार्ग क्या है, उसका स्वरूप क्या है, इसका सम्यक् परिचय पाने के लिए उत्तराध्ययन[3] एवं सूत्रकृतांग[4] का विस्तृत अवलोकन करना चाहिए। यहाँ तो सिर्फ इतना ही बताना इष्ट है कि सम्यक् मार्ग के विपरीत प्ररूपणा करना अर्थात् सन्मार्ग का निषेध नही करते हुए कुमार्ग का उपदेश करना उन्मार्ग-देशना है। यह उन्मार्ग-देशना मोहावृत आत्मा ही करता है, अतः इसे सम्मोही भावना कहा गया है।

(ख) मार्गदूषणा

सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित मोक्षमार्ग ही सत्य है, यथार्थ है, यह भगवद्वचन है—

'तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं।'

---

१. स्थानाग-४
२. सूत्रकृतांग, १।२
३. उत्तराध्ययन-२८
४. सूत्रकृतांग १।११ (मार्ग अध्ययन)

जिन-प्ररूपित वचन सत्य एवं संशय रहित है। इस प्रकार की धारणा का अपलाप कर अपनी मनः कल्पित नई बात कहना, स्वयं को ज्ञान कुछ भी नहीं, किन्तु फिर भी बहुश्रुत बनकर सर्वज्ञ वचन से भी अधिक अपने वचन का महत्त्व बताना तथा जिन-प्ररूपित मार्ग मे दोष बताना कि देखो, भगवान के वचन में अमुक दोष है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप जो मार्ग बताया है उसमें तीनों की क्या जरूरत है ? एक ज्ञान से ही आत्मा का कल्याण हो सकता है। बस ज्ञान हो गया तो मुक्ति भी हो गई।

'सिज्झंति चरणरहिआ, नाणरहिआ न सिज्झति।'

चारित्ररहित की मुक्ति हो सकती है किन्तु ज्ञान के बिना मुक्ति नही। इस प्रकार दूषित—एकांगी वचन बोलकर लोगों की बुद्धि को भ्रमित करना 'मार्गदूषणा' है। जो पूर्णमार्ग का अपलाप नहीं करता, किन्तु मार्ग के एक पक्ष को पकड़कर उसी का आग्रह करने लगता है, जैसे कालवादी, स्वभाववादी, भाग्यवादी, उद्यमवादी और कर्मवादी अपनी-अपनी बात का आग्रह कर उसी पर जोर देते हैं, यह एक प्रकार की मार्गदूषणा है।

(ग) मार्ग-विप्रपत्ति

सन्मार्ग को मिथ्या तर्क-वितर्क से दूषित कर आंशिक रूप में उन्मार्गदेशना करना 'मार्गविप्रतिपत्ति' है। जिसे शास्त्रों का गहरा ज्ञान नही होता तथा उनकी सूक्ष्म प्रतिपादन शैली का रहस्य नही जानता और किस अपेक्षा से किस सिद्धान्त का निरूपण किया गया है, उसके मर्म का जिसे ज्ञान नहीं वह व्यक्ति शास्त्रो के मंगजाल में तथा उनके सूक्ष्म नय निक्षेपवाद में उलझकर मतिभ्रम मे पड़ जाता है और सत्य तथ्य की उल्टी प्ररूपणा करने लगता है। जैसे जमालि ने भगवान के **'करेमाणे कडे'** सिद्धान्त की अपेक्षा को ठीक से नहीं समझा और सिर्फ अपनी ही बात को तानकर 'कृतमेव कृतं' का आग्रह कर विपरीत प्ररूपणा करने लग गया। यह मार्गविप्रतिपत्ति है।

(घ) स्व-मोह

शंका-कांक्षा-विचिकित्सा आदि के कारण जिसे ज्ञान आदि सिद्धान्त वचनों मे मोह उत्पन्न हो जाता है अर्थात् उसका सम्यक् निर्णय करने में असमर्थ होकर कभी उस बात को सही बताये, कभी इस बात को। कोई भी निर्णय नहीं कर सके, संयम के फल आदि के विषय में भी जिसे विचिकित्सा हो, इस प्रकार का बौद्धिक व्यामोह स्व-मोह कहलाता है।

(च) पर-मोह

जो व्यक्ति दूसरों को भ्रान्त करने की चेष्टा करता है, स्वयं जानता है कि

यह सन्मार्ग है, यह कुमार्ग है, किन्तु जानते हुए भी कपटवश या अपने पक्ष की सत्यता बताने के हेतु अपनी बात को ऊंची रखने हेतु, जो जानबूझकर दूसरों को उन्मार्ग का उपदेश देता है तथा असत्य प्ररूपणा कर उन्हें भ्रान्ति में डालता है वह पर-मोह रूप सम्मोही भावना का आचरण करता है। इस प्रकार के आचरण उसके दुर्लभ बोधिबीज (सम्यक्त्व) का नाश करने वाले है—

'सम्मोह भावणं सो पकरेइ अबोहिलाभाय।'[1]

सम्यक्त्व का नाश होने से दुर्गति निश्चित है, अतः इस प्रकार की भावना का आचरण न करें।

इस प्रकार पाच अशुभ भावनाओं का वर्णन किया गया है। अशुभ भावना यद्यपि त्याज्य है—हेय है, किन्तु हेय का भी परिज्ञान होना आवश्यक है। जब तक हेय का, पाप का ज्ञान नहीं होगा, तब तक उसका त्याग भी कैसे होगा? इसी दृष्टि से यहाँ पाच अशुभ भावना तथा उनके भेद-उपभेद का विस्तृत वर्णन किया गया है। अगले प्रकरण में अशुभ भावना का फल संक्षेप में बताया जा रहा है।

☆

१. बृहत्कल्प भाष्य, गाथा १३२६

७. अशुभ भावनाओं का फल

पिछले प्रकरण में अशुभ भावनाओं का विस्तृत वर्णन किया गया है। भावना की दो धाराएं है—एक शुभ और दूसरी अशुभ। शुभ भावना पुण्य एवं मोक्षदायिनी है, अशुभ भावना पाप एवं दुर्गतिदायिनी है। जैसा भाव होगा तदनुसार फल अवश्य होगा। हाँ, एक बात ध्यान देने की है कि संसार में आम का वृक्ष उतना जल्दी फल नही देता जितनी जल्दी धतूरा या नीम फलता है। पुण्य का फल मिलने में विलम्ब हो सकता है, किन्तु पाप का फल बहुत शीघ्र मिलता है। इसी प्रकार शुभ भावना का फल मिलता अवश्य है, किन्तु उसमें समय लगता है, किन्तु अशुभ भावना का फल बहुत शीघ्र मिलता है, इसलिए जीवन में शुभ आचरण के पूर्व अशुभ आचरण का त्याग होना जरूरी है। नीति में कहा है--

'दुर्जनं प्रथमं वन्दे सज्जनं तदनन्तरम्।'

पहले दुर्जन का मुंह बन्द करना चाहिए फिर सज्जन को नमस्कार करें। मतलब यह है कि पुण्य का द्वार खोलने से पहले पाप का द्वार बन्द करना चाहिए। तालाब में स्वच्छ पानी भरने से पूर्व गंदा पानी निकालना चाहिए। घर में अच्छा फर्नीचर आदि लगाने से पहले उसकी सफाई करनी चाहिए, कूड़ा-कचरा निकालना चाहिए। इसी प्रकार मन को शुभ भावना से भावित करने के पहले अशुभ भावना को दूर करना चाहिए। इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर शुभ भावना का वर्णन करने से पहले अशुभ भावना का वर्णन किया गया है।

अशुभ भावनाओं के स्वरूप, उसके लक्षण और उसकी प्रवृत्तियों का विवेचन पिछले प्रकरणों में किया जा चुका है, संक्षेप में उनके अशुभ फल का दिग्दर्शन भी साथ-साथ में कराया गया है। यहाँ उनके अशुभ फल का ही विस्तृत वर्णन किया जा रहा है।

देव दुर्गति क्यों ?

अशुभ भावनाओं के प्रकरण में आगमों में प्रायः यह आता है—वह किल्विषिक देव होता है, आभियोगी देव होता है, **'कुव्वइ देवकिब्बिसं'**[1] वह

---

१. दशवैकालिक सूत्र-५—२।४६

किल्विषिक देवगति में जाता है। उत्तराध्ययन में भी यही कहा है, कंदर्पी भावना वाला स्वर्ग में सेवक देवता होता है, आसुरी भावना वाला असुरकुमार देवता होता है।[1]

बृहत्कल्प भाष्य में भी भावनाओं का वर्णन करके उनका अशुभ फल बताते हुए कहा है—

एआओ भावणाओ, भावित्ता देव दुग्गइं जंति।
तत्तो वि चुआ संता, परंति भवसागरमणंतं॥[2]

इन भावनाओं के कारण देव दुर्गति को प्राप्त होता है और वहाँ से च्यवकर अनन्त भव सागर में पर्यटन करता है। इस वर्णन को पढ़कर सामान्य पाठक के मन में यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि क्या इन अशुभ भावनाओं के कारण देव-दुर्गति मिलती है? अर्थात् अशुभ गति तो मिलती है पर वह देव-लोक की मिलती है? 'सिर नीचा हुआ तो हुआ, नाक तो ऊंची रही,' क्या यह ऐसी ही बात नहीं है? कम से कम स्वर्ग तो मिला। मनुष्य लोक के मेहतर से तो स्वर्ग का मेहतर ऊँचा होगा। इस प्रकार की कल्पना या आशंका पाठक के मन में उठ सकती है।

इसका समाधान यह है कि यहाँ इन अशुभ भावनाओं का वर्णन प्रायः सर्वत्र ही साधु को लक्ष्य करके किया गया है। उत्तराध्ययन[3], स्थानांग[4], दशाश्रुतस्कंध[5] और बृहत्कल्प भाष्य आदि में जो भी वर्णन अशुभ भावना से सम्बन्धित आया है, वह सभी साधु को लक्ष्य करके किया गया है।

कुशील—कुत्सित—आचार वाले साधु का वर्णन जहाँ आता है, वहाँ कुशील के तीन भेद किए गए हैं—ज्ञानकुशील, दर्शनकुशील, चारित्रकुशील। चारित्र-कुशील के सम्पूर्ण लक्षण वे ही हैं जो आभियोगी भावना में बताए गए हैं।[6]

इसी प्रकार आचार के छह पलिमंथुओं में पहला पलिमंथु (आचार का

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र-३६
२. बृहत्कल्प भाष्य, गाथा-१३२७
३. उत्तराध्ययन-३६
४. स्थानांग सूत्र-४।४
५. दशाश्रुतस्कन्ध-१
६. देखें हरिभद्रीयावश्यक अ०-३ तथा प्रवचनसारोद्धार, द्वार, २०, पूर्वभाग, गाथा १०३ से १८३। कुसीलनियंठा का वर्णन भगवती सूत्र २५।६ में तथा स्थानांग ५।३ में भी इसी प्रकार का है।

दोष) कौत्कुचिक बताया है[1] जो कि कन्दर्प भावना का लक्षण है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जो-जो वर्णन है, वह सब साधु-श्रमण को ध्यान में रखते हुए किया है।

भगवती सूत्र[2] में तथा अन्य आगमों में अनेक स्थानों पर बताया गया है कि पाँच महाव्रतधारी छद्मस्थ साधु आराधक अवस्था में आयुष्य पूर्ण करके स्वर्ग में वैमानिक देव होते हैं। साधु की दो ही गति होती है, या तो मोक्ष या वैमानिक देव। किन्तु जो साधु श्रमण धर्म को स्वीकार करके उसमें दोष लगाता है, अशुभ भावनाओं के कारण चारित्र को कलुषित कर लेता है, वह अपनी तपस्या आदि के कारण देवगति तो प्राप्त कर लेता है, किन्तु साथ में अशुभ भावनाओं के कारण देवगति में भी अशुभ जाति, जिसे नीच गति या दुर्गति कहा गया है, उसे प्राप्त करता है। इसका आशय यह है कि देवगति का कारण उनकी तपस्या आदि है तथा अशुभ जाति का कारण है अशुभ भावना। अशुभ भावना जब देवगति वाले को भी अशुभ जाति प्रदान करती है तो फिर मनुष्य आदि गति मे तो अशुभ जाति अवश्य ही प्रदान करेगी। आचार्य संघदासगणी ने भी यही बात कही है—

> **जो संजओ वि-एआसु,**
> **अपसत्थासु भावणं कुणइ।**
> **सो तव्विहेसु गच्छइ,**
> **सुरेसु भइयो चरणहीणो॥**[3]

जो साधु होकर भी, संयती होकर भी इन अशुभ भावनाओं का आचरण करता है, इन मलिन भावनाओं से आत्मा को दूषित करता है, वह उन भावनाओं के अनुरूप-**तव्विहेसु**, उसी प्रकार की जाति में जाता है अर्थात् आभियोगी भावना वाला आभियोगिक देव मे, किल्विषिक वाला किल्विषिक देवजाति में, और जो चरणहीन अर्थात् सर्वथा सयम से रहित है, असंयमी जीवन जीता है, वह तो उसी योनि की अशुभ जाति में जन्म लेता है, जैसे यदि मनुष्य गति में जन्म लेगा तो उसमें भी जो विदूषक, भांड, मेहतर, दास आदि जातियाँ हैं, जिनमे जन्म लेकर मनुष्य को उस-उस प्रकार के असत्कर्म व असदाचरण करने पड़ते है, ऐसी अशुभ जातियों में ही वह जन्म धारण करेगा। इसी प्रकार तिर्यंच एवं नरक गति में भी उनमें जो अशुभतर जाति एवं गति है उसी में उसका जन्म होगा।

---

१. (क) स्थानांग-६। (ख) बृहत्कल्प भाष्य-६
२. भगवती ८।१०
३. बृहत्कल्प भाष्य, गाथा-१२९४

इस विवेचन का स्पष्ट अर्थ यही है कि अशुभ भावना निश्चित रूप से अशुभफल प्रदायिनी है, वह एक हलाहल जहर है, अगर अमृत के साथ भी मिल जाय तब भी जहर अपना असर नहीं छोड़ेगा। कहते हैं महादेवजी ने कालकूट पिया तो गले के नीचे नहीं उतारा, गले में ही धारण कर लिया जिससे उनका गला जहर के कारण नीला पड़ गया और वे 'नीलकंठ' 'कालकंठ' कहलाए। तो महादेवजी के शरीर पर भी जहर ने अपना प्रभाव दिखा दिया। इसी प्रकार अशुभ भावना का जहर है, चाहे साधु हो या गृहस्थ जो भी अशुभ भावना से मन को दूषित करेगा उसका जीवन, उसकी गति अशुभ होगी।

यह नहीं कि अशुभ भावना का परलोक में ही फल होता है, पाप का फल तो इस जन्म में भी मिलता है और पर-जन्म में भी। पुण्य-उदयवश अगर इस जन्म में न भी मिले तो पर-जन्म में तो अवश्य ही मिलेगा। यही बात उक्त वर्णन में स्पष्ट की गई है।

अब एक प्रश्न और हमारे समक्ष है कि अशुभ भावना तो पांच बताई गई हैं और देवयोनियां चार ही हैं—भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक।[1] तो इन अशुभ भावना वाले किस देवयोनि में उत्पन्न होते हैं?

यहां समाधान है कि देवों की जाति चार हैं और उनमें अवान्तर भेद भी अनेक है। जैसे देवों की जातियों के दस भेद बताये गये हैं—[2]

१. इन्द्र,	६. लोकपाल,
२. सामानिक,	७. अनीक,
३. त्रायस्त्रिंश,	८. प्रकीर्णक,
४. पार्षद्य,	९. आभियोगिक,
५. आत्मरक्षक,	१०. किल्विषिक,

उक्त दस भेदों में अन्तिम दो भेद—आभियोगिक और किल्विषिक ये निम्नतर है। आभियोगिक देव का स्वर्ग में वही स्थान है जो मनुष्यलोक में दास-दासी तथा सेवक, नौकर आदि का। किल्विषिक देव स्वर्ग के अन्त्यज माने गये हैं, उनका स्वर्ग में वही रूप है जो मनुष्य लोक में शूद्र, चांडाल तथा मेहतर का है। ये दोनों ही देव जातियाँ सबसे निम्न मानी गई हैं। अतः यह बताया गया है कि उक्त अशुभ भावनाओं से दूषित चारित्र वाला इन दो प्रकार की अशुभ देव जातियों में उत्पन्न होता है। आसुरी भावना वाले के असुर

---

१. भगवतीसूत्र-२।७
२. तत्त्वार्थसूत्र-४।४

योनि में उत्पन्न होने का वर्णन भी कहीं-कहीं आता है। असुरकुमार भवनपति देवताओं की एक जाति है[1] उस जाति में भी आभियोगिक एवं किल्विषिक देव होते हैं—अतः यदि कोई असुर जाति में जन्म लेता है तब भी वहाँ पर वह उस जाति में जो अशुभ एवं निम्न जाति है उसी में उत्पन्न होगा। इस प्रकार अशुभ भावना का स्पष्ट फल है—अशुभ गति।

जिसे जीवन में सुख, सम्मान, प्रतिष्ठा तथा ऋद्धि एवं वैभव अपेक्षित है, वह इस प्रकार का आचरण कभी नहीं करेगा। क्योंकि उक्त भावनाओं के आचरण से एक बार क्षणिक लाभ या क्षणिक मनोरंजन, सुख आदि भले ही प्राप्त हो जाय किन्तु उनका अन्तिम परिणाम अति कटु है, बुरा है, दुःखदायी है। क्षणिक प्रतिष्ठा के लिए लाखों वर्ष की प्रतिष्ठा खो देना क्या समझदारी है? एक काकिणी के लिए अर्थात् एक पैसे के लिए लाखों रुपये के रत्न खो देने वाला मूर्ख, महामूर्ख कहलाता है। उसी प्रकार थोड़ी-सी यश व संपत्ति आदि के लालच में पड़कर दीर्घकालीन सुखों को नष्ट कर देने वाला मूर्ख तथा वज्रमूर्ख कहलायेगा।

अशुभ भावना का स्वरूप तथा उसका फल बताने का यही अभिप्राय है कि उनके दुष्परिणाम समझकर उनसे बचा जाय और शुभ भावनाओं से अन्तःकरण को पवित्र किया जाय। अगले प्रकरण में शुभ भावनाओं का वर्णन पढ़िए।



---

१. स्थानांग-१०।सूत्र-७३४ तथा पन्नवणा सूत्र पद-१

खण्ड ३

चारित्र भावना



पणवीस भावणाहि उद्देसेसु दसाइण ।
जे भिक्खु जयइ निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥

—उत्तराध्ययन ३१।१७

जो महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं में, दशा (दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प, एवं व्यवहार) के उद्देश्यों में उपयोग रखता है, वह भिक्षु संसार में परिभ्रमण नहीं करता ।



१. अहिंसा महाव्रत की भावनाएँ

मन, वचन और काया—ये तीन प्रवृत्ति के स्रोत हैं। प्रवृत्ति-स्रोत शुभ की ओर भी बहता है और अशुभ की ओर भी। उस प्रवृत्ति-स्रोत को शुभ-अशुभ की ओर मोड़ने वाली है भावना! भावना से कार्य की प्रवृत्ति होती है। क्रिया भावना के ही अनुसार फलदायिनी होती है। भावना जीवन के हर मोड़ पर प्रहरी बनकर खड़ी रहती है। वह साधक को अपनी प्रवृत्तियों को संयत कर शुभोन्मुखी बनाने का संकेत देती है। यदि साधक प्रवृत्ति को भावना से संयत नहीं करे, उसे खुली छूट दे दे तो वह साधक-मनुष्य को, पतन के गर्त में ढकेलते कोई देर नहीं लगायेगी। अतः प्रवृत्ति-स्रोत को संयत करने के लिए, शुभ की ओर मोड़ने के लिए भावना का महत्त्व है। भावना संस्कारों को इतना मजबूत कर देती है कि साधक प्रत्येक समय अपनी प्रवृत्ति को संयत रखने में सावधान रह सकता है। वास्तव में भावना सस्कारी जीवन जीने की तालीम देती है।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाच महाव्रत हैं। पांच महाव्रत जीवन में असयम का स्रोत रोककर संयम का द्वार खोल देते है; उन महाव्रतों की निर्दोष परिपालना के लिए यह आवश्यक है कि महाव्रत हमारे जीवन में सिर्फ नियम या व्रत ही नही, किन्तु संस्कार बनें। हमारे व्यवहार में ही नही, किन्तु चिन्तन में भी महाव्रत उतरें। जब हमारा प्रत्येक विचार, प्रत्येक भावना महाव्रत को परिपुष्ट कर उसकी सुरक्षा के लिए प्रयत्नशील रहेगी तभी विविध प्रवृत्तियों से भरे इस जीवन में हम अपने व्रतों को, अपने चारित्र को सुरक्षित तथा समुज्ज्वल रख सकते हैं। चारित्र को समुज्ज्वल रखने के लिए भावना की आवश्यकता है। इसलिए भगवान महावीर ने प्रत्येक महाव्रत की रक्षा और समुज्ज्वलता के लिए पांच-पाच भावनाएँ बताई है।

जिस प्रकार माता अपनी सन्तान में उच्चभावनाएँ भरकर सुसंस्कार जगाती हैं, उसे सदा कल्याण मार्ग की ओर बढ़ते रहने की प्रेरणा देती है, उसी प्रकार भावनाएँ बार-बार के चिन्तन से साधक को सुसंस्कारी बनाती है, उसे कल्याण मार्ग की ओर प्रेरित करती हैं, इसीलिए तो भगवान ने कहा है—

'भावणाजोग सुद्धप्पा जले णावा व आहिया।'[१]

भावनायोग से साधक की आत्मा शुद्ध और निर्मल बन जाती है। जैसे—

---

१. सूत्रकृतांग—१।१५।५

'नौका जल पर खड़ी रहकर भी उसमें डूबती नहीं, उसी प्रकार भावना योग वाला साधक संसार में रहकर भी संसार की कलुषता में डूबता नहीं है।' इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि भावना नौका की भाँति पार उतारने वाली है, माता की तरह रक्षा करने वाली है। पांच महाव्रतों की रक्षा के लिए इसी कारण पांच-पांच भावनाओं की एक मजबूत बाड़ बनाई गई है। इस बात की पुष्टि शास्त्र स्वयं करते है। प्रश्नव्याकरण सूत्र में भावनाओं का वर्णन करते हुए सर्वप्रथम अहिंसा महाव्रत की भावना का विवेचन करने के प्रसंग में कहा गया है—

'इमा पंच भावणा तो पढमस्स वयस्स होंति पाणातिपातवेरमण परिरक्खण-ट्ठयाए।'[1]

प्रथम व्रत की ये पांच भावनाएँ प्राणातिपात—हिंसा से विरति रूप अहिंसा व्रत की सब ओर से रक्षा करने के लिए है। रूपक की भाषा में प्रत्येक महाव्रत रूप रत्नों की रक्षा के लिए भावना रूप पांच-पांच प्रहरी खड़े किये गये हैं। अगर ये प्रहरी सावधान रहेंगे तो महाव्रत-रत्नों को कोई भी असंयम रूप चोर चुरा नही सकेगा।

पांच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं का नाम क्रमसूचन हम प्रारम्भ में 'भावनाओं के प्रकार' शीर्षक में कर चुके है, अतः यहाँ पुनरुक्ति करने की आवश्यकता नही। आगमों में जहाँ-जहाँ भावनाओं का वर्णन आता है, उसमें थोड़ा-सा शब्द भेद होते हुए भी लक्ष्य में, विषय प्रतिपादन में कोई मुख्य भेद नही है, अतः यहाँ पर प्रश्नव्याकरण सूत्र के आधार पर हम पाँच महाव्रतों की भावनाओं का विवेचन करते है।

पाँच भावनाओं का स्वरूप

अहिंसा महाव्रत की पाँच भावनाओं का स्वरूप इस प्रकार है—

१. ईर्यासमिति भावना,
२. मनःसमिति भावना,
३. वचनसमिति भावना,
४. एषणासमिति भावना,
५. आदान-निक्षेपणसमिति भावना।[2]

---

१. प्रश्नव्याकरण, संवर-द्वार १

२. तत्त्वार्थाधिगम भाष्य में ईर्यासमिति, मनोगुप्ति, एषणासमिति, आदान-निक्षेपण समिति और आलोकित-पान-भोजन समिति यह-क्रम है, किन्तु

१. ईर्यासमिति भावना

ईर्या का अर्थ है चर्या। कुछ लोग ईर्या का अर्थ सिर्फ गमनागमन ही करते है, किन्तु वास्तव मे ईर्यासमिति के अन्तर्गत साधु की चर्या—प्रवृत्ति का पूर्ण समावेश हो जाता है। सोना, बैठना, जागना, हाथ-पैर हिलाना, आंखों से देखना आदि सभी प्रवृत्तियां 'ईर्या' के अन्तर्गत आ जाती है। जैसा कि प्रश्न-व्याकरण सूत्र में बताया है—"**सव्व पाणा न हीलियव्वा**..........**न छिंदियव्वा**............**न वहेयव्वा, न भयं दुक्खं च किंचि लब्भवावेउं जे।**" सभी प्राणियों की अवहेलना, निंदा, गर्हा, हिंसा, छेदन, भेदन, वध, भयोत्पादन आदि प्रवृत्तियाँ नहीं करनी चाहिए।

यदि ईर्या का अर्थ गमनागमन ही अभीष्ट होता तो यहां बाकी प्रवृत्तियों की चर्चा नहीं की जाती। किन्तु यहां आंख, वाणी, कान आदि इन्द्रियों की प्रवृत्ति से भी किसी को भय आदि न उपजाने का निर्देश है, इसका फलितार्थ यही होता है कि इन्द्रियों की बाह्य चेष्टाएं चर्या हैं और इन्हे ईर्यासमिति के अन्तर्गत समझना चाहिए।

चर्या में प्रवृत्ति होने से पहले आंखो से सावधानी पूर्वक देखना चाहिए कि मेरी अगली प्रवृत्ति से किसी जीव को कोई कष्ट तो न हो जायेगा। उतावल व शीघ्रता मे कोई चर्या नही करनी चाहिए। रास्ते में चलते समय या स्थान पर उठने, बैठने आदि की प्रवृत्ति करते समय कोई छोटा या बड़ा जीव मरे नहीं, संत्रास नहीं पावे, डरे नहीं, कुचला न जाय और उसे किसी प्रकार का भी कष्ट न हो, इसका ध्यान रखना चाहिए। ईर्यासमिति के साधक को यहां तक भी ध्यान देना चाहिए कि वह जिस रास्ते से जा रहा है, उस रास्ते में पड़ा कोई प्राणी कराह रहा हो, छटपटा रहा हो तो उनकी उपेक्षा कर शून्यभाव से यों ही न निकल जाय अथवा उसके तुच्छ जीवन की निन्दा, गर्हा न करे, किन्तु उसे निर्भय एवं दुःखमुक्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि कांपते हुए को देखकर हृदय कंपित होना, यही अनुकंपा का लक्षण है।

इसमें कुछ आचार्यों ने थोड़ा-सा परिवर्तन कर दिया है। तत्त्वार्थ राजवार्तिक(७।४-५,५३७)तथा सर्वार्थसिद्धि (पृ० ३४५) में एषणासमिति के स्थान पर वाग्गुप्ति बताया गया है 'वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपण-समित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च, (७।४)। वहां एषणासमिति का वर्णन 'भैक्ष्यशुद्धि' नाम से अचौर्यव्रत की चौथी भावना में किया गया है।

ईर्यासमिति भावना का चिन्तन व प्रयोग

ईर्यासमिति जीवन की सबसे प्रथम व प्रमुख प्रवृत्ति है, अतः इसके सम्बन्ध में साधक को विविध रूपों से चिन्तन करते रहना चाहिए। जैसे प्रवृत्ति करने से पूर्व यह सोचे कि मेरे गमन का लक्ष्य क्या है? मुझे कहीं जाना है, कुछ प्रवृत्ति करना है तो उसका कुछ उद्देश्य है या निरर्थक ही इधर-उधर चक्कर काट रहा हूँ? जहाँ जाना है, वहाँ जाने से मुझे क्या लाभ होगा? मेरे ज्ञान-दर्शन-चारित्र की वृद्धि होगी या हानि? यदि हानि होने की संभावना हो तो फिर नहीं जाना ही अच्छा है। इस प्रकार का चिन्तन 'ईर्या का आलम्बन' है। सूत्र में बताया है—

'तत्थ आलंबणं नाणं दंसणं चरणं तहा।' [1]

ईर्या के हेतु अर्थात् आलम्बन है—ज्ञान-दर्शन एवं चारित्र। इनकी वृद्धि या रक्षा होती हो तभी गमन आदि प्रवृत्ति करनी चाहिए। इसके बाद उसे सोचना चाहिए, मैं चलूं तो उत्पथ को छोड़कर सीधे मार्ग पर चलना चाहिए। उत्पथ पर चलने से अनेक प्रकार की असमाधि, चारित्र में क्लेश तथा लोगों में उपहास व अवज्ञा हो सकती है, अतः **'मग्गे उप्पह वज्जिए'** उत्पथ मार्ग को छोड़कर चलना चाहिए गमन आदि करने से पूर्व यह भी सोचना चाहिए—

"दव्वओ चक्खुसा पेहे, जुगमित्तं च खेत्तओ।
कालओ जाव रीएज्जा, उवउत्ते य भावओ॥" [2]

द्रव्य से, आँखों से देखकर चलना चाहिए। अगला कदम रखने से पूर्व वहाँ का स्थान देख लेना चाहिए कि सामने कोई जीव आदि तो नहीं है? कीट, पतंग, सर्प-बिच्छु आदि तो नहीं चल रहे हैं? या कोई खड्डा या पत्थर तो नहीं है? क्योंकि रास्ता देखे बिना चलने से बहुत बार मनुष्य को भयानक हानि उठानी पड़ती है, कभी-कभी चलते-चलते सामने पत्थर आ जाता है, खड्डा आ जाता है, उस से टकरा जाते हैं, पैर टूट जाता है, फ्रेक्चर हो जाता है और जीवन भर कष्ट पाना पड़ता है अथवा किसी विषैले जीव पर पैर रखा जाने से वह काट लेता है, शरीर में विष व्याप्त हो जाता है, इस प्रकार बिना देखे चलने से अनेक हानिया हैं। भाषा के एक कवि ने कहा है—

"नीचे देख्यां चार गुण, नजर दोष टल जाय।
दया पलै, कांटो टलै पड़ी वस्तु मिल जाय॥"

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र २४।५

२. उत्तराध्ययन २४।७

नीचा देखने से ये सब लाभ हैं, नहीं देखने से उक्त हानियां भी हैं। तो साधक इस प्रकार का चिन्तन करे कि मैं जब भी चलूं तब पहले अपने सामने साढे तीन हाथ प्रमाण अर्थात् अपने शरीर प्रमाण भूमि को देखकर फिर पैर रखूं। अधिक दूर की भूमि एक साथ देखने से भी लाभ नहीं, क्योंकि किसी ने एक साथ २०-२५ कदम भूमि देखी तो पहली बात तो इतनी दूर तक सूक्ष्म जीव देखना कठिन है, फिर इतनी दूर जब तक पहुँचेंगे तब तक हो सकता है कोई जीव आदि वहाँ आ जाए, इसलिए शरीर प्रमाण भूमि देखें। जब तक रास्ते चलता रहे तब तक ठीक प्रकार पथ पर दृष्टि रखे, भाव भी चलने में रखे, इधर-उधर न देखे, बातें न करे, स्वाध्याय न करे, किसी प्रकार का चिन्तन न करे किन्तु सिर्फ चलने में ही ध्यान रखे—**'तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे उवउत्ते इरियं रिए।'**[1] चलने में अपने लक्ष्य में ही तन्मय रहे, आगे मार्ग देखने में ही दृष्टि को लगाए रखे और उपयोग पूर्वक चले।

इस प्रकार ईर्यासमिति भावना का सतत चिन्तन करते रहने से उक्त विचार और संस्कार साधक के मन में बद्धमूल हो जाते हैं, फिर उसे बार-बार प्रयत्न करने की भी जरूरत नहीं रहती, बल्कि शुद्ध उपयोग पूर्वक चलना संस्कार-आदत बन जाती है। पुराने सन्तों को देखा है कि वे जब चलते हैं तो उनकी दृष्टि सदा भूमि की ओर टिकी रहती है, कोई भाई उनसे बात करने की चेष्टा करता है, तो चलते-चलते स्वयं ही उनके कदम रुक जाते है। उनमें यह कृत्रिमता नहीं, किन्तु स्वाभाविकता हो गई है कि मार्ग में कहीं बोलने का प्रसंग आया, कोई बात सुनने का प्रसंग आया तो बस कदम अपने आप रुक गये। यह आदत बनती है, ईर्यासमिति भावना के निरंतर अनुपालन से।

ईर्यासमिति भावना का फल

शास्त्र में ईर्यासमिति भावना का विशिष्ट फल बताते हुए कहा है—इस प्रकार के चिंतन एवं प्रयोग से साधक के जीवन में अहिंसा साकार हो जाती है। वह अपनी गति-प्रवृत्ति में अहिंसा की इष्टसिद्धि प्राप्त कर लेता है—**'एवं इरियासमिति जोगेणं भावितो भवति अंतरप्पा असबल····भावणाए अहिंसयो ······'**[2] उक्त प्रकार से ईर्यासमिति भावना योग से आत्मा को भावित करते रहने पर आत्मा में अहिंसा के संस्कार बद्धमूल हो जाते है, और २१ शबल

१. उत्तराध्ययन २४।८

२. प्रश्नव्याकरण संवर-द्वार १

दोषों[1] से मुक्त होकर उसका चारित्र अखण्ड और अहिंसा परिपूर्ण रहती है, साधक पूर्ण अहिंसक और संयमी बनकर अन्त में मोक्ष पद का अधिकारी होता है ।

२. मनःसमिति भावना

मनःसमिति का अर्थ है मन को सम्यक् चर्या में लगाना । शास्त्र में मनोगुप्ति का वर्णन भी आता है और मनःसमिति का भी । मन को अशुभ से निवृत्त करना मनोगुप्ति है । शुभ में प्रवृत्त करना मनःसमिति है ।[2] समिति का अर्थ ही है—"सम्यग् इतिः-प्रवृत्तिः समितिः[3] मन. कुशलतायां समितिः" सम्यग् योग में प्रवृत्ति करना समिति है, मन की कुशल प्रवृत्ति को मनःसमिति कहा जाता है ।

मन में जो भी विचार उठे, उसे पहले परखना चाहिए कि यह विचार धर्मयुक्त है या अधर्मयुक्त है ? पापकारी है या पुण्यकारी ? शुभ है या अशुभ ? इन विचारों से मेरा मन अपवित्र तो नहीं होगा ? किसी दूसरे का अहित, वध, बन्धन या उसे पीड़ा और मर्मान्तक चोट आदि तो नहीं पहुँचेगी ? इस प्रकार पहले मन में उठे विचारों का विश्लेषण करना चाहिए, उनको परखना चाहिए और फिर अशुभ, अनिष्टकारी, पापकारी या पर-पीडाकारी आर्त्त, रौद्र ध्यान, युक्त विचारों को वहीं रोक देना चाहिए, अर्थात् उनको लौटा देना चाहिए और शुभ, कल्याणकारी, स्वयं को तथा दूसरों को प्रीतिवर्धक हो ऐसे विचारों में मन को भावित करना चाहिए । यह मनःसमिति भावना का स्वरूप है ।

मनःसमिति भावना का चिन्तन और प्रयोग

कहावत है अपनी गति-मति को शुद्ध रखना चाहिए । गति की शुद्धता ईर्या-समिति से फलित होती है । मन की शुद्धता मति समिति भावना से ।

१. २१ शबल दोषों की विस्तृत जानकारी के लिए देखें—समवायांग-२१, दशाश्रुतस्कंध, दशा-२

२. उत्तराध्ययन (२४।२६) में बताया है-'समिइओ, चरणस्स य पवत्तणे, गुत्ती नियत्तणे वुत्ता'- चारित्र का प्रवर्तन करना समिति है और अशुभ विषयों से निवृत्ति करना गुप्ति है । इसी अध्ययन में आठ समितियां-'एयाओ अट्ठ समिइओ' ये आठ समितियां है' कहकर आठ प्रवचनमाता को समिति भी कहा है । इसी प्रकार स्थानांग (३।१) में ३ गुप्ति (५।३) में पांच समिति भी कही है और (८) में-'अट्ठसमिइयो' भी कहा है ।

३. स्थानांग ८, सूत्र ६०३ टीका

अहिंसा के साधक को सिर्फ व्यवहार ही नहीं, किन्तु बुद्धि को भी पवित्र और कल्याणकारी रखना होता है, क्योंकि बुद्धि ही गति को प्रेरित करती है। मन ही काया का संचालक है अतः मनःसमिति से भावित होना भी अत्यन्त आवश्यक है।

शास्त्र में बताया है, हिंसा और पाप का जन्म सर्वप्रथम मन में ही होता है। मन अगर बे-काबू रहा, तो बड़े-बड़े साधक भी अपनी साधना से भ्रष्ट हो जाते है, चारों खाने चित्त हो जाते है। इसकी ओर संकेत करते हुए भगवान महावीर ने कहा—**"मणेणं पावएणं पावकं अहम्मियं न कयावि किंचिवि भायव्वं।"**[1] यह मन बड़ा पापकारी है, पापकार्य की ओर दौड़ते देर नहीं लगाता, पानी जैसे नीची भूमि पाते ही उधर बह जाता है, वैसे ही मन थोड़ी-सी छूट पाते ही पापकर्म की ओर मुड़ जाता है। अतः इसके द्वारा कभी भी अधर्म कार्य का चिन्तन नहीं करना चाहिए। थोड़ा सा बुरा विचार मन में घुसते ही वह सम्पूर्ण चारित्र को कलुषित कर देता है, जैसे छोटा-सा छिद्र नाव को डुबो देता है। छोटी-सी अग्नि की चिनगारी घास के ढेर को भस्म कर देती है, वैसे ही थोड़ा-सा भी बुरा विचार, अशुभ संकल्प मन की शुभता को नष्ट कर डालता है। अतः मन में कभी भी पापकारी, हिंसाकारी, पर-पीडाकारी, छेदन भेदन करने वाले विचारों को घुसने नहीं देना चाहिए। यह मनःसमिति भावना हमारे मन मन्दिर का द्वारपाल है। द्वारपाल, चौकीदार जैसे बदमाश और उचक्के तथा अपरिचित लोगो को राजद्वार में या सभाभवन में प्रविष्ट होने से रोकता है। उनका 'पास' पहले जांचता है, उसी प्रकार यह भावना मन में प्रविष्ट होने वाले विचारों को पहले परखती है, जांचती है और फिर मन में घुसने देती है। आचारांग सूत्र में बताया है—**'मणं परिजाणइ से निग्गंथे'**[2] जो इस प्रकार अपने मन को संयम से भावित रखता हुआ अशुभ विचारों से दूर रखता है, वही सच्चा निर्ग्रन्थ है।

मन में अशुभ संकल्प आने से, हिंसात्मक विचार आने से चिकने कर्मों का बंधन होता है। असातावेदनीय, ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के आवरण सघन होते हैं और आत्मा चारित्र से क्या, सम्यक्त्व से भी भ्रष्ट होकर दुर्गति में चला जाता है। इसके विपरीत मन को शुभ भावना से भावित करने पर स्वाध्याय, ध्यान, क्षमा-आर्जव आदि धर्मों में लगाये रखने से वह जीवन को

१. प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार-१

२. आचारांग, श्रुत०२, अध्ययन १५

ऊर्ध्वमुखी बनाता है। साधक इस तरह मन को शुभ विचारों में लगाये रखने के निमित्त सदा चिन्तन करता रहे और ऐसे संस्कार बना ले कि अशुभ विचार मन मे उठे ही नही, यही मनःसमिति भावना का प्रयोग है। इस प्रयोग से साधक अहिंसा की साधना में पूर्ण सफलता प्राप्त करता है। क्योंकि मन जब तक अहिंसा के संस्कारों में नही रमेगा, तब तक अहिंसा जीवन मे साकार नहीं हो सकेगी। अतः मन को अहिंसा-संस्कारी बनाने के लिए इस मनःसमिति भावना का आचरण करना चाहिए।

३. वचनसमिति भावना का चिंतन और प्रयोग

वचनसमिति भावना वाला साधक इस बात का चिंतन करता रहता है कि मेरी वाणी कर्कश, कठोर, हिंसाकारक, छेदन-भेदन करने वाली, किसी के दिल को दुखाने वाली, सावद्य—पापकारी, तीखी, कटाक्षयुक्त न हो। *मैं कभी भी क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, वाचालता तथा विकथा आदि के कारण अपने वचन को दूषित न होने दूं।*[1] उक्त आठ दोषों से सदा बचते हुए सदा मधुर, परिमित तथा दूसरों को हितकारी वचन बोलूं। साधक यह भी विचार करता रहे कि वचन एक तेज शस्त्र की भाँति है, इसका गलत प्रयोग बड़ा घातक होता है। शरीर में चुभे हुए कांटे तो कुछ समय तक पीड़ा देते हैं, फिर प्रयत्न करके उनको निकाला भी जा सकता है। तीर एवं तलवार के घाव भरे जा सकते है, किन्तु वचन के दुरुक्त-दुर्वचन रूप जो कांटे हैं, वे तीखे शूल से भी अधिक पीड़ाकारी हैं। ये वचन रूप शूल पुनः निकल पाना भी कठिन है और उनके कारण जन्म-जन्म तक वैर बंध जाते हैं—

> **मुहुत्त दुक्खाहु हवंति कंटया,**
> **अओमया ते वि तओ सुउद्धरा।**
> **वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,**
> **वेराणुबंधीणि महब्भयाणि॥**[2]

अतः वाणी बोलते समय अत्यन्त विवेक से काम लेना चाहिए। जैसे कोई व्यक्ति अपने बहुमूल्य हीरों को किसी को देते समय बहुत सोच-विचार करता है। आगे-पीछे की सब स्थिति सोचता है। वैसे ही वचन-रत्न निकालने से पूर्व सोचना चाहिए—

---

१. उत्तराध्ययन, २४।६

२. दशवैकालिक, ६।३।७

वचन रतन मुख कोट है, होठ कपाट बणाय।
समझ-समझकर बोलिए, मत परवश पड़ जाय॥

कहीं ऐसा न हो कि अविवेक में, उतावल में, साम्प्रदायिक अभिनिवेश में, अहंकार में या क्रोध आदि में इस प्रकार की कोई बात मुंह से निकल जाय जिसके कारण पीछे पछताना पड़े, हाथ मल-मल कर रोना पड़े कि हाय ! ऐसा बोला ही क्यों ? बाद में रोने, धोने से भी बोला हुआ वचन वैसे वापस नहीं आता जैसे हाथ से छूटी लगाम और धनुष से निकला तीर वापस नहीं आ सकता। एक विचारक ने कहा है—"दुर्वचन चेचक रोग की तरह जहाँ भी जाते हैं, अपना बुरा प्रभाव दीर्घकाल तक के लिए छोड़ देते है। चेचक की बीमारी ठीक होने पर भी उसके दाग जीवन भर मुख आदि आकृति को विकृत बनाए रखते हैं, वैसे ही दुर्वचन कहने के बाद अगर माफी भी मांग ली, तब भी उसका दाव-कटुता सहज में नहीं मिटती।" फिर कटुवचन भावहिंसा तो है ही, इससे मन भी पाप-युक्त होता है, वचन दूषित होता है और सुनने वाले का हृदय भी खिन्न होता है। अतः कभी भी बिना सोचे-समझे, क्रोध आदि के वश होकर कटुक वचन नहीं बोलना चाहिए।

इस प्रकार वचनसमिति भावना के द्वारा साधक सतत चिन्तन-मनन करता हुआ अपनी वाणी को शुद्ध, संस्कारशील और मधुर बनाने का प्रयत्न करता रहे। वचनसमिति भावना से भावित होने पर साधक के संस्कार ही ऐसे हो जाते हैं कि उसके मुह से अकस्मात् भी अगर कोई वचन निकले तो भी वह शुद्ध, प्रिय और हितकारी ही होगा। क्योंकि वचनशुद्धि के संस्कार उसके हृदय में दृढ़ हो जाते है। इस तरह वचन की विधि को पूर्ण रूप से जानने वाला साधक वचन समिति भावना का आराधक होता है—

"वइं परिजाणइ से निग्गंथे।"[1]

उपयुक्त वचन विधि का ज्ञाता ही सच्चा निर्ग्रन्थ होता है।

४. एषणासमिति भावना

धर्म का आधार शरीर है और शरीर का आधार है—भोजन ! शरीर के लिए भोजन, वस्त्र, पात्र आदि वस्तुओं की आवश्यकता होती है। इन्हीं के सहारे जीवनयात्रा चलती है किन्तु इन वस्तुओं को प्राप्त करने में हिंसा आदि का सहारा नही लेकर इन्हें निर्दोष विधि से प्राप्त करना—यह है एषणासमिति।

शास्त्र में बताया गया है कि साधु भोजन आदि की प्राप्ति में अत्यंत

---

१ आचारांग, श्रु. २। अध्ययन १५

विवेक से काम लेता है। यह नहीं कि जहां जो भी मिल गया, जैसा भी और जैसे भी मिल गया, बस ले लिया। साधु याचना जरूर करता है, किन्तु उस याचना में दीनता नहीं रहती, स्वाभिमान और मर्यादा का गौरव रहता है। वह भिक्षा तभी लेता है जब उसकी मर्यादा के अनुकूल हो, उसके श्रमणोचित गौरव के अनुरूप हो। इस भिक्षाविधि में शास्त्रकार ने अनेक प्रकार की मर्यादाएं बताई है, भिक्षा के दोष बताए है। उन दोषों को टालते हुए यदि भिक्षा मिले तब तो साधु लेता है, अन्यथा तप करने में ही अपनी निष्ठा दिखाता है। उद्गम, उत्पादन आदि एषणा के दोषों से रहित होकर शुद्ध भिक्षा लेना यह एषणासमिति है, उसकी सम्पूर्ण शुद्धता का चिन्तन करते रहना और मन में उसके संस्कार जागृत करते रहना, यह एषणासमिति भावना है।

एषणासमिति भावना का चिन्तन व प्रयोग

एषणासमिति भावना का चिन्तन करते हुए भिक्षु सर्वप्रथम निम्न तीन बातों पर अपनी चिन्तनधारा टिकाता है—

(१) शुद्ध भिक्षाचर्या कैसे करें, निर्दोष आहार कैसे प्राप्त करे ?
(२) भिक्षा में प्राप्त आहार का सेवन कैसे करे ?
(३) आहार क्यों और किसलिए किया जाय ?

इन्ही तीन सूत्रों का विस्तार करते हुए शास्त्र में बताया है—

आहार एसणाए सुद्धं उंछं गवेसियव्वं अन्नाए
भिक्खू भिक्खेसणाते जुत्ते सामुदाणेऊण भिक्खायरियं उंछंघेत्तूण
संजम जाया माया निमित्तं भुंजेज्जा

आहार का इच्छुक भिक्षुक भिक्षाचर्या द्वारा अनेक घरों में से थोड़ा-थोड़ा शुद्ध आहार ग्रहण करे, स्वयं का किसी भी प्रकार का पूर्व परिचय न देता हुआ सामुदानिक—छोटे-बड़े सभी घरों में से जो-जो शुद्ध वस्तु प्राप्त हो, वह अल्प-मात्रा में अपनी आवश्यकता के अनुसार ग्रहण करे तथा ग्रहण किए हुए भोजन को शरीरयात्रा को चलाने के लिए अनासक्त भाव के साथ खाए।

भिक्षा की शुद्धता का विचार करने के लिए सूत्रों में भिक्षाचर्या के ४२ दोष बताए गए है, साधु उन दोषों को टालता हुआ माधुकरी वृत्ति से भिक्षा ग्रहण करें। 'उंछ-शब्द से गोचरी या माधुकरी वृत्ति का संकेत किया गया है।' जैसे गाय पौधे को जड़ से उखाड़े बिना ऊपर-ऊपर से घास आदि को चर लेती है, इससे उसकी भी तृप्ति हो जाती है और पौधा भी जड़मूल से नहीं उखड़ता। इसी प्रकार साधु गृहस्थ के घर में भिक्षा लेने जाता है तो उसके घर में बने

हुए भोजन में से थोड़ा-थोड़ा ग्रहण करके अपने पेट को भी सहारा देता है तथा गृहस्थ को भी किसी प्रकार का कष्ट नहीं देता। इस विधि को 'गोचरी' कहा जाता है। इसी प्रकार माधुकरी का भी अर्थ है, मधुकर-भ्रमर की तरह वृत्ति करना। भौंरा फूलों का रस लेने के लिए अनेक फूलों पर बैठता है और उनसे थोड़ा-थोड़ा रस लेता है। रस लेकर मधुकर अपनी भी तृप्ति कर लेता है और फूलों को भी कोई पीड़ा या कष्ट नहीं होता। कहा है—

जहा दुमस्स पुप्फेसु भमरो आवियइ रसं।
न य पुप्फं किलामेइ सो य पीणेइ अप्पयं ॥[1]

जैसे भ्रमर फूल का रस पीकर स्वयं को भी तृप्त कर लेता है और फूल को भी कोई क्लामना, पीड़ा नहीं देता। इसी प्रकार साधु को गृहस्थ के घर से भिक्षा लेनी चाहिए। ताकि गृहस्थ को भी किसी प्रकार का कष्ट न हो तथा पुनः पकाने की आवश्यकता न पड़े और साधु का भी काम चल जाय।

दूसरी बात यह भी कही गई है कि साधु गृहस्थ के घर पर अज्ञातचारी बनकर जाये। अर्थात् दाता के सामने अपने पूर्व जीवन का परिचय न दे कि मैं अमुक श्रेष्ठी का पुत्र हूँ या अमुक का रिश्तेदार हूँ। वर्तमान जीवन का भी परिचय न दे कि मैं ऐसा विद्वान हूँ या मुझ में अमुक अमुक प्रकार की विशेषताएं हैं। भाव यह है कि गृहस्थ दाता के समक्ष किसी भी प्रकार से अपना गौरव दिखाकर उसे प्रभावित करके दान लेने की चेष्टा न करे, किन्तु वह सद्भाव पूर्वक जो कुछ दे, उसे ही लेना चाहिए। परिचय देने में, सम्बन्ध आदि बताने में, प्रायः स्वादिष्ट आहार तथा कीमती वस्त्र आदि प्राप्त करने की आकांक्षा छिपी रहती है। यह आकांक्षा दोष है। जब आकांक्षा हो गई तो अनासक्ति नहीं रही, मूर्च्छा हो गई, फिर भिक्षाशुद्धि कैसे रहेगी?

कभी-कभी दाता अगर देने में आनाकानी करे, प्रतिकूलता दिखाए तो भी साधु उसके प्रति मन में न तो द्वेष करे, न उसे लोकों में बदनाम करे, और न मन में खिन्न ही हो। तथा दाता के समक्ष किसी प्रकार की दीनता प्रकट न करे,[2] क्योंकि दीनता पूर्वक आहार लेने से उस साधु का ही नहीं, जिनशासन का गौरव भी घटता है और लोगों में साधुओं के प्रति अश्रद्धा तथा हीन भावना पैदा होती है। साधु को भिक्षा न मिले तब भी प्रसन्न और संतुष्ट रहना चाहिए तथा मिले तब भी उस पर गर्व नहीं करना चाहिए। उसका आदर्श है—

"अलाभुत्ति न सोइज्जा तवुत्ति अहियासए।" [3]

---

१. दशवैकालिक १।२
२. अदीणो वित्तिमेसेज्जा। —दशवैकालिक सूत्र-५।२।२८
३. दशवैकालिक—५।२।६

भिक्षा न मिलने पर शोक न करे अपितु यही सोचे कि अच्छा ही हुआ कि आज मुझे सहज में ही तप करने का अवसर प्राप्त हो गया। अगर भोजन मिले तो भी—"लाभुत्ति न मज्जिज्जा"[1] लाभ होने पर मन में किसी प्रकार का गर्व या गौरव का भाव न आने दे कि देखो मेरे प्रभाव से, मेरे पुण्य से इतनी रसयुक्त भिक्षा मिली है। दोनों ही स्थितियों में—

"लाभालाभम्मि संतुट्ठे पिंडवायं चरे मुणी।"[2]

लाभ-अलाभ में संतुष्ट और प्रसन्न रहता हुआ मुनि पिण्डचर्या करें।

भिक्षाचर्या करते समय साधु के सामने एक ही लक्ष्य रहना चाहिए कि मुझे अपना संयम जीवन चलाने के लिए इस देह को धारणा करना है, यह देह सुख के लिए नहीं, अपितु मोक्ष की साधना के लिए है—

"मोक्खसाहणहेउस्स, साहू देहस्स धारणा।"[3]

साधु शरीर को मोक्ष की साधना के लिए ही धारण करता है, अतः उस लक्ष्य की सिद्धि करते हुए भिक्षा मिले तब भी ठीक और न मिले तब भी ठीक। मिले तो खा लिया, न मिले तो तप कर लिया। इन दोनों स्थितियों में समभाव रखना साधु का धर्म है।

अब तीसरी बात है—शुद्ध रीति से निर्दोष भिक्षा प्राप्त करके उसका उपयोग कैसे करें? शास्त्र में बताया गया है। भिक्षा प्राप्त करके साधु सर्वप्रथम अपने गुरुजनों के समक्ष आये। गमनागमन में कोई दोष लगा हो तो उसकी आलोचना करे। फिर सुखपूर्वक आसन पर बैठकर मन को शुभ ध्यान मे लगाये। भोजन से पूर्व मन में शुभ और पवित्र संकल्प जगने चाहिए तथा प्राप्त भोजन के प्रति आसक्ति नहीं होना चाहिए। उसे मन को वात्सल्य एवं विनय भावना से भावित कर अन्य साधुओं को आहार का निमंत्रण देना चाहिए। शास्त्र में कहा है—

"वीसमंतो इमं चिंते, हियमट्ठं लाभमट्ठिओ।
जइ मे अणुग्गहं कुज्जा, साहू हुज्जामि तारिओ॥"[4]

निर्जरा रूपी लाभ और अपने कल्याण-हित की भावना रखने वाला साधु आहार लाकर कुछ देर विश्राम करता हुआ इस प्रकार चिन्तन करे कि यदि

१. आचारांग १।२।५
२. उत्तराध्ययन ३५।१६
३. दशवैकालिक ५।९२
४. दशवैकालिक ५।९४

कोई साधु मुझ पर अनुग्रह करे, मेरे आहार में से कुछ आहार ग्रहण करे तो मैं इस संसार समुद्र से पार हो जाऊँ। अर्थात् मेरा कल्याण हो जाये। यह विचार करके उसे सब साधुओं को प्रीतिपूर्वक निमंत्रण देना चाहिए अगर कोई उसका निमन्त्रण स्वीकार करे तो उसके साथ प्रसन्न मन से आहार करे, यदि कोई स्वीकार न करे तो वह अकेला ही प्रकाशयुक्त स्थान में, जहाँ जीव आदि की प्रतिलेखना की जा सके ऐसी जगह में बैठकर यतनापूर्वक आहार कर ले।[1]

भोजन करते समय सरस आहार के प्रति आसक्ति न रखे, नीरस वस्तु की निन्दा न करे। भोजनभट्ट बनकर अधिक न खाये, ग्रासैषणा के पाँच दोषों का परिहार करते हुए आहार करे। ये पाँच दोष निम्न प्रकार हैं—[2]

१ **संयोगदोष**—भोजन को स्वादिष्ट बनाने हेतु एक पदार्थ में दूसरा पदार्थ मिलाना। लोलुपतावश दो पदार्थों की संयोजना करना।

२ **प्रमाण दोष**—पिण्डनिर्युक्ति आदि ग्रन्थों में साधु के आहार का प्रमाण बताया है। उस प्रमाण से अधिक भोजन करना। पेट को ठूँस-ठूँस कर भरना भी प्रमाणदोष है।

३ **धूमदोष**—अमनोज्ञ आहार मिलने पर दाता या वस्तु की द्वेष वश निन्दा करना। इससे चरित्र धुएं की तरह कलुषित हो जाता है।

४ **अंगारदोष**—सरस और स्वादिष्ट आहार के प्रति आसक्ति होने से राग पूर्वक दाता की या वस्तु की प्रशंसा करके खाना। इससे साधना अंगार की तरह जलकर राख हो जाती है।

५ **कारण दोष**—शास्त्र में आहार करने के छह कारण बताये हैं। अगर वे कारण उपस्थित न हों और फिर भी आहार किया जाय तो वह कारणदोष है।[3]

---

१. दशवैकालिक ५।१।९२ से ९६

२. प्रश्नव्याकरण सूत्र–संवरद्वार १।

३. छः कारण ये है—
   (क) भूख की वेदना मिटाने के लिए,
   (ख) गुरुजनों की सेवा करने के लिए,
   (ग) ईर्यासमिति के शुद्ध पालन के लिए,
   (घ) संयम क्रियाओं के शुद्ध निर्वाह के लिए,
   (च) प्राण धारण किये रखने के लिए,
   (छ) धर्म-चिन्तन के लिए। —देखें उत्तराध्ययन २६।३३

साधु के सामने आहार करने का लक्ष्य सिर्फ यही रहे—"**संजमजाया माया निमित्तं, संजमभार वहणट्ठयाए पाण धारणट्ठयाए।**" अर्थात् संयम की प्रवृत्तियों को करने के लिए, संयम के भार को वहन करने के लिए तथा प्राणों को टिकाये रखने के लिए साधु आहार करे। और आहार कैसे करे, इसका विवेचन तो पहले किया ही जा चुका है। अन्त में शास्त्रकार की इस उक्ति को दुहरा देना काफी है—

"अक्खो वंजणवणाणुलेवण भूयं।"[1]

गाड़ी की धुरी में जैसे तेल देना होता है, जिस कारण धुरी ठीक से काम करती रहे तथा घाव पर मरहम लगाने की भाँति शरीर को आहार देते रहना चाहिए।

इस प्रकार एषणा समिति के तीनों पहलुओं पर सतत विचार-चिन्तन करते रहने से साधक के मन में उक्त भावनाएँ संस्काररूप बन जाती हैं, फिर पद-पद पर उस नियम को स्मरण करते रहने की अपेक्षा नहीं होती, किन्तु स्वतः ही वे भावनाएँ समय पर आकार लेती रहती हैं। यह एषणासमिति भावना का स्वरूप है।

५. आदान-निक्षेपणसमिति भावना

अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए साधु को कुछ विशेष प्रकार के उपकरण रखने आवश्यक होते है। ये उपकरण यदि मर्यादा के अनुकूल तथा मूर्च्छा भाव से मुक्त होकर रखे जायें तो इन्हें 'धर्मोपकरण' कहा जाता है। इन उपकरणों को लेने-रखने में ठीक प्रकार से अहिंसा का विवेक रखना, आदान-निक्षेपसमिति है। आदान का अर्थ है ग्रहण करना और निक्षेप का अर्थ है रखना। विवेक पूर्वक वस्तु ग्रहण करना और विवेक पूर्वक रखना इस समिति का अर्थ है। उपकरणों की अगर ठीक प्रकार से देखभाल नहीं रखी जाये तो उनमें अनेक प्रकार के जीव आकर बस सकते है, मकडी आदि के जाले जम सकते हैं, फिर उन जीवों को हटाने में उनको त्रास भी होता है, उनकी हिंसा भी हो सकती है। अतः साधु को चाहिए कि पहले ही उन्हें सावधानी पूर्वक रखे, यथासमय उनकी प्रतिलेखना करता रहे। शरीर के मल-मूत्र आदि का विसर्जन इस प्रकार के स्थान पर करें, जिससे किसी को कष्ट या अप्रीति न हो, तथा जीव आदि की उत्पत्ति न हो।

साधु को इस भावना में यह चिन्तन करना चाहिए कि शास्त्र मे उपकरण रखने की आज्ञा क्यों और किसलिए दी है ? जिस प्रकार शरीर धारण के लिए

१. प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार–१

आहार की आवश्यकता है, उसी प्रकार संयमयात्रा को सुखपूर्वक चलाने के लिए उपकरण रखने की विधि है। ये उपकरण शोभा-विभूषा या प्रदर्शन के लिए, शरीर की ममता के लिए नहीं, किन्तु शरीर को संयम निर्वाह में सक्षम रखने के लिए हैं। आहार जैसे शरीर की पुष्टि के लिए नहीं, किन्तु संयम की पुष्टि के लिए है उसी प्रकार उपकरण रखने का विधान भी संयम-पोषण के लिए ही है अतः मर्यादा के अनुकूल ही उपकरण रखने चाहिए। उन उपकरणों की टीप-टाप, फैशन आदि करने की आवश्यकता नहीं, किन्तु उनकी देखभाल इसलिए रखनी चाहिए कि उनमें किसी प्रकार जीव-जन्तु आदि न ठहरें, जाले आदि न जमें, किसी प्रकार की हिंसा न हो, इस प्रकार का चिन्तन-आदान-निक्षेप समिति भावना है।

भावनाओं की फलश्रुति

अहिंसा महाव्रत की ये पांच भावनाएँ इसलिए बताई गई हैं कि साधु इन विचारों से मन को भावित करता रहे, बार-बार इन विषयों का चिन्तन करता रहे जिस कारण अहिंसा की दृष्टि से प्रत्येक पक्ष सुन्दर और सुदृढ़ बन जाये। इस भावनायोग के अनुशीलन से पुराने कर्मों की निर्जरा होती है, नये कर्मों का संवर (निरोध) हो जाता है और आत्मा सदा प्रसन्न, समाधिस्थ तथा संयम में सुखानुभूति करता रहता है।

अहिंसा महाव्रत की ये पांच भावनाएँ संक्षेप में समवायांग (२५) में तथा आचारांग में चौथा क्रम पांचवें स्थान पर, पांचवां क्रम चौथे स्थान पर बताया गया है। यहां जो वर्णन किया है वह प्रश्नव्याकरण सूत्र के आधार पर किया गया है।



२. सत्य महव्रात की भावनाएँ

सत्य के तीन भेद

'सत्य' शब्द 'माता' और 'भगवान' शब्द की भांति इतना प्रचलित है कि इसका अर्थ बताने की जरूरत नहीं। 'सत्य' कहने पर साधारणतः प्रत्येक मनुष्य इसका अर्थ समझ जाता है। फिर भी जब हम सिद्धान्त की दृष्टि से और व्यवहार की भूमिका पर सत्य शब्द के प्रयोग पर विचार करते है तो उसके तीन अर्थ हमारे सामने स्पष्ट होते है। अर्थात् साधारणतः तीन अर्थों में सत्य का प्रयोग होता है--

१. तत्त्व अर्थ में, २. तथ्य अर्थ में, ३. वृत्ति-प्रवृत्ति एवं व्यवहार अर्थ में।

१. तत्त्व अर्थ में

किसी वस्तु का सारांश, निचोड या उसका रहस्य समझ लेने के अर्थ मे सत्य का प्रयोग किया जाता है। जैसे—जल में सत्य शीतलता है, घी में सत्य स्निग्धता है। अर्थात् वस्तु के मुख्य एवं असाधारण लक्षण को तथा उसके सहज धर्म को सत्य कहा जाता है। दर्शन की भाषा में कहा जाता है—इसने सत्य को पा लिया, सत्य का दर्शन कर लिया। सत्य कोई वस्तु या आकृतिधारी सदेह प्राणी तो नहीं है कि जिसको पाया जाय या दर्शन किया जाय, अतः यहाँ सत्य का अर्थ है वस्तु के स्वभाव का परिज्ञान करना, तत्त्व को समझना। हम कहते हैं भगवान महावीर ने सत्य का साक्षात्कार कर लिया तो इसका अभिप्राय यह है कि वस्तुस्वरूप जैसा है, उसको उसी रूप में, यथार्थ रूप में देख लिया। तत्त्व का सही अर्थ पा लिया। इसीलिए सत्य का एक लक्षण बताया गया है—

"कालत्रये तिष्ठतीति सद् तदेव सत्यम्"

जिसका अस्तित्व तीनों कालों में है, वह सत् है, वही सत्य है। हम कहते हैं इसने सम्यक्त्व पा लिया, इसका भावार्थ है जीव, अजीव आदि तत्वों का सत्यज्ञान, सम्यक् बोध इसे प्राप्त हो गया। इसी अर्थ में सत्य का निरूपण करते हुए शास्त्रकार ने कहा है—

पभासकं भवति सव्वभावाणं जीव लोके" [१]

---

१. प्रश्नव्याकरण संवर द्वार—१

सत्य जीव लोक में सभी पदार्थों के वस्तु तत्त्व को प्रतिभासित कर देता है।

२. तथ्य अर्थ में सत्य

सत्य शब्द तथ्य अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। जो वस्तु, जो बात जैसी देखी है, जैसी सुनी-समझी है और सोची है उसे विश्वहित के अनुरूप उसी रूप में कहना, वचन द्वारा प्रकट करना तथ्य अर्थ में सत्य का प्रयोग है।

तथ्य अर्थ में सत्य का लक्षण बताते हुए योगदर्शन के व्यास भाष्य में कहा

"सत्यं यथार्थंवाङ्मनसो यथादृष्टं यथाश्रुतं"[1]

जैसा देखा, जैसा सुना, उसका उसी रूप में कथन करना, मन और वाणी में एकरूपता रखना सत्य है। यहां सत्य का वचनात्मक प्रयोग अभिप्रेत है। यही बात भगवान महावीर ने सूचित की है। "—**भूयत्थं, अत्थतो अविसंवादि जहत्थ मधुरं**"[2] सत्य वह है, जो अर्थ से सद्भूत अर्थवाला है, जो अविसंवादी अर्थात् परस्पर विरोधी नहीं है तथा यथार्थ मधुर है। यथार्थ मधुर का आशय है जो वास्तविक हो और मधुर भी हो। सिर्फ चापलूसी न हो, किंतु सच्चाई के साथ मधुर हो।

३. वृत्ति-प्रवृत्ति अर्थ में सत्य

सत्य का यह रूप निन्तात व्यवहारिक है। जैसा वाणी द्वारा कथन करे वैसा ही क्रिया द्वारा आचरण करे ! यह सत्य का तीसरा प्रयोग है

सत्य जब तक क्रिया या आचरण में नहीं आता, तब तक वह जन-जीवन में चमत्कारी नही बन सकता। जैसे कोई साधु वाणी से कहता है कि मैं हिंसा नहीं करूँगा और क्रिया के द्वारा वास्तव में ही वह हिंसा नहीं करता है तो वह व्यावहारिक सत्य है। कोई किसी को वचन देता है या प्रतिज्ञा करता है कि तुम्हारा अमुक कार्य कर दूगा और तदनुसार वह आचरण, प्रवृत्ति और प्रयत्न भी करता है। सत्यवादी हरिश्चन्द्र का सत्य इसी अर्थ में सत्य था। उसने जो बात वाणी द्वारा कही, उसके परिपालन में सर्वस्व लुटाकर भी प्रस्तुत रहा। वचन के साथ ही कृति, आकृति आदि में भी वैसा ही भाव प्रकट होना चाहिए जैसा वाणी द्वारा कहा हो। प्रश्नव्याकरण सूत्र में इसी भाव को व्यक्त किया गया है।

"सच्चं जह भणियं तह य कम्मुणा होइ"

जैसा कहा है वैसा क्रिया के द्वारा साकार करना सत्य है।

---

१. योगदर्शन, साधना पाद सूत्र ३,

२. प्रश्नव्याकरण संवर द्वार २,

इस प्रकार सत्य के तीन अर्थ है। पहला—विचारात्मक, दूसरा-वचनात्मक, तीसरा—क्रियात्मक अर्थात् मन, वचन और क्रिया इन तीनों की एकरूपता होना यह सत्य का परिपूर्ण रूप है।

सत्य महाव्रत की भावनाएं

गृहस्थ साधक सत्य को स्वीकार तो करता है, किंतु परिपूर्ण रूप में नहीं कर पाता, वह यथाशक्ति सत्य का आचरण करता है। श्रमण साधक अपने जीवन में सत्य को पूर्ण रूपेण स्वीकार करता है। प्राणों की परवाह किए बिना वह सत्य के लिए समर्पित हो जाता है। इसीलिए श्रमण का सत्यव्रत महाव्रत कहलाता है। जिस प्रकार अहिंसा के संस्कारो को मन में सुदृढ़ करने के लिए उसकी पांच भावनाएं बताई गई हैं उसी प्रकार सत्य का सर्वथा निर्दोष परिपूर्ण पालन हो सके इसके लिए सत्य महाव्रत की भी पांच भावनाएं सूत्रों में बताई गई हैं। ये पांच भावनाएं निम्न है—[1]

१. अनुचित्य समिति भावना,
२. क्रोधनिग्रह रूप क्षमा भावना (क्रोध त्याग),
३. लोभविजय रूप निर्लोभ भावना (लोभ त्याग),
४. भय-मुक्ति रूप धैर्ययुक्त अभय भावना (भय त्याग),
५. हास्य मुक्ति वचन-संयम भावना (हास्य-त्याग)।[2]

इन पांच भावनाओं में सत्य-साधना के विविध पहलुओ पर चिन्तन किया गया है तथा जिन-जिन कारणों से सत्य की आराधना में दोष आने की सम्भावना है उनसे बचते रहने की प्रेरणा दी गई है। वास्तव में भावना का प्रयोग इसीलिए है कि साधक इन पहलुओ पर सतत चिन्तन करता रहे और अपने मन में इस प्रकार के संस्कार जाग्रत करें कि कभी भी-नीद से जगकर भी अगर वह कुछ बोले तब भी उसका वचन सर्वथा निर्दोष और सत्य का पक्षपाती हो।

१. अनुविचिन्त्य समिति भावना : चिन्तन और प्रयोग

इन भावनाओं के नाम और क्रम में प्रश्न-व्याकरण, आचारांग एवं समवायांग में कहीं-कहीं कुछ अन्तर है, जिसकी चर्चा पूर्व ही की जा चुकी है। अतः यहाँ उस विषय की पुनरुक्ति न करके प्रश्नव्याकरण सूत्र के आधार पर ही इसका विवेचन किया जा रहा है।

१. प्रश्नव्याकरण सूत्र संवर द्वार—२
२. तत्त्वार्थधिगम, सर्वार्थसिद्धि एवं तत्त्वार्थराजवार्तिक में भी यही क्रम बताया गया है।

अनुविचिन्त्य का अर्थ है—सत्य के विविध पक्षों पर बार-बार चिन्तन करके बोलना। कोई अपने को सत्यवादी या सत्य महाव्रती कहने मात्र से सत्य का आराधक नहीं बन जाता, जीवन में सत्य का अवतरण तब होता है जब व्यक्ति सत्य में रम जाय। उसके जीवन का कण-कण, प्रत्येक क्रिया सत्य के रस में घुल मिल जाय, तभी वह सत्य की सम्यक् साधना कर सकता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि सत्य का साधक पहले यह समझे कि जीवन में सत्य का क्या महत्त्व है? सत्य का उद्देश्य क्या है? उसका स्वरूप क्या है! और उससे क्या लाभ है? इस प्रकार मनोयोग पूर्वक सत्य के सम्बन्ध में चिन्तन और विश्लेषण करने से भावना में सत्य की स्फुरणा जगती है, और सत्य की श्रद्धा दृढ़ होती है। शास्त्र में कहा है—

'सच्चस्स आणाए उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ'[1]

सत्य की आराधना में उपस्थित बुद्धिमान मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेता है। सत्य की इस गरिमा को समझकर सत्य पर दृढ़ निष्ठा रखना तथा सत्य के सम्बन्ध में सतत चिन्तन करते रहना, सत्य की भावना को दृढ़ करता है।

सत्य के सम्बन्ध में चिन्तन का पहला पक्ष है—सत्य का स्वरूप, सत्य की गरिमा और जीवन में उसकी अनिवार्यता के विषय में चिन्तन करना। कुछ लोग कहते हैं कि सत्य से काम नहीं चलता, पर यह उनकी धारणा भ्रान्त है, मूर्खतापूर्ण है। जीवन में सत्य से ही काम चलता है, असत्य से नहीं। आपको प्यास लगी हो, गला सूख रहा हो, उस समय क्या आप असत्य बोलेंगे कि मुझे प्यास नही लगी, पानी नहीं चाहिए, अथवा सत्य कहेंगे कि भाई, प्यास लगी है पानी पिलाओ! सोचिए, सत्य से काम चलेगा या असत्य से? जीवन में, परिवार में, समाज में और व्यापार में ९०% ऐसे प्रसंग आते हैं जब आपको सत्य ही बोलना पड़ेगा। असत्य बोलेंगे तो कोई काम नहीं चल सकेगा! बीमार हुए, डाक्टर के पास गए, तब आप सत्य कहेंगे या असत्य? पेट दुखता हो और आप झूठ-मूठ सिर दुखना बतायेंगे तो लाभ होगा या हानि? तो इस प्रकार जब जीवन में पद-पद पर सत्य की आवश्यकता है तो फिर यह कहना कि सत्य से काम नहीं चलता, क्या असत्य बात नहीं है? साधक को यह धारणा दृढ़ बनानी चाहिए कि जीवन की गाड़ी सत्य से चल सकती है असत्य से नहीं। संसार में 'सत्यमेव जयते' सत्य ही विजयी होता है। इस प्रकार चिन्तन करते रहना सत्य का पहला पहलू है।

---

१. आचारांग १।३।३

सत्य के पांच दुश्मन

दूसरा पहलू है सत्य के बाधक तत्त्वों का चिन्तन करना, सत्य के दोषों पर विचार करना और उनको छोड़ना। सत्य की सुरक्षा के लिए भगवान ने कहा है कि साधक को यह विचार करना चाहिए कि मेरे सत्यव्रत रूप धन के पीछे पांच चोर-दस्यु लगे है, जो इस धन को चुराना चाहते है, मुझे इन चोरों और दस्युओं से अपने धन की रक्षा करनी चाहिए। वे पांच दस्यु ये है—

"अलिय-पिसुण-फरुस-कडुय-चवल वयण परिरक्खणट्ठयाए"

१. अलीक वचन
२. पिशुन वचन
३. कठोर वचन
४. कटु वचन
५. चपल वचन

सत्य को इन पांच प्रकार के वचन रूपी दस्युओं से सदा बचाना चाहिए।

अलीक वचन

असत्य वचन—सत्य का प्रथम शत्रु है। जो बात नही है, उसे बनाकर कहना, जहां कीचड़ भी न हो, वहां पानी बनाना, अथवा राई को पर्वत बनाकर कहना, असद्भूत को सद्भूत और अकिंचन को विराट् रूप देना यह अलीक वचन दोष है। बहुत से मनुष्यों की आदत ही हो जाती है कि वे बात-बात में झूठ बोलने लगते हैं। कभी अपनी प्रशंसा के लिए, कभी अपना सिक्का जमाने के लिए। कभी दूसरों को नीचा दिखाने के लिए मनुष्य झूठ बोलता है। सम्प्रदाय के मोहवश, धन-कीर्ति आदि के लोभवश भी झूठ बोला जाता है जिसका वर्णन आगे किया जायेगा। तो इन सभी कारणों से जो झूठ बोलता है, वह अलीक वचन है। यह सत्य का पहला दुश्मन है।

पिशुन वचन

पिशुन अर्थात् चुगली। चुगली की आदत जिस व्यक्ति में पड़ जाती है वह अपने को तो बर्बाद करता ही है, संसार को भी बर्बाद कर देता है। कहा है—

उलटी को सुलटी करे सुलटी को उलटाय।
करं बुरी सब जगत की ते नर चुगल कहाय॥

इधर-उधर की भिड़ाकर जो नारद बना फिरै, दूसरों को आपस में लड़ाए और खुद मजा देखता रहे वह चुगलखोर कहलाता है। चुगली करने वाला कभी सत्य नहीं बोल सकता। चुगली लगाने वाली मंथरा ने रघुवंश जैसे कुल को

भी बर्बाद कर दिया। कवि ने कहा है—'संसार में चुगलखोर ऐसा खतरनाक जीव है कि उसके कारण सरसब्ज बाग भी वीरान और शहर उज्जड़ हो जाते हैं—

"ऊंडो जल सूके अवस, नीला वन जल जाय।
चुगलतणां परताप सूं, वसती उजड़ थाय॥"

तो जो चुगली-पैशुन्य मनुष्य के स्वयं के, परिवार, समाज और राष्ट्र के लिए इतनी घातक है, क्या वह सत्य महाव्रत का घात नहीं करेगी? अवश्य ही करेगी। इसलिए कहा गया है—

'सर्वत्र प्रविधेहि तत् प्रियसखे! पैशुन्यशून्यं मनः!'

प्यारे मित्र! अपने मन को पैशुन्य से शून्य बना। चुगली के चोर को घर में मन घुमने दे। यह तेरे सत्य रूप धन को चुराकर तुझे दरिद्र बना डालेगा।

कठोर वचन

कठोर वचन सत्य का तीसरा शत्रु है। कठोर वचन बोलने से लोगों में अनादर होता है, कटुभाषी के साथ कोई बोलना नहीं चाहता, सभी कहते हैं, इसको मत छेड़ो इसके मुह में आग है। जगह-जगह उसके शत्रु हो जाते है, मित्र भी दुश्मन बन जाते हैं। कठोर वचन से हिंसा तो होती ही है, कभी-कभी बड़े-बड़े अनर्थ भी हो जाते हैं। कठोर भाषण मर्मघातक होते हैं, मर्मघाती वचन बोलने से पूरा का पूरा परिवार आत्महत्या करके चौपट हो गया, ऐसे उदाहरण सुनते हैं। तो इसलिए सत्य के साधक को कठोर वचन से दूर रहना चाहिए।

कटु वचन

यह सत्य का चौथा शत्रु है। अगर कोई किसी के हित की बात कहे तब भी उसे कटु शब्दों द्वारा नहीं, किन्तु मधुर शब्दों से कहनी चाहिए। जैसे आप अगर अपने मित्र, स्वजन या मेहमान का स्वागत करते हुए उसे दूध या शर्बत पिलाते हैं तो एक मिट्टी के कटोरे से पिलायें, एक काच की ग्लास से और एक स्टील की ग्लास से और एक चादी के प्याले से पिलाएं। इसमें जैसा वर्तन होगा मेहमान भी आपके स्वागत का उतना महत्त्व आंकेगा। दूध को मिट्टी के वर्तन में रखने से और चांदी के वर्तन में रखने से जितना अन्तर आता है उतना ही अन्तर सत्य हितकारी बात को कटु व मधुर शब्दों द्वारा व्यक्त करने में है। इसीलिए सत्य के साथ सुन्दरता होनी अनिवार्य है। सुन्दर अक्षरों में अगर कोई किसी को गाली लिखे तो क्या वह अक्षरो की सुन्दरता पर प्रसन्न होगा? नहीं। इसी प्रकार सत्य बात कहना हो तब भी अगर कटु शब्दों द्वारा कही जाय तो वह किसी को भी प्रिय नहीं लगेगी। कहा गया है—

"जो बात कहो, साफ कहो, सुथरी हो, भली हो।
कड़वी न हो, खट्टी न हो, मिसरी की डली हो॥"

चपल वचन

चंचलता सत्य का पाँचवाँ शत्रु है। मन जब चंचल होगा, व्यग्र और व्याकुल होगा तो व्यक्ति कभी कुछ कहेगा, कभी कुछ। आकुलता में, उतावल में बोलता हुआ आदमी आगे-पीछे का सोच नहीं सकता। पहले क्या बोला और आगे क्या बोलना चाहिए यह ध्यान भी नहीं रहता। वह मिनिट-मिनिट में अपनी बात बदलता रहता है, फिर न कोई उसकी बात का विश्वास करेगा और न उसकी बात की कोई जिम्मेदारी समझी जायेगी। क्षण-क्षण में बात बदलने वालों को कभी कोई जिम्मेदारी का काम नहीं सौंपा जाता, क्योंकि उसकी बात का ही जब भरोसा नहीं तो फिर यह क्या भरोसा है कि वह काम पूरा करेगा?

इस प्रकार सत्य वचन के ये पाँच दोष है, सत्य के साधक को विचार करना चाहिए, मनन करना चाहिए कि मेरा सत्य वचन इन दोषों से दूषित न हो। साथ ही 'न वेगयं न तुरियं······।' आवेग युक्त, हड़बड़ाकर भी कभी नहीं बोले, इतना जल्दी-जल्दी भी नहीं बोलें, कि श्रोताजन बात का कुछ अर्थ समझ भी नहीं पाये और श्रोता तो क्या खुद के बोले को खुद भी समझ न पाये इतनी जल्दी-जल्दी भी नहीं बोलना चाहिए। बहुत उतावल, जल्दबाजी करने वाले को सोचने का समय भी कहाँ मिलता है और बिना सोचे जो बोलेगा तो कभी सिद्धान्त के विरुद्ध, अनर्थकरने वाली; अपनी ही बात को काटने वाली बात मुह से निकल जाती है और बाद में नीचा मुंह करना पड़ता है। लोगों में हँसी तथा मूर्खता प्रकट होती है। हड़बडी मे बोलकर बार-बार बात बदलने वाले के विषय में कहा गया है—

'गाड़ी के चक्के की मानिंद, पुरुष वचन चल आज हुए।
सुबह कहा कुछ, शाम कहा कुछ, टोके तो नाराज हुए॥'

गाड़ी का चक्का जैसे क्षण-क्षण में ऊपर नीचे होता रहता है, वह कभी एक जगह टिकता नहीं ऐसी ही हालत आज मनुष्य के वचनों की हो गई है। सुबह कुछ, शाम कुछ, दोपहर कुछ, इतनी देर भी कहाँ लगती है सूरज की तो तीन अवस्था ही होती हैं, मनुष्य के वचन की जाने कितनी अवस्थाएँ होती हैं?

सत्य की भावना मे उक्त वचनो के साथ-साथ साहसकारी, सावद्य और पर-पीड़ाकारी वचनों का भी निषेध किया गया है। दुस्साहसपूर्वक बोलने में मनुष्य की उद्धतता, अहंकार और अपनी ही हाँक जाने का अविवेक प्रकट होता

है। कोई सोचता होगा, मैं कोई भी दुस्साहसिक बात कहकर लोगों में अपना प्रभाव जमालूँ या जमाने की हवा बदल दूँ, पर लोग इतने मूर्ख नहीं हैं, वे तुरन्त थर्मामीटर की तरह वक्ता की बात का नाप तौल कर लेते है और दुस्साहसपूर्वक बोलने वाले की मूर्खता, अज्ञान या अपने मुंहमियामिट्ठू बनने की आदत को समझ लेते हैं। सावद्य-पापकारी, पर-पीड़ाकारी वचन बोलना भी सत्य की साधना को नष्ट करना है। किसी को हिंसा, अन्याय, अनाचार की सलाह देना, निन्दनीय आचरणों का रास्ता बताना सावद्य वचन है, तथा दूसरों की हिंसा हो, हृदय दुखे, जीवनाश हो, कलह पैदा हो, ऐसा वचन पर-पीड़ाकारी वचन है। सत्य के साधक को इन सब दोषों व गुणों का मनोयोगपूर्वक विचार करके फिर वचन बोलना चाहिए। आचार्यो ने कहा है—

पुव्वि बुद्धिए पासेत्ता तत्तो वक्कमुदाहरे।
अचक्खुओ व नेयारं बुद्धि मन्नेसए गिरा।[1]

अन्धा आदमी जैसे किसी आँख वाले को साथ लेकर चलता है वैसे ही वाणी अन्धी है, अतः उसे बुद्धि को साथ लेकर चलना चाहिए अर्थात् पहले बुद्धि से सोचकर फिर वाणी का प्रयोग करना चाहिए। अन्धा अकेला चलेगा तो कहीं अवश्य हानि उठा बैठेगा, वैसे ही बुद्धि के बिना अगर वाणी अकेली चलेगी तो वह अवश्य ही नुक्शान करेगी। इसलिए—

'भासाइ दोसे य गुणे य जाणिया,
तीसेय दुट्ठे परिवज्जए सया।'[2]

भाषा के गुण और दोष का विचार करके जो दोष है उन्हें छोड़ दें और गुणात्मक भाषा का प्रयोग करें।

इस प्रकार भली-भांति भाषा का विचार करते रहना, वचन के गुण दोषों का चिन्तन करते रहना और सत्य के प्रति मन को दृढ़ बनाते रहना पहली अनु-विचिन्त्य भाषा समिति भावना है।[3]

२. क्रोधनिग्रहरूप क्षमा भावना : चिन्तन और प्रयोग

सत्य महाव्रत की पहली भावना मे विचारपूर्वक बोलने की आदत डालने

---

१. व्यवहारभाष्य पीठिका–७६

२. दशवैकालिक–७।५६

३. तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में भी 'अनुवीचि भाषण' प्रथम भावना है, जबकि सर्वार्थसिद्धि एव तत्त्वार्थवार्तिक में इसे पांचवे क्रम पर रखा है। सर्वार्थ० (पृ० ३४५) में 'अनुवीचिभाषणं निरवद्यभाषणं' कहा है, तथा तत्त्वार्थवार्तिक (पृ० ५३७) में 'विचार्य भाषणं अनुवीचिभाषणं' अर्थ किया है।

का संकेत किया गया है। आदत या संस्कार एक दिन में नहीं बनते, उनके लिए सतत वैसा ही चिन्तन करना पड़ता है, मन को उन विचारों में सदा लगाये रखने से संस्कार बनते हैं, इसलिए सत्य की भावना का अर्थ है उस प्रकार के विचारों से मन को सदा घेरे रखे, मन को उन विचारों में डुबाए रखे जिससे वे विचार हमारे संस्कार बन जायें और फिर बोलते समय भाषा के गुण-दोष का विचार अपने आप स्फुरित हो जाये जैसेकि ओटोमेटिक मशीन समय पर अपने आप अपना कार्य करने लग जाती है मन में वैसे सस्कार निर्माण करना ही भावना का लक्ष्य है।

अब प्रश्न यह है कि मनुष्य उतावल में, झुंझलाकर साहसपूर्वक कटु-कठोर-चपल वचन क्यों बोलता है, इसके पीछे मनोवैज्ञानिक कारण क्या है ? असत्य सभी को अप्रिय है, कोई भी अपने को 'झूठा' कहलाना पसन्द नहीं करता, चाहे कोई झूंठ भी बोले, पर वह भी सच्चा कहलाना ही पसन्द करेगा।

कहा जाता है, एक बार सत्य अपने शील-सन्तोष, धैर्य आदि साथियों के साथ आगे-आगे चल रहा था। झूठ ने क्रोध, लोभ, मान, भय, हास्य आदि साथियों को साथ लेकर सत्य पर आक्रमण कर दिया और उसके पैर काट लिये। झूठ ने सत्य के पैर काटकर अपने पैरों पर लगा लिए और तब से वह दुनिया में सत्य के नाम से ही चलने लगा। किन्तु आखिर तो पैर नकली है, इसलिए बहुत देर तक उन पैरों पर नहीं चल सकता। आखिर में वह लड़खड़ाने लग जाता है।

मतलब यह है कि क्रोध, लोभ आदि शत्रु ही सत्य की हत्या करते है। मनुष्य उन्हीं दुर्गुणों के चक्कर में पड़कर असत्य, कटुवचन, कठोर वचन, सावद्यवचन बोलता है। इसलिए यहाँ सत्य के घातक इन मानसिक दुर्गुणों को दूर करने के लिए अगली भावनाओं में विचार किया है और इसीलिए सत्य महाव्रत के साथ क्रोधवर्जन, लोभ वर्जन आदि का विधान किया गया है। यहा क्रोध-निग्रह रूप क्षमा-भावना पर विचार करते हुए सत्य के साधक को क्रोध-विजय की शिक्षा दी गई है।

जब मनुष्य के मस्तिष्क पर या मन पर क्रोध रूप भूत सवार हो जाता है तो उसके विचार की अन्तरदृष्टि और ज्ञानवाहिनी नाडियां मूर्च्छित हो जाती है। कहा है—

'जब होता है मनुज पर, क्रोध भूत असवार।
आंख बन्द होती तुरत, खुलता मुख का द्वार॥'

क्रोध आते ही आख बन्द हो जाती है, मुह खुल जाता है अर्थात् विवेक

लुप्त हो जाता है और मनुष्य बकवास करने लग जाता है। शास्त्र में कहा है— **अलियं पिसुणं फरुसं भणेज्जा, कलहं वेरं विकहं करेज्जा, सच्चं सीलं विणयं हणेज्जा**[1]……। क्रोधी मनुष्य झूठ बोलता है, चुगली करता है, कठोर वचन बोलता है, कलह, वैर और विकथा-विवाद को बढ़ाता है तथा सत्य, शील और विनय का नाश कर डालता है।

क्रोधावेश में मनुष्य राक्षस की तरह विवेक शून्य होकर रौद्ररूप धारण कर लेता है। वह दूसरों पर झूठे दोषारोपण करने लगता है, पर-निन्दा करता है, गाली-गलौज, मारपीट, हाथापाई और मुकदमेबाजी भी करने लग जाता है। इसमें अपने-पराये का भी ख्याल नहीं करता। माता-पिता भाई-बहन और रिश्तेदारियां सभी को भुला देता है, विनय, शील और सभ्यता क्या होती है, क्रोधी को कुछ भान नहीं रहता। इस प्रकार क्रोध का शिकार हुआ मनुष्य सत्य का नाश करता है। सदाचार का नाश करता है, अपनी शांति समाधि और सुख का नाश करता है। परिवार, समाज और राष्ट्र में अशांति, द्वेष और विग्रह की आग फैलाता है।

क्रोध के उक्त दुर्गुणों पर विचार करके सत्य के साधक को मन में क्षमा भावना का संस्कार जगाना चाहिए, अपमान, कष्ट और अवहेलना के जहर को पीकर भी शांत रहने की आदत डालना चाहिए तथा क्रोध के विकट से विकट प्रसंग पर भी अपना मानसिक संतुलन स्थिर रखकर सत्य वचन की आराधना करते रहना चाहिए। शास्त्र में कहा है—**'कोहो न सेवियव्वो'''खंतीए भाविओ भवति'''**।'मन में यह संकल्प दृढ़ करना चाहिए कि मुझे कभी भी क्रोध का सेवन नहीं करना, सदा मन को क्षमा के द्वारा भावित करते हुए प्रसन्न और स्वस्थ रखना है। यह क्रोध निग्रह रूप क्षमा भावना का चिन्तन है।

३. लोभविजय रूप निर्लोभ भावना : चिन्तन और प्रयोग

क्रोध की भांति लोभ भी सत्य का शत्रु है। क्रोध द्वेषात्मक वृत्ति है, लोभ रागात्मक। जैसे सूर्य पर बादल छा जाने से उसका प्रकाश मन्द पड़ जाता है और कभी-कभी काली घटा छा जाने से अन्धकार हो जाता है वैसे ही बुद्धि रूप सूर्य पर क्रोध और लोभ की घटाएं छा जाने पर विवेक का प्रकाश लुप्त हो जाता है, मन में अन्धकार व्याप्त हो जाता है। लोभी चाहे साधु हो, श्रावक हो या सामान्य पुरुष हो, वह अपनी मर्यादा, शान और सीमा को भूल जाता है। जैसे—

नारी की छाया पड़त अन्धा होत भुजंग।'

---

१. प्रश्नव्याकरण, संवर द्वार-२

कहावत है, वैसे ही बुद्धि पर लोभ की छाया पड़ने से भी मनुष्य अन्धा हो जाता है। धन के सामने वह कुछ नहीं देखता। कहा है—

'लोभाविष्टो नरोवित्तं, वीक्षते न स चापदम्।
दुग्धं पश्यति मार्जारो न तथा लगुडाहतिम्॥"

जैसे बिल्ली दूध पीने के लालच में सामने पड़ी लट्ठी को भी नजर-अन्दाज कर देती है, वैसे ही लोभी मनुष्य लोभ के कारण आने वाली विपत्तियों पर ध्यान नहीं दे पाता। लोभ से अन्धा हुआ मनुष्य, चोरी करके, छुपाकर, अपहरण कर, लोगों को मूर्ख बनाकर, यंत्र-मंत्र-जादू-टोने आदि का प्रयोग कर हाथ की सफाई दिखाकर येन केन - प्रकारेण वस्त्र, पात्र, बिछौने, कम्बल शिष्य, श्रावक, धन, स्वर्ण, आभूषण आदि को प्राप्त करने के विचार में रहता है।

लोभ सिर्फ धन का ही नही होता, किन्तु यश कीर्ति, सुख, समृद्धि परिवार आदि का भी लोभ होता है। साधुओं को शिष्य, शिष्या श्राविक-श्राविका रूप परिवार होता है। गृहस्थों को पुत्र, पौत्र, दास-दासी रूप। इनको बढाने-जुटाने में भी मनुष्य लोभ करता है। अपनी कीर्ति, नामवरी के लोभ में फसकर बड़े-बड़े साधु सन्यासी भी असत्य का आचरण करने लगते है। भरत चक्रवर्ती जैसे छह खंड के स्वामी भी अपनी कीर्ति और सत्ता के लोभ में पड़कर बाहुबली जैसे भाई से युद्ध ठान बैठे तो ये सब लोभ के चक्कर हैं।

सत्य का साधक उक्त लोभ के चक्कर से बचने के लिए सदा इस प्रकार का चिन्तन करे कि ये भवन, परिवार, धन-सम्पत्ति, खेती, उद्योग, पुत्र-पुत्रिया सत्ता और साधन तथा शिष्य, सम्प्रदाय, कीर्ति सब नश्वर है जिनपर मैं लुब्ध हो रहा हूँ, जिनकी ममता में पागल हो रहा हूं, जिनके लोभ का ज्वार, ज्वर की तरह मुझे पीड़ित कर रहा है, वे सब वस्तुएं क्षणिक है। मनुष्य को सत्य से, धर्म से, आत्मस्वभाव से भ्रष्ट करने वाली हैं और जन्म-जन्म में दुःख देने वाली हैं। यह सम्पत्ति वास्तव में विपत्ति करने वाली है, सच्ची सम्पत्ति तो आत्म शांति है, जिसे प्राप्त करने पर कभी नाश नहीं होता और जिससे सभी दुःख नष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार के पुनः पुनः चिन्तन से आत्मा में वीतरागता का भाव जगता है, लोभवृत्ति क्षीण होती है, वस्तु के प्रति आसक्ति का बन्धन टूट जाता है। और आत्मा बंधन व भय से रहित होकर निर्लोभता का आनन्द अनुभव करने लगता है। मन में लोभ के संस्कार नही रहें तो चाहे सामने सोने का ढ़ेर लगा हो वह भी धूल-सा प्रतीत होगा। साधक सुन्दर से सुन्दर और बहुमूल्य वस्तु के प्रति भी आंख उठाकर नहीं देखेगा। क्योंकि देखने वाला लोभ ही जब

चला गया तो अब देखेगा कौन ? आत्मा तो सिर्फ अपने स्वरूप को देखता है, पर-स्वरूप को देखने वाला तो लोभ और मोह है। मोह लोभ-विजय की भावना से क्षीण हो जाता है तो साधक के हृदय में एक अपूर्व उल्लास, निस्पृहता और शांतता जग जाती है।

४. भय-वर्जन रूप धैर्य युक्त अभय भावना : चिन्तन एवं प्रयोग

लोभ एक प्रकार का मीठा ठग है। वह चुपके-चुपके साधक के जीवन रस को खाता जाता है। भय कड़वा ठग है। भय से मन आतंकित, दुर्बल और आकुल हो जाता है। भय मन में घुसते ही साधक संत्रस्त व उद्विग्न हो जाता है। उसे लगता है अब मैं कहां जाऊं, मेरा शरीर, मेरी सम्पत्ति, मेरे प्राण, मेरी प्रतिष्ठा और यह सब वैभव अब क्या होगा; —'किं करोमि क्व गच्छामि— क्या करुं ? कहां जाऊं ? इस प्रकार की उद्विग्नता मन में छा जाती है और साधक दिग्मूढ़-सा बन जाता है।

भय कई प्रकार के होते हैं[1]—जैसे-इहलौकिक भय, पारलौकिक भय। इहलौकिक भय है—व्याधिका, रोग का, जरा का, मृत्यु का, अपकीर्ति का, गरीबी का, राजदंड का, सामाजिक अप्रतिष्ठा का। पारलौकिक भय है—मरने के बाद कहा जाऊंगा ? मेरी सद्गति होगी या नहीं ? स्वर्ग में सुख मिलेगा या नही ? इस प्रकार परलोक के विषय में भी मन भयभीत हो जाता है। कभी कभी मनुष्य भविष्य का विचार करके ही डरने लग जाता है जैसे—अब आगे क्या होगा ? मेरा कौन सहारा होगा ? खाने-पीने को कुछ मिलेगा या नही ? मेरी आजीविका कैसे चलेगी ? परिवार का भरण-पोषण कैसे होगा ? और कभी आकस्मिक भय से भी मनुष्य संत्रस्त हो जाता है—रास्ते चलते-चलते ही कल्पना उठी—मैं चल रहा हूं यह दीवार मुझ पर गिर पड़ी तो ? यह मकान, यह वृक्ष ढ़ह पड़ा तो, मेरी गाड़ी उलट गयी तो ? एक्सीडेन्ट हो गया तो ? इस प्रकार की काल्पनिक भीति मे भी मनुष्य घबराकर संतुलन खो देता है।

ये सभी भय जीवन को अंधकार में ढकेलने वाले है, मनुष्य की आत्मा

---

१ स्थानांग ४।४ में भयोत्पत्ति के चार कारण बताए हैं तथा (स्थान-७) में सात प्रकार के भय बताए है। ये निम्न है—

(१) इहलोक भय, (२) परलोक भय,
(३) आदान भय, (४) अकस्मात् भय
(५) वेदना भय, (६) मरणभय,
(७) अश्लोक (अपयश)भय

को, मनोबल को गिराने वाले हैं। भयभीत मनुष्य कभी सत्य नहीं बोल सकता। उक्त प्रकार के भय के वश होकर मनुष्य असत्य का सहारा लेता है, भय से बचने के लिए झूठ बोलता है। मृत्यु को सामने देखकर कौन वीर होगा जो सत्य को दृढ़ कर रखेगा और असत्य को लात मार देगा। इसलिए मन में अभय की भावना दृढ़ करने के लिए शास्त्र में कहा है—

'न भीइयव्वं, भीतं खु भया अइंति लहुयं, भीतो भूतेहिं घिप्पइ, भीतो तव-संजमं पि मुएज्जा, भीतो य भरं न नित्थरेज्जा·········।'

डरना नहीं चाहिए। भयभीत के पास ही भय आते हैं। भयभीत भूतों का शिकार हो जाता है, जो स्वयं डरता है वह दूसरों को भी डराता है। भयभीत तप, संयम को छोड़ देता है, साधना के मार्ग मे बीच ही में भाग छूटता है, डरने वाला कभी किसी उत्तरदायित्व को नहीं निभा सकता।

भय के इन कुपरिणामों को सोचकर साधक को चाहिए कि वह अभय बनने का प्रयत्न करे। वह सोचे, "भय कहीं नही है। मन में अभय है तो सर्वत्र ही अभय है। मनोबली पुरुष राक्षसों से भी हारता नही और कमजोर मन वाला भय की आशंका मे ही प्राण छोड़ देता है।"

कहते है एक बार एक फकीर बगदाद शहर के बाहर कुटिया में बैठा था, कोई विकराल आकृति उधर से निकली, फकीर ने उसे रोककर पूछा—

'तू कौन है ?'

' मैं महामारी हूं !' —उसने कहा।

'कहां जा रही है ?'—फकीर ने पूछा।

'अपना भक्ष्य लेने बगदाद शहर में।'—विकराल आकृति ने उत्तर दिया। फकीर ने फिर पूछा—'कितना भक्ष लेगी ?'

'पांच हजार···!'—उसने कहा।

कुछ दिन बाद वह विकराल आकृति फिर से उधर लौटी। फकीर ने पूछा—'कौन है ?'

उत्तर दिया—'महामारी !'

'भक्ष लेकर आगई ?'

'जी हां !'

'कितना भक्ष लिया ?'

'वही पांच हजार मनुष्यों का !'

'झूठ ! तुम तो पचास हजार मनुष्यों को निगल गई और कहती हो पांच हजार मनुष्यों का ही भक्ष लिया।'—फकीर ने तेज स्वर में कहा।

वह बोली—'बाबा ! मैंने तो पांच हजार मनुष्यों को बीमार बनाया, बाकी पैंतालीस हजार तो महामारी का नाम सुनकर भय से ही मर गए। 'इसका मैं क्या करूं ?'

तो इस रूपक का भाव यह है कि मनुष्य भय की आशंका से पहले ही त्रस्त हो जाता है, भय आता ही नहीं सिर्फ उसकी कल्पना से, काल्पनिक भय से ही वह अधमरा हो जाता है और कभी तो मर भी जाता है। अनेक ऐसी घटनाएं सुनने में आती है कि सांप काट लेने के बाद भी मनुष्य जीवित रहा, उसे पता भी नहीं चला कि किसने काटा है ? और जिस दिन उसे पता चला कि—'सांप ने काटा था ?' तो वर्षों बाद भी भय की स्मृति मात्र से जहर चढ़ गया और गया ! इसलिए नीतिकारों ने कहा—

तावद् भयेषु भेतव्यं, यावद् भयमनागतम्।
आगतं तु भयं दृष्ट्वा, प्रहर्तव्यमशङ्कया ॥[1]

जब तक भय पास में नहीं आता, तब तक उससे बचना चाहिए। लेकिन जब भय सिर पर आकर खड़ा हो जाता है तो निर्भय होकर उस पर प्रहार करना चाहिए, भय से लड़ना चाहिए। भय के सामने हुए कि भय भागा।

प्रसिद्ध चिन्तक **इमर्सन** का कहना है कि—

"भय अज्ञान से उत्पन्न होता है।" इसी सन्दर्भ में **बाइबिल** का भी एक कथन है—"संसार का भय अज्ञान से और ईश्वर का भय ज्ञान से उत्पन्न होता है।" वास्तव में ईश्वर का भय ही पाप का भय है। पाप का भय रहा तो फिर कोई भी भय नहीं सता सकता।

शास्त्रों में बताया गया है कि भय का निवारण करने के लिए साधक सदा अभय भावना का चिन्तन करे। जैसे—'जितने भय हैं, वे सब शरीर तक ही सीमित हैं। चोर का भय धन का नाश कर सकता है, पर, धन तो मेरा नहीं है, वह क्षणिक है, मेरी तो आत्मा है। आत्म धन को कौन चुरा सकता है ? रोग, व्याधि, बुढ़ापा आदि शरीर का नाश कर सकते हैं, पर शरीर भी तो पुद्गल है, आत्मा चेतन है। शरीर नष्ट होने पर भी आत्मा नष्ट नहीं होता। भूत-प्रेत आदि शरीर को कष्ट दे सकते हैं पर आत्मा को तो वे कुछ भी कष्ट नहीं पहुंचा सकते। आहार पानी आदि वस्तुओं की अप्राप्ति से शरीर को कुछ पीड़ा हो

---

१. चाणक्यनीति-५।३

सकती है, पर मन को और आत्मा को उससे क्या हानि है ? **'न मे व्याधिः कुतो व्यथा'** जब मुझे व्याधि नहीं है, तो पीड़ा कैसी ? जब मेरा नाश ही नहीं है तो फिर डर कैसा ? डर उसे है, जिसका नाश हो, नाश शरीर का है और मैं आत्मा हूँ। आत्मा न शस्त्र से काटी जा सकती है, न अग्नि से जल सकती है, न पानी से गीली हो सकती है,[1] न भूत-प्रेत इसे छू सकते हैं और न रोग-शोक, बुढ़ापा इसका बल हर सकते हैं। जब कोई भी बाह्य पदार्थ मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकता तो मैं किससे डरूँ ? यदि एक अज्ञानी की भाँति मैं भी इन असत्य भयों से, काल्पनिक भयों से डरता रहूँगा तो मुझ में और उस अज्ञानी मे क्या अन्तर है ? फिर ज्ञान-दर्शन-चारित्र जैसी अमूल्य निधि, विवेक, विचार सन्तोष और समत्व जैसे परम मित्र मेरे सहायक है तो मुझे डर किस बात का ? कष्ट आने पर अगर मैं धैर्यपूर्वक उनका मुकाबला करता हूँ तो वे कष्ट कुछ ही क्षणों में दूर हो जायेंगे **'न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सइ'** कोई भी दुःख चिरकाल तक नहीं रहता। आता है चला जाता है। धीरज से सहनेवाला नये कर्म का बन्धन नहीं करता पुनः दुःखी नहीं होता। रो-रोकर कष्ट उठाने वाला फिर नये-नये कर्म में बँधकर बार-बार दुःखी होता रहता है। अतः मुझे कभी भी भयभीत नहीं होना चाहिए, आये हुए कष्ट में भी अविचल रहकर सत्यवीर बनकर अपने उच्च-आदर्श को निभाना चाहिए। इस प्रकार के चिन्तन-मनन से मन में अभय के, निर्भयता के संस्कार दृढ़ होते है, भय दूर होता है और साधक भय विमुक्ति रूप धैर्ययुक्त अभय-भावना से आत्मा को भावित करता है।

५. हास्य-मुक्ति वचन संयम रूप भावना : चिन्तन एवं प्रयोग

सत्य महाव्रत की यह पाँचवी भावना है। हास्य के सम्बन्ध में कन्दर्प भावना के प्रकरण में भी विचार किया जा चुका है। हास्य सत्य का शत्रु है। सत्यवक्ता सदा गम्भीर रहता है, उसकी वाणी का एक-एक वचन चिन्तन की गहराई में डूबकर निकलता है, उस पर विवेक की चमक रहती है, किन्तु हँसी-मजाक में बोलनेवाला कभी गम्भीरता से सोच नहीं सकता, शब्दों का उपयुक्त और विवेकयुक्त चुनाव नहीं कर सकता, वह सत्य-असत्य का चिन्तन नहीं कर सकता, क्योंकि उसका तो ध्येय रहता है—लोगो को हँसाना। ऐसी बात कहना जिससे सुनने वाले हँस पड़े। इसके लिए वह झूठ भी बोलता है, अतिशयोक्ति भी करता है, विदूषक या भांड की तरह कुचेष्टा करके तरह-तरह की आवाजें निकालता है। यह सब आचरण निन्दनीय हैं, वाणी के दोष हैं। हँसी करते

---

१. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः ॥ —गीता २।२३

समय जिसका मजाक किया जाता है उसके हृदय को चोट पहुँचती है। वह उससे द्वेष करने लगता है और उसे कोई अच्छा या जिम्मेदार आदमी भी नहीं समझा जाता। हँसी करने से मनुष्य का प्रभाव कम हो जाता है उसके वचन का विश्वास व आदर घट जाता है। फिर हंसी मजाक करनेवाला परलोक में नीच गति में जाता है, कन्दर्पी और किल्विषिक देव होता है। जिसका वर्णन पीछे किया जा चुका है। इन सब का विचार करके जो संयति हास्य का त्याग करता है, वचन को संयत और गम्भीर बनाता है, वह विवेकी है। **'हासं परिजाणइ से णिग्गन्थे'**[1] हँसी मजाक का परित्याग करनेवाला ही निर्ग्रन्थ है।

हँसी-मजाक और विनोद में कुछ अन्तर है। विनोद बहुत सौम्य और यथार्थ बात पर होता है, उसमें शब्दों का विवेक रहता है तथा सुननेवाले के मन को पीड़ा नहीं होती, किन्तु हँसी, हास्य या मजाक एक अति साधारण, तुच्छ और पीड़ाजनक होने से सर्वथा त्याज्य माना है।

साधक को इस भावना के द्वारा मन में ऐसे संस्कार जगाने चाहिए कि कभी भी वह वाणी में हास्य का प्रयोग न करे। हास्य के वश असत्य वचन न बोले, तथा सिर्फ दूसरों का मनोरंजन करने में अपनी विद्या और वाक्कुशलता की सफलता न समझे। किन्तु सदा वाणी को संयत तथा गम्भीर रखे। ऐसे संस्कार निर्माण होने से साधक के जीवन में सत्य महाव्रत साकार होता है, वह निर्दोष और अखण्ड रूप से सत्य की आराधना करता हुआ जिनवाणी की सच्ची उपासना कर सकता है और अपने जीवन को सही लक्ष्य पर पहुँचा सकता है। अन्तिम ध्येय-मोक्षपद को भी प्राप्त कर सकता है।



---

१. आचारांग श्रु० २ अ० १५

३. अचौर्य महाव्रत की भावनाएँ

जैसे अहिंसा और सत्य का सम्बन्ध व्यक्तिगत जीवन के साथ-साथ सम्पूर्ण समाज एवं प्राणिजगत के साथ जुड़ता है, वैसे ही अचौर्य का सम्बन्ध भी बहुत व्यापक है। इस व्रत का प्रभाव जीवन व्यवहारों में सर्वत्र देखा जाता है। जीवन का प्रत्येक क्षेत्र चाहे वह सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय हो, अचौर्य व्रत का प्रभाव उस पर सीधा पड़ता है। क्योंकि इस व्रत का सम्बन्ध मनुष्य की आदतों, वृत्तियों व संस्कारों से है और जब दूसरों के साथ मनुष्य का संपर्क होता है तभी इसका प्रभाव जीवन में स्पष्ट आता है। अहिंसा-सत्य का पालन करनेवाला अगर अचौर्य व्रत का पालन न करे तो क्या ये व्रत पूर्णतया पल सकते है ? नही। क्योंकि अहिंसा-सत्य के साथ अचौर्य व्रत का गहरा सम्बन्ध है। अहिंसा से मन की करुणा पुष्ट होती है, सत्य से साहस और अभयनिष्ठा। अचौर्य से मन की असीम आकांक्षा और वितृष्णा पर अंकुश लगता है। शास्त्र में कहा गया है, मनुष्य चोरी कब और क्यों करता है ? उत्तर में बताया है—

> अतुट्ठीदोसेण दुही परस्स।
> लोभाविले आययई अदत्तं ॥[1]

असंतोष के कारण दुःखी होते हुए, दूसरे की वस्तु पर आसक्त होकर लोभ की भावना से प्रेरित होकर मनुष्य चोरी करता है।

जैसे हिंसा में क्रूरता मुख्य रहती है, वैसे ही चोरी में तृष्णा की मुख्यता है। किसी सुन्दर, उपयोगी और आवश्यक वस्तु को देखकर मनुष्य की इच्छा होती है—मैं इसे प्राप्त करूं। वह इच्छा धीरे-धीरे चित्त को चंचल बनाती रहती है, फिर उस वस्तु को पाने के लिए हाथ-पैर की चेष्टा होती है। न्याय-नीति युक्त तरीके से अगर वह वस्तु मिल जाये तो ठीक, अन्यथा इच्छा का दास बना हुआ मनुष्य अनैतिक उपाय भी काम में ले लेता है और येन-केन प्रकारेण उस वस्तु को प्राप्त करने पर तुल जाता है। अनैतिक, असामाजिक और अनधिकृत रूप से किसी वस्तु को प्राप्त करना ही चोरी है।

१. उत्तराध्ययन-३२।२६

चोरी के अनेक रूप

चोरी का स्थूल रूप है—अदत्तादान। बिना दी हुई वस्तु को उठाना, स्वामी की आज्ञा के बिना कोई वस्तु लेना या उसका उपभोग करना चोरी है। किन्तु इसका सूक्ष्म स्वरूप बहुत गहरा है। प्रश्नव्याकरण सूत्र में चोरी और अचौर्य की जो व्याख्या की है उससे अचौर्य के अनेक रूप हमारे सामने आते हैं जैसे—

किसी की निन्दा करना, किसी के दोष देखना, चुगली करना, दान आदि सत्कर्म में अन्तराय डालना, दूसरे के प्राणों का अपहरण करना, दूसरे के अधिकार का हनन करना, किसी की भावना का हनन करना, किसी के साथ अन्याय करना, ये सब चोरी है। अचौर्य महाव्रत के साधक को चोरी के इन सभी प्रकारों से बचना होता है। प्रश्नव्याकरण सूत्र में चोरी की जो विविध व्याख्याएँ की गई हैं, उनसे चोरी की दो परिभाषायें हमारे सामने स्पष्ट होती हैं–

अर्थहरण चोरी है। अधिकारहरण चोरी है।

किसी की बिना दी हुई वस्तु लेना, कोई चीज उठा लेना यह अर्थहरण है, चोरी का यह व्यवहारिक रूप है। इसी प्रकार चोरी का सूक्ष्म रूप है अधिकार-हरण।

किसी के उपकार को भूलना, किसी से जबर्दस्ती सेवा लेना, किसी के अधिकार की वस्तु जैसे भोजन आदि के साधनों के वितरण में असमानता रखना, अच्छी वस्तु स्वयं रखकर घटिया वस्तु दूसरे को देना, पक्षपात करना, ये सब अधिकारहरण रूप चोरी के विभाग हैं। साधक चोरी के प्रथम विभाग से अपना बचाव कर सकता है, किन्तु दूसरे रूप में प्रायः असावधान हो जाता है। बहुत से व्यक्ति तो चोरी के इस दूसरे पक्ष को समझ भी नहीं पाते, क्योंकि यह सूक्ष्म रूप है। साधक को इन दोनों ही प्रकार की चोरी से बचने का अभ्यास करते रहना चाहिए। इसलिए उसकी भावनाओं में निरन्तर इस प्रकार के स्वर गूंजते रहने चाहिए। इसी बात को लक्ष्य करके यहाँ अचौर्य महाव्रत की पाँच भावनाओं का वर्णन किया गया है।

प्रश्नव्याकरण के अनुसार पाँच भावनाएँ ये है—

१. विविक्तवाससमिति भावना,
२. अनुज्ञात संस्तारक ग्रहण रूप अवग्रहसमिति भावना,
३. शय्या-परिकर्म वर्जन रूप शय्यासमिति भावना,
४. अनुज्ञात भक्तादि भोजन लक्षणा साधारण पिंडपात लाभसमिति भावना,
५. साधर्मिक विनयकरण भावना।

१. विविक्तवाससमिति भावना : चिन्तन और प्रयोग

अचौर्य महाव्रत की यह प्रथम भावना है। गृहस्थ अपने लिए मनोनुकूल मकान बनाकर रहता है अथवा मकान के लिए अनेक प्रकार के आरम्भ समारम्भ करता है, इसलिए उसे 'आगारी' कहा है। किन्तु साधु का अपना कोई मकान नहीं होता, न उसके निमित्त कोई मकान बनाता है, इसलिए उसे 'अणागार' कहा गया है। प्रश्न होता है जब साधु के लिए कोई मकान नहीं बनाया जाता तो फिर साधु कहाँ रहे? इसके समाधान में शास्त्र में बताया है कि साधु को रहने के लिए मकान आदि स्थान की आवश्यकता हो तो वह निम्न प्रकार के स्थानों में रह सकता है—

> सुसाणे, सुन्नागारे वा, रुक्खमूले व एगओ।
> पइरिक्के परकडे वा, वासं तत्थऽभिरोयए॥
> फासुयम्मि अणाबाहे, इत्थीहिं अणभिद्दुए।
> तत्थ संकप्पए वासं, भिक्खू परमसंजए॥[१]

साधु श्मशान, शून्यगृह, वृक्ष के नीचे अथवा परकृत (गृहस्थ के अपने लिए बनाए हुए घर में) एकान्त स्थान में एकाकी रहना पसन्द करे।

जो स्थान प्रासुक हो, किसी को पीड़ाकारी न हो, एवं जहाँ स्त्रियों का उपद्रव-आवागमन न हो, परम संयमी साधु ऐसे स्थान पर निवास करे।

इसी प्रकार प्रश्नव्याकरण सूत्र में भी साधु के निवास योग्य स्थानों की एक लम्बी सूची बनाई है, जैसे—देवालय, प्याऊ, मठ, वृक्ष के नीचे, गुफा में, बाग-बगीचे-उद्यान आदि में जहाँ प्रासुक, निर्दोष एकान्त स्थान हो, जहाँ पर रहने से साधु के आचार में कोई स्खलना होने की सम्भावना न हो तथा किसी प्रकार का आरम्भ समारम्भ न करवाना पड़े, ऐसे स्थान में आवास करना चाहिए।[२]

विविक्तवास का अर्थ है—साधु उक्त प्रकार के निर्दोष स्थान में निवास करे, जिससे कि उसके अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रतों में किसी प्रकार के दोष व विकार आने की सम्भावना न रहे। जैसे कि यदि साधु अपने लिए मकान आदि बनवाता है तो सर्वप्रथम तो पृथ्वी, पानी आदि छः कायों की हिंसा होगी। उस हिंसा में साधु प्रेरक कारण बनेगा और फिर भी स्वयं को अहिंसक बताता रहेगा तो यह उसका प्रत्यक्ष असत्याचरण भी होगा। उस स्थान में यदि कोई स्त्री-पशु आदि रहेंगे तो उसके ब्रह्मचर्य में स्खलना की सम्भावना

१. उत्तराध्ययन ३५।६-७
२. प्रश्नव्याकरण संवर द्वार ३

भी रहेगी तथा अपने बनवाए हुए मकान के प्रति ममता का बन्धन भी हो जाएगा, दूसरे साधुओं को ठहराने में आना-कानी करेगा, एक प्रकार से वह मकान मालिक बनकर रहेगा। दूसरे किसी साधु को ठहरायेगा भी, तो भी उन्हें एक प्रकार से किरायेदार जैसे समझेगा। मकान के टूटने-फूटने पर उसकी मरम्मत की चिन्ता भी करनी पड़ेगी। इस प्रकार अनेक क्लेश, चिन्ताएं उस एक मकान के पीछे खड़ी हो जाती हैं। इसलिए अच्छा तो यही है कि 'क्यूं अंधानुतै क्यों दो जिमाये' क्यों मकान, उपाश्रय आदि बनाने के चक्कर में पड़े और क्यों अपने सिर पर सैकड़ों प्रकार की चिन्ताओं की बला ले, व्रतों में दोष लगाए और क्यों भगवान की आज्ञा की चोरी करे।

इसलिए प्रथम भावना में साधु को उक्त दोषों का चिन्तन करते हुए यह सोचना चाहिए कि मैं तो 'अणगार' बन गया हूँ। रहने के लिए जैसा भी निर्दोष मकान मिल जाये उसी में रहना है, साप जैसे चूहों के बनाए हुए बिल में रहता है उसी प्रकार मुझे परकृत दूसरों के लिए बने हुए निर्दोष मकानों में ही रहना चाहिए। यदि कभी-कभी सर्दी-गर्मी-वर्षा की थोड़ी बहुत असुविधा भी हुई तो क्या हुआ, ये सब कष्ट तो क्षणिक है, मुझे कोई हमेशा तो यहाँ रहना नहीं है, नदी की भांति सदा गतिशील मेरा जीवन है। आज यहाँ, कल वहाँ! मैं कहाँ-कहाँ मकान बनवाऊंगा और किस-किस के प्रपंच में पड़ूंगा। मुझे तो अपने व्रतों की रक्षा करनी है, चारित्र को शुद्ध पालना है। इस प्रकार के चिन्तन से प्रथम विविक्तवास-वसति समिति की भावना को सुदृढ़ बनाये।

२. अनुज्ञात संस्तारक ग्रहण रूप अवग्रहसमिति भावना : चिन्तन और प्रयोग

मकान-आवास की चिन्ता से मुक्त होने के बाद साधु के सामने दूसरी चिन्ता है—बिछौने-संस्तारक की। साधु गृहस्थ की भांति अपने बिछौने में रूई नहीं भरता, वह घास-फूस आदि भरता है। पुराने जमाने में घास-फूस का कोई मूल्य नहीं था, जंगलों में भी बहुत-सा सूखा घास, पुआल आदि यों ही पड़ा रहता था, गृहस्थों के घर में भी यों ही ढिग लगे रहते थे। विशाल खेती होती थी, लाखों मन धान पकता था। जहाँ धान का भी कोई खास मूल्य न हो वहाँ घास-फूस को कौन पूछता और क्या मूल्य होता? अतः ऐसी स्थिति में साधु अगर ऐसा सोचे कि यहाँ इतना घास-फूस पड़ा है, चलो उठाकर ले चलूं और अपना संस्तारक बना लूं तो शास्त्र कहते हैं—"साधक! तू ऐसा मत करना। तेरा आदर्श है—"**सव्वं से जाइयं होइ**"—सब कुछ याचित ही है, मांगा हुआ मिलता है, बिना याचना किए, बिना स्वामी की आज्ञा लिए घास तो क्या; दांत कुरेदने के लिए एक तिनका भी नहीं लेना है—"**दंतसोहण माइस्स अदत्तस्स विवज्जणं**" तिनका भी याचना करके ही लेना है, जो वस्तु जिसकी है उसके

स्वामी से पूछो, याचना करो, यदि उसकी सहर्ष स्वीकृति हो तो लो अन्यथा उसकी तरफ मन भी मत ललचाओ। साधु के लिए वस्तु मूल्यवान नहीं, किन्तु उसके स्वामी की अनुमति मूल्यवान है। अगर अनुमति मिले तो वह ले अन्यथा किसी वस्तु को स्पर्श भी न करे।

इस दूसरी भावना में शय्या-संस्तारक सम्बन्धी वस्तु के ग्रहण की चिन्ता से मुक्त होने का निर्देश है। यदि शय्या-संस्तारक अनुकूल न मिले तब भी वह खिन्न न हो, किन्तु मन में यही सोचे कि—**'मही रम्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता'**—साधु के लिये यह पृथ्वी···भूमि ही सुन्दर सेज है, पुष्पशय्या के समान है, और अपनी भुजा, बाहु यही मुलायम तकिया है। इसी को डनलॉप-पिलो समझकर साधु निश्चिन्तता से सोता है और मन मे समाधि रखता है। किन्तु कभी भी किसी की आज्ञा के बिना, बिना दी हुई शय्या-संस्तारक सम्बन्धी वस्तु लेने की भावना नहीं करता। इसी भावना को आचाराङ्ग में पांचवें क्रम पर रखकर **'अणुवीइ मितोग्गह जाई'** अर्थात् अवग्रह आदि विचार करके परिमाण के साथ (मर्यादानुकूल) ग्रहण करें।

३. शय्या-संस्तारक परिकर्म वर्जना रूप शय्यासमिति भावना : चिन्तन और प्रयोग

अचौर्य महाव्रत की यह तीसरी भावना पिछली दोनों भावनाओं का सम्मिलित रूप है। पिछली भावनाओ में मकान और बिछौना आदि याचना करके शुद्ध करने का संस्कार जगाया गया है। इसमें प्राप्त शय्या-संस्तारक के परिकर्म—शोभा, सजावट आदि का निषेध है।

कभी-कभी मकान तो रहने को मिल जाता है पर यदि हवादार न हो, टूटा-फूटा हो, मच्छर आदि हों, पुराना हो तो साधु अपनी सुख-सुविधा के लिए उस मकान की मरम्मत करवाने की सोचता है। कहीं खिड़की, कहीं जाली, कहीं आलमारी, कहीं अच्छा फर्श, कहीं धूप आने के लिए झरोखा, कहीं सफेदी आदि कराने का विचार करे, कभी बिछौना आदि अच्छा न मिला हो तो उसे अच्छा बनाने के लिए, मुलायम-गुदगुदा बनाने के लिए सोचे तो उसके लिए हिंसा आदि दोष लगना सम्भव ही है। जहाँ हिंसा है वहाँ चोरी भी है, क्योंकि जिन जीवों के प्राण लिए जा रहे हैं, उनकी अनुमति तो है नहीं कि हमारे प्राण ले लीजिए। पर प्राणहरण, पर-धनहरण से भी बड़ी चोरी है। इसीलिए भगवान ने हिंसा को अदत्तादान कहा है—

अदुवा अदिन्न दाणं—आचाराङ्ग

जीवहिंसा चोरी भी है, क्योंकि इसमें दूसरे जीवों के प्राणहरणरूप चोरी होती है।

इसीलिए साधु अपने आवास और संस्तारक आदि को अधिक सुखप्रद बनाने के लिए ऐसा कोई भी उपाय न करे जिससे जीवहिंसा हो। बहुत बार ऐसे मकान मिल जाते हैं जहाँ मच्छरों की भिन-भिनाहट से रात भर जागना पड़ता है, मच्छर काटते हैं, डांस डंक मारते हैं, तब साधु उन मच्छरों को भगाने के लिए धुंआ-धूप आदि करने की नहीं सोचे, किन्तु मन में यह विचार करे कि—**'किमेगरायं करिस्सई'** ये मच्छर आदि मुझे काटेंगे तो भी एक रात में मेरा क्या कर लेंगे? मच्छरों के काटने से कोई मरता तो है नहीं, नींद न आई तो न आई, चिन्ता करने की क्या बात है? इस प्रकार मन को समता-योग में रमाकर शय्या-परिकर्म की वर्जना करता हुआ अपने चारित्र को निर्मल रखे।

४. अनुज्ञात भक्तादि भोजन लक्षणा साधारण पिंडपात लाभ समिति भावना : चिन्तन और प्रयोग

आवास एवं शय्या आदि के बाद भोजन का क्रम बताया गया है कि साधु शरीर-धारण के लिए भोजन करता है, वह भोजन स्वयं तो पकाता नहीं है, भिक्षा द्वारा प्राप्त करता है। भिक्षाविधि का वर्णन पहले किया ही जा चुका है। यहाँ बताया है कि भिक्षा से प्राप्त निर्दोष आहार का उपयोग कैसे किया जाय?

साधु का जीवन संघीय जीवन है। संघ में अनेकों श्रमण-श्रमणी अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार साधना करते रहते हैं। कोई हृष्ट-पुष्ट होता है, कोई दुर्बल, कोई स्वस्थ, कोई रुग्ण, आचार्य उन सबकी देखभाल करके उनकी संयमयात्रा सुखपूर्वक चल सके ऐसी व्यवस्था करते हैं। साधु भी इस संघीय जीवन में सबके साथ मिलकर चलता है तथा आचार्य की आज्ञा में अपना तन-मन समर्पित करके चलता है।

संघीय जीवन में मर्यादा और प्रीति—यह दो मुख्य तत्त्व हैं। पहली बात है प्रत्येक श्रमण अपनी मर्यादा, नियम और शास्त्र-विहित-विधि का पालन करता रहे। दूसरी बात है प्रत्येक श्रमण परस्पर प्रीति रखे, प्रेम और विश्वास रखे क्योंकि अगर प्रेम और विश्वास न हो तो संगठन और एकता टिक नहीं सकती। प्रेम और विश्वास तब रहता है जब सबको यथोचित सम्मान और न्याय मिले। अगर किसी को बहुत सम्मान दे दिया और किसी का अनादर कर दिया, किसी के साथ अन्याय व पक्षपात कर दिया, तो संघीय व्यवस्था लड़खड़ा जाती है। वह व्यवस्था अधिक दिन टिक नहीं सकती। संघ में सबको समान न्याय, समान लाभ मिले इसके लिए इस भावना में कहा गया है। श्रमण को यह विचार करना चाहिए कि मुझे भिक्षा में जो

वस्त्र, पात्र, आहार, पानी, पुस्तकें, दवा आदि जो भी वस्तु प्राप्त हुई है उस पर मेरा अकेले का अधिकार नहीं है। उनका उपभोक्ता मैं अकेला नहीं हूँ, किन्तु मुझे जो वस्तु मिली है वह संघ की है। वह वस्तु प्राप्त कर पहले आचार्य की सेवा में सौंपना चाहिए और उनसे निवेदन करना चाहिए कि यह वस्तु मुझे प्राप्त हुई है, मुझे अमुक आवश्यकता है, आप जितनी मुझे देना चाहें कृपा करके दें। आचार्य उस वस्तु की उपयोगिता देखकर संघ के श्रमणों में न्याय पूर्वक उसका वितरण करते हैं। पक्षपात रहित होकर सबको संविभाग देते हैं। इस प्रकार समूचे संघ में प्रेम, विश्वास, न्याय और सम्मान की भावना अक्षुण्ण बनाए रखते है। इस भावना के अभ्यासी श्रमण को प्रत्येक क्षण यह चिन्तन करना चाहिए, अपनी अन्तर्वृत्तियां को इस प्रकार का मोड़ देना चाहिए कि कुछ भी वस्तु का लाभ होने पर वह अकेला भोगने की इच्छा न करे। वस्तु को छुपाने या अच्छी-अच्छी वस्तु खुद ही उपयोग में लेने का विचार न करे, इससे संघ की व आचार्य की चोरी होती है। सार्धमिकों के अधिकार का हनन होता है। अतः ऐसा करने पर श्रमण को चोरी का दोष लगता है। संघ में अविश्वास, अप्रीति और अप्रतीति बढ़ती है। फिर जो अकेला खाता है, अकेला उपयोग करता है वह अपने चारित्र को भी दूषित करता है। शास्त्र मे कहा है—**'असंविभागी न हु तस्स मोक्खो'**[1] संविभाग नहीं करने वाले को मुक्ति नही मिलती। असंविभागी पापश्रमण होता है, उसके व्यवहार से संघ मे अप्रीति उत्पन्न होती है—**'असंविभागी अचियत्ते'**।[2] इसलिए श्रमण को सदा संविभाग, समान वितरण, समान न्याय और सम्मान देने की वृत्ति व संस्कार जगाने के लिए उक्त भावना का चिन्तन करते रहना चाहिए।

५. सार्धमिक विनयकरण भावना समिति : चिन्तन और प्रयोग

सार्धमिक का अर्थ है समान धर्म या समान आचार वाला। साधु-साधु का धर्म, नियम, मर्यादा व आचार समान होता है। अतः वे परस्पर सार्धमिक कहलाते हैं। गृहस्थ-गृहस्थ का आचार, मर्यादा समान होने से श्रावक-श्रावक परस्पर सार्धमिक कहलाते हैं। यहाँ साधु को लक्ष्य करके कहा गया है किन्तु प्रसंग से गृहस्थ को भी अपने सार्धमिक के प्रति विनय व सद्भाव का व्यवहार करना चाहिए। साधुओं में परस्पर प्रीति और सम्मान की भावना बनाए रखने का माध्यम विनय है। विनय एक प्रकार का नैतिक व्यवहार या व्यवहार धर्म कहा जा सकता है। छोटा साधु बड़े के प्रति विनय और सम्मान प्रदर्शित करे

१. दशवैकालिक ६।२।२३
२. उत्तराध्ययन १७।११

और बड़ा साधु छोटों के प्रति प्रीति, स्नेह और वत्सलता का भाव रखे। तभी विनय व्यवहार चल सकता है। इस विनय-व्यवहार के कारण सबके हृदय प्रेमसूत्र में बंधे रहते हैं। जहाँ प्रेम होगा वहाँ अपनी वस्तु दूसरे को समर्पित करने की भावना जगेगी। कोई किसी से छुपाकर अकेला उपभोग करने की चेष्टा नहीं करेगा। इस तरह प्रच्छन्नवृत्ति, लुका-छिपी नहीं होगी। संघ में असमानता और अप्रीति पैदा नहीं होगी। बल्कि प्रेम और सहयोग के संस्कार दृढ़ होंगे। बड़े छोटों को अपना सहयोग देंगे, छोटे, बड़ों की सेवा करेंगे। एक दूसरे को परस्पर सहयोग करते हुए—

'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ'[1]

परस्पर एक दूसरे को भावित करते हुए परमश्रेय की प्राप्ति कर सकेंगे।

अचौर्य महाव्रत की उक्त पांचवीं भावना के अन्तर्गत साधु को इस प्रकार का मानसिक वातावरण बनाना चाहिए कि वह सेवा, सहयोग, स्नेह और विनय की भावना से मन को सतत प्रफुल्लित किए रखे।[2]

१. गीता ३।११

२. अचौर्य महाव्रत की भावनाओं के क्रम में उत्तरवर्ती श्वेताम्बर एवं दिगम्बर ग्रन्थों में काफी अन्तर होता चला गया है। श्वेताम्बर ग्रन्थों (तत्त्वार्थाधिगम भाष्य ७।३) के अनुसार पाच भावनाएँ ये हैं—

(१) **अनुवीचि अवग्रह याचन**—निर्दोष आहार ग्रहण करना तथा आहार ग्रहण करते समय उसका पूर्वापर विचार करना।

(२) **अभीक्ष्ण अवग्रह याचन**—जब भी जरूरत पड़े, याचना करके ग्रहण करना।

(३) **एतावद् अभिग्रह याचन**—मुझे इतना ही पर्याप्त होगा, इस विचार से याचना करना।

(४) **साधर्मिक अवग्रह याचन**—किसी साधर्मिक ने स्थान ले रखा हो तो उसके पास से स्थान की याचना करना।

(५) **अनुज्ञापित पान-भोजन ग्रहण**—दाता ने जिस वस्तु की आज्ञा दी हो वही ग्रहण करना तथा गुरु आज्ञा लेकर उपयोग करना।

सर्वार्थसिद्धि एवं तत्त्वार्थ राजवार्तिक में इनका क्रम इस प्रकार है—

(१) शून्यागारावास—पर्वत की गुफा आदि शून्य स्थान में रहना।

(२) विमोचितावास—दूसरों के द्वारा छोड़े हुए मकान आदि में रहना।

(३) परोपरोधाकरण—दूसरों को ठहरने से नहीं रोकना।

शास्त्र में बताया गया है कि उक्त भावनाओं के अनुचिन्तन से साधक का हृदय सरल और निश्चल बन जाता है। साथ ही उसके अचौर्य भाव के संस्कार सुदृढ़ बन जाते हैं। वह भूलकर भी अनजान में भी किसी की वस्तु का अपहरण, अधिकारों का हरण एवं उपकार का विस्मरण नहीं करता। उसका जीवन सदा प्रशस्त एवं मंगलमय रहता है।

☆

(४) भैक्ष्यशुद्धि—शास्त्रानुसार शुद्ध भिक्षा ग्रहण करना।

(५) साधर्माऽविसंवाद—यह मेरा है, यह तेरा है, इस प्रकार साधर्मियों से झगड़ा नहीं करना।

—देखें सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ३४५-४६ तत्त्वार्थराजवार्तिक पृष्ठ ५३६

(प्र० भारतीय ज्ञान पीठ)

४. ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावनाएँ

ब्रह्मचर्यव्रत

व्रतों की गणना में चौथे स्थान पर आता है, किन्तु अपनी महिमा और महत्ता के कारण यह सर्व व्रतों में प्रथम स्थान पर है, यह निश्चित कहा जा सकता है। भगवान ने स्वयं इसकी महिमा गाते हुए **'तं बंभं भगवंतं'** वह ब्रह्मचर्य भगवान है—कहकर अपने समान गरिमा दी है। यहाँ तक कहा है कि जैसे **'तित्थयरे चेव जहा मुणीणं'** जैसे सब मुनियों में तीर्थंकर श्रेष्ठ हैं, वैसे ही सब व्रतों में ब्रह्मचर्य उत्कृष्ट है। इससे अधिक ब्रह्मचर्य की और क्या महिमा होगी जो भगवान स्वयं उसे अपने तुल्य बताते है। एक ब्रह्मचर्य की आराधना कर लेने पर समस्त व्रत-नियमों की आराधना हो जाती है, **'एगंमि बंभचेरे, आराहियंमि आराहियं वयमिणं सव्वं'**[1] ...इस प्रकार ब्रह्मचर्य को समस्त व्रत-नियम-तप-शील-विनय-सत्य-संयम आदि का मूल बताया गया है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ

प्रश्न होता है कि हम जिसे व्रतों का सरताज—मुकुटमणि और समस्त धर्मों का मूल कहते हैं, उस ब्रह्मचर्य का अर्थ क्या है? ब्रह्मचर्य शब्द किस अर्थ में प्रयोग होता है।

कुछ लोग ब्रह्मचर्य का अर्थ करते है जननेन्द्रिय का संयम करना। गांधी जी ने कहा है— "ब्रह्मचर्य का अर्थ है सभी इन्द्रियों और सम्पूर्ण विकारों पर अधिकार पा लेना।"

एक विद्वान ने कहा है—**"बस्तीन्द्रिय-मनसामुपशमो ब्रह्मचर्यम्"** जननेन्द्रिय, व इन्द्रियसमूह और मन की शान्ति को ब्रह्मचर्य कहा जाता है।

प्राचीन शास्त्रों के विविध सन्दर्भों को देखने से पता चलता है कि 'ब्रह्म' शब्द के तीन अर्थ मुख्य रूप से बताये गये है—ब्रह्म—वीर्य, आत्मा और विद्या इसी प्रकार 'चर्य' शब्द के भी तीन अर्थ हैं—चर्य—रक्षण, रमण, अध्ययन।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य के तीन अर्थ हमारे सामने आते है—

(१) वीर्यरक्षण, (२) आत्मरक्षण तथा (३) विद्याध्ययन।

---

१. प्रश्नव्याकरण सूत्र संवरद्वार-४

वीर्यरक्षण अर्थ तो प्रायः प्रसिद्ध है ही, किन्तु इसके आगे के दो अर्थ भी मननीय है। आत्मस्वरूप में लीन होना और सतत ज्ञानार्जन करते रहना, ये ब्रह्मचर्य की साधना को सम्पूर्णता प्रदान करते हैं। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का अर्थ हुआ विकारों का उपशमन और आत्मरक्षण करना।

ब्रह्मचर्य का फल

ब्रह्मचर्य का फल क्या है ? यह भी एक प्रश्न सामने आता है। कुछ लोग आत्मशुद्धि के लिए धर्म या व्रत रूप में ब्रह्मचर्य का पालन करते है और कुछ शक्ति एवं स्वास्थ्य के लिए। वास्तव में ब्रह्मचर्य आत्मा की शुद्धि, मन की पवित्रता और राग-द्वेष को क्षीण करने के लिए ही पालना चाहिए। क्योंकि साधक का लक्ष्य यही है—आत्मशुद्धि। आत्मशुद्धि से आत्मदर्शन होता है, आत्मदर्शन ही मुक्तिलाभ है। प्रासंगिक रूप में शक्ति एवं स्वास्थ्य-लाभ भी ब्रह्मचर्य से निश्चित मिलता ही है।

आचार्य पतजलि ने कहा है—**ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः**[1] ब्रह्मचर्य की पूर्ण साधना कर लेने पर अपूर्व मानसिक-शक्ति एवं शरीर-बल प्राप्त होता है। अथर्ववेद के अनुसार—ब्रह्मचर्य से तेज, धृति, साहस और विद्या की प्राप्ति होती है—**'ब्रह्मचर्येण वै विद्या'** ब्रह्मचर्य से विद्या आती है, राजा राष्ट्र की रक्षा कर सकता है और आचार्य शिष्यों को आत्मविद्या का ज्ञान दे सकता है।[2] इस प्रकार व्यक्ति के आत्मिक, मानसिक और शारीरिक तीनों प्रकार के विकास के लिए ब्रह्मचर्य अति आवश्यक है। वह शक्ति का तो स्रोत ही है, उसमे मन में बल, साहस, निर्भयता, प्रसन्नता और शरीर में अपूर्व तेजस्विता आती है। ब्रह्मचर्य इहलोक-फल देता है—शरीर व मन की शक्ति बढ़ाकर तथा पारलौकिक फल देता है—आत्मा को राग-द्वेष से मुक्त बनाकर।

पांच भावनाएं

गृहस्थ साधक ब्रह्मचर्य का अपनी शक्ति के अनुसार आंशिक रूप से पालन करता है और त्यागी साधक-श्रमण पूर्ण रूप में। अन्य व्रतों की अपेक्षा ब्रह्मचर्य का पालन अधिक कठोर है, इसलिए अधिक सावधानी की अपेक्षा रखता है। इसके लिए साधक को अपनी जीवनचर्या भी वैसी ही सादी, स्वस्थ और शान्ति-प्रधान रखनी होगी। वातावरण से मन प्रभावित होता है इसलिए मन को ब्रह्मचर्य में स्थिर रखने के लिए यह आवश्यक है कि चंचलता पैदा करने वाली बातें मोहपूर्ण कामोत्तेजक वातावरण जहां हो वहां साधक को नहीं रहना चाहिए। जैसे चूहे को बिल्ली से भय रहता है वैसे ही ब्रह्मचारी को शृंगार और मोह-

---

१. पातंजल योगदर्शन २।३८
२. अथर्ववेद-१५।५।१७

जनक वातावरण से खतरा होता है। वातावरण को शुद्ध रखने तथा ब्रह्मचर्य के संस्कारों को मन में बद्धमूल करने के लिए भावनाओं का सहारा लिया गया है। इन भावनाओं से साधक मन में सतत ब्रह्मचर्यमय संस्कार जगा सकता है, मन का और अपने पास-पड़ौस का वातावरण ब्रह्मचर्य के अनुकूल रख सकता है। इसलिए इन भावनाओं का अपना विशिष्ट महत्त्व है। पिछले व्रतों की भांति ही ब्रह्मचर्य महाव्रत की ये पाँच भावनाएँ बताई गई हैं—

१. असंसक्तवास वसति,
२. स्त्रीकथा विरति,
३. स्त्रीरूप-दर्शन विरति,
४ पूर्वरत—पूर्वक्रीडित विरति,
५. प्रणीत आहारत्याग।[1]

अब हम क्रमशः इन भावनाओं के स्वरूप पर चिन्तन करेंगे।

१. असंसक्तवास वसति भावना : चिन्तन और प्रयोग

भावनाओं में कहीं-कहीं व्रत के साधक-तत्त्वों का चिन्तन और सेवन करने का उपदेश दिया गया है, तो कहीं-कहीं व्रत के विघातक तत्त्वों से बचने की चेतावनी भी दी गई है। विधेयात्मक और निषेधात्मक दोनों ही प्रकार के उपायों द्वारा व्रतों की रक्षा के संस्कार मन में जागृत करने का प्रयत्न किया गया है। ब्रह्मचर्य व्रत की पांच भावनाओं में मुख्यतः ब्रह्मचर्य के विघातक तत्त्वों से बचने का उपदेश है। जहाँ-जहाँ और जिन-जिन कारणों से ब्रह्मचर्य में दूषण और स्खलनाएं होने की सम्भावना है, उन-उन कारणों, स्थानों और प्रसंगों का वर्जन करते रहना इन भावनाओं का मुख्य लक्ष्य है।

१. तत्त्वार्थाधिगम (श्वेताम्बर परम्परा) में उक्त क्रम इसी रूप में बताया गया है जबकि उसी की दिगम्बर परम्परा मान्य व्याख्याओं में कुछ अन्तर आ गया है। वहाँ क्रम इस प्रकार है—
(१) स्त्रीरागकथा-श्रवण त्याग,
(२) स्त्री मनोहरअंग निरीक्षण त्याग,
(३) पूर्वरतानुस्मरण त्याग,
(४) वृष्य-इष्टरस त्याग (गरिष्ठ और इष्ट रस का त्याग),
(५) स्वशरीर संस्कार त्याग (शरीर की शोभा-विभूषा का त्याग)।
—देखें सर्वार्थसिद्धि (७।७),
तत्त्वार्थ राजवार्तिक (७।७) पृष्ठ ५३६

साधु को अपनी धर्मयात्रा में जैसे भोजन-पानी की आवश्यकता रहती है, वैसे ही सर्दी-गर्मी, धूप-वर्षा आदि से बचकर निरुपद्रव धर्म साधना करने के लिए कोई न कोई स्थान की भी जरूरत रहती है। जैसे—भोजन शुद्ध और याचित-मांगा हुआ होना चाहिए, वैसे ही स्थान भी शुद्ध तथा याचना कर प्राप्त किया हुआ होना चाहिए। साधु न तो अपने लिए भोजन पकाता है और न स्थान बनाता है, क्योंकि जैसा कहा है—**'सव्वं से जाइयं होइ नत्थि किंचि अजाइयं'** साधु को सब कुछ मांगा हुआ, याचना करने पर ही मिलता है, बिना मांगा हुआ, मालिक की अनुमति लिए बिना वह कुछ भी नहीं लेता। जहाँ कहीं उसे ठहरना होता है वह गृहस्थ से उस स्थान की याचना करता है। अनुमति मिलने पर ही उस स्थान में निवास करता है। स्थान प्राप्त होने पर भी उस स्थान की उपयुक्तता के विषय में साधु को सोचना चाहिए कि जहाँ मैं ठहर रहा हूँ वहाँ मेरे संयम विघातक तत्त्वों का मोर्चा तो नही लग रहा है। मेरे ब्रह्मचर्य को लूटने वाले जासूस या चारित्र को खण्डित करने वाले डाकू तो वहाँ नहीं जमे हैं? अन्यथा वे मुझे संयम से हीन व चारित्र मे दरिद्र बना डालेंगे? मेरी संयम की कमाई मिट्टी में मिल जायेगी।

अब प्रश्न है कि जिन संयम विघातक तत्त्वों से बचना चाहिए वे कौन से है? तो उनकी सूचना देते हुए शास्त्र में बताया है—जहाँ स्त्रियां सोती हों, बैठती हों, जिस घर के द्वार से बार-बार उनका आवागमन होता हो, जिस घर के आंगन में स्त्रियां बैठती हो, जिन खिड़कियों व झरोखों से देखने पर स्त्रियों पर बार-बार दृष्टि पड़ती हों, जहाँ स्त्रियां स्नान, शृंगार आदि करती हों, जहां वेश्याओं का निवास हो या वे पास-पड़ौस मे रहती हो, इस प्रकार जिस स्थान में रहने से रति-राग, विकार, मोह आदि की वृद्धि होती हो ऐसे स्थान में साधु को नहीं रहना चाहिए। साधु को ही क्या किसी भी ब्रह्मचारी को नहीं रहना चाहिए। शास्त्र मे कहा है—

> **जहा कुक्कुड पोयस्स, निच्चं कुललओ भयं।**
> **एवं खु बंभयारिस्स, इत्थी विग्गहओ भयं॥**[1]

जैसे मुर्गी के बच्चे को बिल्ली मे सदा भय बना रहता है, वैसे ही ब्रह्मचारी को स्त्री के कामजनक शरीर से भय बना रहता है। बिल्ली की नजर मुर्गी के बच्चे पर टिकी रहती है, वैसे ही कामासक्त नारी की नजर पुरुष की ओर लगी रहती है। यदि एकान्तवास जैसा कोई प्रसंग मिला तो वह तुरन्त ही ब्रह्मचर्य नाशक चेष्टाएँ करती है। अतः ऐसे खतरनाक प्रसंग से बचते ही

---

१. दशवैकालिक ८।५४

रहना चाहिए ताकि व्रतों में दोष होने की सम्भावना कम रहे। इस कारण ब्रह्मचर्य की साधना में रत साधु को इस भावना के द्वारा अपने मन को इस प्रकार तैयार करना चाहिए कि चाहे रद्दी, जीर्ण-शीर्ण, कुछ कष्टप्रद स्थान में रहना पड़े तो रहे, परन्तु स्त्रियों से आकीर्ण सुखदायक स्थान की मन में कभी भी इच्छा नहीं करें। क्योंकि स्थान का कष्ट एक दो रात का ही होता है, यदि व्रत में दोष लग गया तो जीवन ही बर्बाद हो जाएगा। यह प्रथम भावना हुई, स्त्री-संसर्ग युक्त आवास का वर्जन।

२. स्त्री कथा विरति भावना : चिन्तन और प्रयोग

यह ब्रह्मचर्य व्रत की दूसरी भावना है। विषयों के बीहड़ वन में पहला पड़ाव है स्त्री-संसक्त आवास का और दूसरा है स्त्री कथा का। स्त्री दर्शन जिस प्रकार कामोत्तेजक है, उसीप्रकार स्त्री का चिन्तन और कीर्तन भी कामोत्तेजना में सहयोगी बनता है।

साधु का समय शास्त्रों के अध्ययन, अनुशीलन चिन्तन, मनन और ध्यान में बीतना चाहिए। समय पर उपदेश और चर्चा भी की जाती है, किन्तु उस चर्चा का विषय वैराग्य, नीति और हित दर्शन होना चाहिए। यह नहीं कि पाँच-दस की मण्डली जम गई, स्त्रियों की भीड़ एकत्र हो गई और साधु समय बिताने के लिए, मन बहलाव के लिए स्त्रियों की चर्चा छेड़ दें। स्त्रियों के हास विलास की, उनके शृंगार की, काम एवं मोह से सम्बन्धित कहानियां कहनी शुरू कर दें। शृंगार रस के किस्से चुटकुले सुनाएं। नव-विवाहित दम्पति के वार्तालाप एवं उनके चातुर्य और एक-दूसरे को आकृष्ट करने की उत्तेजक कहानियां सुनाना प्रारम्भ कर दें। जो सुनने में तो अच्छी लगे, मधुर प्रतीत हो किन्तु उनके श्रवण से भावनाएं विकृत बनती जाय, मन उस ओर दौड़ने लगे, बार-बार उन कथाओं को सुनने कहने और स्मरण करने से मन, ज्ञान-ध्यान से उचट जाय और उसी ओर दौड़ता रहे तो इससे विकारों की वृद्धि होती है, मन अधीर होता है, वृत्तियां असंयम और कुशील की ओर उन्मुख होती हैं। जिससे किसी भी समय संयम से भ्रष्ट-पतित होने का खतरा रहता है।

दूसरी भावना के प्रयोग से साधु अपने चिन्तन को स्त्री कथा से विरत रखकर धर्मकथा की ओर मोड़ता है। मन को पवित्र विचारों से, सुन्दर साहित्य से आप्लावित रखने का प्रयत्न करता है ताकि उसके संस्कार संयम में सुदृढ़ बने।

३. स्त्री-रूप निरीक्षण विरति भावना : चिन्तन और प्रयोग

स्त्री का रूप ब्रह्मचर्य का तीसरा घातक तत्त्व है। सुन्दर रूप प्राप्त होना मनुष्य के शुभ नाम कर्म का फल है, अतः सु-रूप को कोई बुरा या भला नहीं

कहा जा सकता है। बुरा है सुरूप देखकर, सुन्दरता देखकर उसके प्रति आसक्त होना। पतंगा दीपक की लौ देखकर उस पर दीवाना हो जाता है और लौ में जलकर भस्म हो जाता है, इसमें बुराई लौ की है या पतिंगे की ? लौ तो एक ज्योति, एक प्रकाश है किन्तु जो उस प्रकाश का सदुपयोग न करके उसमे जाकर घुस जाने को आतुर है यह उसकी मूढ़ता है। कुए या तालाब का पानी मीठा है, पीने के लिए है पर कोई कुंए या तालाब मे ही जाकर घुस जाए तो ? इसी प्रकार रूप मनुष्य को प्राकृतिक देन है, वह शरीर का अविभाज्य स्वरूप है, उससे पुरुष की, स्त्री की पहचान होती है, आकृति परिचय के लिए है, चाहे सुन्दर हो या असुन्दर ! किन्तु कोई उस आकृति पर ही मुग्ध होकर उसके पीछे दीवाना बन जाये, तो वह लौ को निगलने जैसी, तालाब में घुसने जैसी मूर्खता करता है।

शास्त्र में कहा है, रूप मिलना पुण्य का उदय है, उस रूप को देखने वाली दृष्टि मिलना भी पुण्य का उदय है और रूप को देखना—यह भी दृष्टि का स्वभाव है।

> रूवस्स चक्खु गहणं वयंति
> चक्खुस्स रूवं गहण वयंति।
> रागस्स हेउं समणुन्नमाहु
> दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु॥[1]

—चक्षु-दृष्टि रूप का ग्राहक है और रूप चक्षु का ग्राह्य विषय है। यदि कोई उस रूप में आसक्ति करता है तो वह राग का हेतु है। कोई द्वेष करता है तो वही द्वेष का हेतु बन जाता है। वास्तव में रूप स्वयं में राग-द्वेष नहीं, वह तो द्रष्टा की भावना पर है।

तो यहाँ बताया गया है कि चाहे स्त्री हो या पुरुष, उसका रूप तो दृष्टि के सामने आता ही है, किन्तु उस रूप पर आसक्ति करना स्त्री का सुन्दर रूप देखकर प्रसन्न होना, उसके प्रति आसक्त होना, बार-बार देखते रहने का प्रयत्न करना, तथा उस सौन्दर्य की प्रशंसा करना कि वाह क्या सौन्दर्य है ? अप्सरा जैसी सुन्दर है, उसके सुन्दर हाथ-पैर, नाक, आँख, होठ स्तन आदि का बार-बार निरीक्षण करने की चेष्टा रखना यह बुरा है, यह राग का कारण है। चरित्र को दूषित करने वाला है। कहा है कि जैसे सूर्य के सामने देखने से आँखें चुंधिया जाती हैं वैसे ही स्त्री का सौन्दर्य कामुकदृष्टि से देखने पर मन की आँखें चुंधिया जाती हैं। ब्रह्मचर्य का विवेक लुप्त होने लगता है और

१. उत्तराध्ययन ३२।२३

मनुष्य उस स्त्री रूप के प्रति आकृष्ट होता जाता है, आंखों में वह सुन्दरता बस जाती है। मन में उसी का बार-बार चिन्तन होता है और फिर व्यक्ति उस रूप का उपभोग करने के लिए अपना सब कुछ दांव पर लगाने को आतुर हो जाता है। इसीलिए शास्त्र में कहा है कि स्त्री का रूप देखना अर्थात् विकारपूर्ण दृष्टि से बार-बार उसकी ओर झांकना, निरखना ही नहीं, किन्तु वैसे भी उसके अंगोपांगों को नहीं देखना चाहिए।

कुछ मनुष्य कहते है कि हम तो स्त्री को मां-बहन की दृष्टि से देखते हैं, इसलिए उसे देखने में हमें विकार नहीं आता। उत्तर यह है कि ब्रह्मचारी को ही क्या, साधारण मनुष्य को भी स्त्री की तरफ देखना उचित नहीं है, क्योंकि पहली बात तो यह है कि आप किस दृष्टि से देख रहे हैं, आपकी भावना क्या है यह किसी दूसरे को क्या पता ? वह तो यही देखेगा कि आपकी नजर अमुक स्त्री की तरफ जा रही है, इससे व्यवहार अशुद्ध होता है, लोगों में शंका उत्पन्न होती है, देखने वाले की असभ्यता प्रकट होती है और जिस स्त्री की तरफ देख रहे है यदि उसे भी पता चले कि आपकी नजर उसकी तरफ है तो या तो उसे बुरा लगेगा अथवा उसके मन में भी आपके प्रति स्नेह विकार आदि भावनाएं जग सकती हैं। तो इन सब शंकाओं और विकारों को उत्पन्न होने का अवसर ही क्यों दिया जाय ? क्यों अन्धे को न्योतना और क्यों दो को जिमाना। फिर यह भी एक स्वाभाविक वस्तु है कि किसी भी मनोज्ञ दीखने वाली वस्तु को बार-बार देखने से, उसका चिन्तन करने में मन भी उधर आकृष्ट हो ही जाता है। गीता में कहा है:—

'बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपिकर्षति।'

—इन्द्रिय समूह बड़ा बलवान है, यह विद्वान को भी अपनी ओर खींच लेता है। सुस्थिर योगलीन रहने वालों को भी चंचल बना देता है। जैसे सुन्दर फूल दर्शक को सहज रूप में मुग्ध कर डालता है। फूल देखकर स्वाभाविक रूप से ही मनुष्य उसे तोड़ने को, सूंघने को ललचा जाता है, वैसे ही यह बहुत सहज है कि स्त्री को देखकर, उसकी सुन्दरता पर बार-बार नजर दौड़ाने से, उसके हाव-भाव, विलास-विभ्रम[1] अंग-प्रत्यंग का निरीक्षण करने से रूप-लावण्य का

---

१. हाव-भाव; विलास-विभ्रम का अर्थ इस प्रकार है—

हावो मुखविकारः स्याद्, भावश्चित्तसमुद्भवः।
विलासो नेत्रजोज्ञेयो, विभ्रमो भ्रू-युगांतयोः॥

—हाव-मुख विकार है, भाव चित्त का विकार है। आँखों की चेष्टाएं विलास है और भौंहों का कटाक्ष विभ्रम है।

चिन्तन करने से सुदृढ़ मन भी चंचल हो जाय। और तो क्या, भगवान महावीर की सभा में बैठे बड़े-बड़े संतों और सतियों के मन भी रानी चेलना और राजा श्रेणिक को देखकर चंचल हो उठे। दशाश्रुत-स्कंध में वर्णन आता है कि भगवान महावीर की धर्म सभा में जब रानी चेलना सज धज कर राजा श्रेणिक के साथ दर्शन करने आई तो उनके अद्भुत रूप-लावण्य, वैभव और ऐश्वर्य को देखकर श्रमण वृन्द का मन भी चंचल हो गया। वे भी सोचने लगे कि— 'अहो ! हमारी तपस्या का, संयम का कुछ फल हो तो अगले जन्म में हम भी ऐसे काम-भोग और ऐसी सुन्दर जोड़ी प्राप्त करें।' भगवान महावीर ने फिर सभी श्रमण-श्रमणियों को उद्बोधन देकर इस भावना का प्रायश्चित करवाया। तो भाव यह है कि सर्वज्ञ प्रभु के सामने, इतने बड़े-बड़े संत-सतियां भी मन की चंचलता के शिकार हो गये तो साधारण मनुष्य की क्या बिसात है।

इस आपत्ति से बचने के लिए और मन में ब्रह्मचर्य के संस्कार सुदृढ़ करने के लिए आवश्यक है कि स्त्री का सौन्दर्य, स्त्री के अंग-प्रत्यंग आदि की तरफ दृष्टि न जाए और ब्रह्मचारी स्त्री-रूप निरीक्षण विरति भावना का अभ्यास करता रहे।

४. पूर्वरत-पूर्वक्रीड़ित विरति भावना : चिन्तन और प्रयोग

ब्रह्मचर्य व्रत की भावना का यह चौथा रूप है। कभी-कभी व्यक्ति के समक्ष ऐसी परिस्थितियाँ आती है कि प्रत्यक्ष में विकार का कोई कारण उपस्थित न होने पर भी मन विकार ग्रस्त हो जाता है। सामने न स्त्री होती है और न ऐसे दृश्य व वातावरण ही जिनसे कि कामोत्तेजना प्रबल हो, किन्तु फिर भी मन चंचल हो जाता है। इसका कारण है स्मृति, विकार-पूर्ण संस्कार जो कि पूर्व जीवन में कभी अनुभव किये गये हों। साधु अपने गृहस्थ जीवन में तथा ब्रह्मचारी गृहस्थ भी, पूर्व समय में अपनी पत्नी के साथ, प्रेयसी तथा अन्य किसी स्त्री के साथ काम-क्रीड़ा की हो, उसके साथ मधुर-प्रेमालाप किया हो। खेल-तमाशे देखे हो, उसके शरीर के विभिन्न अंगो का स्पर्श किया हो, उनका स्मरण करने लगता है या अपने आप उनकी याद ताजी हो जाती है तो चुपचाप एकान्त में बैठे हुए भी साधक का अन्तर-हृदय वासना से अभिभूत हो जाता है। उसकी भावनाएं उत्तेजित हो जाती है और उन पुरानी स्मृतियों को कुरेद-कुरेद कर व्यक्ति मोहग्रस्त बन, उस ओर दौड़ने लग जाता है। कभी-कभी तो इन स्मृतियों का वेग इतना जबर्दस्त होता है कि व्यक्ति बैठा-बैठा ही हंसने लगता है, रोने लगता है, उसे ऐसा लगता है जैसे उसकी पत्नी सामने ही बैठी हो, वह काम-क्रीड़ा करने जैसी स्थिति में पहुंच जाता है। कभी-कभी व्यक्ति के मन पर उन्माद या पागलपन छा जाता है और वह स्मृतियों के कारण ही अपनी साधना से भ्रष्ट हो जाता है।

उक्त कारणों को ध्यान में रखते हुए मन को उस ओर जाने से रोकना नितान्त आवश्यक है। पानी आने से पहले ही पाल बांध देने पर पानी उस ओर रास्ता नहीं बना सकता। इसी प्रकार मन को संयम में सुस्थिर रखने के लिए पहले से ही इस प्रकार का विवेक रखना आवश्यक है कि विकार जागृत न हो। एकान्त में भी पूर्व भोगों की स्मृतियां न जगे। पूर्व जीवन में भोगे हुए काम भोगों का सांप जो कि स्मृतियों मे मूर्च्छित हुआ छुपा है वह विचारों की, स्मृति की गर्मी पाकर पुनः चैतन्य एवं गतिशील न हों, इसलिए हमें संस्कार ही ऐसे बनाने चाहिए कि मन, स्मृति कभी उस ओर न मुड़े। गीता में कहा है--

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।[1]

विषयों का चिन्तन व स्मरण करने से ही पुरुष उन विषयों के प्रति आसक्त हो जाता है, उनकी ओर खिंच जाता है तथा वे विचार स्मृति के मार्ग से मन में यों उतर आते हैं जैसे जाली या खिड़की के रास्ते से घर में चोर घुस जाते है। इसलिए ब्रह्मचर्य की नव बाडों में भी सातवीं बाड़ यही बताई गई है कि—

हासं किड्डं रइं दप्पं, सहसाऽवत्तासियाणि य।
बम्भचेररओ थीणं, नाणुचिंते कयाइ वि॥[2]

ब्रह्मचर्य में रतभिक्षु दीक्षा से पूर्व जीवन में स्त्रियों के साथ अनुभूत हास्य क्रीड़ा, रति, अभिमान और आकस्मिक त्रास आदि का कभी भी अनुचिन्तन न करें। पुरानी विचारमय मोहजनक स्मृतियों को मन में उठने ही न दें।

कहावत है, कभी-कभी मनुष्य जहर खाने से नहीं मरता, किन्तु खाये हुए जहर का स्मरण करने से मर जाता है। ऐसे उदाहरण भी देखे गए हैं कि जब एक आदमी को सांप काट गया पर उस पर कुछ भी असर नहीं हुआ। उसे पता भी नहीं चला कि साप ने काटा है। वह आराम से अपना काम करता रहा। कुछ दिनों बाद जैसे ही किसी ने उसको बताया कि उस दिन तुम्हें जिस जानवर ने काटा वह तो काला साप था। क्या तुझ पर कुछ भी असर नहीं हुआ ? बस यह सुनते ही उसे, उस जहर की स्मृति हुई, जहर तत्काल शरीर में फैल गया और कुछ ही क्षणों में उसकी मृत्यु हो गई।

तो इसलिए कहा गया है कि काम-भोग के सेवन से भी कभी-कभी इतना पतन नहीं होता जितना उसकी स्मृति मात्र से ही हो जाता है। जैसे बीते हुए

---

१. गीता-२।६२
२. उत्तराध्ययन १६।६

दिनों की याद मनुष्य को अधीर कर देती है, वैसे ही भोगे हुए भोगों की याद मन को चंचल एवं आकुल बना देती है। इसलिए पूर्वरत पूर्व-क्रीड़ित भोगों की स्मृति न करना ब्रह्मचर्यव्रत का एक महत्त्व पूर्ण अंग है, जो उसकी चौथी भावना के प्रयोग द्वारा व्यक्त किया गया है।

५. प्रणीत आहार विरति समिति भावना : चिन्तन और प्रयोग

ब्रह्मचर्य की साधना में बाहरी शुद्ध वातावरण जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक है आहार संयम। आहार का मन पर बहुत गहरा और बहुत जल्दी ही प्रभाव पड़ता है। कहावत है—'**जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन**।' अन्न से रस बनता है, रस से वीर्य आदि और उसका असर मन पर होता है। अगर चटपटा मसालेदार राजसिक, तामसिक भोजन किया जाता है तो मन तुरन्त ही मौज-शोक, भोग विलास तथा क्रूरता एवं हिंसा आदि की ओर दौड़ने लगता है। यदि सात्त्विक सादा भोजन शरीर ग्रहण करता है तो विचारों में भी सादगी, शांति और स्फूर्ति आती है। डाक्टरों ने भी यह माना है कि भोजन का असर मन पर बहुत शीघ्र पड़ता है। इसलिए मन को पवित्र रखने के लिए भोजन को सादा व शुद्ध रखना अत्यन्त आवश्यक है। गीता में कहा है—"**आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः**" आहार शुद्ध रहने पर चित्त शुद्ध रहता है। चित्त को शुद्ध एवं ब्रह्मचर्य में तल्लीन रखने के लिए प्रणीत आहार त्याग रूप पाचवी भावना का विधान है।

प्रणीत आहार त्याग के पीछे दो दृष्टियां है—घी, मसाले आदि गरिष्ट भोजन का त्याग तथा अधिक (प्रकाम) भोजन का त्याग। दोनों ही बाते ब्रह्मचर्य के लिए घातक है और दोनों का ही परस्पर गहरा सम्बन्ध है। इसलिए शास्त्रों में स्थान-स्थान पर दोनों वाक्य एक साथ देखे जाते है—

नो पणीय रसभोइ भवइ।

नो पाण-भोयणस्स अइमायाए आहारइत्ता भवइ।[१]

न तो अति स्निग्ध आहार करना चाहिए और न मात्रा मे अधिक आहार करना चाहिए।

प्रणीत आहार से शरीर मे रस-रक्त आदि उत्तेजित होते हैं, उससे विकार बढ़ते हैं। कहा है—

पणीयं भत्त-पाणं तु खिप्पं मय विवड्ढणं।'[२]

'प्रणीत भोजन से शीघ्र ही मद-विकार बढ़ते हैं। क्योंकि अधिक स्निग्ध

---

१. उत्तराध्ययन १६

२. उत्तराध्ययन १६।७

रसीले व चटपटे भोजन से धातु कुपित हो जाती है। उससे मन चंचल हो जाता है, विकार बढ़ने लगते हैं और मनुष्य शीघ्र ही वासनाओं के चक्र में फंस जाता है। इसलिए भोजन शास्त्रियों ने यह नियम बनाया है कि न अति स्निग्ध, न अति रुक्ष, न अति उष्ण, न अति स्वादिष्ट और न अति नीरस भोजन करो। किन्तु ऐसा भोजन करो जो पचने में हल्का, स्फूर्ति देनेवाला और मन को प्रसन्नता देनेवाला हो। अति स्निग्ध गरिष्ट आहार मन को कभी प्रसन्न नहीं बना सकता, न स्फूर्ति दे सकता है। गरिष्ट भोजन से आलस्य आता है, प्रमाद बढ़ता है, मन में राक्षसी वृत्तियां जगती है। इसलिए शास्त्र में प्रणीत आहार का स्पष्ट निषेध किया गया है। भगवान महावीर ने कहा है—

रसा पगामं न निसेवियव्वा
पायं रसा दित्तिकरा नराणं।
दित्तं च कामा समभिद्दवंति
दुमं जहा साउफलं व पक्खी॥[1]

अधिक रसों का सेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि रस प्रायः दीप्ति-वीर्य को उत्तेजित बनाते है। वीर्य अधिक दीप्त होने पर शरीर में काम-विकारों का उपद्रव शुरू हो जाता है, अर्थात् विकार मन में उसी प्रकार आकर जमने लगते हैं जैसे स्वादिष्ट फलों-वाले वृक्ष पर पक्षीगण।

उक्त उदाहरण रसीले-प्रणीत भोजन का है। इसी के आगे अधिक—प्रकाम भोजन का उदाहरण देते हुए कहा है—

जहा दवग्गी पउरिन्धणे वणे
समारुओ नोवसमं उवेइ।
एविन्दियग्गी वि पगामभोइणो
न बम्भयारिस्स हियाय कस्सई॥[2]

अर्थात् प्रचुर ईंधन वाले वन में, जिस जंगल में सूखी लकड़ियां का ढेर लगा हो, उस वन में यदि आग लगी हो और तेज हवा चल रही हो, कुछ ही क्षणों में वह आग समूचे वन में फैलकर सर्वत्र ज्वालाएं भड़का देती है। इसी प्रकार अधिक भोजन (प्रकाम आहार) करने वाले ब्रह्मचारी की इन्द्रियां भोजन रूपी अग्नि मिलने पर काम रूप अग्नि से प्रज्ज्वलित होती रहती हैं अर्थात् अधिक अहार करने वाले की विषयाग्नि सदा प्रदीप्त रहती है।

स्वादिष्ट आहार की लालसा से साधक को एक और भी परेशानी होती है

१. उत्तराध्ययन ३२।१०
२. उत्तराध्ययन ३२।११

सभी जगह तो उसको स्निग्ध व गरिष्ट भोजन मिलता नहीं, न मसालेदार भोजन ही हर कहीं मिलता है, फिर वह भिक्षाचरी करते समय ताकता रहता है, कि किस घर में स्वादिष्ट आहार मिलेगा। अन्य घरों को छोड़ कर उसी घर में बार-बार जायेगा। इससे एक तो वह अपनी सामुदानिक भिक्षा का नियम तोड़ेगा, दूसरे जिस घर में बार-बार जायेगा वहां सन्मान घटेगा। जहां नहीं जायेगा उन घरों में भी उसके प्रति यह भावना जगेगी कि हमारे यहाँ स्वादिष्ट भोजन नहीं मिलता इसलिए नहीं आते। वे कहने लगते हैं, ये साधु नहीं स्वादु है। स्वादिष्ट भोजन के लालची है। इस प्रकार जनता में अपकीर्ति भी होगी और ब्रह्मचर्य की शक्ति क्षीण होती है। ये सभी दोष सरस भोजन की लोलुपता से होते हैं। तथा मात्रा से अधिक भोजन करने से अनेक प्रकार की बीमारियां बढ़ती हैं। बहुभोजी प्रायः बहुरोगी और बहुभोगी होता है इन सब दोषों से बचने के लिए साधक को सदा इन विषयों पर चिन्तन करते रहना चाहिए कि शरीर को मात्र सहारा देने के लिए ही भोजन करना है, शरीर को पुष्ट बनाने के लिए नहीं, स्वाद के लिए नहीं। स्वादुता, साधुता की घातक है। ब्रह्मचर्य का विनाश करने वाली है मुझे स्वादवृत्ति ने बचना है और सिर्फ शरीर यात्रा चलाने के लिए ही भोजन करना है। इस भावना से भोजन संयम की वृत्ति सुदृढ होती है। खाद्य-संयम के संस्कार मजबूत होते हैं और साधक मन को साध लेता है। मन को भोजन के प्रति आसक्ति रहित कर लेता है।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य महाव्रत की ये पांच भावनाएं बताई गई हैं। जिनका सतत चिन्तन, मनन एवं अनुस्मरण करते रहने से मन में ब्रह्मचर्य को स्थिर करने वाले संस्कार मजबूत होते हैं और ब्रह्मचर्य के विघातक तत्त्वों से बचे रहने की आदत बनती है। भावना का लक्ष्य यही है कि सतत चिन्तन से वह संस्कार बन जाये, फिर पग-पग पर याद दिलाने की जरूरत न रहे किन्तु स्वतः ही उसे अपनी साधना का विवेक बना रहे। यही भावना का मुख्य लक्ष्य है।

□

५. अपरिग्रह महाव्रत की भावनाएँ

साधु का पांचवा महाव्रत अपरिग्रह होता है। इसी का यथाशक्ति पालन करना अपरिग्रह अणुव्रत अथवा इच्छापरिमाण व्रत कहलाता है, जिसकी साधना गृहस्थ श्रावक करता है। भगवान महावीर से पूर्व बाइस तीर्थंकरों के समय में ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को एक ही मानते थे। क्योंकि जैसे धन-धान्य-स्वर्ण-दास-दासी आदि परिग्रह में गिने जाते थे उसीप्रकार 'स्त्रियोदार परिग्रह.' स्त्री का पर्यायवाची नाम ही परिग्रह था। स्त्री भी परिग्रह में गिनी जाती थी। अतः उसे अलग ब्रह्मचर्य में न गिन कर इसी महाव्रत में गिन ली थी, इसी कारण भगवान पार्श्वनाथ का धर्म 'चातुर्याम-धर्म' कहलाता था। भगवान महावीर के समय में मनुष्य अधिक तर्कवादी बन गया था। अतः उसे सरलतापूर्वक धर्म की मर्यादा समझाने के लिए ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को दो अलग-अलग व्रतों की कोटि मे रखा गया और दोनों का ही विस्तार के साथ विवेचन किया गया और चतुर्थ महाव्रत में स्त्री-ममत्व का त्याग एवं पंचम महाव्रत में धन लालसा का त्याग समझाया गया।

परिग्रह क्या है ?

अपरिग्रह का वर्णन करने से पूर्व परिग्रह क्या है यह समझना आवश्यक है। 'परिग्रह' में दो शब्द है—परि+ ग्रह। 'परि' का अर्थ है सम्पूर्ण रूप से और ग्रह का अर्थ है ग्रहण करना।[1] किसी भी वस्तु को सम्पूर्ण रूप से ग्रहण करना अथवा मूर्च्छा-ममता-बुद्धि के साथ ग्रहण करना परिग्रह है। वस्तु के साथ 'मेरे पन' की भावना जोड़ना परिग्रह है। भगवान महावीर ने स्पष्ट कहा है—

न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा॥[2]

संयम यात्रा के लिए जो मर्यादा पूर्वक उपकरण आदि ग्रहण किये जाते

---

१. परि सामस्त्येन ग्रहणं परिग्रहणं……मूर्च्छावशेन परिगृह्यते आत्मभावेन ममेति बुद्ध्या गृह्यते इति परिग्रहः॥

—प्रश्नव्याकरण-वृत्तिः (२१५)

२. दशवैकालिक—६।२१

है, उन्हे परिग्रह नहीं कहा है, किन्तु उनमें ममत्व-बुद्धि अर्थात् मूर्च्छा भाव रखना परिग्रह है।

इस वर्णन से एक बात स्पष्ट हो गई कि वस्तु नहीं, वस्तु के प्रति ममता भाव करना परिग्रह है। यहा प्रश्न होता है अगर ऐसा ही है तो हम धन-धान्य भवन-स्वर्ण आदि के प्रति भी ममता न रखें तो फिर वह भी परिग्रह नहीं होना चाहिए। इसका उत्तर है कि यह ठीक है, यदि धन के प्रति, भवन के प्रति, स्त्री पुत्र आदि के प्रति आपकी ममता नहीं है तो वह आपके लिए परिग्रह नहीं होगा। फिर आप उस धन को यह क्यों कहते है कि यह धन मेरा है ? यह पुत्र मेरा है, मैं इस घर का स्वामी हूं ! यदि कोई उस धन को उठाता है तो आपके मन में उसकी रक्षा करने की भावन क्यों जागती है ? यदि ममता नही होगी तो आपको उसमे कोई लगाव नहीं होगा, फिर उसे अपने पास रखने की जरूरत ही नही होगी। किन्तु जब आप उसे पास में रखते है तो यह कैसे हो सकता है कि मुंह से तो कहे 'यह मेरा नही है, मेरी इस पर ममता नहीं है।' लेकिन दान के नाम पर एक कौडी भी उसमें से उठाने नही देते। इसका अर्थ है, उस धन आदि के साथ आपका स्पष्ट ही संबंध है और यह अन्तरंग बन्धन ही परिग्रह है। यही तो मूर्च्छा है। इससे परिग्रह की परिभाषा स्पष्ट हो जाती है कि वास्तविक दृष्टि से वस्तु के प्रति 'ममत्व-बुद्धि' ही परिग्रह है।

एक प्रश्न यह भी है कि जिसके पास धन-धान्य आदि का सग्रह नही है क्या वह अपरिग्रही है ? उत्तर होगा—सग्रह हो या न हो, लेकिन जब तक 'ममत्व बुद्धि' का त्याग नहीं होता है तब तक व्यक्ति अपरिग्रहो नहीं बन सकता। बाह्य पदार्थों का अभाव ही यदि अपरिग्रही का लक्षण हो तो संसार में सबसे बड़े अपरिग्रही होंगे पशु-पक्षी, गाय-भैंस, कुत्ता-बिल्ली आदि जिनके पास न घर है, न धन, न खाने की वस्तु का संग्रह है, और तो क्या शरीर पर एक वितस्ति भर कपड़ा भी नहीं है ? मनुष्य तो चाहे साधु हो, कुछ वस्त्र, उपकरण आदि तो रखता है, लेकिन पशु पक्षी के पास तो यह भी नहीं, फिर क्या उन्हे अपरिग्रही नहीं कहा जा सकता है ?

उत्तर स्पष्ट है कि नहीं ! क्योंकि प्रकृति से ही उन्हें सग्रह करने की योग्यता नहीं मिली है। वस्त्र आदि पहनने की बुद्धि उनमें नही है, किन्तु उन्हें अपनी सतान, अपने शरीर और अपनी खाद्य वस्तु के प्रति तो ममत्व है ही। उनकी बुद्धि में विकास की कमी के कारण संग्रह करने की योग्यता नहीं है अत; बुद्धि की अयोग्यता को, पुरुषार्थ या विवेक की कमी को अपरिग्रह कैसे कह सकते हैं ? अभाव अलग वस्तु है, अयोग्यता भिन्न चीज है और त्याग

पृथक चीज है। अभाव, अक्षमता आदि पराधीनता है, विवशता है और त्याग तो स्वाधीनता पूर्वक होता है। कहा है—

> वत्थगंधमलंकारं इत्थिओ सयणाणि य।
> अच्छन्दा जे न भुंजंति, न से चाइ त्ति वुच्चई।
> जे य कंते पिये भोए लद्धे विपिट्ठीकुव्वई।
> साहीणे चयइ भोए, सेहु चाइत्ति वुच्चई॥[1]

जो कान्त और प्रिय-भोगों का, वस्त्र, शयन आसन और स्त्रियो का, विवशता (पराधीनता) के कारण उपभोग नही कर पाते, वे त्यागी नहीं है, किन्तु त्यागी वह है जो ये सब, प्राप्त होते हुए भी अपनी इच्छा से उनका त्याग करता है। स्वाधीनतापूर्वक किया गया त्याग ही वास्तव में त्याग है।

उक्त विवेचन से यह ध्यान में आ जाता है कि जैनदर्शन में अपरिग्रह का अर्थ वस्तु का अभाव नही, किन्तु ममता का अभाव है। बाह्य पदार्थों के प्रति 'मेरा पन' रखना 'परिग्रह' है। इससे यह भी स्पष्ट ध्वनित हो जाता है कि साधु जो धर्म साधना के लिए उपकरण आदि रखता है, वह रखते हुए भी अपरिग्रही है, कारण कि उन वस्तुओं के प्रति उसके मन में ममता नहीं रहती. वह उनके प्रति आसक्ति नही रखता। यदि कोई साधु होकर भी वस्तु के प्रति, यहा तक कि शरीर के प्रति भी आसक्ति और मोह रखता है तो वह भी एक प्रकार से परिग्रह का धारक ही कहा जायेगा।

परिग्रह के भेद

मुख्य रूप से 'ममता' को परिग्रह मानकर भी हम वस्तु के प्रति या ममता के कारणों के प्रति उदासीन नहीं हो सकते। क्योंकि कुछ बाह्य वस्तुए तथा कुछ मन की भावनाएं ममता की वृद्धि में सहायक होती है। जो मूर्छा रूप अग्नि को बढ़ाने में ईंधन का या पवन का काम करती है, इसलिए उनका भी ज्ञान हो कि वे ममत्व के कारण क्या-क्या है? इस दृष्टि से उन्हें भी परिग्रह कहा गया है। परिग्रह के मुख्यतः दो भेद हैं—

(१) **अन्तरंग परिग्रह**—(१, ३, ५ या १४ प्रकार का)

(२) **बाह्य परिग्रह**—(६ या १० प्रकार का)

कहीं-कहीं परिग्रह के तीन भेद भी बताये गये हैं जैसे—

कम्म परिग्गहे, सरीर परिग्गहे, बाहिर भंडमत्त परिग्गहे।[2]

---

१. दशवैकालिक-२।२-३

२. भगवती सूत्र १८।७

(१) **कर्म परिग्रह**—[आठ कर्म रूप परिग्रह—जिसे राग-द्वेष के वश हुई आत्मा ग्रहण करती है।]

(२) **शरीर परिग्रह**—[जो प्रत्येक संसारी जीव धारण करता है।]

(३) **बाह्य भांडमात्र परिग्रह**—[बाह्य वस्तु, उपकरण आदि।]

ये जीव द्वारा ग्रहण किये जाते हैं तथा राग-द्वेष की वृद्धि के, मूर्च्छा के कारण बनते है, इसलिए इन्हें 'परिग्रह' कहा गया है।

१. अंतरंग परिग्रह

अंतरंग परिग्रह का अर्थ है—आत्मा के वे परिणाम जो कर्मबन्ध या मूर्च्छा आदि के प्रत्यक्ष हेतु बनते है। ये कारण बाहर में दिखाई नहीं देते, किन्तु मन के भीतर ही छुपे रहते है। एक प्रकार से ये छुपे चोर हैं; इसलिए इन्हें अंतरंग परिग्रह कहा गया है। इनका वर्णन कई दृष्टियों से किया गया है। प्रश्न व्याकरण सूत्र में अन्तरंग परिग्रह का एक रूप बताया है—**'एगे असंयमे'** असंयम रूप एक अन्तरंग परिग्रह है। संयम का अर्थ है वस्तु मात्र के प्रति मन, वचन, काया का संयम, निर्लोभता और अनाकांक्षा। इसका विरोधी है—असंयम, असयम-बाह्य वस्तु के प्रति आसक्ति का नाम है। लालसा, तृष्णा, इच्छा, आशा, मूर्छा ये सब असंयम के नाम हैं और सम्पूर्ण परिग्रह का एक मात्र कारण है। आशा-तृष्णा और मूर्च्छा न हो तो कहीं कोई परिग्रह नहीं होगा। अतः सर्वप्रथम अन्तरंग परिग्रह का एक रूप है—असंयम ! या मूर्च्छा ! क्योंकि शास्त्र में जगह-जगह **"मुच्छा परिग्गहो वुत्तो"** कह कर यही बताया है कि मूर्च्छा ही परिग्रह है।

अन्तरंग परिग्रह के भेद

प्रश्न व्याकरण सूत्र की टीका में अन्तरग परिग्रह के तीन भेद बताये गये है—

पुढवाइसु आरम्भो, परिग्गहो धम्मसाहणं मोत्तुं।
मुच्छाय तत्थ बज्झो, इयरो मिच्छत्तमाइओ।[1]

—पृथ्वी काय आदि जीवों का आरम्भ (हिंसा) करना परिग्रह है, धर्म के साधनभूत उपकरणों को छोड़कर अन्य बाह्य वस्तुओं का मूर्च्छावश संग्रह करना परिग्रह है तथा मिथ्यात्व आदि अन्तरंग दोष परिग्रह हैं।

इसी का विस्तार करके अन्तरग परिग्रह के पांच भेद ये बताये गये हैं—

१. मिथ्यात्व, २. अविरति, ३. प्रमाद, ४. कषाय, और ५. अशुभयोग।[2]

---

१ प्रश्नव्याकरण (मुनि हेमचन्द्रजी कृत टीका, पृष्ठ. ७६१)

२ वही, पृष्ठ-७६१,

आगमों की टीकाओं तथा भाष्य ग्रन्थों में अन्तरंग परिग्रह के भेदों पर विस्तार से विवेचन करते हुए उसके १४ भेद भी बताए है। ये १४ भेद क्रम व नाम की दृष्टि से दो प्रकार से प्राप्त होते हैं।

१. मिथ्यात्व,	८. हास्य,
२. राग,	९. रति,
३. द्वेष,	१०. अरति,
४. क्रोध,	११. शोक,
५. मान,	१२. भय,
६. माया,	१३. जुगुप्सा,
७. लोभ,	१४. वेद[1]

कहीं-कहीं राग-द्वेष को कषाय के अन्तर्गत मानकर वेद के तीन भेद अलग-अलग बताये गये है। जैसे—

१. स्त्री वेद, २. पुरुष वेद और ३. नपुसक वेद।

वास्तव में ये १४ भेद आत्मा की मिथ्यात्व एवं कषाय-दूषित चित्त-वृत्तियों के ही हैं। ये संस्कार अनादिकाल से आत्मा के साथ बन्धे हुए हैं और इनके कारण आत्मा परिग्रह-मूर्च्छा एव लोभ का आचरण करता हुआ कर्म बन्धन में अधिकाधिक जकडा जाता है।

२. बाह्य परिग्रह

आत्मा के अन्तरंग में उक्त विकार होते हैं तभी बाह्य वस्तुओं का ग्रहण उसके लिए परिग्रह रूप बन जाता है। वस्तुएं अगणित होती हैं, अतः परिग्रह के भेद भी अगणित होते है, किन्तु उनका वर्गीकरण करके देखने पर बाह्य परिग्रह के नौ या दस भेद बनते है—

बाह्य परिग्रह के नौ भेद निम्न हैं—[2]

१. क्षेत्र—खेत या खुली भूमि, नगर आदि,

२. वास्तु—रहने के मकान, दुकान आदि,

---

१. (क) प्रश्न व्याकरण टीका (मुनि हेमचन्द जी : पृष्ठ ४५१)

(ख) कोहो माणो माया, लोभो पेज्जं तहेव दोसो अ।
मिच्छत्त वेद अरइ, रइ हासो सोगो भय-दुगुंछा॥
—बृहत्कल्प भाष्य-८३१।

(ग) मिच्छत्त-वेद-रागा, हासादि भया होंति छद्दोसा।
चत्तारि तह कसाया, चोद्दसं अब्भंतरा गंथा॥
—प्रतिक्रमणत्रयी (दिगम्बर) पृष्ठ-१७५

२. हारिभद्रीय आवश्यक अ०-६

३. हिरण्य—चांदी के सिक्के आदि,
४. सुवर्ण—सोना (आभूषण रूप में),
५. धन—हीरा, पन्ना, जवाहरात आदि,
६. धान्य—गेहूँ, चावल आदि अन्न,
७. द्विपद—नौकर, नौकरानी, दास दासी आदि,
८. चतुष्पद—चौपाये पशु, गाय, भैंस, घोड़ा आदि,
९. कुप्य—वस्त्र, पलंग आदि तथा धातुओं का सामान।

दस भेद[1]

जहा पर बाह्य परिग्रह के नौ भेद को दस भेद मे बताया गया है वहां कहीं पर द्विपद-चतुष्पद को एक गिनाकर दास-दासी को अलग बता दिया है, और धातु (चादी, तांबा, पीतल, लोहा आदि) को अलग भेद में गिन लिया है। कहीं पर दस भेद इस प्रकार भी दिए गए हैं—

१. क्षेत्र,
२. वस्तु,
३. धन,
४. धान्य,
५. संचय (तृण काष्ठ आदि का संग्रह),
६. मित्रज्ञाति संयोग (मित्र व परिवारिजन),
७. यान—वाहन आदि,
८. शयनासन—पलंग, पीठ आदि,
९. दास-दासी,
१०. कुप्य—धातु आदि के बर्तन।

परिग्रह अनर्थकारक

इस प्रकार परिग्रह के आभ्यन्तर और बाह्य स्वरूप पर चिन्तन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जब मन में आसक्ति एवं मूर्च्छा रहती है, तब जिन बाह्य वस्तुओं का संग्रह किया जाता है वे सभी परिग्रह रूप होते हैं। वह परिग्रह आत्मा के लिए बहुत बडा बन्धन है। बाहर में दीखने पर परिग्रह अर्थात् भोगोपभोग की विविध सामग्रियां रमणीय और आकर्षक दिखाई देती है। व्यक्ति को लगता है, इनके संग्रह और आसेवन से सुख मिलेगा, किन्तु यह उसकी भ्रांति ही सिद्ध होती है। जैसे मरुस्थल में देखते हुए प्यासे मृग को सामने की मरुभूमि, जिस पर सूर्य की किरणें गिरने से वह पानी जैसी चकमती हुई दिखाई देती है। उसे देखकर वह सोचता है, वहा पानी है मैं चलू। वह दौड़-कर वहां जाता है, प्यास से आकुल-व्याकुल हुआ पहुँचता है, लेकिन जब देखता

---

१. खेत्तं वत्थं धण धन्न-सचओ मित्तणाइ संजोगो।
जाण-सयणासणाणि य, दासी-दासं च कुवियं च॥
—बृहत्कल्प भाष्य-८२५

है तो निराश होता है, अरे ! यह सूखी भूमि है। फिर आगे देखता है। और दौड़ता है। इस प्रकार दौड़ते-दौड़ते प्राण सूख जाते हैं और वह मूर्च्छित होकर दम तोड़ देता है लेकिन उसकी प्यास नहीं बुझती। पानी नहीं मिलता। यही स्थिति परिग्रह व भोगोपभोग की वस्तुओं की है। वे दूर से बड़ी सुन्दर, मनोरम लगती है, व्यक्ति उनका संग्रह करता है। सोचता है, उनसे सुख मिलेगा पर ज्यों-ज्यों वस्तु का संग्रह करता जाता है त्यों-त्यों उसकी तृष्णा बढती जाती है और अधिक से अधिक व्याकुलता अनुभव करने लगता है। परिग्रह से उसे बिलकुल ही शान्ति नहीं मिलती। संग्रह उसके लिए अधिक अशान्ति का कारण बनता है और वह अन्त में भयंकर अशान्ति का अनुभव करता हुआ मृत्यु के मुंह में चला जाता है। इस बात की भगवान महावीर ने स्पष्ट सूचना देते हुए कहा है—

परिग्गह···विणास मूलं, वह बंधप्परिकिलेस बहुलं···
सव्वदुक्खसंनिलयं अप्पसुहो बहु दुक्खो···महब्भओ।[1]

यह परिग्रह विनाश का मूल है, इसमें बहुत वध, बंधन और क्लेश है। यह सब दुःखों का घर है। अल्पसुख और बहुत दुःख का कारण है। यह महान भय है।

नत्थि एरिसो पासो पडिबन्धो अत्थि सव्व जीवाणं सव्वलोए।[2]

इस समूचे संसार में परिग्रह के समान दूसरा कोई बन्धन नहीं है। देवता मनुष्य, तिर्यंच और नारक सभी जीव इस बन्धन से जकड़े हुए है। इस महागर्त में प्रत्येक प्राणी फंसा हुआ है। संसार में जितने भी दुष्कर्म, दुराचार, पाप और अकरणीय कृत्य है, परिग्रह के वशीभूत हुआ मनुष्य उन सबका आचरण करने लगता है। धन के लिए वह तन को खोता है, स्वजन को खोता है, धर्म को खो देता है और अन्त में जीवन को भी बर्बाद कर डालता है। किन्तु उस परिग्रह से कभी भी उसे सुख और तृप्ति नहीं मिल सकती। कहा है—

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते
इमम्मि लोए अदुवा परत्था।[3]

हे प्रमत्त मनुष्य ! तू धन मे कभी भी सुख शांति प्राप्त नही कर सकता, न इस लोक में और न परलोक में। देवता, जिसकी अपरिमित शक्ति है, जिनके पास काम, भोग की अगणित सामग्री का ढेर लगा है और देवता भी क्या,

१. प्रश्न व्याकरण आश्रव द्वार
२. वही
३. उत्तराध्ययन ४।५

देवताओं का इन्द्र देवराज जो मन इच्छित सभी चीजें बना सकता है वह भी परिग्रह से कभी संतोष प्राप्त नहीं कर सकता।

—**देवा वि सइंदगा न तित्तिं न तुट्ठिं उपलभंति**[1] —मन चाही विक्रिया करके उत्तमोत्तम सुख साधन जुटाने वाला इन्द्र भी इस परिग्रह से तृप्ति और संतोष प्राप्त नहीं कर सकता तो बिचारे मनुष्य की बिसात ही क्या है? उसे यदि—

सव्व जगं जइ तुहं, सव्वं वावि धणं भवे।
सव्वं पि ते अपज्जत्तं, नेव ताणाय तं तव ॥[2]

—यदि यह जगत् और जगत् का समस्त धन भी तुम्हें दे दिया जाये, तब भी वह तुम्हारे लिए अपर्याप्त होगा और बुढ़ापे तथा मृत्यु से तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकेगा।

इस प्रकार परिग्रह अनर्थ कारक भी है और असार भी है। अर्थात् इसके संग्रह से जीवन की रक्षा भी नहीं होती। इसके विपरीत दुःख और चिन्ता का भार ही सिर पर बढ़ता है।

प्रश्न है कि परिग्रह के इस भार को हल्का कैसे करें? इसका समाधान यह भावना देती है। अपरिग्रह महाव्रत की पांच भावनाएं हमें परिग्रह के सागर के बीच रहकर भी कष्ट रूप मच्छ-कच्छ से बचाव करने की तालीम देती हैं। भावनाएँ एक प्रकार का मानसिक परिवर्तन है, एक तालीम है जो परिग्रह, दुःख और संताप दायक प्रभाव को बदल कर सुख एवं शान्ति के साथ जीना सिखाती है। इसलिए परिग्रह के स्वरूप का वर्णन करने के बाद अब हम उस परिग्रह के विपाक्त प्रभाव से बचे रहने का उपाय बताते हुए भावनाओं का वर्णन करते है। भगवान महावीर ने बताया है—

"इमा पंच भावणाओ चरियस्स वयस्स होंति परिग्गह वेरमणरक्खणट्ठयाए।"

ये पाच भावनाएं अपरिग्रह महाव्रत की रक्षा करती हैं और अपरिग्रह की निष्ठा को सुदृढ़ बनाती है। इन भावनाओं रूप नौका के सहारे साधक परिग्रह रूप महासागर को सुखपूर्वक तैर जाता है। इच्छा, तृष्णा और वासना की लहरें उसकी जीवन नैया को अस्थिर नहीं बना सकती। वह इन भावनाओं के आधार पर मन को इस प्रकार भावित कर लेता है कि सुख-दुःख के आघात तथा भले बुरे विचार की लहरें उसकी अन्तश्चेतना को क्षुब्ध नहीं कर सकती। साधक में एक प्रकार की स्थितप्रज्ञता आ जाती है। समत्वयोग की साधना में वह निपुण हो जाता है और मन को सुस्थिर रखने में पूर्ण-दक्ष बन जाता है।

---

१. प्रश्नव्याकरण, संवर द्वार
२. उत्तराध्ययन १४।३९

भावना : अनासक्ति की शिक्षा

अपरिग्रह महाव्रत की पांच भावनाओं का शास्त्र में जो वर्णन किया है, वह हम आगे बता रहे हैं। उन पर चिन्तन करने से यह स्पष्ट होता है कि ये भावनाएं साधक को 'समत्व योग' की साधना का मंत्र देती हैं, अनासक्ति की शिक्षा देती हैं। जल में कमल की तरह जीना सिखाती है, परिग्रह में अपरिग्रही, भोग के सागर में योग का साधक बनकर रहना सिखाती हैं।

जब तक साधक संसार में रहता है तब तक इन्द्रियों के विषय, अनुकूल-प्रतिकूल सामग्रियों, शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श आदि के विषय उसके समक्ष आते ही रहते है। यह तो नहीं हो सकता कि वह कोई शब्द सुने ही नहीं, कानों में तेल डालकर सो जाए, स्त्री आदि का रूप सामने आने पर सूरदास की तरह आँखों में सलाका डालकर उन्हें फोड़ डाले। यदि ऐसा कर भी ले, इन्द्रियों का बाह्य रूप नष्ट कर भी दे, तब भी क्या होगा? विषय का जहर लिए मन का सांप तो भीतर बैठा ही है। क्या अंधे और बहरे आदि संयमी ही होते हैं? उनमें विकार नही होते? बाह्य इन्द्रियां नष्ट कर देने पर भी मन की गठरी को कहाँ फेंकेंगे? इसलिए विकारों से बचने का यह रास्ता नहीं है कि इन्द्रियों को नष्ट कर दें। विकार-मुक्ति का अर्थात् विषयों के प्रति वीतराग बनने का तो कोई दूसरा ही रास्ता है और वही रास्ता भगवान महावीर ने इन भावनाओं में बताया है। वे पांच भावनाएँ निम्न हैं—

१. श्रोत्रेन्द्रिय संवर भावना अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय के मनोज्ञ अमोनज्ञ विषयों में राग-द्वेष न करना।
२. चक्षुरिन्द्रिय संवर भावना अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय के मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयों में राग-द्वेष न करना।
३. घ्राणेन्द्रिय संवर भावना अर्थात् घ्राणेन्द्रिय-के मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयों में राग-द्वेष न करना।
४. रसनेन्द्रिय संवर भावना अर्थात् रसनेन्द्रिय के मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयों में राग-द्वेष न करना।
५. स्पर्शनेन्द्रिय संवर भावना अर्थात् स्पर्शनेन्द्रिय के मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयों में राग-द्वेष न करना।

१. श्रोत्रेन्द्रिय संवर रूप-शब्द : निःस्पृह भावना का चिन्तन

श्रोत्रेन्द्रिय का अर्थ है कान। कान का स्वभाव है शब्द ग्रहण करना। चाहे कोई हमारी स्तुति करे, मीठे शब्द बोले, गाना गाये, तब भी कान उन ध्वनियों को ग्रहण करेगा और चाहे कोई निन्दा करे, कटु शब्द बोले या अप्रिय, असुहावने बोल सुनाए, तब भी वे ध्वनियां कानों में आयेंगी। मनुष्य

का स्वभाव है, अर्थात् प्राणिमात्र का स्वभाव यानी आदत है कि मधुर शब्द सुनकर उसका मन नाच उठता है, प्रफुल्लित हो जाता है, उसकी वृत्तियां उन शब्दों को बार-बार सुनने को लालायित हो उठती है। यहाँ तक कि गाय, भैंस और पशु-पक्षियों को भी मधुर स्वर सुनाकर अनुकूल कर लिया जाता है। कई देशों में बड़े-बड़े डेरी फार्मों पर गाय-भैंस का दूध निकालते समय रेडियो आदि पर मधुर संगीत सुनाया जाता है, जिसके कारण गाय-भैंस आसानी से दूध देने लगती है, गाय लातें नहीं मारती। खेतों और बगीचों में भी रेडियो से मधुर गीत प्रसारित कर वनस्पति की वृद्धि करने का प्रयोग भी संसार में चल रहा है। इससे यह सूचित होता है कि मनुष्येतर जाति में भी कर्ण-प्रिय शब्दों से प्रसन्न होने का स्वभाव है। वनस्पति को श्रोत्रेन्द्रिय नहीं है, किन्तु वह शब्द तरंगों को शरीर द्वारा स्पर्श कर प्रफुल्लता अनुभव करती है, ऐसा वैज्ञानिकों का मत है। जिस प्रकार मधुर शब्दों से प्रसन्नता व्याप्त होती है, उसी प्रकार कटु और अप्रिय शब्दो से मन में कुंठा, विषाद और खिन्नता छा जाती है। इसका कारण है, प्राणी प्रिय शब्दों के प्रति राग और अप्रिय शब्दों के प्रति द्वेष कर मन को प्रसन्न और खिन्न करता रहता है। लेकिन यह तो क्षणिक सुख-दुःख की स्थिति है, साधक को इस स्थिति से ऊपर उठना चाहिए। उसे दोनों ही स्थितियों में समभाव अर्थात् स्वात्मानन्द में लीन रहना चाहिए। इसके लिए भगवान ने बताया है—

न सक्का न सोउं सद्दा, सोत विसयमागया।
राग दोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥[1]

यह शब्द नहीं है कि कानों में पड़ने वाले अच्छे या बुरे शब्द सुने न जाए। शब्द तो सुना ही जाता हैं, शब्द सुनने का त्याग नही किया जा सकता, किन्तु उन शब्दों के प्रति जगने वाले राग और द्वेष का त्याग अवश्य किया जा सकता है और भिक्षु को शब्दजन्य राग-द्वेष का त्याग ही करना होना है। ममत्व-योग की व्याख्या करते हुए योगेश्वर श्री कृष्ण ने भी कहा है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे, राग-द्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्, तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

—प्रत्येक इन्द्रिय के अर्थ अर्थात् उनके विषयों के साथ राग और द्वेष जुड़े हुए हैं। साधक द्वेष के वशीभूत न होकर उनसे उदासीन रहे। क्योंकि अनासक्त, अपरिग्रही साधक के लिए राग-द्वेष के संकल्प बड़े शत्रु है।

तो यह अनासक्तियोग का अभ्यास ही प्रथम भावना से प्रारम्भ होता है।

---

१. आचारांग २।१५।१३१

जब हम बाहर में कहीं चलते हैं, निकलते हैं तो कहीं विविध प्रकार के वाद्यों की ध्वनि हमारे कानों से आकर टकराती है, तो कहीं रेडियो पर मनमोहक मधुर संगीत की लहरियां उछल रही है, उनके प्रति भी मन आकृष्ट हो सकता है। कहीं भक्तजन प्रेमी और गुणग्राही लोक प्रशंसा और स्तुति परक मधुर शब्दावली का उच्चारण कर रहे हैं। उसे सुनकर भी मन फूल सकता है और कहीं कोई कर्णकटु शब्दों को उच्चारण कर रहा है, गालियां दे रहा है, बकवासें कर रहा है; ऐसे शब्द बोल रहा है जिन्हें सुनकर चेहरा क्रोध से तमतमा सकता है, हाथ, पैर हिंसा पर उतारु हो सकते हैं, इन दोनों ही स्थितियों में साधक को यह चिंतन करना है कि ये मधुर और अप्रिय शब्द क्या कर सकते हैं ? मेरी आत्मा न तो इनसे सुखी हो सकती है, न दुःखी। यह शब्दों का जो कि पुद्गल हैं, स्वभाव है कि कोई शुभ रूप हो, कोई अशुभ रूप। पर वास्तव में ये शुभ-अशुभ तभी बनते है जब मेरा हृदय इनके साथ जुड़ता है। यदि शब्दों के साथ हमारा मन नहीं जुड़ा तो वे शब्द न हमारे मन में राग का संकल्प उत्पन्न करेंगे और न द्वेष का। राग-द्वेष उत्पन्न करने की शक्ति तो मन में है। अगर आपके सामने कोई आदमी ऐसी भाषा बोले जिसे आप बिलकुल ही नहीं समझते हों; उस भाषा में यदि वह आपकी प्रशंसा करे या निन्दा करे, गालियां भी दे तो आपके लिए तो दोनों ही बराबर हैं, न आप गाली समझ सके और न स्तुति। तो क्या उस पर आप क्रोध करेंगे या खुश होंगे ? नही। क्योंकि आपने उसकी बोली समझी ही नहीं, उसके शब्दों का अर्थ नहीं समझेंगे तब तक आपका मन उनमें अनुरक्त या द्विष्ट नही हो सकता। तो देखिए राग-द्वेष शब्दों में कहाँ है ? शब्दों में ही होते तो वहाँ राग-द्वेष उत्पन्न क्यों नहीं हुआ ? इसका अर्थ है, शब्द तो निमित्त कारण बनता है, मूल उपादान कारण मन ही है। इसलिए साधक सर्वप्रथम मन को ही ऐसी तलीम दे कि वे शब्द सुनकर—

> **न तेसु रज्जियव्वं,**
> **न सज्जियव्वं,**
> **न रुसियव्वं,**
> **न हीलियव्वं।**[1]

न तो उन शब्दों में रक्त बने, न उनके प्रति आकृष्ट हो, और न मन में राग के संकल्प जगा दे। इसी प्रकार अप्रिय शब्द सुनकर न तो रूसे अर्थात् रोष करे, न किसी की हीलना, निन्दा, डांट-फटकार करे, किन्तु **'मइं च तस्स न कुज्जा'**—उनमें बुद्धि को, मति को लगाए ही नही। अर्थात् उन प्रिय-अप्रिय शब्दों को मन

---

१. प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार ५

में न घुसने दे। फिर राग-द्वेष पैदा ही कैसे होंगे ? अपने आप मन समता योग में रमण करेगा। इसी बात को स्पष्ट करते हुए भगवान महावीर ने अपने अन्तिम उपदेश में भी कहा है—

सोयस्स सद्दं गहणं वयंति,
तं रागं हेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोस हेउं अमणुन्नमाहु,
समो य जो तेसु स वीयरागो ॥[1]

शब्द का ग्रहण करना यह श्रोत्र का विषय है। जो शब्द राग के कारण बनते हैं उन्हें मनोज्ञ कहते है, जो शब्द द्वेष के कारण हैं उन्हें अमनोज्ञ कहते हैं। उन मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दों में जो 'सम' अर्थात् राग-द्वेष रहित होकर रहता है वही वीतराग है।

श्रोत्रेन्द्रिय संवर रूप इस भावना का सार यही है कि साधक मन को इस प्रकार की तालीम दे कि वह शब्द विषयों के प्रति आकृष्ट न हो। उन शब्दों के प्रति आकृष्ट होने या द्वेष करने के कटु परिणामों पर भी चिन्तन करे कि यदि मैं इनमें रागासक्त हो गया तो मेरी कितनी हानि होगी, द्वेष करने लगा तो भी कितना अलाभ होगा और तटस्थ रहा तो मेरी आत्मा प्रसन्न रहेगी। अतः लाभ-हानि और आसक्ति के कटु परिणामों का निर्देश करते हुए कहा है—

रागाउरे हरिणमिगे व मुद्धे
सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चुं ॥[2]

जैसे वीणा आदि के शब्दों में रागातुर बना हरिण वे शब्द सुनते-सुनते ही किसी के तीर का निशाना बनकर अपने प्राण गंवा बैठता है। शब्द रस की अतृप्ति लिए ही वह परलोकवासी हो जाता है। अर्थात् शब्द रसिकता ही हिरण की मृत्यु का कारण बनती है। वैसे कटु शब्दों की मार भी मनुष्य को संतप्त और दुःखी बना देती है। अतः उन दोनों में समभाव रखना श्रेष्ठ है। कहा है—

जो सहइ उ गामकंटए।
वइमए कन्नसरे स पुज्जो ॥[3]

"कानों में कांटों के समान चुभने वाले दुर्वचनों को भी जो समभाव पूर्वक सह लेता है वह पूजनीय है।" यह पूजनीयता तभी प्राप्त होती है जब साधक

१. उत्तराध्ययन ३२।३५
२ उत्तराध्ययन ३२।३७
३. दशवैकालिक ९।३

स्वभाव की शिक्षा जीवन में उतारकर श्रोत्रेन्द्रिय संवर रूप शब्द निःस्पृह भावना का चिन्तन करता रहे।

२. चक्षुरिन्द्रिय संवर रूप रूप-निःस्पृह भावना : चिन्तन और प्रयोग

आंख प्राणी के लिए प्रकृति की सबसे बड़ी देन मानी जाती है। अगर आंख नहीं है तो जगत अंधकारमय है। जीवन की इतनी महत्त्वपूर्ण वस्तु चक्षु हमें मिली है, तो प्रश्न है कि इसका सदुपयोग क्या हो? कैसे हो? बहुत से मनुष्य आँखों का उपयोग सिनेमा, सर्कस, नाटक आदि देखने में, स्त्रियों के रूप और नृत्य आदि देखने में करते हैं, इसी में वे आंखों की सार्थकता भी मानते हैं। इसके साथ ही आंखों के सामने यदि कोई बुरी शकल आ जाती है, कोई कुरूप या कोढ़ी, रोगी आदि आ जाता है तो उससे घृणा करने लगते हैं। इस प्रकार आंखों द्वारा वे रूप में आसक्त होते हैं, राग-द्वेष के विकल्प करके जीवन को क्लेश व दुःख से आक्रान्त करते हैं।

समता के साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह आंखों के विषय में आसक्त न हो। भगवान महावीर ने कहा है —

न सक्कं रूवमद्दट्ठु, चक्खु विसयमागयं।
राग दोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥[1]

यह तो सम्भव नहीं है कि आंखों के सामने आया हुआ रूप देखा ही न जाये। चाहे रूप अच्छा हो या बुरा हो, जो आँखों के सामने आया है वह तो देखा ही जायेगा। लेकिन समत्व साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह सुन्दर रूप में राग और असुन्दर रूप में द्वेष न करे। प्रश्नव्याकरण में चक्षुरिन्द्रिय संवर भावना का विशद वर्णन करते हुए बताया है कि साधक जब संसार में इधर-उधर गति करता है तो उसके सामने अनेक प्रकार के रूप और दृश्य आते हैं। प्राणियों के भी और प्रकृति के भी। जैसे कहीं सुन्दर स्त्रियों के रूप, कहीं सुन्दर सुहावने बच्चे दिखते हैं, वहीं कुत्ते, मृग, खरगोश आदि के सलौने बच्चे और मोर तथा रंग-बिरंगे पुष्प, जलाशय, सुन्दर भवन, उद्यान, रंगीन वस्त्र आदि सैकड़ों प्रकार के दृश्य, मनमोहक रूप सामने आते हैं, यदि साधक उक्त रूप आदि दृश्यों को देखकर उनमें उलझ जाता है, राग-भाव का बंधन करने लगता है तो वह अपनी साधना से भटक जाता है।

इसी प्रकार अमनोज्ञ—काले, कलूटे, बेडौल घिनौने दृश्यों से भी यह संसार भरा हुआ है। वास्तव में देखा जाय तो प्रकृति में सुन्दरता से भी अधिक असुन्दरता भरी है। संसार में सौन्दर्य कम है, असौन्दर्य अधिक है। वे

---

१. आचारांग २।३।१५।१३२

असुन्दर दृश्य जब आंखों के सामने आते हैं तो साधारण मनुष्य उन पर द्वेष करने लगता है। उनसे नफरत करके, घृणा करके नाक-मुंह सिकोड़कर उसकी निन्दा करने लगता है। सुन्दर वस्तुओं की प्रशंसा और असुन्दर वस्तुओं की निन्दा करके वह आंखों को ही क्या, वाणी को भी दूषित कर लेता है। साधक यदि ऐसे दृश्यों के प्रति द्वेष करने लगता है, तो वह भी साधारण अज्ञानी मनुष्यों की कोटि में आ जायेगा। फिर ज्ञानी में और अज्ञानी मे क्या अन्तर रहा? अज्ञानी मनुष्य वस्तु के स्वभाव से अपरिचित होता है, इसलिए वह उसमें राग-द्वेष करता है। लेकिन साधक तो वस्तु के क्षणभगुर स्वरूप से परिचित है, अभी जो युवती सुन्दर और आकर्षक दिखती है, उसके रूप में हजारों लोग दीवाने हो रहे हैं, अगर थोड़ी देर बाद उसके शरीर में हैजा हो गया, शरीर मल-मूत्र से भर गया, या घाव हो गये, फोड़े-फुन्सी हो गये। कोई चर्मरोग हो गया या समझ लो कोढ़ हो गया तो वे ही रूप के दिवाने उससे नफरत करते भागेंगे। उसकी तरफ देखने में भी उन्हें उबाक आयेगी। तो यह वस्तु का स्वभाव ही है। जो मिष्टान्न, व्यंजन अभी सजे-सजाये बड़े आकर्षक लगते है, पेट में जाने के बाद उनका क्या परिणाम होता है, क्या आपसे छिपा है? फिर वस्तु में सुन्दरता कहां रही? सुन्दरता असुन्दरता मे और असुन्दरता सुन्दरता में बदलती रहती है। यह वस्तु का स्वरूप ही है। सनत्कुमार चक्रवर्ती का शरीर इतना सुन्दर था कि जिसे देखने के लिए मनुष्य ही क्या, स्वर्ग से देवता भी आते थे और देखकर दांतों तले अंगुली दबा लेते थे। उन्हीं के रूप का कुछ ही क्षणों में वह स्वरूप बना कि अपने थूक को देखकर स्वयं उन्हे ही घृणा हो गयी कि क्या यह रूप-सौन्दर्य इतना चंचल है? इस सुन्दरता के भीतर इतनी कुरूपता भरी है? जिस पिंड को देखकर लोग प्रसन्न होते थे, उसी पिंड से नफरत भी करने लग जाते है। तो यह अशुचिमय स्वरूप ही संसार का है। इसका वर्णन 'अशुचि भावना' में विस्तार के साथ किया गया है। यहा तो यही शिक्षा लेनी है कि आंखों के सामने चाहे सुन्दर वस्तुएं आयें या असुन्दर, साधक स्थितप्रज्ञ की भांति उन्हें देखे। उन रूप आदि के प्रति मन में राग-द्वेष न करे। जब मन में ही राग द्वेष करने का निषेध है तो वाणी से उसकी निन्दा-स्तुति तो करना ही नहीं चाहिए। तो रूप के प्रति तटस्थ भाव रखकर चक्षुरिन्द्रिय संयम का अभ्यास करे यह इस भावना का लक्ष्य है।

३. घ्राणेन्द्रिय संवर भावना : चिन्तन और प्रयोग

घ्राण का अर्थ है 'नाक'। नाक का स्वभाव है गंध का ज्ञान करना। जो गंध मन को मधुर, मोहक और प्यारी लगती है, उसे हम सुगन्ध कह देते हैं।

जैसे फूलों की, अन्न आदि वनस्पतियों की, तथा जो गन्ध नाक को कड़वा, अप्रिय और असुहावना लगता है उसे दुर्गन्ध या बदबू कहा जाता है। वास्तव में सुगन्ध और दुर्गन्ध वस्तु का स्वभाव है। जो वस्तु अभी सुगन्धमय लगती है। वही कुछ क्षण बाद दुर्गन्धमय भी हो जाती है। तीर्थंकर भगवती मल्ली का उदाहरण हमारे सामने है। उनका रूप देखने छह राजा आये थे, जब उन्हें वह प्रतिमा खोलकर दिखाई गई जो उन्हीं की थी और उसमें प्रतिदिन अन्न का ग्रास डाला जाता था। जो सुगन्धित अन्न वहाँ डाला जाता था, वही सड़कर इतना दुर्गन्धमय हो गया कि उसके गन्ध से राजाओं का जी मिचलने लग गया। सिर फटने लग गया और सब के सब वहां से निकल भागने की सोचने लगे।

तो यह पुद्गल का परिणाम है, जिन पुद्गलो को खाते समय मन प्रसन्न होता, जिसके मधुर सुगन्ध से मन में आल्हाद उमड़ता उन्हीं पुद्गलों के सड़ने पर कितना भयंकर दुर्गन्ध आने लगता है। इसी प्रकार दुर्गन्धमय पुद्गल भी कुछ समय में सुगन्धित बन जाते हैं। ज्ञातासूत्र में उदाहरण आता है। जितशत्रु राजा का सुबुद्धि मंत्री था। मंत्री बड़ा तत्वज्ञानी था। एक बार राजा घूमने को गया। शहर के बाहर एक खाई थी, उसमें पानी सड़ रहा था। सड़े हुए कलेवर जैसी भयकर दुर्गन्ध उसमें से आ रहा था। राजा और साथ के सामंत व अनुचरों ने नाक-भौंह सिकोड़ लिया। राजा कहने लगा कितना भयंकर दुर्गन्ध है, कैसी खराब बास है, जी मिचल रहा है, छिः-छिः। साथ के सभी लोग भी उस गन्ध की निन्दा करने लगे। किन्तु सुबुद्धि प्रधान चुप रहा। राजा ने पूछा—"मंत्री जी ! आप चुप क्यों रहे ? क्या बात है।" मंत्री ने गम्भीरता के साथ कहा—'महाराज ! यह तो पुद्गलों का परिणाम है, **'पुग्गलाणं परिणामं'**—पुद्गलों का स्वभाव ही है कि सुगन्धित पदार्थ दुर्गन्धमय बन जाते हैं और दुर्गन्धमय पदार्थ सुगन्धित ! उन पर मन को खराब नहीं करना चाहिए।'

राजा आदि सभी मंत्री के गम्भीर तत्त्वज्ञान पर हंसे। बोले—'क्या यह खाई का दुर्गन्धमय पानी भी सुगन्धित बन सकता है ?'

मंत्री—'क्यों नहीं ! पुद्गल तो परिवर्तनशील है ही, उसमें दोनों ही स्वभाव है—अच्छा और बुरा !'

राजा आदि बातें करते वापस आ गये। एक दिन मंत्री ने अपने घर पर राजा को भोजन के लिए निमंत्रित किया ! सुन्दर मिष्ठान्न परोसे और साथ में जो पानी था वह तो बड़ा ही मधुर ! सुगन्धित ! शीतल ! राजा ने वह पानी पीकर कहा–'मंत्री ! तुम्हारे यहां का भोजन तो मधुर व सुन्दर है ही पर पानी तो गजब का है, बहुत मधुर ! शीतल ! किस कुएं का पानी पीते हो ?

मंत्री ने कहा—'महाराज ! पानी तो पुद्गल है इसकी क्या सराहना ! सुगन्ध-दुर्गन्ध इसका स्वभाव ही है।' राजा को मंत्री का रूखा उत्तर अच्छा नहीं लगा ! बोला—'मंत्री जी ! तुम तो व्यवहार जानते ही नहीं ! कोरे तत्वज्ञान में डूबे रहते हो ? क्या इतना सुन्दर जल पीकर भी इसकी प्रशंसा न करें ? उस दिन भी कहते थे कि खाई का गन्दा जल भी कभी अच्छा बन जाता है। इसलिए निन्दा क्या करना ! यही तो तुम्हारी व्यवहार-शून्यता है। कभी गन्दी चीज अच्छी नहीं बन सकती, अच्छी चीज गन्दी नहीं होती।

मंत्री ने कहा—'महाराज ! आप बुरा न मानें। लेकिन आपके इस भ्रम का निवारण करना चाहता हूँ कि जो वस्तु आज दुर्गन्धमय है वह कल सुगन्धमय बन सकती है और अवश्य ही बन जाती है, क्योंकि यह पुद्गल का पूरण-गलन-धर्म ही है। आपको विश्वास नहीं है, इसलिए प्रमाण देता हू कि आप आज जिस जल को पीकर प्रसन्नता व्यक्त कर रहे है, जिस जल की प्रशंसा कर रहे हैं वह जल उसी गन्दी खाई का है···।'

'हैं'—राजा आश्चर्य के साथ आंखें फाड़कर देखने लगा।

मंत्री—"हां ! महाराज ! ठीक कह रहा हूं। यह वही गन्दा जल है, मैंने शोधन प्रक्रिया द्वारा उस जल को शुद्ध कर इतना मधुर, शीतल व सुगन्धमय बना दिया है कि आप इस पर विश्वास ही नहीं कर पाते, पर चलिए मेरी प्रयोगशाला में।'

राजा मंत्री की प्रयोगशाला में गया और एक ओर पड़ा खाई का गन्दा पानी तथा दूसरी ओर शुद्ध होता स्वच्छ जल देखकर चकित हो गया।

मंत्री ने कहा—'महाराज ! मैं इसी तत्वज्ञान के कारण संसार में तटस्थ वृत्ति व समत्वयोग की साधना करता हूं कि वस्तु के सुगन्ध-दुर्गन्ध स्वभाव पर क्या राग करना, क्या द्वेष करना ? वस्तु स्वभाव के कारण आत्मा को मलिन व दुखित क्यों करना ? आत्मा को सदा अपने 'समत्वभाव' में ही आनन्दित व प्रसन्न रखना चाहिए।'

मंत्री की बात से राजा प्रभावित हुआ। तो इस तृतीय भावना का यही चिन्तन और प्रयोग है कि सुगन्ध दुर्गन्धमय वस्तु सामने आने पर मन को राग-द्वेष से पीड़ित न होने देवे, किन्तु इसे इस प्रकार की तालीम दी जाये कि यह उनमें तटस्थ रह सके। दोनों में ही समभाव की स्थिति बनाए रहे। यही स्थितप्रज्ञ का दर्शन और चिन्तन है।

४. रसनेन्द्रिय-संवर भावना : चिन्तन और प्रयोग

इन्द्रियों में चौथी इन्द्रिय 'जीभ' है। प्रत्येक इन्द्रिय का एक-एक धर्म है। जैसे चक्षु-इन्द्रिय का देखना, घ्राणेन्द्रिय का सूंघना। लेकिन रसनेन्द्रिय के दो

काम हैं—चखना, रस लेना और बोलना। यह बोलकर भी सुख-दुःख देती है और खाकर भी। बोलने का विषय भाषासमिति के अन्तर्गत बताया गया है, यहां खाने के सम्बन्ध में बताया जाता है कि जीभ के सामने जो भी वस्तु आयेगी और जीभ जिसे चखेगी उसका रस भी उसे ज्ञात होगा। क्योंकि—रस का ग्रहण करना यह तो जीभ का स्वभाव ही है रसना! रस के स्वाद का अनुभव करना। लेकिन साधक का लक्ष्य वस्तु का रस लेना नहीं है। वह भोजन स्वाद के लिए नहीं, सिर्फ पेट को भाड़ा देने के लिए करता है। उसके भोजन का उद्देश्य यही है।

न रसट्ठाए भुंजिज्जा, जायमायाए संजए।

रस के लिए नहीं खाए, किन्तु जीवन यात्रा चलाने के लिए ही भोजन करे। प्रश्नव्याकरण सूत्र में भी बताया है—

अक्खोवंजणाणुलेवण भूयं संजम जायमाया निमित्तं भुंजेज्जा।[1]

जैसे गाड़ी चलाने के लिए उसके पहियों में तेल आदि लगाना पड़ता है, जिससे कि गाड़ी बराबर ठीक चलती रहे, तथा जैसे घाव को ठीक करने के लिए उसपर मलहम आदि लगाना पड़ता है उसी प्रकार शरीर को ठीक से चलाने के लिए आहार करना चाहिए। मशीन को तेल देना जैसे शरीर को आहार देना। कितना ऊंचा आदर्श है यह! शरीर के प्रति और भोजन के प्रति जब ऐसी भावना बन जाए तो साधक के लिए संसार में और कोई बन्धन न रहे। अतः ऐसी भावना की तालीम देने के लिए ही भगवान ने यह चौथी भावना बताई है कि भोजन में तरह-तरह के स्वादिष्ट पदार्थ, मिष्टान्न, व्यंजन, रसीले, चटपटे मसालेदार पदार्थ भी आते हैं और कभी सूखा-रूखा, कडुवा, बासी भोजन भी मिल जाता है तो साधक दोनों ही स्थितियों में यह सोचे कि मुझे तो शरीर को भाड़ा देना है—

अरसं विरसं वावि सूइयं वा असूइयं……।[2]

रसदार आहार मिले, सुगन्धित पदार्थ मिले या नीरस, रूखा-सूखा भोजन मिले, लेकिन दोनों ही प्रकार के भोजन को मधु-घृत (घी-शक्कर) की भांति प्रसन्न मन से खायें। उसके रस में आसक्त न हो, किन्तु भोजन को उदर पूरण के लिए ही ग्रहण करे। शास्त्र में बताया गया है कि जो भोजन करते समय रस का निग्रह कर अस्वाद-भाव से आहार ग्रहण करता है वह भोजन करते हुए भी कर्मों को क्षीण करता है और आहार करते हुए भी तपस्वी है—

---

१. प्रश्न व्याकरण २।५
२. दशवैकालिक ५।१।९८

अणासयमाणे लाघवियं
आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवई ।[1]

तो 'अस्वाद वृत्ति' का इससे बढ़कर और क्या महत्त्व होगा कि अस्वादभाव के साथ भोजन करता हुआ भी साधक तपस्वी कहलाता है, क्योंकि उसने स्वादेन्द्रिय पर विजय प्राप्त कर ली है और तप का मुख्य उद्देश्य तो 'रस-विजय' ही है। इसलिए शास्त्रों में 'रस-विजय' पर बहुत बल दिया है। यहां तक कहा गया है कि जिसने रसना को जीत लिया उसने सब कुछ जीत लिया— **'सर्वजितं जिते रसे'** इस 'रस-विजय' का अभ्यास करने के लिए प्रथम वस्तु के परिणाम पर, फिर अपने भोजन के उद्देश्य पर और शास्त्र में बताई गई भोजन-विधि पर चिन्तन करते रहना चाहिए कि चाहे जैसी वस्तु खाओ, पेट में जाने के बाद तो सब मिट्टी है, फिर भोजन की विधि भी यही है कि जो भी रूखा-सूखा मिले उसे प्रसन्नता पूर्वक खाये।

५. स्पर्शनेन्द्रिय-संवर भावना : चिन्तन व प्रयोग

रसनेन्द्रिय के सयम का अभ्यास करने वाले साधक के लिए स्पर्शनेन्द्रिय सयम का अभ्यास बहुत ही सहज होता है। प्रतिदिन शरीर को ठंडे-गरम-हलके-भारी-खुरदरे-कोमल स्पर्श शरीर को अनुभव होते है, कुछ तो प्राकृतिक ही होते है, सर्दी की मोसम में सर्दी और गर्मी की मौसम में गर्मी, बरसात मे हवा बन्द हो जाने पर ऊमस—आदि स्पर्श मन को चंचल बना सकते है और साधक का मन साधना से उचट कर उन शारीरिक कष्टों की ओर जा सकता है। अक्सर सर्दी-गर्मी से घबराकर मनुष्य चंचल हो जाता है, काम करने में रुचि नहीं लेता। आलस्य, निद्रा, आराम आदि का मन होता है। पर यह सोचना चाहिए कि यदि मौसम की तकलीफों में घबराकर यह सोचेंगे कि—आज सर्दी बहुत है, आज तो स्वाध्याय नही हो सकता, हाथ ठिठुर रहे है, प्रतिलेखन आदि नित्य कार्य नही हो सकते। आज गर्मी बहुत है, गर्म लू चल रही है, पसीना आ रहा है, ऐसे समय मे ध्यान-स्वाध्याय आदि में मन नही लगता, आलस्य आ रहा है, दो-चार घंटा सोने का जी हो रहा है। बरसात का मौसम है, ठण्डी हवा चल रही है, मन घूमने का हो रहा है, एकांत में बैठकर ध्यान कैसे करें ? या दंश-मशक काट रहे है। यदि इस प्रकार मौसम के कारण व्यक्ति घबराकर काम करना छोड़ दे तो फिर कभी भी काम नही कर सकता। बुद्ध ने कहा है— जो व्यक्ति यह सोचता रहे कि आज बहुत सर्दी है, आज बहुत गर्मी है, आज आलस्य आ रहा है, इस प्रकार जो सर्दी, गर्मी आदि से घबराता है वह कभी भी कार्य नहीं कर सकता।

---

१. आचारांग ८।३

स्पर्शनेन्द्रिय संवर भावना में साधक को मन को इस प्रकार की तालीम देना है कि—ये शीत-उष्ण-कठोर-कोमल जो भी स्पर्श हैं वे शरीर के हैं। शरीर को जो स्पर्श सुखानुभूति देता है, वह आत्मा को अहितकर हो सकता है, शरीरस्पर्श में मूर्च्छित हो जाएगा तो आत्मा की अन्तर् चेतना भी कुंठित हो जाएगी इसलिए—

फासेसु मणुन्न भद्दसु न समणेण सज्जियव्वं[1]

मनोज्ञ और अनुकूल स्पर्श में मन को आसक्त नहीं करना चाहिए। ग्रीष्म ऋतु में गर्मी पड़ने पर—

उसिणप्परिआवेणं परिदाहेण तज्जिए।
घिंसु वा परिआवेणं सायं णो परिदेवए ॥[2]

ग्रीष्म ऋतु की गर्मी से, बालू आदि उष्ण पदार्थों के परिताप से, सूर्य की दाह से, पसीना व अन्य उष्णता जन्य कष्टों से घबराकर यह भी मन में न सोचे कि हाय ! अब कब पवन चले, कब वर्षा हो, कब ठण्डी-ठण्डी फुहारें पड़ें और मन आनन्दित हो, कुम्हलाया हुआ शरीर फिर खिले।

किन्तु उन स्पर्शजन्य कष्टों में ऋतुओं के, वस्तुओं के तथा जो भी मधुर या कठोर स्पर्श हों—उनमें तटस्थ और समाधिस्थ रहने का अभ्यास करे। मन को हर प्रकार के स्पर्श में प्रसन्न रखे।

इस प्रकार अपरिग्रह महाव्रत की यह पांच भावनाएं हुई, जिनमें पांच इन्द्रियों के विषयों से अनासक्ति का अभ्यास किया जाता है। अनुकूल विषय-वेदन में प्रसन्न न हो, आसक्त न हो और प्रतिकूल विषय उपस्थित होने पर रुष्ट, खिन्न, चितातुर या व्यथित न हो। ज्ञातासूत्र में मेघकुमार का उदाहरण आता है। मेघकुमार रात्रि में मुनियों के पांवों की ठोकरों से, भूमि के कठोर स्पर्श से व्यथित होकर साधु व्रत छोड़कर घर जाने का संकल्प करता है। प्रातःकाल भगवान के समक्ष आता है तब भगवान उसे पूर्व भव में सही हुई वेदनाओं की स्मृति कराते हैं—'मेघ ! पूर्व भव में हाथी (पशु) होकर भी एक खरगोश की अनुकम्पा से तुम अपने एक पाँव को अधर रखे खड़े रहे। शरीर का, स्पर्श इन्द्रिय का एक प्रकार का निग्रह किया, और मनुष्य भव में थोड़े से शारीरिक कष्ट से ही चलित हो गए ? नरक में कितने कठोर-तीक्ष्ण क्षुरधारा की तरह तीखे, खौलते हुए शीशे की तरह अत्यन्त उष्ण, बर्फ से भी अनन्तगुना शीत, कठोर, कर्कश स्पर्श सहे है ? यहाँ के स्पर्श तो कुछ भी नहीं हैं ?'

---

१. प्रश्नव्याकरण २।५
२, उत्तराध्ययन २।८

तो यदि साधक कठोर-कर्कश-अमनोज्ञ स्पर्श आदि विषय उपस्थित होने पर थोड़ा-सा भी अतीत में भोगे गये कष्टों का चिन्तन करे तो अधीरता की जगह उसे धीरज ही मिलेगा, मन को कष्ट सहने की शान्ति मिलेगी और वह साधना में अधिक तेजस्वी होगा।

उपसंहार

पांच महाव्रतों की रक्षा के लिए, उन्हें परिपुष्ट बनाने के लिए और महाव्रतों का आचार जीवन में संस्कार रूप बने, इसके लिए ये २५ चारित्र भावनाएँ बताई गई हैं। इन भावनाओं के चिन्तन-मनन और जीवन में बार-बार प्रयोग करने से साधक को त्यागमय, तपोमय एवं अनासक्त जीवन जीने की तालीम मिल जाती है, और वह संयम के असिधारा पथ पर सरलतापूर्वक चल सकता है।



खण्ड ४

बारह वैराग्य भावनाएँ

१. अनित्य भावना
२. अशरण भावना
३. संसार भावना
४. एकत्व भावना
५. अन्यत्व भावना
६. अशौच भावना
७. आस्रव भावना
८. संवर भावना
९. निर्जरा भावना
१०. धर्म भावना
११. लोक भावना
१२. बोधि दुर्लभ भावना



साम्यं स्यान्निर्ममत्वेन तत्कृते भावनाः श्रयेत् ।

—योगशास्त्र ४।५५

समभाव की प्राप्ति निर्ममत्व भाव से होती है, और निर्ममत्व भाव की जागृति करने के लिए द्वादश भावनाओं का आश्रय लेना चाहिए।



१. अनित्य भावना

भावना का अर्थ, स्वरूप और उसके भेद प्रभेद का वर्णन किया जा चुका है। शुभ भावना और अशुभ भावना का स्वरूप भी बताया जा चुका है। अशुभ भावना जीवन को दुःख एवं चिन्तामय बनाती है, इसलिए त्याज्य है, शुभ भावना जीवन को सुखमय बनाती है, इहलोक एवं परलोक को आनन्दमय एवं भयमुक्त करती है, इसलिए उनका सतत अभ्यास करना चाहिए।

शुभ भावना के क्रम में चारित्र भावना का वर्णन आपको सामने आ गया है। पांच महाव्रतों का निर्दोष पालन कर पद-पद पर जागृत रहते हुए सतत उनमें रमण करते रहने के लिए उनकी भावनाएँ है। प्रत्येक महाव्रत की पांच-पांच भावनाएँ बताकर उनका विस्तार से वर्णन किया गया है।

महाव्रत का सीधा सम्बन्ध श्रमण जीवन से है, इस कारण श्रमण को लक्ष्य करके ही उनका वर्णन किया गया है। यद्यपि श्रमणोपासक गृहस्थ भी यथाशक्ति व्रतों का पालन करता ही है, उसके जीवन में भी अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि का प्रयोग होता है, अतः उसे भी इस प्रकार की भावनाएँ करनी चाहिए जिनसे व्रतों के संस्कार उसके जीवन में चिरस्थायी हों। वास्तव में भावना एक प्रकार की तालीम है, उससे जीवन उसी सांचे में ढलता है, संस्कार निर्माण होता है और व्रत का आचरण कृत्रिम या आरोपित-सा न होकर साहजिक व स्वाभाविक हो जाता है। निर्दोष जीवन नैसर्गिक बन जाता है। यही चारित्र भावना का मुख्य लक्ष्य है।

वैराग्य भावनाएं

पांच चारित्र भावना के साथ-साथ वैराग्य भावना का वर्णन भी आगम एव आगमेतर ग्रन्थों मे आता है। आगमों में पांच महाव्रतों की २५ भावना का वर्णन जितने व्यवस्थित एवं विस्तृत ढंग से किया गया है उतना अनित्यत्व आदि वैराग्य भावना का वर्णन व्यवस्थित नहीं है। यद्यपि आगम का मूल विषय ही वैराग्य हैं, अतः वैराग्य-मूलक विचार और भावनाएँ पद-पद पर मुखर होती हों तो इसमें कोई विलक्षण बात नहीं, ऐसा हुआ ही है, हजारों पद, गाथायें ऐसी हैं जिनमें वैराग्य सम्बोधन किया गया है, किंतु उनका वर्णन बिखरा हुआ है। जैसे किसी प्राकृतिक उद्यान में हजारों प्रकार के फूल खिले हुए हों, विभिन्न जातियों के

फूल,लता और वृक्ष उद्यान की शोभा बढ़ा रहे है पर उनमें कोई वर्गीकरण या क्रमबद्धता नहीं होती। कहीं गुलाब का फूल है, तो उसी के बीच चंपा का, चमेली का, जूही आदि अन्य जातियों का। कहीं आम का वृक्ष फल रहा है, तो उसी के पास कदम्ब और सन्तरा भी लगा है। आगमों में भावना का वर्णन इसी प्रकार है। जबकि आगमोत्तरवर्ती साहित्य मे वह क्रमबद्ध कर दिया गया है, कृत्रिम उपवन की भांति। अनित्यत्व, अशरणत्व आदि क्रम के अनुसार उनका वर्णन किया गया है। वर्णन की व्यवस्थित शैली के कारण हम अनित्यत्व आदि बारह वैराग्य भावनाओं का क्रमशः वर्णन यहां कर रहे हैं।

वैराग्य भावना : नाम-करण

अनित्यत्व आदि बारह भावनाओं की हमने 'वैराग्य भावना' संज्ञा रखी है। यद्यपि इनकी संज्ञा कहीं कोई निश्चित नहीं की गई है, किन्तु ये बारह भावनाएं मूलतः वैराग्य प्रधान हैं। इनके चिन्तन मे गहरा वैराग्य भरा है। पद-पद पर निर्वेद रस झलकता है। ये सर्वसाधारण को नित्य प्रति चिन्तन के लिए बहुत ही उत्तम विचारों की प्रेरणा देती है इसलिए इन्हें 'वैराग्य भावना' कहना ही अधिक उचित प्रतीत होता है। वैसे आचार्य भद्रबाहु ने ध्यानशतक में और आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण मे चार भावनाओं का वर्णन किया है। जैसे—

१. ज्ञान भावना
२. दर्शन भावना
३. चारित्र भावना
४. वैराग्य भावना।[1]

इनमें चारित्र भावना का लक्षण बताते हुए कहा है—

ईर्यादि विषया यत्ना मनोवाक्कायगुप्तयः।
परीषहसहिष्णुत्वमिति चारित्रभावना।[2]

ईर्या आदि पांच समिति एवं मनोवाक्काय आदि तीन गुप्ति का पालन करना, परीषह सहन करना, चारित्र को दृढ़ करने वाली यह चारित्र भावना है।

चारित्र भावना का जो वर्णन पिछले पृष्ठो पर किया गया है वह उक्त परिभाषा का स्पष्ट समर्थन करता है। चारित्र को दृढ़ करने वाली 'चारित्र भावना' कहलाती है। इसी प्रकार वैराग्य को जगाने वाली विचार-चिन्तन शैली को यहाँ 'वैराग्य भावना' कहा गया है—

---

१. (क) ध्यानशतक, ३०
(ख) आदिपुराण २१।६५
२. आदिपुराण २१।६८

सुविदिय जगस्सभावो
निस्संगो निब्भओ निरासो य।
वेरग्ग भावियमणो,
झाणं सुनिच्चलो होई।[1]

—जगत के अनित्यत्व आदि स्वभाव को अच्छी प्रकार से जानकर, उसके प्रति अनासक्त, अभय और आशंसा रहित हो जाना, वैराग्य भावना का लक्षण है, इस प्रकार के वैराग्य चिन्तन मे साधक ध्यान में निश्चलता प्राप्त करता है। आचार्य जिनसेन ने कहा है—

एवं भावयतो ह्यस्य ज्ञान-चर्यादि संपदि।
तत्त्वज्ञस्य विरागस्य भवेदव्यग्रता धियः।[2]

—ज्ञान-दर्शन-चारित्र एवं वैराग्य भावनाओं का चिन्तन करते रहने से तत्त्वज्ञ एवं विरक्त साधक की बुद्धि अधिक स्थिर होती है, मोह की व्याकुलता एवं व्यग्रता कम होती है तथा धर्म व अध्यात्म में स्थिरीकरण होता है।

तो, उक्त आचार्यों के सन्दर्भों में हम यह स्पष्ट कह सकते हैं कि इन भावनाओं की 'भाव धारा' निर्वेद एवं वैराग्योन्मुखी होने से इन्हें 'वैराग्य भावना' माना गया है। 'वैराग्य भावना' संज्ञा भी उक्त आचार्यों ने स्थिर की है।

क्रम

वैराग्य को जगाने वाली जितनी भी भावनाएँ, चिन्तन धाराएँ मन में बनती हैं वे सभी वैराग्य भावना के अन्तर्गत आ जाती हैं। वे १०–१२ या १०० तथा अधिक भी हो सकती हैं। किन्तु फिर भी मनीषी आचार्यों ने उन भाव धाराओं का वर्गीकरण करके उन्हें 'बारह भावना' या 'द्वादश-अनुप्रेक्षा' के नाम से ज्ञापित किया है। उनके क्रम प्रतिपादन में कुछ अन्तर है, जिसकी चर्चा हम पीछे कर चुके है, यहाँ तो अब उनका नाम निर्देश करके क्रमशः उनका वर्णन करना चाहते है। बारह वैराग्य भावनाएँ इस प्रकार है—[3]

१. ध्यानशतक ३४
२. आदि पुराण २१।१००
३. (क) बारस अणुवेक्खा २ (आचार्य कुन्दकुन्द)
(ख) तत्त्वार्थसूत्र ९।७ (उमास्वाति)
(ग) प्रशमरति प्रकरण ८।१४९-१५० (उमास्वाति)
(घ) मूलाचार ८।२ (श्रीमद् वट्टकेर)
(च) बृहद् द्रव्य संग्रह वृत्ति ३५ (आचार्य नेमिचन्द्र)
(छ) कार्तिकेयानुप्रेक्षा २-३ (स्वामी कार्तिकेय)

१. अनित्य भावना	२. अशरण भावना
३. संसार भावना	४. एकत्व भावना
५. अन्यत्व भावना	६. अशुचि भावना
७. आश्रव भावना	८. संवर भावना
९. निर्जरा भावना	१०. धर्म भावना
११. लोक भावना	१२. बोधि दुर्लभ भावना

इन भावनाओं के क्रम में भी एक प्रकार की चिन्तन धारा का क्रमिक विकास लक्षित होता है। मनोवैज्ञानिक ऊर्ध्वगमन-सा है। जैसे ऊपर जानेवाला व्यक्ति महल की एक-एक सीढ़ी पर चढ़ता है, वैसे ही साधक के लिए भावनाओं के महल पर चढ़ने की यह क्रमबद्ध सीढ़ी है. श्रेणी है, एक से दूसरी, दूसरी से तीसरी भावना पर साधक का अन्तर् हृदय अपने आप बढ़ता जाता है। यह क्रमबद्धता आध्यात्मिक विकास की सूचक है। जिसका वर्णन अब हम आगे कर रहे है।

अनित्य भावना

आध्यात्मिक विचारकों ने बताया है कि आत्मा का ससार मे भटकने का मुख्य कारण 'मोह' है। ससार मे जितने भी दुःख, क्लेश, भय, चिन्ता एवं शोक है, उन सब की उत्पत्ति मोह से होती है। भगवान महावीर ने कहा है—

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो।[1]

जिसे मोह नही है, उसने सब दुःखों का नाश कर दिया। क्योंकि समस्त दुःखों का एकमात्र कारण है—मोह। मोह से तृष्णा उत्पन्न होती है, तृष्णा से ससार की वृद्धि। संसार के समस्त दुःखचक्र का मूल मोह है। जैसे युद्ध में सेनापति के समाप्त हो जाने पर सेना युद्ध का मैदान छोड़कर भाग जाती है, वैसे ही मोह के क्षय होते ही दुःख, चिन्ता, भय, क्लेश, शोक आदि समस्त आधि-व्याधि, कर्म दल भाग छूटते है।[2]

(ज) ज्ञानार्णव २ (शुभचन्द्राचार्य)

(झ) योगशास्त्र ४।५५-५६ (हेमचन्द्राचार्य)—

अनित्यता अशरणं भवमेकत्वमन्यताम्
अशौचमाश्रवविधि संवरं कर्मनिर्जराम्।
धर्मस्वाख्यतां लोकं द्वादशीं बोधिभावनाम्॥

(ट) शान्तसुधारस १।७-८ (विनय विजय)

१. उत्तराध्ययन ३२।८

२. दशाश्रुतस्कंध ५।१२

'मोह' एक प्रकार का मतिभ्रम है। बुद्धि का विपर्यास है। गीता में कहा है—

सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः ।[1]

मोह से बुद्धि में जड़ता, विभ्रम एवं विपर्यास पैदा हो जाता है। इसके कारण आत्मा सत्य को असत्य एवं असत्य को सत्य, तत्त्व को अतत्त्व और अतत्त्व को तत्त्व समझने लगता है। सुख के वास्तविक साधनों को दुःख का कारण और दुःख के मूलभूत कारणों में सुख के साधनों की बुद्धि करने लगता है। यही मतिभ्रम मिथ्यात्व है—

अधर्मे धर्म बुद्धिश्च मिथ्यात्वं तद् विपर्ययात् ।[2]

—बुद्धि की विपरीतता के कारण अधर्म में धर्म की बुद्धि होती है, यही मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व संसार भ्रमण का सबसे मुख्य कारण है। तो मिथ्यात्व के इस चक्रव्यूह को तोडना प्रत्येक आत्मार्थी साधक का लक्ष्य है। यह चक्रव्यूह टूटता है सदसद् विवेक बुद्धि के द्वारा। वस्तु का जैसा स्वभाव है, जैसा उसका गुण-धर्म है, उसे उसी रूप में समझना यह विवेक है, यही सम्यक्त्व है। सम्यक् बुद्धि (सम्यक्त्वी) वस्तु की यथार्थता समझता है, जो वस्तु नित्य है, उसे नित्य समझता है, अनित्य वस्तु को अनित्य समझता है। अनित्य में नित्यता का मोह नहीं करता। क्षणभंगुर वस्तु को शाश्वत समझने की मूर्खता सम्यक्त्वी नहीं करता। वह जानता है कि अभी जो सूर्य आकाश में चमक रहा है, जो धूप पृथ्वी पर छिटक रही है, कुछ समय के बाद अस्त होने ही वाला है, धूप के स्थान पर छाया और प्रकाश के स्थान पर अन्धकार आने वाला है, फिर जानते हुए भी धूप और प्रकाश को शाश्वत मानने की मूर्खता क्यों की जाय ? जो गाड़ी स्टेशन पर खड़ी है, जिसे हरी झण्डी दिखाई जा रही वह तो चलने वाली है, उसे क्यों स्थिर मान लिया जाय कि यह सदा यहीं खड़ी रहेगी। तो बस यह यथार्थ चिन्तन, वस्तुस्थिति का सही दर्शन सम्यक्त्व है, इसी से मोह का चक्र टूटता है। मन पर छाया अज्ञान का पर्दा हट जाता है, मोह का अन्धकार दूर हो जाता है और जगत के पदार्थों का यथार्थ स्वभाव, उनकी असलियत बुद्धि के समक्ष उजागर हो जाती है।

मोह एवं मतिभ्रम के इस चक्रव्यूह को तोड़ने के लिए ही भावना का उपक्रम है। "अनित्य भावना" का अर्थ यही है कि जगत में जितने भी पौद्-गलिक पदार्थ हैं—वे सब अनित्य हैं। यह शरीर, यह धन, यह पत्नी, माता-

१. गीता २।६३
२. योगशास्त्र २।३

पिता, परिवार, घर, महल, जो भी सम्बन्ध है, जो भी वस्तुएँ हमें प्राप्त हैं वे सब अनित्य हैं, क्षणभंगुर हैं, विनाशमान हैं।

जीवियं चेव रुवं च विज्जुसंपायचंचलं।
जत्थ तं मुज्झसि रायं पेच्चत्थं नावबुज्झसि ?[१]

हे राजन् ! जिस शरीर पर, यौवन पर, रूप और सम्पत्ति पर तुम आसक्त हो रहे हो, जिसे तुम अपनी मान कर मोह कर रहे हो। वह तो बड़ी चंचल है। चंचल भी कैसी ? जैसे बिजली की चमक, एक क्षण प्रकाश ! दूसरे क्षण घोर अन्धकार ! इन धन-यौवन आदि की तो यही स्थिति है, फिर तुम किस पर आसक्त हो रहे हो ? और क्यों, कितने समय के लिए ?

आचार्य शुभचन्द्र ने बताया है कि मनुष्य के मोह का खास केन्द्र है—शरीर, यौवन, धन, परिजन और सत्ता-अधिकार। इन्हीं वस्तुओं पर मनुष्य की सबसे बड़ी आसक्ति होती है। वह शरीर को समझता है कि यह मेरा शरीर है। यह बड़ा सुन्दर है। मेरे जीवन का आधार है, इसकी सार-सम्भाल करना मेरा सबसे पहला फर्ज है। इसलिए वह हर कीमत पर शरीर की रक्षा करता है, शरीर को सदा स्वस्थ और पुष्ट रखने की चिन्ता करता है। और इस चिन्ता में शरीर के प्रति उसकी गहरी आसक्ति हो जाती है, मोह का घोरतम बन्धन शरीर के साथ कर लेता है और यह मान बैठता है कि बस, मेरा यह शरीर कभी बीमार न होना चाहिए, कभी बूढ़ा न होना चाहिए। कभी समाप्त न होना चाहिए। एक प्रकार का मतिभ्रम शरीर के प्रति पैदा हो जाता है। इस मतिभ्रम को तोड़ते हुए अनित्य भावना में सर्वप्रथम कहा है—

वपुर्विद्धि रुजाक्रान्तं जराक्रान्तं च यौवनम्।
ऐश्वर्यं च विनाशान्तं मरणान्तं च जीवितम्।[२]

—शरीर को रोगों से घिरा हुआ समझो, यौवन को बुढ़ापे से आक्रांत समझो और ऐश्वर्य को समझो कि यह अन्त में नाश होने वाला है। जब जीवन का ही अन्तिम चरण मृत्यु है, मौत ही हर मनुष्य की आखिरी स्थिति है तो ये सब वस्तुएँ कहा टिकने वाली है। जिसे हम 'शरीर' कहते है उसका शब्दार्थ क्या है मालूम है ?—"**प्रतिक्षणं शीर्यन्त इति शरीराणि**"[3] जो पैदा हुआ तबसे लेकर प्रतिक्षण गल रहा है, क्षीण हो रहा है, उसे शरीर कहते है। एक क्षण पहले जैसा शरीर था, वैसा अब नहीं रहा, और जैसा अब है वैसा अगले क्षण

१. उत्तराध्ययन १८।१३
२. ज्ञानार्णव
३. स्थानांग ५।१ टीका (आचार्य अभयदेव)

नहीं रहेगा। प्रतिक्षण बदलता-बदलता यह शरीर बालक से युवा और युवा से बूढ़ा होकर एक दिन चिता में जला दिया जायेगा। और फिर यह भी तो देखो, इस शरीर में कितने रोग भरे हैं?

देहे नास्ति च रोमताहगपि
यन्मूले न काचिद् रुजा।[1]

इस शरीर में कितने रोग हैं? तो कहा गया है जितने रोम (रोएं) ऊपर दीख रहे है उनसे करीब दुगुने अर्थात् एक-एक रोम में पौने दो-दो रोगों का अस्तित्व छिपा है। शरीर में रोम साढ़े तीन करोड़ माने जाते हैं और रोग हैं पाँच करोड़! यह पुरानी गिनती है, हो सकता है इसमें आज और भी वृद्धि हो गई हो। इससे यह तो स्पष्ट समझ ही लेना चाहिए कि इस शरीर के कण-कण में रोग छिपे है। अध्यात्मवादी कवि तो कहता है—ये रोग शरीर में छिपे हुए रोगरूप शत्रुओं की ध्वजाएं हैं, ये लहरा-लहरा कर तुम्हें सूचित करते हैं कि हम तेरे घर में छिपे हुए है, जरा भी असावधान हुआ, कुछ भी थोड़ा-सा कारण मिला कि बस हम हमला कर देंगे। इसलिए ही तो शरीर को **'शरीरं व्याधिमन्दिरम्'** कहा है।

तो जिस शरीर पर तुम इतना मोह कर रहे हो, जिसे मेरा शरीर, मेरा देह बता रहे हो, और जिसकी रक्षा के लिए दुनिया भर के झंझट खड़े कर रहे हो, उस शरीर की वास्तविक स्थिति तो यह है कि उसके कण-कण में रोग छिपे है, और जो पत्ते पर टिके ओसबिन्दु की तरह चंचल है, अभी चमक रहा है, एक क्षणभर बाद धूल में मिल जायेगा। भगवान ने कहा है—

कुसग्गे जह ओसबिन्दुए थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम! मा पमायए।[2]

—घास की नोंक पर ठहरे हुए पानी की तरह यह जीवन आयुष्य की नोंक पर टिका है, जरा-सी मौत की धूप लगी कि आयुष्य की पत्तियाँ हिलेंगी और जीवन की ओस सूख जायेगी। इसलिए ऐसे अनित्य जीवन में तुम क्षणभर भी प्रमाद या मोह मत करो! क्योंकि—

इमं सरीरं अणिच्चं।[3]

१. भावनाशतक ५ (शतावधानी रत्नचन्दजी म०)
२. उत्तराध्ययन १०।२
३. उत्तराध्ययन १६।१३

—यह शरीर बहुत ही अनित्य है, अस्थिर है, ऐसे अस्थिर शरीर में क्या आनन्द ? **असासए सरीरम्मि रइं नोबलभामहे ।**[१]

—इस आशाश्वत शरीर में मैं तो कुछ भी सुख व चैन का अनुभव नहीं करता ।

कल्पना कीजिए आपने एक ऐसा महल बनाया जो दीखने में बड़ा सुन्दर हो, सुरम्य हो, सब प्रकार की सुख-सुविधा के साधन उसमें जुटाये हों, लेकिन जब उसमें रहने के लिए प्रवेश करते हों तब किसी ज्योतिषी ने या भूगर्भ शास्त्री ने बता दिया—'अब कुछ ही देर में भूकम्प आने वाला है, यह मकान ढह जायेगा, गिरकर खंडहर हो जायेगा तो आप उस मकान में क्षणभर भी ठहरना चाहेंगे ? या जितने मिनट वहाँ रुकेंगे, क्या सुख से, चैन से बैठे रहेंगे ? आप तो आकुल-व्याकुल ही रहेंगे, और उसे छोड़ने की ही जल्दी करेंगे ! यह शरीर भी इसी प्रकार का मकान है, जो मृत्यु के भूकम्प से अब ढहा, अब गिरा, मौत की अग्नि अब जलाए, अब जलाए, ऐसी स्थिति है। काल की बाढ़ कब आ जायेगी और इसे बहाकर ले जायेगी, कोई पता नही, फिर आप कैसे इसमें चैन से बैठे रहेंगे ? और कैसे आनन्द का अनुभव करेंगे ?

जैसे शरीर अनित्य है वैसे ही धन, सपत्ति, परिवार और मकान आदि सब अनित्य है।

आप जानते है कि ये सब वस्तुएँ पोद्गलिक है, जड़ पुद्गल से बनी है, और पुद्गल का स्वभाव है पूरण और गलन **'पूरणाद् गलनाद् पुद्गलः'**—जो मिलता है, बिछुड़ता है, फिर मिलता है, फिर बिखरता है, ऐसा जिसका स्वभाव है उसे पुद्गल कहते है। तो पुद्गल का स्वभाव ही जब अस्थिर है तो उसमें स्थिरता आयेगी कहा से ? धन भी पुद्गल है, सोना, चांदी, हीरे, मोती सभी पुद्गल हैं। ये विशाल भवन खड़े है, बिल्डिंगे बनी हैं, वे भी पुद्गलमय है, जब पुद्गल का स्वभाव ही क्षण-विध्वंसी या क्षण-क्षण परिवर्तनशील है तो ये सब वस्तुएँ स्थिर कैसे रह पायेगी ? कविवर रहीम ने लक्ष्मी की चंचलता पर व्यंग्य करते हुए कहा है—

'कमला' थिर न 'रहीम' कहि, यह जानत सब कोय ।
पुरुष पुरातन की वधू क्यों न चंचला होय ।।

—लक्ष्मी श्री कृष्ण की पत्नी थी। कृष्ण के अनेक नामों में एक नाम है, पुरातन (पुराना)। कवि ने व्यंग्य करते हुए कहा है जैसे बूढ़े आदमी का सुन्दर युवती के साथ विवाह हो जाये तो वह युवती अक्सर चंचल स्वभाव की बन

---

१. उत्तराध्ययन १६।१४

जाती है, ऐसे ही पुरातन पुरुष (बूढ़े आदमी) की पत्नी कमला चंचल हो तो इसमें क्या आश्चर्य है? अंग्रेजी के एक विचारक ने कहा है।—

Riches have Wings (रिचेज हेव विंग्स) समृद्धि के पंख होते हैं, वह हमेशा उड़ती रहती है। भारतभूषण कविवर शतावधानी मुनि श्री रत्नचन्द जी ने लिखा है—[1]

वातोद्वेल्लित दीपकाङ्कुरसमां लक्ष्मीं जगन्मोहिनीम्।
दृष्ट्वा किं हृदि मोदसे हतमते, मत्वा मम श्रीरिति ?

—जैसे दीपक की लौ जलती हो, कोई हवा का झोंका आया तो वह काँपने लगती है और क्षणभर में बुझने को होती है, क्या कोई समझदार हवा के झोंके से काँपती हुई दीपक की लौ को देखकर खुश होता है, या आश्वस्त रहता है कि नहीं, अभी अंधेरा नहीं होगा। कोई पता नहीं वह दीपक की लौ कौन से एक झोंके में ही बुझ जायेगी? इसी प्रकार यह लक्ष्मी है, जो विनाश की हवा के झोंकों से सदा काँपती है। तुझे लगता है यह नाच रही है, लेकिन वास्तव में तो यह दीपक की लौ की भाँति काँप रही है और किसी भी क्षण चली जायेगी, कोई भरोसा नहीं। एक शायर ने कहा है—

बेकस को तबाही के सामान हजारों है।
दीपक तो अकेला है, तूफान हजारों हैं॥

एक धन के पीछे हजारों आफतें खड़ी हैं। देखिए—एक संस्कृत के कवि ने कहा है—

दायादाः स्पृहयन्ति तस्करगणा मुष्णन्ति भूमीभुजो।
गृण्हन्ति च्छलमाकलय्य हुतभुग् भस्मीकरोति क्षणात्!
अम्भः प्लावयति क्षितौ विनिहितं, यक्षा हरन्ते हठाद्।
दुर्वृत्तास्तनया नयन्ति निधनं, धिक् बह्वधीनं धनम्।[2]

—रिश्तेदार इस धन को लेना चाहते है, चोर चुराना चाहते है। राजा (सरकार) अनेक प्रकार के छल व कानून बनाकर इसे हड़प लेना चाहते हैं, अग्नि भस्म कर डालती है, पानी इसे बहा देता है, जमीन में गड़ा हुआ धन यक्ष आदि निकाल कर ले जाते हैं, यदि सबसे बचाकर कैसे रख भी लिया तो दुराचारी पुत्र इसे उड़ा देते हैं, कितने खतरे है इस धन के ऊपर! इसीलिये कवि कहता है—ऐसे बहुत खतरे वाले और बहुत लोगों के हाथ की कठपुतली

१. भावनाशतक २
२. सिन्दूर प्रकरण ७४

बनने वाले धन को ही धिक्कार है । इसीलिए शायर ने ठीक कहा है—इस एक बीप के लिए हजारों तूफान हैं ।

तो जैसे शरीर नाशवान है, धन क्षणभंगुर है वैसे ही पुत्र-परिवार, मित्र स्त्री, भाई आदि भी स्वप्न के साम्राज्य की भांति चंचल और अस्थायी है । संवेगरस के महान काव्य शान्तसुधारस मे कहा गया है—

> **आयुर्वायुतरत्तरंगतरलं लग्नापदः संपदः,**
> **सर्वेऽपीन्द्रिय गोचराश्च चटुलाः संध्याभ्ररागादिवत् ।**
> **मित्रस्त्रीस्वजनादिसंगमसुखं स्वप्नेन्द्रजालोपमं,**
> **तत् किं वस्तु भवे भवेदिह मुदा-मालम्बनं यत् सताम् ॥**[1]

—मनुष्य का जीवन हवा के झौंको से लहराती हुई लहरों के समान चचल है, सम्पत्ति विपत्तियों से घिरी हुई है। सुख, दुःख से लगा हुआ है, जीवन का हर नाटक दुःखान्त है। कान, नाक, जीभ आदि इन्द्रियों को सुखद प्रतीत होने वाले विषय सन्ध्याराग—सांझ की अरुणिमा की भाति कुछ क्षण भर ही टिकने वाले है और मित्र-स्त्री-स्वजन-पुत्र आदि विषयों के मिलन का सुख कैसा है, जैसा जादूगर का खेल हो, या कोई मधुर स्वप्न हो। ससार की प्रत्येक वस्तु जब ऐसी क्षण-विनाशिनी है, अनित्य है तब विवेकी पुरुष के लिए, वस्तु के परिणाम को समझने वाले ज्ञानी के लिए संसार में ऐसा क्या है जिसके सहारे, जिसके आलम्बन मे उसे कुछ शाश्वत सुख की अनुभूति हो। अर्थात् ऐसा कुछ भी नहीं है जो हमे शाश्वत सुख दे सके।

सांस तो एक प्रकार की हवा है, यह अभी चल रही है, चलती-चलती कब बन्द हो जायेगी, कोई पता नहीं। कवि ने कहा है—

> **पवन तणो परतीत, किह कारण काठी करो ।**
> **इणरी आहिज रीत, आवे के आवे नहीं ॥**

हवा का क्या विश्वास कर रखा है। एक झौका आया और पता नहीं दूसरा आयेगा कि नही। एक सांस आयी और दूसरी साँस का कोई भरोसा नही। बैठा-बैठा आदमी गुड़क जाता है, चलता-चलता ही मौत की गोद में सो जाता है।

पूज्यपाद श्री तिलोकऋषि जी ने कहा है—

> **तन धन परिवार अनित्य विचार जैसे—**
> **दामनी चमक जैसे संझा को सोवान है ।**
> **ओस बिन्दु जल बुदबुदो ज्यों धनुष्य जान,**
> **पीपल को पान जैसे कुंजर को कान है ।**

---

१. शान्तसुधारस १।१०

स्वप्न मांही ऋद्धि जैसे बादल की छाया मान,
सलिल को पूर जैसो सागर तोफान है।
ऐसी जग रीत, भाई भावना भरतजीए,
कहत तिलोक भाव से ही निरवान है।

पद्य की भाषा सरल है, कविराज ने विविध उपमाओं के द्वारा जीवन की अनित्यता, अस्थिरता और क्षणभंगुरता का दर्शन कराया है। ऐसी क्षणभंगुरता का विचार करते-करते ही भरत चक्रवर्ती राजमहलों में बैठे ही केवलज्ञान को प्राप्त हो गये।

भरत चक्रवर्ती की अनित्य भावना

भरत चक्रवर्ती के पास वैभव व समृद्धि की क्या कमी थी? पर एक दिन जब वे स्नान करके वस्त्र-आभूषण पहन कर आदमकद शीशे के सामने खड़े हुए अपना सुन्दर खिला हुआ रूप देखने लगे तो हाथ की अंगुली सूनी-सी दीखी, देखा तो उसमें अंगूठी पहनना भूल गये थे, उस कारण समूचा शरीर तो सुन्दर लग रहा था पर अंगुली शोभाहीन-सी लगती थी। बस अंगुली की शोभा पर विचार करते-करते भरत जी अन्तर् की शोभा पर पहुंच गये। सोचा, क्या यह शरीर बाहरी वस्त्र-आभूषणों से ही सुन्दर लगता है? बिना वस्त्राभूषणों के यह स्वयं शोभाहीन है? देखें? हाथ का कंगन उतारा तो शोभा में और कमी हो गयी। गले का हार उतारा तो और भी शोभाहीनता सी दीखने लगी। मस्तक का मुकुट उतारा तो शरीर ही प्रभाहीन-सा दीखने लगा। बस, भरत चक्रवर्ती शरीर पर से एक-एक आभूषण उतारते गये और उसकी अनित्यता, असारता का दर्शन करते गये। सोचने लगे—आज मेरा भ्रम टूट गया, अज्ञान का पर्दा हट गया, मोह का चश्मा हट गया, जिस शरीर को ही मैं सुन्दर और सब कुछ मान रहा था, वह तो सिर्फ दूसरों के कारण ही सुन्दर है। इसकी सुन्दरता, स्वस्थता, शोभा सब पराश्रित है। बस अनित्य भावना के चिन्तन में भरत चक्रवर्ती इतने गहरे उतरे, उस भावधारा मे इतनी तन्मयता से बहे कि शीशमहल में बैठे-बैठे ही केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

तो अनित्य चिन्तन से वस्तु की ममता टूट जाती है, आत्मा में यह बोध जागृत होता है कि ये वस्तु, शरीर आदि सब कुछ पर है, और अनित्य है नाशवान हैं। आज जिसके पास धन का अपार खजाना है, वह कल दर-दर का भिखारी बन जाता है। चक्रवर्ती सम्राटों का वैभव भी स्थिर नहीं रहा। वासुदेव और प्रतिवासुदेव जैसे बलिष्ठ व्यक्तियों की सम्पत्ति का भी आज कोई अता-पता नहीं रहा तो साधारण मनुष्य की औकात ही क्या है? उसकी सम्पत्ति और वैभव कैसे स्थिर रहेंगे। कवि ने कहा है—

कैरो दल पांडव सागरसुत यादों केते,
जातहू न जाने ज्यों तरैया परभात की।
बली बेनु अंबरीष, मानधाता प्रहलाद,
कहाँ लों गिनाऊँ कथा रावन-ययात की।
बेऊ ना बचन पाये काल कौतुकी के हाथ,
भाँति-भाँति सेना रचो घने दुख घात की।
चार-चार दिन के चवाऊ चाहे करे कोऊ,
अंत लूटि जेहैं जैसे पूतरी बरात की।

—ये प्राचीनकाल के एक नही, अगणित उदाहरण हमारे सामने है, इतिहास मनुष्य को यह बोध देता है कि ससार में बड़े-बड़े धनकुबेर हुए, बलिष्ट हुए पर काल के महाप्रवाह में सब बह गए। धन-वैभव किसी के पास क्या टिकता, जब वैभव को बटोरने वाला ही नही टिका। कहते है शाहजहाँ के पास अपना व्यक्तिगत खजाना इतना था कि उसकी वर्तमान में मूल्य गणना की जाय तो कई अरब, खरब होंगे। एक इतिहासकार ने लिखा है—शाहजहाँ के पास ७०० मन सोना, १४०० मन चाँदी, ८० रतल हीरे, १०० रतल माणिक और ६०० रतल मोती थे। एक करोड़ के कपड़े और पच्चीस लाख से अधिक की कीमत के बर्तन थे। उसके पास एक ७ फुट लम्बा और ५ फुट चौड़ा नहाने का टब था जो हीरों से जड़ा था, उस टब की वर्तमान मूल्य गणना के अनुसार १० अरब रुपये कीमत होती है। अब कल्पना करिए जिस बादशाह के पास दस अरब रुपये का तो एक नहाने का टब था, उसकी अन्त में क्या गति हुई? पुत्र औरंगजेब के हाथों जेल में बन्द किया गया और सड़-सड़ के मरा। तो यह धन-सम्पत्ति क्या काम आई और कितने दिन टिकी? धन-वैभव किस प्रकार एक दूसरे के हाथ में जाता रहता है इसका उदाहरण देखना हो तो कोहेनूर हीरे का इतिहास देखिए।

कहा जाता है कोहेनूर हीरा गोलकुन्डा की खान से निकला था। महाभारत के समय में यह भागलपुरपति राजा कामसेन के पास था। फिर क्रमशः हस्तिनापुरपति, फिर उज्जयनीपति के पास गया। फिर अलाउद्दीन खिलजी के हाथों चढ़ा, फिर हुमायूं को मिला, शाहजहां के पास आया, औरंगजेब और नादिरशाह के पास पहुँच कर आखिर लाहौरपति रणजीतसिंह के पास पहुंचा पर वहां भी टिका नहीं। वहा से जब अंग्रेज भारत में आये तो उनके पास पहुचा। महारानी विक्टोरिया के ताज में जड़ा गया। तो एक हीरे की यह स्थिति है जो इधर से उधर राजाओं के खजाने में चक्कर काटता रहा, किसी के पास स्थिर नहीं रहा।

मनुष्य के जीवन में जब तक पुण्य का उदय रहता है, जो-जो वस्तु चाहिए मिलती जाती है, सब सुखद संयोग प्राप्त होते रहते हैं। लेकिन जैसे ही पुण्य-बल क्षीण होता है, सम्पत्ति पानी के बुलबुले की तरह नाश होने लग जाती है। रात को सोते है राजा और महाराज की शय्या, पर सुबह उठते ही हाथ में हथ-कड़ियां डालकर जेल में बन्द किया जाता है। दूर क्यों, आज के युग में तो आप साक्षात् देख सकते हैं। रात को मिनिस्टर का ख्वाब है, सैकड़ों लोग जी-हजूरी कर रहे है, हाथ में सत्ता है। चाहें तो एक इशारे में करोड़ों के वारे-न्यारे कर सकते है, सुबह होने से पहले ही उन्हें सूचना मिलती है, मिनिस्टरी से पत्ता कट गया, बंगला ५ दिन के भीतर खाली कर दीजिए। जो चपरासी सिर झुका कर सलाम करते थे, वे ही बिस्तर बाँधकर बाहर फेंक रहे हैं। तो यह दशा होती है पुण्यबल क्षीण होते ही। जिस हिटलर, मुसोलिनी से एक दिन ससार थर-थर कापता था, एक समय आया कि उनकी लाश का भी पता नहीं चला, कहा आत्महत्या करके मरे, किसी को कुछ खबर नही। आज के युग में ताजा उदाहरण अभी-अभी घटित हुआ है अमेरिका के भू० पू० राष्ट्रपति निक्सन का। एक दिन निक्सन के इशारों पर संसार में हलचल मचती थी। एक दिन आसू बहाते हुए राष्ट्रपति पद छोड़कर विदा होना पड़ रहा है। यह स्थिति हर मनुष्य के जीवन में आ सकती है। घटत-बढ़त की छाया है, पर चिन्तनशील साधक इन घटनाओं से शिक्षा ग्रहण कर अन्तर् जगत को चैतन्य बनाता है, वह स्वय ठोकर नहीं खाता, पर दूसरों की ठोकर से ही सावधान हो जाता है। वह जानता है—

> अच्चेइ कालो तूरन्ति राइओ,
> न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा।
> उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति,
> दुमं जहा खीणफलं व पक्खी॥[1]

—काल बीता जा रहा है, रात्रियाँ भागी जा रही है। जीवन मे जो काम-भोग प्राप्त हुए है, वे कोई स्थिर नही है। नित्य नहीं हैं। जब तक पुण्य का संयोग है सुख-सम्पत्ति दौड़कर आ रही है, पुण्य क्षीण होते ही ये काम-भोग, सुख-सम्पत्ति, स्वजन-परिजन ऐसे छोड़कर चले जायेंगे जैसे—

> दुमं जहा खीणफलं व पक्खी।

—फलहीन वृक्ष को पक्षी छोडकर चले जाते है, वैसे ही सब सुख-सुविधायें तुम्हें अकेला छोड़कर चली जायेंगी और तुम ससार में दर-दर की ठोकरें

१. उत्तराध्ययन १३।३१

खाते रहोगे । उर्दू के शायर ने इस सम्बन्ध में सावधान करते हुए कितना अच्छा कहा है—

> इतर मिट्टी का भी जो मलते न थे पोशाक में।
> कासए-सर[1] उनके देखे हमने रुलते खाक में ॥
>
> ×   ×
>
> मखमली गद्दों पे जिनको नींद तक आती न थी।
> एक पत्थर है फकत उनके सिरहाने के लिए॥
> जिनके 'लंगर'[2] रात-दिन जारी थे भूखों के लिए।
> आज वोह मुहताज हैं, बस, दाने-दाने के लिए॥

इस प्रकार के विचारों से, चिन्तन से मन में जीवन के प्रति निराशा लाने की जरूरत नहीं है, किन्तु जीवन की वास्तविकता समझनी है। शरीर, धन एवं वस्तु तथा सत्ता के प्रति मनुष्य के मन में जो मोह पैदा हो गया है, उस अनित्य, अशाश्वत और क्षणभंगुर वस्तु को ही सब कुछ मानकर उसके पीछे पड़ा है, उस मतिभ्रम को तोड़ना है, इस दिशामूढ़ता को समाप्त कर मन में जागृति लाना है, वस्तु के स्वरूप को सही रूप में समझकर मन को निर्वेद रस में लगाना है, बस यही है अनित्य भावना के चिन्तन का फल।

☆

---

१. सिर के प्याले में
२. भोजनालय (अन्नसत्र)

२. अशरण भावना

अनित्य भावना के द्वारा संसार के पदार्थों का सही स्वरूप दिखाया गया है कि यहाँ जितने भी पदार्थ हमारे भोग-उपभोग में आते हैं, वे सब क्षणिक है, नश्वर हैं, अस्थिर हैं, इसलिए उन पर ममता, आसक्ति और मूर्च्छा न की जाय। मन का ममत्व कम करने के लिए ही वस्तु के अनित्य स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है। अनित्यता का बोध होने के बाद अब हमें इस पर विचार करना चाहिए कि जो वस्तु अनित्य है, वह शरणभूत भी नहीं हो सकती। जो नींव हिल रही है, अस्थिर है, उस पर कोई भवन या मन्दिर खड़ा नहीं किया जा सकता, क्योंकि नींव ही कमजोर हो तो कारीगर क्या करे? तो जब वस्तु स्वभावतः अस्थिर है तो वह जीवन की रक्षा के लिए, मृत्यु से बचाने के लिए कैसे समर्थ होगा! राजस्थानी में कहावत है—

बीन रै मूंडे लार पडै तो जानी कांई करै ?

बारात में दुल्हा ही जब रोनीसूरत का हो, तो बराती चाहे जितने सजधज कर, ऐंठ-अकड़ कर चलें, उससे बरात की शोभा थोड़ी ही बढ़ेगी? तो इसी पृष्ठ-भूमि पर अशरण भावना का चित्र उपस्थित किया गया है। जो पदार्थ अनित्य हैं, वे कभी तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकेंगे। जो स्वयं प्रतिक्षण मृत्यु के ग्रास हो रहे हैं वे तुम्हें मृत्यु से कैसे बचायेंगे? तो यहाँ अशरण भावना का स्वरूप बताते हुए सर्वप्रथम एक रूपक दिया गया है—

जहेह सीहो व मियं गहाय,
मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले।
न तस्स माया व पिया व भाया,
कालम्मि तम्मिऽसहरा भवंति।[1]

—जैसे कोई सिंह मृगों की टोली में से किसी एक मृग को दबोचकर ले जाता है तो बाकी दूसरे सभी मृग भयभीत होकर इधर-उधर छुप जाते हैं, अपनी जान बचाते हैं, लेकिन कोई भी मृग उस सिंह के मुंह में जाते मृग को नहीं बचा सकता। यही स्थिति संसार में मनुष्यों की है। कालरूपी सिंह जब

---

१. उत्तराध्ययन १३।२२

झपटता है, तो माता, पिता, भाई, पुत्र, पत्नी आदि सब एक ओर खड़े देखते रहते है, बेबस रोते-बिलखते हैं, लेकिन काल के मुंह में जाते उस प्राणी की कोई रक्षा नहीं कर सकता।

काल बड़ा निर्दय है

संसार में मनुष्य को सबसे बड़ा दुःख मृत्यु का है। मृत्यु—काल एक ऐसा निर्दय है जो किसी को भी नहीं छोड़ता—चाहे राजा हो या रंक, चक्रवर्ती और तीर्थंकर देव को भी इसने नहीं छोड़ा। जिस घड़ी, जिस क्षण इसका आक्रमण होता है, मनुष्य का कोई भी बल, कोई भी उपाय चल नहीं सकता। कहा गया है—

> **प्रविशति वज्रमये यदि सदने तृणमथ घटयति वदने।**
> **तदपि न मुंचति हत समवर्ती! निर्दयपौरुषवर्ती।**
> **विनय! विधीयतां रे श्रीजिनधर्मशरणम्।**[1]

—यदि कोई प्राणी मृत्यु से बचने के लिए वज्र के समान मजबूत और सुदृढ घर में प्रवेश कर छिप जाय कि यहां द्वार बन्द करने के बाद काल प्रवेश नहीं कर सकेगा तो क्या काल वहां नहीं घुस सकेगा? अथवा जब मौत सामने दिखाई दे, मुंह में घास का तिनका लेकर दीनता दिखाय, हाथ जोड़े, प्रार्थना करे कि मैं गरीब हूं, मुझे छोड़ दो, तो भी यह निर्दय, निष्ठुर काल न किसी छुपने वाले को छोड़ेगा और न रोने-चीखने वाले को, इसका तो नाम ही समदर्शी है, बलवान और निर्बल पर समभाव रखता है, इसके सामने चाहे देवराज इन्द्र हो, या नाली का कीड़ा, दोनों को ही यह अपना भक्ष्य बना लेता है, अर्थात् काल इतना निर्दय है कि वह किसी पर दया नहीं करता। वह यह नहीं देखता, इस घर में तो अभी-अभी बालक का जन्म हुआ है, खुशियां मनाई जा रही है, यदि मैं इसे अभी उठा लूंगा तो इसकी माता कितनी विलाप करेगी, क्रन्दन करेगी, यह बिचारा बालक अभी तो संसार में आया है, अभी इसने कुछ भी देखा नहीं है, मैं कुछ दिन तो इसे जीवन का आनन्द लेने दूं! क्या काल कभी ऐसा विचार करता है? नहीं।

जवान लड़का है, अभी-अभी शादी हुई है, हाथ के कंकण-डोरे भी नहीं खुले हैं, पत्नी का मुंह भी नहीं देखा और न विचारी उस कन्या ने जिसने अपना जीवन इसे समर्पित किया है, एक क्षण पति से वार्तालाप किया है, दोनों ओर अपार उमंगें है, जीवन के स्वप्न है और खुशियों के गुब्बारे फूल रहे है कि अचानक काल का आक्रमण होता है। पत्नी रोती रहती है, घर में

---

१. शान्तसुधारस, भावना ३।३

हाहाकार मचा होता है और उस नौजवान की लाश उठ जाती है, कोई उसे बचा नहीं सकता, कोई काल को रोक नहीं सकता । भगवान महावीर ने कहा है—

> **डहरा बुड्ढा य पासह !**
> **गब्भत्था वि चयन्ति माणवा ।**
> **सेणे जहा वट्टयं हरे**
> **एवं आउखयम्मि तुट्टइ ।**[1]

देखो, यह काल बाज के जैसा प्राणी पर झपट्टा मारता है, यह नहीं देखता कि यह युवक है या बूढ़ा है, अभी गर्भ से निकला भी नहीं है, किसी का भी इसे विचार नहीं, बस, यह तो जब आयु क्षय का समय आता है, चुपचाप उसे उठाकर ले जाता है । यह मृत्यु पहले सूचना भी नहीं देती कि—

कदा कथं कुतः कस्मिन्नित्यतर्क्यः खलोऽन्तकः ।

यह दुष्ट काल यह भी नहीं सोचता कि कब, कैसे, कहां से और किस स्थिति में किस पर हमला करूंगा । काल एक तानाशाह की तरह अचानक ही हमला कर प्राणी को उठा कर ले जाता है । उस समय कोई इसे बचा नहीं सकता । कोई भी शरणदाता नहीं होता !

मृत्यु के सम्बन्ध में सबसे पहली बात यह है कि इसका कोई भी निश्चित समय नहीं है । राजस्थान में कहावत है—'मौत, मेह और पावणा अणबूझ्या ही आय ।' कोई कहे कि हमें पहले सूचना हो जाती, खबर हो जाती तो हम सावधान हो जाते, लेकिन भाई ! खबर देने की इसकी रीति ही नहीं है । यह तो अचानक आती है । थावच्चापुत्र ने अपनी माता से वार्तालाप करते हुए बताया कि मैं यह तो जानता हूं कि मृत्यु आयेगी । जो जन्मा है वह मरेगा । **"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः"**[2]—जन्मधारी का मरण निश्चित है । जो फूल खिला है वह कुम्हलायेगा, जो सूर्य उदित हुआ है वह अस्त भी होगा । यह नहीं हो सकता कि **णाणागमो मच्चु मुहस्स अत्थि**[3]—मृत्यु का आगमन ही न हो, मृत्यु आयेगी अवश्य, लेकिन वह कब आयेगी, बस इसका मुझे पता नहीं है और इसीलिए उसके आने से पहले ही मैं सावधान हो जाता हूं ।

जब काल आकर आक्रमण करता है तब मनुष्य लाख उपाय करे, तब भी उससे बच नहीं सकता । कहा है—

१. सूत्रकृतांग १।२।१।२
२. गीता २।२७
३. आचारांग १।४।२

मणिमंतोसह रक्खा,
हय-गय रहओ य सयल विज्जाओ ।
जीवाणं ण हि सरणं,
तिसु लोग मरणसमयम्मि ।[1]

—मणि, रत्न, मंत्र-तंत्र-औषधि, हाथी, घोड़े-रथ, सैनिक और समस्त विद्याएँ—किसी में भी यह शक्ति नहीं है कि मृत्यु के मुँह में जाते प्राणी को बचा सकें या उसकी रक्षा कर सके। यदि किसी के मन में यह भ्रम हो कि यह मेरी माता, ये मेरे पिता या और नहीं तो मेरी पत्नी ही मुझे अवश्य ही मृत्यु से बचा लेगी, अगर ये नहीं तो मेरे पास अपार धन-सम्पत्ति है, संसार में धन से क्या नहीं होता, मैं धन बल से एक को जगह दस, दस की जगह हजार रुपये खर्च करके मृत्यु से बच जाऊँगा तो समझो यह एकदम भ्रान्ति है, झूठा मनोराज्य है। जिन्होंने संसार का गहरा अनुभव किया है, समस्त विश्व की स्थितियों का ज्ञान प्राप्त किया है, उनका यह स्पष्ट निर्घोष है कि—

वित्तं पसवो य नाइओ,
तं बाले सरणं ति मन्नइ ।
एए मम तेसु वि अहं,
नो ताणं सरणं न विज्जइ ।[2]

—अगर कोई यह मानता है कि यह धन मेरा है, इससे मेरी रक्षा होगी, ये पशुधन मेरे पास है। मैं इससे अपनी जान छुड़ा सकूँगा। इतने ज्ञाति-स्वजन मेरे है, बड़े-बड़े डाक्टर और वैद्य मेरे मित्र हैं, मैं उनको लाखों रुपया खिलाता हूं, उनके लिए आधार और आनन्दभूत बना हुआ हूँ, समय आयेगा तब वे भी मेरे सहायक बनेंगे, मेरी रक्षा करेंगे—यदि ऐसा कोई सोचता है तो यह निरी मूर्खता है। ज्ञानियो ने उसे 'बाल' बालक के समान अनजान बताया है, विश्व की स्थिति से वह सर्वथा अनभिज्ञ है, यमराज के व्यवहार से वह बिलकुल अपरिचित है। क्योंकि संसार की सत्यता यह है कि वास्तव में न तू उनका आधार है, शरण है और न वे तेरे शरण हैं। यह केवल तेरे मन की भ्रांति है, यदि इस भ्रांति को नहीं तोड़ सका तो तू बहुत बड़ा धोखा खा जायेगा और आखिर में पछतायेगा कि मैं धोखा खा गया।

हां, ऐसा तो नही है कि ये वस्तुएँ कभी तेरे किसी उपयोग में न आएँ, भौतिक साधन उपयोग में तो आते हैं, लेकिन कब तक? जब तक तेरा आयुष्य बल है, तेरा पुण्य बल है। कवि रत्नचन्द्र जी म० ने कहा है—

---

१. बारस अणुवेक्खा (कुन्दकुन्द)
२. सूत्रकृतांग १।२।३।१६

राज्यं प्राज्यं क्षितिरतिफला किङ्कराः कामचाराः,
सारा हारा मदनसुभगा भोगभूम्यो रमण्यः ।
एतत् सर्वं भवति शरणं यावदेव स्वपुण्यं,
मृत्यौ तु स्यान्न किमपि विनाऽरण्यमेकं शरण्यम् ।[1]

—यह विशाल साम्राज्य, लम्बी चौड़ी पृथ्वी, स्वामी के इशारों पर नाचने वाले ये कर्मचारी, पहनने योग्य बढ़िया से बढ़िया हार, आभूषण, मन को मुग्ध करने वाली ये सुन्दरियाँ यह सब तेरे पास में हैं, लेकिन कब तक तेरे लिए उपयोगी है, जब तक **'यावदेव स्वपुण्यं'** तेरा पुण्य सहायक है, तब तक ही ये तेरे हैं, जब पुण्य क्षीण हो गये, पुण्य बल समाप्त हो गया तो तेरा निवास जंगल में होगा, श्मशान में होगा और इनका स्वामी कोई दूसरा ही हो जायेगा । ये सब साधन तेरी कोई रक्षा नहीं कर सकेंगे । परलोक में जाते समय कुछ भी तेरे साथ नहीं जा सकेगा, और न यहाँ पर तुझे परलोक में जाने से ही रोक सकेगा । कविवर अमी ऋषिजी ने कहा है—

अशुभ असाता उदै, आवै जब चेतन के,
मित्र परिवार कोउ होत न सहाई है ।
सब देहधारी वश काल के विहाल भये,
तिहुँ लोक माँही याकी फिरति दुहाई है ।
शरण सहाई जिनराज को धर्म एक,
त्यागि के भरम उर धारो सुखदाई है ।
कहै अमीरिख भाई भावना अनाथी, तप—
संयम कमाई भव भ्रमण मिटाई है ।[2]

मृत्यु तो दूर की बात है, समझ लो उसे कोई नहीं टाल सकता, लेकिन जब प्राणी के असातावेदनीय कर्म उदय में आते हैं, शरीर में रोग उठता है उस समय भी कोई उसकी वेदना नहीं मिटा सकता । माता-पिता, पत्नी आदि चाहे कितना ही प्रेम दिखायें पर कोई उसकी पीड़ा को बँटा नहीं सकते, उसके भय को कम नहीं कर सकते । शास्त्रों में ऐसे अनेक उदाहरण आते हैं, व्यवहार जीवन में भी हम रात-दिन देखते है, मनुष्य जब रोगशय्या पर सोता है तब परिवार के प्यारे स्वजन, डाक्टर, वैद्य भले ही उपचार करें, पर कोई उनकी पीड़ा को बँटा नहीं सकते, यदि साता का उदय नहीं हुआ तो लाखों रुपये दवा-पानी मे बहा देने पर भी कोई लाभ नहीं पहुंचता ।

---

१. भावनाशतक १६
२. अमृतकाव्य संग्रह

यही तो अनाथता है

अनाथीमुनि का एक बड़ा ही प्रेरक प्रसंग हमारे सामने है। कहा गया है—

> **यस्यागारे विपुलविभवः कोटिशो गो-गजाश्वा—**
> **रम्या रामा जनक-जननी बन्धवो मित्रवर्गाः।**
> **तस्याऽमून्नो कथ न हरणे कोऽपि साहाय्यकारी,**
> **तेनाऽनाथोऽजनि स च युवा का कथा पामराणाम्।**[1]

—जिसके घर मे वैभव का कोई पार नहीं था। गाय, हाथी, घोड़ों की कोई गिनती नहीं थी। मन को प्रसन्न करने वाली आज्ञानुवर्तिनी पत्नी थी, माता-पिता का अपार प्यार था। बन्धु और मित्र वर्ग उसके लिए मरते थे। ऐसे सुन्दर गुण-सम्पन्न (गुणसुन्दर-अनाथी का पूर्वनाम) युवक के शरीर में जब रोग उत्पन्न हुआ तो कोई उसकी पीड़ा बटाने वाला नहीं हुआ। किसी ने भी उसकी सहायता नहीं की। फिर साधारण मनुष्य तो किस बाग की मूली है? उसकी क्या कथा? जब ऐसा सम्पन्न युवक भी अपने आपको असहाय अनुभव करने लगा।

राजगृह के बाहर मण्डितकुक्षि उद्यान मे एक अद्भुत रूप-सम्पन्न तेजस्वी श्रमण ध्यान कर रहा है, राजा श्रेणिक घूमता हुआ उधर निकल जाता है। श्रमण की विस्मयकारी रूपसम्पदा और अद्भुत तेजस्विता देखकर उधर आता है, और श्रमण जब आँखें खोलता है तो उससे पूछता है—हे श्रमण! तुमने इस भरपूर यौवन में यह श्रमण वेष क्यों लिया? तुम्हारा यह दीप्तिमान सौन्दर्य, यह यौवन सांसारिक सुख भोगने के लिए है, न कि तपस्या की अग्नि में जलाने के लिए?

उत्तर में मुनि ने कहा—

> **अणाहो मि महाराय! नाहो मज्झ न विज्जइ।**
> **अणुकम्पगं सुहिं वावि किंचि नाभिसमेमहं।**[2]

—महाराज! मैं अनाथ हूँ, असहाय हूँ। मेरा कोई भी नाथ या संरक्षक नही है, मुझ पर अनुकम्पा रखने वाला कोई सुहृद् मित्र भी नही मिला।

मुनि के इस उत्तर ने राजा को आश्चर्य में डाल दिया। वह बोला, "तुम ऐसे सुन्दर दीख रहे हो जैसे कोई देव कुमार हो—**यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति**—"जहाँ आकृति है, सुन्दरता है वहा कुछ न कुछ गुण भी होते ही हैं। दीखने में

१. भावनाशतक १५
२. उत्तराध्ययन २०।६

तुम किसी ऋद्धिसंपन्न घर के दीखते हो, सौभाग्यशाली लगते हो, और कहते हो कि मैं अनाथ हूँ, असहाय हूँ, यह क्या बात है ? यदि यह सही है तो चलो मैं तुम्हारा नाथ बनता हूँ ! तुम संसार के सुख भोगो।"

मुनि ने राजा के झूठे अहंकार पर चोट करते हुए कहा—

अप्पणा वि अणाहो सि सेणिया ! मगहाहिवा !
अप्पणा अणाहो सन्तो कहं नाहो भविस्ससि ?

—मगधाधिप राजा श्रेणिक ! तुम खुद ही अनाथ हो, जब स्वयं अनाथ हो तो फिर दूसरों के नाथ कैसे बनोगे ? जो स्वय दरिद्र है वह दूसरों को धनवान कैसे कर सकता है।

स्वयं दरिद्रः कथं परमीश्वरी कर्तुं समर्थः ?

—मुनि की बात सुनकर श्रेणिक चकित हुआ, विस्मित हुआ और मुनि के सामने अपने वैभव की चर्चा की तो मुनि हंसकर बोले—राजन् ! मैं यह सब जानता हूँ, तुम मगध देश के राजा हो, तुम्हारे पास अतुल वैभव है, पर मेरे पास भी धन-वैभव की कमी नहीं थी। मेरा पिता कौशाम्बी का प्रमुख धनपति वहाँ का इभ्य सेठ था। उसके खजाने धन से भरे थे। अतुल वैभव चरणों में लोटता था। मैं उसका अत्यन्त प्रिय पुत्र था, मेरा नाम गुणसुन्दर था। यौवन में मेरी एक अत्यन्त रूपवती, गुणवती कन्या के साथ शादी हुई। वह भी मुझसे अत्यन्त प्यार करती थी। मित्रों की कोई कमी नहीं थी। दुःख और कष्ट क्या होता है, मैंने कभी स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी। पर राजन्, एकबार मेरी आँखों में पीड़ा उत्पन्न हुई। अत्यन्त भयंकर ! जैसे समूचे शरीर में सुइयाँ चुभो दी हों, मर्मस्थानों पर तीक्ष्ण शस्त्र घोंप दिये हों, ऐसी असह्य और भयानक वेदना हुई। मैं तिलमिला उठा, मेरा अंग-अंग जलने लगा जैसे किसी भड़भूजे की भट्टी में चने भुने जाते हों, वैसी तीव्र वेदना और जलन मुझे अनुभव हुई।

मेरे पिता ने बड़े-बड़े चतुर वैद्यों को बुलाया। उन्हें उपहार स्वरूप सब वैभव, अपार सम्पत्ति देने का भी कहा—और उन्होंने भी चिकित्सा शास्त्र के सब प्रयोगों को खोज-खोजकर चिकित्सा की, दवाएं कीं, पर सब कुछ उपचार व्यर्थ गये। कोई भी वैद्यराज मेरी आँख की वेदना कम नहीं कर सका। मेरी माता शोक से पीड़ित हो विलाप करने लगी, उसने भी कहा—कोई मेरे प्रिय पुत्र की वेदना मिटा दे, मैं उसे मन इच्छित सम्पत्ति दूंगी। पर सब कुछ व्यर्थ ! मेरे छोटे-बड़े भाई भी रात-दिन वैद्यों के चक्कर लगाते, औषधियाँ लाते, मुझे देते, पर सब 'भस्मनि हुतं' राख में घी डाला जैसा हुआ। वे भी विचारे दुःखी होकर रोते बिलखते रहे। मेरी सगी बहनें जो मुझे अत्यन्त प्यार करती

थीं। भैया, भैया कहते गला सूखता था ! वे भी असहाय देखती रही, रोती रहीं, कोई कुछ न कर सका। राजन् ! यही तो मेरी अनाथता है।[1] सब कुछ साधन होते हुए भी कोई मुझे वेदना से मुक्त नहीं कर सका। और तो क्या, मेरी पत्नी जो मुझ में अत्यन्त अनुरक्त थी; वह मेरे लिए प्राण भी उत्सर्ग कर सकती थी, वह भी आँखों से आंसू बहाती देखती रही, रो-रो कर क्रन्दन करती रही, पर मुझे रोग मुक्त नहीं कर सकी—राजन् ! इससे बढ़कर और क्या असहायता होगी कि दुनिया भर की सम्पत्ति और सबका अगाध प्रेम न्यौछावर कर देने पर भी मुझे आँख की पीड़ा से चैन नहीं मिला, मैं रात-दिन पीड़ा से कराहता रहा।

उसी परिस्थिति मे मेरे मन में एक सकल्प उठा ! प्राणी को इस ससार में अनन्त बार ऐसी वेदनाए भोगनी पड़ी है, और इससे भी भयंकर त्रास-यातना सहनी पडी है। इस बार मुझे इस वेदना से छुटकारा मिल जाए तो मैं संसार के समस्त भोगों का त्याग करके—

खंतो दंतो निरारंभो पव्वए अणगारियं।

—क्षान्त, दांत और आरंभ से मुक्त होकर घर-बार का त्यागकर साधु बन जाऊँगा और तपस्या कर कर्मों से मुक्त होने का प्रयत्न करूँगा। राजन् ! मेरे इस संकल्प ने चमत्कार दिखाया, धीरे-धीरे मेरी वेदना कम होने लगी। मुझे नींद आ गई। प्रातःकाल जब उठा तो बिलकुल स्वस्थ था। मेरे परिवारीजन सब प्रसन्न थे, आनन्द व खुशियां मना रहे थे। लेकिन मेरे अन्तःकरण में एक दूसरा ही प्रवाह उमड़ रहा था। मैंने मनोमंथन किया। संसार की अशरणता का स्पष्ट चित्र मेरे सामने आगया था। मैंने देख लिया, संसार की कोई भी वस्तु, धन, सपत्ति, प्रेम, स्नेह, ममता मनुष्य को अपनी पीडा से, वेदना और मृत्यु से नहीं बचा सकती। कोई किसी का शरण नहीं, कोई किसी का सहारा नहीं, और कोई किसी का नाथ नहीं। सब अनाथ है, सब अशरण है, केवल एक दूसरे को अपना आश्रयभूत समझने की झूठी भ्रांति है। मेरा यह अज्ञान का पर्दा हट गया, मेरा भ्रम दूर हो गया और अन्तःचक्षु उघड गये। मैंने साफ-साफ समझ लिया—

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ॥

—इस संसार में जो भी सुख-दुःख मिलते है, उनका करने वाला अपना ही आत्मा है। यह आत्मा ही अपना मित्र है, यही अपना सहारा है, और यदि

१. न मे दुक्खा विमोएइ एसा मज्झ अणाहया। —उत्तराध्ययन २०।३०

दुराचार में, दुष्प्रवृत्ति में जाता है तो यही आत्मा शत्रु है, दुःखदायी है। सब सुख-दुःख का मूल आत्मा ही है। बस, सत्य का आलोक मेरे सामने आ गया। मैंने ममता के सब बंधन तोड़ डाले, घर, परिवार, पिता, पुत्र, पत्नी, बहन, भाई सब के स्नेहसूत्र को झकझोर कर तोड़ दिया, साधु बन गया। अब मैं अनाथता से सनाथता में आ गया। अपने आपका नाथ बन गया। धर्म की शरण लेकर स्वयं का शरणभूत बन गया और छः काय के जीवों का भी शरणदाता बन गया।

अनाथी मुनि की हृदयस्पर्शी आत्म-कथा सुनकर श्रेणिक भी गद्-गद् हो गये। रोमांचित होकर कह उठे, मुने ! आपका ज्ञान बड़ा गहरा है, आपका कथन सत्य है, वास्तव में मुझे भी आज अपनी अनाथता का अनुभव हुआ है। अपनी आत्मा ही अपनी नाथ हो सकती है, इसके सिवाय अन्य कोई नहीं।

स्वार्थ का नाटक

संसार में स्वार्थ का एक अजब नाटक खेला जा रहा है। मनुष्य अपने स्वार्थवश ही दूसरों से प्रेम करता है, दूसरों को अपना समझता है। यदि स्वार्थ न रहा तो कोई किसी का नहीं। चाणक्य-नीति में कहा गया है—

> निर्धनं पुरुषं वेश्या, प्रजा भग्नं नराधिपम् ।
> खगा वीतफलं वृक्षं भुक्त्वा चाभ्यागतो गृहम् ।
> गृहीत्वा दक्षिणां विप्रा-स्त्यजन्ति यजमानकम् ।
> प्राप्तविद्या गुरुं शिष्या दग्धारण्यं मृगास्तथा ।।

—वेश्या निर्धन पुरुष को छोड़ देती है, प्रजा शक्तिहीन राजा को राजगद्दी से हटा देती है, पक्षी फलहीन वृक्ष को छोड़कर उड़ जाते हैं। भोजन करने के बाद अतिथि घर को भूल जाता है, दक्षिणा लेने के बाद ब्राह्मण यजमान की कोई चिन्ता नहीं करता, विद्या मिल जाने के बाद शिष्य गुरु को और जल जाने के बाद मृग अरण्य को छोड़कर अन्यत्र चले जाते है। इस प्रकार संसार में ये जहाँ भी देखो, जिधर भी नजर फैलाओ स्वार्थ का ही बोलबाला है। जब तक मतलब, तब तक प्यारा ! "काम सरया दुःख वीसर्या वैरी हुग्या वैद" इसलिए यहाँ किसी पर यह विश्वास करना कि यह मेरा है, या समय पर मुझ से प्रेम निबाहेगा, मेरी रक्षा करेगा—एक प्रकार की मूर्खता है। रायपसेणी सूत्र में प्रदेशी राजा का वर्णन आता है। सूरीकान्ता रानी पहले उससे बहुत प्रेम करती थी, राजा भी रात-दिन उसके प्रेम में आसक्त था। लेकिन राजा जब केशीश्रमण के उपदेश से धार्मिक बना, और जीवन को ध्यान, तप और उपवास साधना में बिताने लगा तो रानी भी उससे अप्रसन्न

रहने लगी। उसने सोचा—अब तो राजा मेरे सुख-भोग के लिए काम का नहीं रहा। व्यर्थ ही मेरे आनन्द में उल्टा बाधक बना हुआ है, तो उसने क्या षड़यन्त्र रचा? राजा को खाने में जहर देकर मार डाला। अत्यन्त प्यार करने वाली पत्नी स्वार्थ न रहने पर पति को जहर देकर मार सकती है। अपने स्वार्थ में बाधक बनने पर कंस ने पिता को पींजरे में बंदकर नगर के प्रवेश द्वार पर टाँग दिया था, कूणिक ने पिता श्रेणिक को जेल में बन्दकर कितने कष्ट दिये? और औरंगजेब ने अपने भाइयों को मारकर, पिता शाहजहाँ को जेल में डालकर स्वयं राजगद्दी का मालिक बन गया। संसार में ऐसे एक नहीं, अनेक-अनेक उदाहरण रोज घटित होते है कि अमुक पिता ने पुत्र को, माता ने अपनी बेटी को, भाई ने भाई को, पत्नी ने पति को और पति ने पत्नी को मार डाला। नृशंस हत्या कर डाली। तो इससे समझ में आ सकता है कि ये सब सम्बन्ध बहुत ही कच्चे है, काँच भी तो ठोकर लगने पर टूटता है, लेकिन स्वार्थ का यह काँच तो ठोकर लगने की आशंका में ही चूर-चूर हो जाता है। ऐसे क्षणिक, अविश्वसनीय सम्बन्धों पर किसी को अपना मानना या उसे अपना रक्षक या सहारा मानना बहुत बड़ी भूल है। अशरण भावना के द्वारा ज्ञानियों ने मनुष्य को यही प्रबोध दिया है कि तुम जिन्हें अपना शरण और त्राता मान रहे हो, वे ज्ञाति सयोग, सम्बन्ध—

> इह खलु नाइ संजोगा नो ताणाए वा नो सरणाए वा,
> पुरिसे वा एगया पुव्विं नाइसंजोगे विप्पजहइ,
> नाइसंजोगा वा एगया पुव्वि पुरिसं विप्पजहंति,
> से किमंग पुण वयं अन्नमन्नेहिं नाइ सजोगेहिं मुच्छामो।[1]

—इस संसार में ज्ञाति स्वजनों के संयोग भी दुःखों मे रक्षा करने वाले नहीं है। कभी पहले ही पुरुष इन्हें छोड कर चल देता है, और कभी ये संयोग ज्ञातिजन पुरुष को छोड़कर चले जाते हैं। फिर जो अपने नही है, अपने से भिन्न है, उन सयोगों में हम क्यों मूर्च्छित हो रहे है? यह मूर्च्छा वास्तव में ही हमारा अज्ञान है।

धर्म ही शरणभूत है

जब यह अनुभव हो जाता है कि ये भौतिक पदार्थ, ज्ञातिस्वजन हमारे रक्षक, हमारे त्राता और आश्रयदाता नहीं है तो फिर मनुष्य के सामने एक प्रश्न पैदा होता है कि फिर ऐसा कौन-सा तत्त्व है जो हमारी रक्षा कर सकता है? उत्तर में आचार्य उमास्वाति ने बताया है—

---

१. सूत्रकृतांग २।१।१३

जन्म जरा मरणभयैरभिद्रुते व्याधिवेदनाग्रस्ते।
जिनवरवचनादन्यत्र नास्ति शरणं क्वचिल्लोके॥[1]

—जन्म, जरा, मृत्यु, भय, रोग, शोक-वेदना से पीड़ित इस संसार में जिनेश्वरदेव के वचन, उनका उपदेश और उनके द्वारा प्ररूपित धर्म ही एक ऐसा है जो मनुष्य का शरणभूत हो सकता है। उसका रक्षक हो सकता है।

रानी कमलावती ने इषुकार राजा को धन-सम्पत्ति की असारता बताते हुए कहा था—

एक्को हु धम्मो नरदेव! ताणं,
न विज्जइ अन्नमिहेह किंचि।[2]

हे नरदेव! एक धर्म ही इस पृथ्वी पर हमारा त्राता है, इसके सिवाय कोई भी हमारा रक्षक नहीं है।

यही बात केशीस्वामी ने गौतमस्वामी से पूछी कि एक महासमुद्र है, इसमें भयंकर तूफान उठ रहे हैं। मच्छ-कच्छ निगलने को मुँह फैला रहे हैं, फिर ऐसा कौनसा द्वीप है जहाँ आत्मा जाकर निर्भय हो और शरण ग्रहण कर सके? उत्तर में गौतमस्वामी ने बताया—

जरा-मरण वेगेणं बुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं॥[3]

—जरा और मृत्यु के वेग में बहते हुए प्राणियों के लिए धर्म एक ऐसा द्वीप है, ऐसा स्थान है, ऐसी उत्तम गति है, ऐसी शरण है, और प्रतिष्ठा है, जहाँ आकर प्रत्येक प्राणी शान्ति और निर्भयता पूर्वक रह सकता है।

मनुष्य का प्राण छूटने पर धन-सम्पत्ति भण्डार में ही पड़ी रहती है, पत्नी आदि घर के द्वार तक साथ आते है, पुत्र-स्वजन आदि श्मशान तक! बस वहाँ आकर मृत कलेवर को जलाकर प्राणी को अकेला छोड़कर सब चले जाते हैं, लेकिन धर्म ही एक ऐसा है जो परलोक में भी उसके साथ जाता है—

विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति।[4]

स्वजन मुँह फेरकर जले जाते है, किन्तु धर्म परलोक में भी प्राणी के साथ जाता है, और वहां उसके सुख में सहायक होता है, दुःखों से उसकी रक्षा करता है। जिन स्थितियों में आपका कोई सहारा नहीं होता, उन स्थितियों में धर्म ही

---

१. प्रशमरति प्रकरण १५२
२. उत्तराध्ययन १४।४०
३. उत्तराध्ययन २३।६८
४. मनुस्मृति ३।२४१

आपकी रक्षा करता है, इसे चाहे पुण्य कह दो, सुकृत कह दो, सद्‌भाग्य कह दो, यह छाया की भांति प्रत्येक क्षण प्राणी के साथ रहता है और उसकी सहायता करता है। तो ऐसे विश्वासी और सदा हितकारी सहायक धर्म की शरण में आने का आव्हान करते हुए कहा गया है—

शरणमेकमनुसर चतुरंगं परिहर ममतासंगम्।
विनय ! रचय शिवसौख्यनिधानं शान्तसुधारसपानम् ॥

हे विनयशील आत्मन् ! संसार में धर्म के सिवाय सब कुछ नश्वर है, इसलिए अशरण है, तू उनका विवेक करके धर्म के चार अंग—दान, शील, तप और भाव का आचरण कर। ममत्व के बन्धन को तोड़ ! जब तू धर्म की शरण में आयेगा तो मुक्ति के सुखों का अमृत रस पी सकेगा, और शांति सुधा-पान से तेरी जन्म-जन्म की समस्त प्यास मिट जायेगी ! तू अक्षय आनन्द को प्राप्त कर सकेगा।

☆

३. संसार भावना

अशरण भावना में बताया गया है कि संसार की प्रत्येक वस्तु, जो परिवर्तनशील है, नाशमान है, वह आत्मा के लिए शरणभूत नहीं हो सकती। स्थिर, अविनाशी और शाश्वत तत्त्व ही आत्मा को शरण या त्राणदायी हो सकता है, और वह शाश्वत तत्त्व है धर्म ! इसलिए 'जिनधर्म' को ही शरणभूत बताया गया है। जो इस धर्म का आश्रय लेता है वह संसार की पीड़ा और यातनाओं से छुटकारा पा लेता है, तथा शाश्वत सुखों का अनुभव करता है, किन्तु जो मनुष्य अज्ञान और मोहवश इस धर्म को नहीं समझता, —**मंदा मोहेण पाउडा**—जो अज्ञानी मोह के आवरण से ढंके हैं, मोह की मदिरा पीकर पागल हो गये है, वे इस धर्म को नहीं समझ पाते, धर्म की शरण में नहीं आते तो उन्हें संसार में पुनः पुनः भ्रमण करना पड़ता है।

"पुनरपिजनन पुनरपि मरणं,
पुनरपि जननी जठरे शयनं।"

जन्मा, मरा, फिर जननी के उदर में आया और फिर मृत्यु की गोद मे सोया—बस यही क्रम चलता रहता है। संसार में चार गति, २४ दंडक और चौरासी लाख जीव योनियों में वह आत्मा पुनः-पुनः—'**आगता गब्भायणंतसो**'—अनन्त-अनन्त बार गर्भावास में आता है, नरक की कुम्भियों में जन्म धारण करता है।

जन्म-मरण के इस चक्र को 'संसार' कहते है। अतः यहां भावना के तीसरे क्रम में 'संसार भावना' का वर्णन किया गया है।

संसार का स्वरूप

आचार्यों ने संसार का स्वरूप बताते हुए कहा है—

अहो संसारेऽस्मिन् विरतिरहितो जीवनिवह—
श्चिरं सेहे दुःखं बहुविधमसौ जन्ममरणैः।
परावर्त्तानन्त्यं प्रतिगगनदेशं विहितवां—
स्त्यागन्तं नाप्नोद् भवजलनिधेः कर्मवशतः।[1]

इस संसार में अनेक जीव, जो भोगों से त्याग एवं निवृत्ति नहीं करते है, वे अनेक प्रकार के जन्म-मरण के दुःख सहते रहे है। यह चौदह राजू का लोक

---

१. भावनाशतक १८

है, इसके असख्यात प्रदेशों में वे प्रत्येक प्रदेश पर अनन्त-अनन्त बार जन्म-मरण कर चुके हैं, और ऐसा अनन्त पुद्गल परावर्तन का समय व्यतीत हो चुका है, लेकिन फिर भी संसार समुद्र का अन्त नहीं हो पाया है।

संसार का अर्थ ही है 'संसरणशीलः संसारः' जो प्रतिक्षण गतिशील, परिवर्तन-शील है, एक भव से दूसरे भव में—संसरण होता रहता है, उसे संसार कहते हैं। विशेषावश्यक भाष्य में संसार की परिभाषा यही की है—

संसरणं संसारः। भवाद् भवगमनं नरकादिषु पुनर्भ्रमणं वा।

—एक भव से दूसरे भव में, एक गति से दूसरी गति मे भ्रमण करते रहना ससार है।

संसार का वर्णन शास्त्रों में कई दृष्टियों से किया गया है। स्थानांग सूत्र में चार प्रकार का संसार बताया है—

दव्वसंसारे खेत्तससारे कालससारे, भावससारे।[1]

धर्मास्ति, अधर्मास्ति आदि षड् द्रव्य रूप संसार द्रव्यसंसार है। इस द्रव्य-संसार का विचार 'लोक भावना' में किया गया है। चौदह रज्जु प्रमाण संसार क्षेत्रसंसार है। दिन-रात-पक्ष-मास पुद्गल परावर्तन तक काल प्रमाण संसार कालसंसार है। कर्म के उदय के कारण जीव के राग-द्वेषात्मक जो परिणाम होते है जिनके कारण यह जन्म-मरण करता है, वह राग-द्वेप रूप विचारात्मक संसार 'भावसंसार' कहा जाता है।

दूसरी एक दृष्टि से संसार के चार भेद और भी बताये है—

णेरइय संसारे, तिरिय संसारे, मणुस्स संसारे, देव ससारे।[2]

—नैरयिक संसार, तिर्यंच ससार, मनुष्य संसार और देव ससार—यह चार गति रूप ससार है।

चार गतियों के चौबीस दंडक बताये गये है, और उनकी चौरासी लाख योनि—उत्पत्ति स्थान है। इस सब को जैनदर्शन में ससार कहा गया है।

यह संसार अनादि है, अनादि काल से जीव नाना गतियों में परिभ्रमण कर रहा है—

अनादिरेष संसारो नानागति समाश्रयः।[3]

---

१. स्थानांग ४।१।२६१
२. ,, ४।१।२६४
३. योगबिंदु ७०

लोक के ऊर्ध्व भाग में भी जीव अनन्त बार गया है, अधोलोक में भी और तिर्यक्‌लोक में भी अनन्त-अनन्त बार इसने जन्म धारण किया है। संसार में एक राई के दाने के बराबर, तिल के बराबर या बाल की नोंक के जितना भी ऐसा कोई स्थान नहीं है, ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहां इस जीव ने एक बार नहीं, किन्तु अनन्त-अनन्त बार जन्म नही लिया हो। कहा गया है—

तं किंचि नत्थि ठाणं लोए बालग्गकोडिमित्तं पि।
जत्थ न जीवा बहुसो सुह दुक्ख परंपरं पत्ता ॥

बाल के अग्र भाग का टुकड़ा जितने स्थान में आता है, उतना भी कोई ऐसा स्थान नही है जहा जीव ने बहुत बार सुख-दुःख की परम्परा प्राप्त नहीं की हो ?

जिस तरह आकाश के प्रत्येक क्षेत्र में, प्रत्येक प्रदेश पर जीव ने आश्रय लेकर जन्म-मरण किये हैं उसी प्रकार संसार के प्रत्येक जाति, कुल, गोत्र या योनि में भी अनन्त-अनन्त बार जन्म लिये हैं। शास्त्र में बताया है—

न सा जाइ न सा जोणी न तं ठाणं न तं कुलं।
न जाया न मुआ जत्थ सव्वे जीवा अणंतसो।

ऐसी कोई जाति नहीं, योनि नहीं, कोई स्थान और कुल नहीं जहाँ पर यह जीव अनन्त-अनन्त बार जन्मा न हो और अनन्त-अनन्त बार मरा न हो।

निगोद

जब जीव अनादि काल से संसार मे परिभ्रमण कर रहा है तो यह स्वाभाविक ही है कि वह अलग-अलग योनियों में भटकता रहे। और एक-एक योनि में अनेक बार जन्म-मरण करता रहे। निगोद में भी उसने जन्म लिया और वहां छोटे से छोटा २५६ आवलिका (१/१७॥ श्वासोच्छ्वास प्रमाण) का भव भी किया और बड़े से बड़ा तेतीस सागरोपम का भव भी किया। निगोद में जीव का शरीर इतना सूक्ष्म होता है कि सुई की नोक के बराबर स्थान में असंख्यात शरीर समा जाते है। और इतना सूक्ष्म शरीर भी किसी एक जीव का नहीं होता, किन्तु उस इतने से सूक्ष्म शरीर के अनन्त जीव मालिक होते हैं, अर्थात् निगोद में एक शरीर में अनन्त जीव रहते है और एक तिल भर स्थान पर ऐसे असंख्यात शरीर समाये रहते हैं। इससे निगोद के जीवों की वेदना की कल्पना की जा सकती है। उनमें कितनी घोर वेदना और कितनी बिलबिलाहट होती होगी। अनन्तकाल तक वे उसी एक योनि में दुःख भोगते रहते हैं, एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण करते रहते है। इस प्रकार अनन्त काल के पश्चात् कर्म का आवरण हलका होने पर वहां से निकलते हैं तो पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और प्रत्येक वनस्पति में जन्म लिया। वहां भी

असंख्यात काल तक इधर से उधर जन्म-मरण करता रहता है। यद्यपि निगोद जितनी घोर वेदना प्रत्येक वनस्पति एवं पृथ्वी आदि में नहीं होती है, यहाँ एक जीव को एक शरीर मिलता है, और अपनी-अपनी वेदना अलग-अलग भोगते हैं। जबकि निगोद में एक जीव को मारें तो उसी के साथ अनन्त जीव मर जाते हैं। वहाँ पर कष्ट भोगते-भोगते जब कर्म का आवरण और कुछ हलका हुआ तो यह जीव स्थावर से त्रस योनि में आया। एकेन्द्रिय से द्वीन्द्रिय योनि में गया। त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय के कैदखाने से निकलकर असंज्ञी पचेन्द्रिय बना। यहां पाच इन्द्रिया तो मिलीं, लेकिन मन नही मिला। असंज्ञी तिर्यंच और संमूर्च्छिम मनुष्य के भव मे बिना मन के ही भटकता रहा। फिर कुछ पुण्य का उदय हुआ तो वह जीव संज्ञी तिर्यंच बना, हाथी, सिह, बाघ, सर्प, नेवला आदि के शरीर धारण किये। पूर्व पुण्य के उदय से निगोद से निकलकर यह आत्मा तिर्यंच पंचेन्द्रिय तक तो आया, लेकिन यहा पर फिर अत्यधिक क्रूरता, हिंसा आदि के कारण कर्मों का सघन बधन बांध लिया! उन कर्मों की सजा भोगने के लिए फिर नरक में गया। नरक की भयकर वेदनाओ का सजीव वर्णन उत्तराध्ययन सूत्र में किया गया है जो सक्षेप में यहा प्रस्तुत है।

नारकीय वेदना

पशु—तिर्यंच और मनुष्य आदि का वास मध्यलोक या तिर्यक्लोक मे है और चूकि हम-आप सभी इसी लोक में है, इसलिए रात-दिन एक दूसरे को देखते हैं, एक दूसरे की वेदना का अनुभव या कल्पना भी कर सकते हैं, लेकिन नारक जोवो का वास अधोलोक में है। हमारी इस पृथ्वी से नीचे सात पृथ्वी भूमियां हैं, जिन्हें 'नरक' कहते है, अथवा 'नरक भूमि' कहते हैं। उस भूमि पर स्वाभाविकतः अति शीत, अति उष्णता, अति भूख, अति बैर, अति व्याकुलता है। वहां के जीव रात-दिन कष्टों और वेदनाओं से घिरे रहते है। बताया है—

जारिसा माणुसे लोए ताया! दीसंति वेयणा।
एत्तो अणंतगुणिया, नरएसु दुक्खवेयणा॥[1]

मृगापुत्र अपने माता-पिता से बता रहा है, हे तात! यहा मनुष्य लोक में जैसी वेदनाएं और घोरतम पीड़ाएं हमें अनुभव होती है, जिसे हम अत्यंत कष्ट कहते हैं, उससे भी हजार-लाख गुनी नहीं, किन्तु अनन्त गुनी वेदना नरक मे प्रतिक्षण अनुभव की जाती है। उस वेदना की, वेदना के अनन्तवे भाग की कल्पना करना भी अशक्य है, असंभव है।

१. उत्तराध्ययन १९।७३

हम लोग यहां पर एक दूसरे के थोड़े से कष्ट की कल्पना भी ठीक से नहीं कर पाते, और दुःखी लोग कहते हैं तुम हमारे दुःख को क्या जानो—

जाके पैर फटी न बिवाई वो क्या जाने पीर पराई।

तो छोटी-छोटी पीडाओं की भी एक दूसरा कल्पना नहीं कर सकता, तो नरक में तो यहां से अनन्त गुनी वेदना है। जीवाभिगम सूत्र में नारकीय जीवों की वेदना का वर्णन किया गया है—

अच्छि निमीलियमेत्तं नत्थि सुहं दुक्खमेव पडिबद्ध'।
नरए नेरइयाणं अहोनिसं पच्चमाणाणं॥
अइसीयं अइतउण्हं अइतण्हा अइखुहा अइभयं वा।
नरए नेरइयाणं दुक्खं सयाइं अविस्सामं॥[1]

—नरक में पापी जीव, एक क्षणभर की छूट लिए बिना अविश्राम रात-दिन घोर यातना पा रहे हैं। आंख बंद कर खोलें—इतने से अक्षिनिमेष मात्र समय के लिए भी उन्हे कभी सुख नहीं है, अर्थात् एक क्षणभर का भी सुख उन्हें नसीब नही होता। वहाँ अत्यंत सर्दी है, अत्यंत गर्मी है, अत्यंत तृषा (प्यास) है, अत्यंत भूख है और अति भय है- यों सैंकड़ों प्रकार के दुःख उनके पीछे लगे है।

स्थानांग में नैरयिक जीवों की वेदना का वर्णन करके बताया है—वहाँ मुख्यतः दस प्रकार की घोर वेदना प्रत्येक जीव को प्रति समय होती है—

नेरइयाणं दसविहं वेयणं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति,
तं जहा—सीयं, उसिणं, खुहं, पिवासं, कंडुं
परज्भं, भयं, सोगं जरं, वाहिं।[2]

नरक जीव दस प्रकार की वेदना का अनुभव करते रहते है—१. सर्दी, २. गर्मी, ३. भूख, ४. प्यास, ५. खाज, ६. परवशता, ७. भय, ८. शोक, ९. जरा, और १०. ज्वर (कुष्ट आदि रोग)।

उन जीवों की भूख-प्यास कितनी भयंकर होती है इसकी एक कल्पना करके बताया गया है कि— यदि किसी एक नरक वासी जीव के मुंह में संसार के समस्त समुद्रों का पानी उंडेल दिया जाये, और दुनिया भर की खाद्य सामग्री उसके मुख में भर दी जाये तो भी उस नारक की भूख-प्यास शांत नहीं

---

१. जीवाभिगम ३, उ० २, नरक अधिकार, गाथा ११-१२
२. स्थानांग सूत्र १०।७५३

हो सकती।[१] इस प्रकार की अनन्त-मूख प्यास से नारक जीव किल-बिलाते रहते हैं।

नरक की वेदनाओं का आंखों देखा रोमांचक वर्णन राजकुमार मृगापुत्र ने अपने माता-पिता के सामने किया है। वह एक भुक्तभोगी का सच्चा वर्णन है, जो उत्तराध्ययन सूत्र में आया है, उसका कुछ अंश इस प्रकार है[२]—

मैं नरक की कंदु कुंभियों में पकाने के लोह पात्रों में, ऊपर पैर और नीचा सिर करके प्रज्वलित अग्नि में आक्रन्द करता हुआ अनन्त बार पकाया गया हूं। (५०)

महाभयंकर दावाग्नि के तुल्य मरु प्रदेश में तथा वज्र बालुका (वज्र के समान कंकरीली कर्कश रेत में) और कदम्ब बालुका (नदी के तट की तप्त बालू रेत में) मैं अनन्त बार जलाया गया हूं। (५१)

मैं इधर-उधर भागता और आक्रन्दन करता हुआ, काले तथा चितकबरे सूअर और कुत्तों से अनेक बार गिराया गया, फाड़ा गया और छेदा गया। (५४)

पाप कर्मों के कारण मैं नरक में जन्म लेकर अलसी के फूलों के समान नीले रंग की तलवारों से, भालो से और लोह के दंडों से छेदा गया, भेदा गया और खण्ड-खण्ड कर दिया गया। (५५)

प्यास से व्याकुल होकर दौड़ता हुआ मैं वैतरणी नदी पर पहुँचा। 'जल पीऊंगा' यह सोच ही रहा था, छुरे की धार जैसी तीक्ष्ण जलधारा से मैं चीरा गया। (५६)

गर्मी से घबराकर मैं छाया के लिए असिपत्र महावन में गया। किंतु वहाँ ऊपर से गिरते हुए असिपत्रों से तलवार के समान तीक्ष्ण पत्तों से अनेक बार छेदा गया। (६०)

तेज धारवाले छुरों से, छुरियों से तथा कैंचियों से मैं अनेक बार काटा गया, टुकड़े-टुकड़े किया गया, छेदा गया और अनेक बार मेरी चमड़ी उतारी गई। (६२)

इसी सन्दर्भ में मृगापुत्र ने आगे बताया है कि वे नरक के देव परमाधामी मुझे अपने पापों की याद दिला-दिलाकर कष्ट देते—

---

१. जीवाभिगम ३, नरक अधिकार (यद्यपि यह कल्पना एक कल्पना है, क्योंकि समस्त समुद्रों का पानी किसी जीव के मुख में उंडेला नहीं जा सकता, लेकिन उतने पानी से भी उसकी प्यास नहीं बुझ सकती, इस अनुमान के लिए यह कल्पना है)

२. उत्तराध्ययन, अध्ययन १६

नारकीय यातनाएं



नरक में परमाधार्मिक देवों द्वारा नारक जीवों को दी जाने वाली विविध यातनाओं का एक रेखाचित्र

कभी खोपड़ी मेरी फोड़ी मार-मार कर डंडों से।
यार ! तुझे तो बहुत प्यार था, पिछले भव में अंडों से ॥
तीक्ष्ण तीर कर खड़े मुझे फिर अच्छी तरह सुलाया था।
कहते थे—रे दीन दुखी को, लूट-लूट कर खाया था ॥

धार रीछ का रूप यमों ने दोनों हाथ चबाए थे।
बोले इन हाथों से तूने झूठे लेख बनाये थे ॥
जड़ से काट जबान फेंक दी मुख में मेरे डाल छुरी।
बहुत गालियां देता था तू विष-सी थी यह जीभ बुरी ॥[1]

मृगापुत्र ने इस प्रकार का हृदयद्रावी वर्णन करके बताया—

तिव्व चण्डप्पगाढाओ, घोराओ अइदुस्सहा।
महब्भयाओ भीमाओ, नरएसु वेइया मए ॥

—ऐसी तीव्र, प्रचण्ड, प्रगाढ़, घोर, अत्यन्त दुःसह, महा भयंकर और भीष्म वेदनाओं का मैंने नरक में अनुभव किया है। (७२)

यह तो नरक के एक भव की वेदना का वर्णन है, इस प्रकार की वेदनाएं इस आत्मा ने अनन्त-अनन्त बार सही है। नरक जीवन में मनुष्य, तिर्यंच जैसा शरीर नहीं होता कि एक बार मरा कि बस खत्म। वहां का शरीर भी वैक्रिय होता है, उसका स्वभाव ही ऐसा है कि काटा, टुकड़े-टुकड़े किया और फिर जुड़ गया। पारा जैसे बिखर-बिखर कर पुनः जुड़ जाता है उसी प्रकार का नैरयिक जीवों का शरीर है। अतः काटने-छेदने-भेदने पर भी मरते नहीं हैं।

मनुष्य भव की विचित्रताएं

निगोद, तिर्यंच और नरक योनि मे जो असह्य और दारुण वेदनाएं होती हैं उसका एक चित्र यह हमारे सामने आया है। इससे सहज ही अनुमान हो जाता है कि यह जीव संसार चक्रवाल मे किस प्रकार भटकता हुआ अपार कष्ट पाता रहा है। जब कष्टो की उस वैतरणी में बहते-बहते कुछ पुण्य का उदय हुआ, पाप कर्म हलके हुए, आत्मा विकास की ओर बढा तो मनुष्य का शरीर मिला। मनुष्य का शरीर प्राप्त होना भी आत्मा के अपार पुण्य का उदय है। कहा है—

कम्माणं तु पहाणाए आणुपुव्वी कयाइ उ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता आययन्ति मणुस्सयं ॥[2]

---

१. संगीत मृगापुत्र (श्री चन्दन मुनि)
२. उत्तराध्ययन ३।७

—विविध योनियों में परिभ्रमण करते-करते क्रमशः जब कर्मों का हलका-पन होता है, आत्मा के विशेष पुण्यों का उदय होता है, तब जीव को शुद्धि प्राप्त होती है, उस विशिष्ट आत्म-शुद्धि के कारण यह जीव मनुष्य शरीर धारण कर पाता है।

मनुष्य जन्म पा लेना पुण्योत्कर्ष माना गया है किन्तु मनुष्यों में भी कितने भेद है, कितने स्तर हैं? कोई सम्पन्न है, कोई दरिद्र है। कोई रोगी है, कोई शोकी है। किसी के जन्म से ही जीभ नहीं है, कोई सुन नहीं सकता, कोई चल नहीं सकता। किसी के जन्मते ही माता-पिता मर गये। किसी को जन्मते ही भूखों मरना पड़ता है। मनुष्य के लिए भी संसार में हजारों प्रकार की असमानताएं है, विचित्रताएं हैं। एक-एक प्राणी के सिर पर लाखों प्रकार की चिन्ताएं हैं। इसीलिए तो भगवान ने कहा है—

पास लोए महब्भयं—[1]

देखो, यह संसार महान भय रूप है, बड़ा भयावना है, दुःखों से घिरा हुआ है।

एगंत दुक्खं जरिए व लोयं[2]

—जैसे बुखार आने से मनुष्य बेचैन रहता है, वैसे ही संसार में हर प्राणी ज्वरग्रस्त की तरह बेचैन हो रहा है।

जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारे जत्थ कीसंति जन्तुणो॥[3]

—यहां जन्म का दुःख है, जरा का दुःख है, रोगों का दुःख है, मृत्यु का दुःख है वियोग का दुःख है, जिधर देखो, नजर फैलाओ उधर दुःख ही दुःख है। हाहा-कार है। कवि ने कहा है—

हर सांस वेदना एक नई हर भोर सवाल नया देखा।
दो घड़ी नहीं आराम कहीं, मैंने घर-घर जा-जा देखा॥

यहां कोई शारीरिक दुःखों से पीड़ित है, कोई मानसिक दुःखों से।

सारीर माणसा चेव वेयणाओ अणंतसो।[4]

शरीर और मन की अनन्त-अनन्त वेदनाएं यहां पग-पग पर खड़ी हैं।

---

१. आचारांग ६।१
२. सूत्रकृतांग १७।११
३. उत्तराध्ययन १६।१६
४. उत्तराध्ययन १६।४६

कोई भी मनुष्य इन वेदनाओं से बच नहीं सकता। धूप और छांह से कोई बच सके तो भी इन वेदनाओं के आक्रमण से नहीं बच सकता, क्योंकि ये वेदनाएं बाहर में तो हैं ही, हृदय के अन्दर भी छिपी हुई हैं। तुम जहां भी जाओगे वहीं छाया की तरह तुम्हारे पीछे लगी रहेंगी।

मनुष्य थोड़ा-सा वैभव प्राप्त कर लेता है, कुछ ऊंचे खानदान में जन्म ले लेता है तो सोचता है, यह दुःख मेरे लिए नहीं दूसरों के लिए है। पर वह यह नहीं सोचता कि सुख-दुःख छाया की तरह जीवन में लगे हैं। चक्र की तरह उनका चक्का घूमता रहता है। यहां प्रतिक्षण मृत्यु की आग लगी है, बुढ़ापे और रोग की हवाएं उस आग को और अधिक प्रज्वलित कर रही हैं।

स्कन्दक संन्यासी जब भगवान महावीर के पास आकर धर्म श्रवण कर प्रबुद्ध होता है, संसार की जन्म-मरण दुःख रूप स्थिति को देखता है तो वैराग्य से भावित होकर कहने लगता है—

आलित्तं पलित्तेणं लोये भंते ! जराए मरणेण य[1]

—भगवन् ! यह संसार तो जन्म, जरा और मृत्यु की आग से धधक रहा है। हलवाई की भट्टी की तरह यहां जरा-मरण की आग प्रज्वलित हो रही है। यहां सुख तो नाममात्र का सिर्फ कल्पना मात्र का है, दुःख का कोई पार नहीं है। एक कवि ने कहा है—

सूर्य गरम है, चांद वगीला तारों का संसार नहीं है।
जिस दिन चिता नहीं सुलगेगी ऐसा कोई त्यौहार नहीं है।

जिस घर में मृत्यु हो जाती है, वहां कई दिनों और महीनों तक त्यौहार नहीं मनाये जाते, पर आपने देखा है कोई दिन, कोई त्यौहार ऐसा खाली जाता है, जिस दिन मरघट पर चिता नहीं जले ! रोज चिताएं जल रही हैं—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्।[2]

प्रतिदिन सुबह भी, शाम भी, दुपहर भी और रात में भी, यहां प्राणी मर रहे हैं, यमराज के द्वार की ओर प्रयाण कर रहे हैं ! फिर कैसा त्यौहार ? कैसी खुशी है ?

संसार के स्वरूप में जो अनित्यता है, अशरणता है, उसी के साथ बड़ी भारी विचित्रता भी है। कहीं सुख है, कहीं दुःख है। कहीं मनुष्य दो क्षण चैन के लिए बैठा है तो कहीं क्षण भर चैन नहीं ! संसार की विचित्रता का दर्शन कराते हुए भर्तृहरि ने कहा है—

१. भगवती सूत्र २।१
२. महाभारत, वनपर्व

क्वचिद् वीणानादः क्वचिदपि च हाहेति रुदितम् ।
क्वचिद् विद्वद् गोष्ठी, क्वचिदपि सुरामत्त कलहः ।
क्वचिद् रम्या रामो क्वचिदपि जराजर्जरतनुः ।
न जाने संसारे किममृतमयः किं विषमयः ॥

इस संसार में कहीं वीणा की झंकार हो रही है तो कहीं हाहाकार का हृदयद्रावक रोदन। कहीं विद्वानों की गोष्ठी हो रही है तो कहीं शराबियों का कलह। कहीं सुन्दर नारियां शृंगार सजा रही हैं तो कहीं जरा-जर्जरित वृद्धाएं हैं। संसार की यह विचित्रता देखकर पता ही नहीं चलता कि इस संसार को सुखमय कहूं या दुःखमय ! यह समझ में ही नहीं आता कि संसार को अमृतमय कहा जाय अथवा विषमय।

हिन्दी के कवि मिलिन्द ने कहा है—

तितलियां हैं, फूल भी हैं, हैं कोकिलाएं गान भी हैं।
इस गगन की छांह में मानो महल उद्यान भी हैं।
पर जिन्हें कवि भूल बैठे वे अभागे मनुज भी हैं।
हैं समस्याएं, हैं व्यथाएं, भूख है, अपमान भी हैं।

कहीं संसार में युद्ध चल रहे है, एक ही बम के धमाके से हजारों लाखों मनुष्य मृत्यु की शरण हो जाते है, कहीं बाढे आ रही है, कही तूफान, कहीं दुर्भिक्ष कहीं बीमारिया ! एक-एक आपत्ति की चपेट में हजारों लाखों मनुष्य, अगणित पशु-पक्षी आ जाते है। तो संसार में मनुष्य के लिए सुख-दुःख का, हर्ष-विषाद का, आपत्ति-संपत्ति का यह अनवृक्ष चक्र चल रहा है, इस चक्र में बैठा मनुष्य क्या सुख अनुभव कर सकेगा ?

जिस प्रकार मनुष्य हजारों लाखों प्रकार की शारीरिक व्याधियों से ग्रस्त है, उसी प्रकार अगणित मानसिक रोगों से भी घिरा हुआ है। मनोव्याधिया उसे क्षण-क्षण पीड़ित कर रही है। कहा गया है—

इतो लोभः क्षोभं जनयति दुरंतो दव इवो—
ल्लसल्लाभाम्भोभिः कथमपि न शक्यः शमयितुं ।
इतस्तृष्णाऽक्षाणां तुदति मृगतृष्णेव विफला,
कथं स्वस्थैः स्थेयं विविधभयभीमे भववने ?[1]

इस संसार रूपी भयावने वन में हम एक क्षणभर भी स्वस्थता व निश्चितता का अनुभव कैसे कर सकते हैं ? देखिए कहीं लोभ—जंगल में लगी हुई प्रचंड

१. शान्तसुधारस भावना ३।१

अग्नि की भांति चित्त को क्षुब्ध कर रहा हैं, जहां थोड़ा-सा लाभ होता है तो लगता है, इस पानी की फुहार से यह लोभ-अग्नि शांत हो जायेगी, किन्तु नहीं, वह लाभ तो अग्नि में घी का काम कर रहा है, जैसे-जैसे लाभ बढ़ता है, लोभ की अग्नि अधिक से अधिक प्रज्वलित होती जा रही है और हमारे चित्त रूपी वन के स्वस्थता रूपी वृक्षों को जलाये जा रही है। लोभ-तृष्णा, भय, शोक, कितनी मानसिक व्याधियां हैं जो नागिनों की तरह प्रतिपल मनुष्य को डस रही हैं और चिन्ता का विष उसके भीतर बढ़ रहा है। इस स्थिति में सुख का अनुभव करने की कल्पना ही कठिन है, वास्तविक सुख का अनुभव तो क्या हो सकेगा ?

सम्बन्धों की विचित्रता

मानसिक व्याधियों में सबसे बड़ी दो व्याधियां हैं—राग-द्वेष। राग-द्वेष रूप माता-पिता की ही संतान के रूप में संसार की समस्त व्याधियां हैं। मनुष्य किसी से राग करता है, किसी से द्वेष। किसी को अपना मित्र मानता है, किसी को अपना शत्रु। किसी को पुत्र और पत्नी तथा किसी को भाई-बन्धु ! इस प्रकार किसी के साथ राग और किसी के साथ द्वेष करता हुआ वह बार-बार संतप्त हो रहा है। उसकी इन राग-द्वेषात्मक वृत्तियों को क्षीण करने के लिए कहा गया है—मनुष्य ! तू संसार के सम्बन्धों की विचित्रता को तो देख—

माता भूत्वा दुहिता, भगिनी भार्या च भवति संसारे।
व्रजति सुतः पितृतां, भ्रातृतां पुनः शत्रुतां चैव॥[1]

—इस संसार में कभी यह जीव माता बना है, तो कभी पुत्री। वही पुनः मर कर पत्नी और बहन भी कभी बन गया। फिर कभी पुत्र और पिता के रूप में अवतरित हो गया तो कभी मित्र बना और कभी शत्रु।

जब एक ही जीव एक-एक जीव के साथ अनेक प्रकार के रिश्ते-नाते बना चुका है, तो फिर किसके साथ तो प्रेम करेगा और किसके साथ द्वेष ? किसे शत्रु मानेगा और किसे मित्र ? किसे पत्नी मानेगा और किसे माता ? पिछले जन्म में जो मां थी, वह इस जन्म में पत्नी बन गई ! और फिर एक ही बार नहीं, बल्कि अनन्त-अनन्त बार ऐसे सम्बन्ध बन चुके हैं—गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से एक बार पूछा था—

अयणं भन्ते ! जीवे, सव्व जीवाणं, माइत्ताए, पितित्ताए, भाइत्ताए, भगिणित्ताए, भज्जत्ताए, पुत्तत्ताए, धूयत्ताए, सुण्हत्ताए, उववण्णपुव्वे ?

हंता गोयमा ! जाव अणंतक्खुत्तो।[2]

---

१. प्रशमरति १५६

२. भगवती सूत्र १२।७

—भंते ! क्या यह जीव जगत के समस्त जीवों के साथ माता के रूप में, पिता के रूप में, भाई, बहन, स्त्री, पुत्र, पुत्री और पुत्रवधू के रूप में उत्पन्न हुआ है ?

हां, गौतम ! एक बार ही नहीं, किन्तु अनन्त-अनन्त बार ! इन के साथ ये सम्बन्ध बना चुका है।

आगे बताया है—इसी प्रकार बैरी के रूप में, घात करने वाले हत्यारे के रूप में, कभी मित्र के रूप में, कभी गुरु के रूप में, कभी शिष्य के रूप में यों अगणित प्रकार की रिश्तेदारिया प्रत्येक जीव के साथ कर चुका है।

अन्य भवों के सम्बन्ध की चर्चा तो आज परोक्ष हो सकती है, किन्तु एक ही भव में प्राणी अनेक प्रकार के सम्बन्ध बना लेता है। कुबेरदत्त और कुबेरदत्ता का दृष्टान्त जैन साहित्य में प्रसिद्ध है, जिसने एक ही भव में अठारह सम्बन्ध बनाए। वह माता भी बनी, पत्नी भी बनी, पुत्री भी बनी और पुत्रवधू भी बनी ! बड़ा ही आश्चर्य का सम्बन्ध यह है।[1]

मथुरा नगरी में कुबेरसेना नाम की एक वेश्या रहती थी। एकबार कुबेरसेना को गर्भ रह गया। गर्भपात करने के लिए उसने अनेक प्रयत्न किये पर सफल नहीं हुई। आखिर में उसने पुत्र-पुत्री के एक युगल को जन्म दिया। वेश्या की मां ने कहा—इसे कौन पालेगा ? तू इनको मार डाल ! पर माता का दिल संतान की हत्या नहीं कर सकता, आखिर उसने एक पेटी में दोनों शिशुओं को रख कर पेटी नदी मे बहा दी। कभी भविष्य में इनकी पहचान हो सके, इसलिए दोनों की अंगुलियों में एक-एक अंगूठी पहना दी, जिस पर "कुबेरदत्त, कुबेरदत्ता" यह नाम भी खुदवा दिया।

पेटी नदी में बहती-बहती शौरीपुर नगर के बाहर आई। दो गृहस्थो ने इस पेटी को देखा, सोचा जरूर इसमें कोई धन-माल होगा। दोनों ने तय किया—इसमें जो भी माल होगा, आधा-आधा बांट लेंगे। दोनो नदी में कूदे। पेटी बाहर निकाली। दो जीवित बालक निकले। कुछ देर तो आश्चर्य से देखते रहे, बालक बड़े सुन्दर और भाग्यशाली दीख रहे थे। संयोग से दोनों में एक के पुत्र न था और एक के पुत्री नही थी। इसलिए दोनों ने ही अपनी-अपनी इच्छानुसार बंटवारा कर लिया। नामांकित मुद्रा भी दोनों ने साथ में ले ली। दोनों ही शिशु अब बढ़ने लगे।

दोनों ही भाई-बहन अब बिछुड़ गये और समय आने पर जवानी में प्रवेश

---

१. कुबेरदत्त के अठारह नाते की कथा श्वेताम्बर ग्रंथ जम्बूचरित्र में प्रसिद्ध है। दिगम्बर ग्रंथ स्वामी कार्तिकयानुप्रेक्षा की टीका में भी यह कथा है।

किया। संयोग ऐसा बना कि इन्हीं दोनों का परस्पर में विवाह सम्बन्ध भी हो गया। विवाह की प्रथम रात्रि में भाई-बहन आज पति-पत्नी के रूप में मिले, बैठे और सतरंज-चौपड़ खेलने लगे। खेलते-खेलते एक दूसरे की अंगुली में पहनी अंगूठी पर नजर पड़ी। दोनों ही अंगूठी एक जैसी। नाम पढ़ा तो बस आश्चर्य का ठिकाना न रहा। एक जैसा नाम ! एक जैसी लिखावट। दोनों ही सोचने लगे—इस बात में कुछ न कुछ रहस्य है। बस, चौपड़ धरी रही, अपने-अपने माता-पिता के पास गये और आग्रह करते हुए यह रहस्य पूछा। माता-पिता के बताने पर दोनों को ही बड़ी घृणा हुई, ग्लानि हुई कि हाय ! एक महान् अनर्थ होता होता बच गया। हम बहन भाई आज पति-पत्नी के रूप में मिल रहे थे। इस आत्मग्लानि के कारण कुबेरदत्ता दीक्षित होकर साध्वी बन गई। कुबेरदत्त भी दूर देश में व्यापार करने चला गया। घूमता-घूमता मथुरा में आ पहुंचा। अब कुछ दिन बाद पुनः उसके मन में विकार जगा और कुबेरसेना वेश्या के घर पहुंच गया। धनी और सुन्दर युवक देखकर वेश्या ने भी उसे अपने चंगुल में फंसा लिया। कुबेरदत्त अनजाने में ही एक खड्डे से निकलकर दूसरे महागर्त में फंस गया। कुबेरदत्त के योग से पुनः कुबेरसेना का एक पुत्र हुआ।

इधर कुबेरदत्ता साध्वी बनकर तपस्या करने लगी। शुभ भावों के कारण उसे अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ। उसने कुबेरसेना और कुबेरदत्त का यह अघटित कार्य देखा। हन्त ! संसार की क्या विचित्र लीला है ? अनजाने में एक पुत्र माता के साथ क्या अनुचित कार्य कर रहा है। उसे बड़ी ग्लानि हुई। गुरु-आनी के सामने इस कुकृत्य की चर्चा की और उसे समझाने के लिए साध्वियों के साथ मथुरा में आई।

साध्वी कुबेरदत्ता सीधी कुबेरसेना वेश्या के घर आई। उससे कहा—मैं कुछ दिन यहां ठहरना चाहती हूं ? वेश्या ने कहा—यहां तुम्हारा क्या काम है, यह तो एक वेश्या का घर है ? तुम जैन साध्वी ठहरी ? आखिर बहुत समझाने-बुझाने पर वेश्या ने वहां ठहरने दिया। साध्वी उपदेश का अवसर खोजने लगी। एक दिन कुबेरसेना अपने नवजात पुत्र को साध्वी के कमरे में पालने में सुलाकर चली गई और बोलती गई—सती जी ! जरा बच्चे को संभालना ! बच्चा जगा, रोने लगा तो साध्वी बच्चे को शांत करने के लिए लोरी गाने लगी। उस लोरी का भाव था—

बेटा रो मत ! चुप हो जा ! शांत हो जा ! देख मैं तेरी बहन हूं, तेरी मां भी हूं, तेरे मेरे बहुत सम्बन्ध है, सुन !

१. तू एक प्रकार से मेरा भाई है, क्योंकि हम दोनों की मां एक है।

२. तू मेरा पुत्र भी हो सकता है, क्योंकि मेरे पति कुबेरदत्त थे, तू उनका पुत्र है।
३. तू मेरा देवर भी लगता है, क्योंकि मेरे पति कुबेरदत्त का तू छोटा भाई है।
४. तू मेरा भतीजा भी होता है, क्योंकि कुबेरदत्त मेरा भाई है, तू उसका पुत्र है।
५. तू मेरा काका भी हो सकता है, क्योंकि कुबेरदत्त मेरी माता का पति है, तू उसका छोटा भाई है।
६. तू मेरा पोता भी हो जाता है। क्योंकि कुबेरसेना मेरी सौत होगई, कुबेरसेना का पुत्र कुबेरदत्त, कुबेरदत्त का पुत्र तू है, अतः मैं तेरी दादी भी होगई।

साध्वी की इस प्रकार की बाते सुनकर कुबेरदत्त और कुबेरसेना दोनों ही उधर आ गये। बोले—साध्वी! क्या अंट-संट बक रही है। घर मे निकाल दी जायेगी।

साध्वी—नही; मैं तो ठीक कह रही हूँ। जैसे इस बालक के साथ मेरे छः रिश्ते है वैसे ही तुम दोनों के साथ भी मेरे छः-छः रिश्ते बनते हैं, सुनो! कुबेरदत्त!

१. तुम मेरे भाई हो, क्योंकि हम दोनों की मां एक (कुबेरसेना) है।
२. तुम मेरे पिता हो, क्योंकि मेरी मां के पति बन रहे हो!
३. यह लड़का मेरा काका है, अतः तुम इसके पिता मेरे दादा भी होते हो।
४. एक बार तुम्हारे साथ मेरा विवाह हो चुका है, इसलिए तुम मेरे पति भी कहे जा सकते हो।
५. कुबेरसेना मेरी सौत है, तुम उसके पुत्र हो, इसलिए तुम मेरे पुत्र भी लगते हो।
६. यह लड़का मेरा देवर है, तुम इसके पिता हो अतः तुम मेरे ससुर भी हो गये।

कुबेरसेना! तुम भी सुनो! तुम्हारे साथ भी मेरे ये छह रिश्ते हैं—

१. तुम मेरी माँ हो।
२. तुम मेरी दादी भी लगती हो, क्योंकि एक नाते से कुबेरदत्त मेरा पिता होता है।
३. तुम मेरी भाभी हो, क्योंकि एक नाते से कुबेरदत्त मेरा भाई है।

४. मेरी पुत्रवधू भी होती हो, क्योंकि एक नाते से कुबेरदत्त मेरी सौत का पुत्र है, तुम उसकी पत्नी हो।

५. तुम मेरी सास हो, क्योंकि मेरे पति कुबेरदत्त की मा हो।

६. तुम मेरी सौत भी हो, क्योंकि मेरे पति कुबेरदत्त की दूसरी स्त्री हो।

साध्वी की बातों से पहले तो दोनों ही क्रुद्ध हुए, पर जब उसने सब भेद खोला तो बस दोनों ही रो पड़े। दोनो को अपने कृत्य पर भारी ग्लानि हुई। इस ग्लानि से दुःखी होकर कुबेरदत्त ने तो संसार त्यागकर दीक्षा ले ली। कुबेरसेना वेश्या ने भी समस्त पापों की निन्दा करके श्राविका व्रत स्वीकार किया।

तो इस कथा से यह स्पष्ट होता है कि जब एक ही भव में एक जीव दूसरे जीव के साथ इतने-इतने नाते-रिश्ते कर सकता है तो फिर अनन्त-अनन्त भवों में तो न जाने कितने रिश्ते-नाते किये होंगे।

संसार भावना का लक्ष्य यही है कि मनुष्य संसार की इन विचित्रताओं, सुख-दुःख की इन स्थितियों का चित्र अपनी आंखों के सामने लाये। नरक-निगोद और तिर्यंच गति में भोगे हुए अपार कष्टों का शास्त्रीय आधार पर विचार करें, अन्तर की आंखों से मृगापुत्र की तरह उन वेदनाओं का, उन कष्टों और यातनाओं का चित्र देखें और मन को प्रतिबुद्ध करें कि इस संसार भ्रमण से कैसे मुक्त बनूं। कैसे कर्मबन्धन से छुटकारा पाकर मुक्तिसुखों में जाकर विराजमान बनू? ससार भावना की उपलब्धि यही है कि संसार के सुख-दुखों के स्मरण से मन उन भोगों से विरक्त बने।



४. एकत्व भावना

अशरण एवं ससार भावना में यह चिन्तन किया जाता है कि संसार की समस्त वस्तुएं अध्रुव है, अनित्य है, अशरण है। संसार असार है, जिधर देखो उधर ही विपत्तियाँ, कष्ट और चिन्ताएं खड़ी है। इसलिए **"विपद् वह्निज्वाला ज्वलित जगति'** विपत्तियों की आग से यह जगत् जल रहा है।

भगवती सूत्र में स्कन्दक संन्यासी भगवान की वाणी सुनकर प्रबुद्ध हुआ तो उसे अनुभव हुआ कि 'यह ससार जन्म-मरण-जरा-व्याधियों की आग से अलित्त-पलित्त जाज्वल्यमान हो रहा है। इस जलते हुए घर में से मेरी आत्मा जो रत्न-करण्डक के समान है, रत्नो का पिटारा है, अक्षय सम्पदा की गठरी है, उसे मैं निकाल लूं और अपनी सम्पत्ति की रक्षा करूं।' इस चिन्तन में तल्लीन होकर वह भगवान के सामने आकर निवेदन करता है—

भंते! जैसे किसी गाथापति के घर मे आग लग जाय, ज्वालाएं उछल-उछल कर उसके घर को जलाने लगे, सब कुछ स्वाहा होने लगे तब जो चतुर गाथापति होता है वह उस आपात परिस्थिति में देखता है कि अब सब संपति जल रही है, इसे निकाल पाना कठिन है तो फिर जो बहुमूल्य सम्पत्ति हो, जिसका वजन कम हो, मूल्य अधिक हो, वह सम्पत्ति बचाकर अपनी और सारे परिवार की रक्षा करता है, इसी प्रकार इस जाज्वल्यमान संसार में यह मेरी आत्मा एक मूल्यवान रत्न पिटारा है—

मज्झवि आया एगे भंडे, इट्ठे कंते, पिए मणुन्ने।[1]

यह बड़ी इष्ट, कांत, प्रिय, मनोज्ञ है। यही वास्तव में स्थिर और सदा काल मेरे साथ रहने वाली सम्पत्ति है, इसे न सर्दी सता सकती है, न गर्मी कष्ट दे सकती है, इसे न भूख लगती है, न प्यास। न इसे चोर चुरा सकता है, न कोई छीन सकता है, न कोई भाई-बन्धु इसका बंटवारा करा सकते हैं, न इस पर रोग का आक्रमण हो सकता है, न परीषह इसे स्पर्श करते हैं—इस प्रकार की मेरी यह जो अद्भुत और अद्वितीय सम्पत्ति है, मैं उस सम्पत्ति को, उस रत्नकरंडक को, उस बहुमूल्य भाड़ को इस दंदह्यमान संसार ज्वाला से बचाना

---

१ भगवती सूत्र २।१

चाहता हूँ। और इस प्रकार की भावना के साथ स्कन्दक प्रभु के चरणों में प्रव्रजित होकर साधना में लीन हो जाता है। इसी प्रकार का निवेदन मेघकुमार भी भगवान के सामने करता है (ज्ञातासूत्र १), जिसका हिन्दी पद्य में चित्रण देखिये—

इस दुनिया में जन्म-मरण की देखो लगी हुई है आग।
आत्मा रत्न करंडक जैसी, लेकर मैं आया हूँ भाग॥
इष्ट, कान्त, प्रिय और मनोहर आत्मा मेरी प्यारी है।
इसीलिये दीक्षा लेने की, मेरी यह तैयारी है॥[1]

एकत्व भावना में यह चिन्तन स्फुरित होता है कि दुःख ज्वालाओं से जलते संसार में सारभूत तत्त्व क्या है? धन, परिवार सब असार है, अशरण हैं तो फिर ऐसी वस्तु क्या है, जो परलोक में हमारी शरणभूत हो सकती है, जो हर परिस्थिति में हमारे साथ चलेगी। हम जिस दुनिया में भी जाएँगे, शरीर भले ही छूट जाये, वह वस्तु हमें कभी न छोड़ेगी। ऐसी अद्भुत, अद्वितीय वस्तु की खोज प्रारम्भ होती और तब हमारी नजर जाती है आत्मा पर। हमारी यह आत्मा एक ऐसा साथी है, जो कभी भी हमारा साथ नहीं छोड़ेगी। वह एकमेव ऐसी वस्तु है आत्मा।

एगो मे सासओ अप्पा नाणदंसणसंजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा।[2]

—यह मेरी आत्मा ही शाश्वत तत्त्व है, यह सदा मेरा साथ देगी। इसका लक्षण है—ज्ञान-दर्शन, विवेक और श्रद्धा। ये दो तत्त्व ही मेरी आत्मा की पहचान है, इन्ही के साथ मेरी आत्मा सदा सुखों के राजमार्ग पर चलती है। इसके अलावा जितने भी संयोग है, धन-परिजन-भवन-स्वजन सब बाहरी है। जब इनका नाम ही संयोग है तो वियोग भी इनके साथ अवश्य लगा रहेगा।

संयोगाश्च वियोगान्ता—
संयोगोहि वियोगस्य संसूचयति संभवम्।[3]

जितने भी संयोग हैं, उनका अन्त वियोग में है। संयोग शब्द ही वियोग की सूचना देता है। जो भी बाहरी वस्तु है वह बाहर ही रह जाने की है। बाहर की वस्तु को अपना मानना अज्ञान है, विकल्प है, और यही संसार में व्याकुलता का कारण है।

---

१. संगीत मेघकुमार (चन्दन मुनि)
२. आतुर प्रत्याख्यान प्रकीर्णक २६
३. हितोपदेश ४।७२

एक-एव भगवानयमात्मा, ज्ञानदर्शन तरंग सरंगः।
सर्वमन्यदुपकल्पितमेतद् व्याकुलीकरणमेव ममत्वम् ॥[1]

ज्ञान-दर्शन की लहरों से लहरायमान आत्मरूप देवता ही मेरा भगवान है, यही सर्वशक्तिमान ईश्वर है। इसके सिवाय जो भी है, वह सब कल्पित है, माना हुआ है, नकली है और नकली वस्तु को असली मान लेना ही दुःख का, व्याकुलता का कारण है।

ममत्व से व्याकुलता

जब आप बाजार में घी लेने जाते हैं और असली घी देखकर, सूंघकर लेते हैं। असली घी के ही पैसे देते हैं। लेकिन घर जाकर जब हलुवा बनाया तो पता चला, अरे! यह तो नकली है। देशी घी के नाम डालडा मिल गया तो आपके मन में घी बेचने वाले के प्रति कितना रोष होगा? उसे कितनी गालियाँ देते है? मन में कितना दुःख होता है कि देखो, लोग कितने बेईमान हो गये, असली घी के नाम पर नकली बेच रहे है।

इसी प्रकार कोई बीमार है, डाक्टर ने दवा लिख दी, अमुक दवा दे दीजिए, अमुक इंजेक्शन लगा दीजिए, तब तो यह बच जायेगा, वर्ना बात खतरे की है। आप लोग दौड़-धूप कर दवा लाते हैं, मुँहमांगा पैसा देते है, सोचते है बस, अब ठीक हो जायेगा, दवा का असर होते ही रोगी स्वस्थ होने लगेगा। पर होता है उल्टा, रोगी और ज्यादा व्याकुलता अनुभव करने लगता है। तड़फड़ाने लगता है, डाक्टर आता है, देखता है, पूछता है कौन-सी दवा दी? दवा की शीशी देखता है, तो वह दंग रह जाता है—अरे! कौनसी कम्पनी की दवा ले आये? यह तो दवा ही नकली है, कम्पनी ही बेईमान है, ब्लैक लिस्ट वाली कम्पनी है। सोचिए उस समय आप कितने व्याकुल होंगे, आपको कितना रोष आयेगा? कितना क्रोध आयेगा? कितनी गालियाँ देंगे और मन में कितनी उथल-पुथल मचेगी? इस बेचैनी, व्याकुलता का कारण क्या है? कारण यही है कि—आपने नकली को असली समझा। असत्य वस्तु को सत्य समझ लिया। धोखा देने वाला धोखा देता है, लेकिन अगर आप होशियार हों, सावधान हों, तो धोखा नहीं खा सकते। आपको असली नकली की परीक्षा हो तो आप किसी के चक्कर में नही फँस सकते। लोग नकली सोना दिखाकर, पीतल पर सोने की पालिश कर असली बिस्कुट बनाकर बेच देते हैं। नकली हीरे-मोती असली कहकर बेच डालते है और हजारों लाखो की ठगी करते हैं। पर ठगाते कौन हैं? जिन्हें असली-नकली की पहचान नहीं है, वे ही ठगाते है, जिन्हें पहचान है वे नहीं ठगाते।

१. शांतसुधारस ४।१

आचार्यों ने नकली को असली, पर वस्तु को निज वस्तु मानने की भ्रांति का एक दूसरा मार्मिक उदाहरण दिया है—

> कुलिनं वयितेति चिन्तनं परदारेषु यथा विपत्तये।
> विविधाऽऽर्ति भयाऽऽवहं तथा, परभावेषु ममत्वभावनम्।[1]

कल्पना करिए, कोई स्त्री किसी भले आदमी के सामने से निकल रही है, उसके रूप-रंग, चाल-ढाल को देखकर उसे ऐसा लगे कि यह मेरी ही स्त्री है, यद्यपि है वह कोई पराई स्त्री, लेकिन वह भला आदमी उसे अपनी स्त्री समझ बैठे और अपनी स्त्री की तरह उससे बोलने का, स्पर्श आदि का व्यवहार करने लगे तो उसका क्या हाल होगा? लोग जूते मारेंगे, बड़प्पन सब धूल में मिल जायेगा और संसार में बदनामी होगी, इज्जत-आबरू चली जायेगी, कहीं मुंह दिखाने जैसा नही रहेगा। कितनी विपत्तियाँ खडी हो जायेगी? क्या कारण? यही कि दूसरे की स्त्री को अपनी स्त्री समझने की भूल कर बैठा? आचार्य कहते है, इसी प्रकार जो वस्तु अपनी नही है, उस परवस्तु को अपनी वस्तु समझना ही आपत्तियों का कारण है।

किसी दूसरे के घर कोई महमान गया। उसे भोजन चांदी की थाली और चाँदी की कटोरी में परोसा गया। चाँदी की थाली देख कर उसका मन ललचा उठे और एक दो कटोरी अपने थैले में डाल ले, घर वाले देख ले तो; तो उसकी क्या दशा होगी? उसकी इज्जत आबरू कैसी रहेगी? क्योंकि जो वस्तु अपनी नहीं है उसे अपनी मान ली, अपनी बना ली। तो पराई वस्तु को निज वस्तु समझना ही सब आपत्तियों का मूल है। इसी प्रकार पुद्गल धन-धान्य, परिवार यह कोई भी अपना नहीं है, इसे अपना समझना यही व्याकुलता का कारण है।

एकत्व भावना इस ओर संकेत करती है कि तुम इन परवस्तुओं को अपनी मत समझो, धन आदि सब जड़ है, तू चेतन है। चेतन का अपना चेतन ही हो सकता है, जड़ तुम्हारा अपना कैसे होगा? यदि आप महाजन हैं तो महाजन बिरादरी में ही आपके सम्बन्ध और रिश्तेदारियाँ होंगी। महाजन और हरिजन की रिश्तेदारी आज तक नहीं सुनी, भले ही वैवाहिक सम्बन्ध हो जाय पर रिश्तेदारी, खानदानी सम्बन्ध तो होना कठिन लगता है। इसी प्रकार चेतन भले ही जड़ को अपना मान ले, पर वास्तव में जड़ के साथ उसका अपनत्व सम्बन्ध नहीं हो सकता। हरिजन-महाजन फिर भी एक मनुष्य जाति

१. शांतसुधारस भावना ४।३

है, जाति की अपेक्षा समान हैं, पर गाय के भैंस क्या लगे? खरगोश और सिंह में कभी जातीय सम्बन्ध हो सकते हैं? इसी प्रकार जड़ और चेतन में भी अपनत्व सम्बन्ध नहीं हो सकता। इस भेदविज्ञान को अन्यत्व भावना में विस्तार के साथ समझाया जायेगा। एकत्व भावना में तो आत्मा के एकत्व की अनुभूति कराई गई है कि आत्मा पुद्गल से भिन्न है। एक अलग तत्त्व है और आत्मा ही तुम्हारा अपना मित्र है, अपना शुभचिन्तक है।

संयोग और वियोग का मूल

मन को एकत्व अनुभूति की तालीम देने के लिये शास्त्र में बताया है कि सर्वप्रथम बाह्य संयोगों की असारता और असत्यता का अनुभव करे। जैसा ऊपर बताया है—परवस्तु को अपना समझने के कारण ही संसार में दुःख होता है। कहा है—

संजोगमूला जीवेण पत्ता दुक्ख परम्परा।
तम्हा संजोग सम्बन्धं सव्व भावेण वोसिरे॥

जीव को संसार में जो भी दुःख होते हैं, और भविष्य में होंगे उनका एकमात्र कारण है संयोग। परवस्तु के साथ आत्मवस्तु का संयोग ही वियोग का कारण है और वियोग ही सबसे बड़ा दुःख है। इसलिए संयोग-सम्बन्ध को सर्वथा भाव से छोड़ने का अभ्यास करना चाहिये।

भगवान महावीर ने साधु का लक्षण बताते हुए यही कहा है—

संजोगा विप्पमुक्कस्स अणगारस्स भिक्खुणो।[1]

जो संयोग सम्बन्धों से विप्रमुक्त है। बाह्य और आभ्यन्तर संयोगों की ग्रन्थि जिसकी शिथिल हो गई है और जिसने घर-परिवार आदि का त्याग कर दिया है, ऐसे भिक्षु का आचार हम बतायेंगे।

तो साधुता का लक्षण ही है संयोगों के बन्धन से मुक्त होना।

संयोग दो प्रकार के है—

बाह्य संयोग—घर, परिवार, भवन, स्वजन आदि।

आभ्यन्तर संयोग—कषाय, ममत्व, कर्म आदि।

बच्चा जब संसार में जन्म लेता है। माता के गर्भ से बाहर आता है तो आभ्यन्तर संयोगों की गाँठ पूर्व जन्म से साथ में लाता है। कषाय, ममता, कर्म

---

१. उत्तराध्ययन १।१

आदि के संयोग आत्मा के साथ लगे रहते हैं। इन संयोगों के कारण ही वह संसार में परिभ्रमण करता है। फिर जन्म के बाद बाह्य संयोगों का विस्तार होता है। बच्चा जन्म लेते ही किसी को नहीं पहचानता, किसी को कुछ नहीं मानता। धीरे-धीरे जो माता उसे दूध पिलाती है। उसकी देखभाल करती है, उसके साथ उसकी ममता बनती है। माता के साथ स्नेह बंधन शुरू होता है, उससे क्षण भर भी दूर नहीं रहना चाहता, या दिखाई नहीं देती है तो रोता है। धीरे-धीरे उसके स्नेह सम्बन्धों का विस्तार होता जाता है, जो दाई या नौकर, भाई-बहिन-भूआ आदि उसे खिलाते हैं उनके साथ उसका प्रेम बढ़ता है, फिर खिलौनों से ममता होती है, खिलौने से खेलता है, उन्हें पाकर खुश होता है, कोई खिलौना छीन ले तो रोने-चीखने लगता है। फिर बड़ा होता है, स्कूल जाता है। कापी, पैन, पेंसिल से ममत्व बनता है। कपड़ों से, खेल के सामान से सम्बन्ध बढ़ता है, बड़ा होता है तो फिर विवाह हो जाता है। अब तक माता-पिता आदि के साथ 'जन्म सम्बन्ध' था वही सम्बन्ध दृढ़ हो रहा था। अब वह ऐच्छिक सम्बन्ध भी जोड़ने लगा। मित्र-परिवार बनाया, विवाह रचाया, पत्नी के साथ प्रेम सम्बन्ध बना, सास, ससुर, साला आदि पत्नी पक्ष का संयोग भी काफी गढ़ता गया, फिर संतान होती है, पुत्र-पुत्रियों के सम्बन्ध बनते हैं, धन कमाता है, व्यापार करता है, धन का सम्बन्ध भी दृढ़ होता जाता है। इस प्रकार धीरे-धीरे संसार के संयोग सम्बन्धों की वृद्धि होती चली जाती है और मनुष्य इन संयोगों में मूर्च्छित हो जाता है—जैसे मक्खी श्लेष्म में फंस जाती है। मछली जाल में फंस जाती है, उसी प्रकार प्राणी इन सांसारिक सम्बन्धों में गहरा उलझकर अपनी आत्मा को भूल जाता है। संयोगों को ही सब कुछ मान लेता है, आत्मा का ज्ञान ही नहीं रहता। आखिर एक दिन आता है, जब ये सब संयोग छूटते हैं। संयोग वियोग में बदलते हैं, मृत्यु का पर्दा गिरता है। बाह्य संयोगों का एक अध्याय समाप्त हो जाता है। मृत्यु के समय जब ये संयोग वियोग में बदलते हैं, परिजन छूटते हैं, धन जाता है तब प्राणी दुःखी होता है, संतप्त होता है, और सोचता है कि हाय ! ये मेरी सब चीजें यहीं छूट जायेंगी, मैं अब अकेला जा रहा हूं। कोई भी परभव में मेरे साथ नहीं जायेगा।

इतिहास का एक रोमांचक उदाहरण आपके सामने रखता हूं। महमूद गजनवी ने भारत पर १७ बार आक्रमण किया। सबसे पहला हमला सन् १००१ में पंजाब के राजा जयपाल पर किया। जयपाल हार मानकर उसे कर देने लगा। फिर धीरे-धीरे वह भारत पर दूसरे-तीसरे वर्ष हमला करने लगा। यहां पर अपार धन-सम्पत्ति थी, भारत को लूट-लूट कर अपने देश में

खूब सम्पत्ति ले गया। भारत पर उसने जो आखिरी आक्रमण किया वह सबसे जबरदस्त आक्रमण था। सन् १०२४ में उसने यह आक्रमण भारत के प्रसिद्ध सोमनाथ मन्दिर पर किया। मंदिर में चढ़ावे के रूप में अपार संपत्ति आती थी, हीरे पन्नों की मूर्तियां थीं। महमूद ने उन मूर्तियों को तोड़ा, हीरों-पन्नों और सोने-चाँदी के ढेर लग गये। आखिर उसने शिवलिंग को भी तोड़ डाला और उसके नीचे जो अमूल्य हीरे आदि जवाहरात छिपे थे, उन सबको ऊंटों पर लादकर अपने देश ले गया। भारत का यह अपार स्वर्ण भंडार एवं जवाहरात इतना विशाल था कि उसके भंडारों में रखने की भी जगह नहीं रही। और देशों को भी उसने लूटा। आखिर सन् १०३० में वह बीमार पड़ा, बड़ी भयानक बीमारी हुई। बहुत उपचार करने पर भी जब ठीक न हुआ तो उसने अपने वजीर और सेनापति आदि को बुलाया। उसने आज्ञा दी। हमने आज तक जितनी सम्पत्ति जमा की है, उसे भंडारों से निकालकर मैदान में सजाया जाय, ताकि मैं उसे अन्तिम बार देख सकूं। सुलतान की आज्ञा का पालन हुआ, हीरे, माणिक, मोती, नीलम, पन्ने, सोना, चाँदी सब कुछ बाहर निकाला गया। एक ओर हीरे-जवाहरात सजाये, दूसरी ओर सोना-चांदी आदि के ढ़ेर लगाये। तीसरी तरफ हाथी घोड़ा आदि खड़े किये गये और चौथी तरफ पैदल लश्कर, नौकर, चाकर और उसकी सुन्दर सुन्दर बेगमें।

सुलतान ने सब चीजों को ध्यान से देखा, एक-एक चीज को देखता जाता और रोता जाता, आंसू बहाता जाता, आखिर में बोला—मैंने इतनी सम्पत्ति जमा की, दुनिया को लूटा, अपने खजाने भरे, यह अब मेरे क्या काम की? क्या मेरे साथ जायेगी? उसने अधीर होकर वजीर से पूछा—वजीर! यदि मैं इस बीमारी से न उठ सका तो यह दौलत क्या काम आयेगी?

वजीर ने कहा—हुजूर! यह सब यहीं रह जायेगी।

सुलतान—क्या इसमें से कुछ भी मेरे साथ नहीं जायेगा?

वजीर—नहीं! आपके पुरखे भी यह धन-दौलत यहीं छोड़ गये, आपने भी जो दौलत जमा की वह यहीं की यहीं रहेगी, एक सुई भी आपके साथ नहीं जा सकती!

सुलतान फूट-फूट कर रो पडा। हाय मुझे सब कुछ छोड़कर जाना पड़ रहा है। उसने रोते-रोते वजीर से कहा, मेरे मरने के बाद जब मेरा जनाजा निकले तो मेरे दोनों हाथ खुले करके बाहर कर देना, और ढिंढोरा पीट पर सबको बता देना कि सुलतान महमूद गजनवी ने दुनिया को लूटकर जितनी दौलत जमा की वह सब यहीं छोड़ गया है, आखिर खाली हाथ जा रहा है।

तो यह एक निश्चित तथ्य है कि आत्मा जब परभव को प्रयाण करता है तब सब कुछ यहीं छोड़कर अकेला जाता है, परलोक में अकेला ही जाकर—

एगो सयं पच्चणुहोई दुक्खं
परं भवं सुन्दर पावगं च।[1]

परभव में शुभ या अशुभ जैसा कार्य किया है उसका फल अकेला ही भोगता है। वहाँ कोई उसका हाथ बँटाने नहीं आता। कहा है—

एक उत्पद्यते तनुमानेक एव विपद्यते।
एक एव हि कर्म चिनुते सैककः फलमश्नुते।[2]

यह जीव जब परभव से आता है, तो अकेला आता है, मरता है तो अकेला मरता है, न जन्मते समय दूसरा कोई साथ आता है या कुछ साथ लाता है, और न मरते समय कोई इसके साथ जाता है। संसार में जीवन भर जो शुभ या अशुभ, पुण्य या पाप जैसा भी कर्म करता है, उसका फल भी अकेला भोगता है। यह भी नहीं हो सकता कि बाप का किया हुआ बेटा भोगे या पति का कर्म पत्नी भोगे। सभी प्राणी अपने-अपने स्वतन्त्र कर्म भोगते हैं।

सव्वेसयकम्म कप्पिया

सभी प्राणी स्व कर्म से, अपने ही कर्म के कारण फल भोगते हैं।

आत्म-एकत्व अनुभूति

आत्मा जब अकेला कर्म करता है, अकेला भोगता है तब फिर मनुष्य यह क्यों समझे कि यह अन्य मेरा है या मैं उनका हूं। वास्तव में आत्मा के सिवाय कौन किसका है? शास्त्र में कहा है—

पुरिसा तुममेव तुमं मित्तं
किं बहिया मित्तमिच्छसि![3]

हे पुरुष! हे आत्मन्! तू ही तेरा मित्र है, तेरा मित्र तेरे भीतर है; बाहर में तू कहाँ मित्रों की खोज कर रहा है? तू अकेला है—

एगे अहमंसि न मे अत्थि कोई
न याहऽमवि कस्स वि।[4]

'मैं अकेला हू, एक हूं। इस संसार में मेरा कोई नही, और मैं भी किसी का नहीं हूं।' इसलिए मुझे अपनी आत्मा का हित करना चाहिए, जिससे कि मैं

---

१. सूत्रकृतांग १।५।१२।२२
२. शांतसुधारसभावना ४।२
३. आचारांग १।३।३
४. आचारांग १।८।६

परलोक में जाकर सुखी बनूं। आत्म-हित का अवसर संसार में मुश्किल से मिलता है—

अत्तहियं खु दुहेण लब्भइ।[1]

अतः सर्वप्रथम आत्मा के हित और कल्याण की बात ही सोचना चाहिए।

आत्मा का हित इसमें है कि वह अपने ज्ञान-दर्शनमय स्वरूप की अनुभूति करे। वह रात दिन के चिन्तन मनन से मन में इस प्रकार की धारणा बनाये कि—

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाण मइओ सदाऽरूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचि व, अण्णं परमाणु मित्तं वि।[2]

मैं (आत्मा) एक हूँ, शुद्ध स्वरूपी हूँ, मैं वास्तव में अरूपी हूं, ज्ञान-दर्शन यही मेरा स्वरूप है। इसके अतिरिक्त जो बाहर दिखाई पड़ते हैं, माता, पिता, पुत्र, धन, वैभव यह सब मुझसे अन्य है, और तो क्या, यह मेरा शरीर भी मैं नहीं हूं। शरीर भी आत्मा से भिन्न है।

इस प्रकार आत्मा के एकत्व की अनुभूति करने से आत्मा की प्रतीति होती है, शरीर की ममता कम होती है, बाह्य संयोगों का आकर्षण घटता है, और आत्मोन्मुखता बढ़ती है।

महान कवि श्री अमीऋषिजी म० ने कहा है—

आवै जीव एकलो सिधावै फिर एकलो ही,
भ्रमै जगमाहीं न सहाई कोउ और है।
संपदा के भागी परिवार जीव सहे आप,
सुख-दुख शुभाशुभ संचित के जोर है।
दुष्कृत प्रताप आप कष्ट कुगति के सहे,
सुकृत कमाय करै ऊरध को दौर है।
कहे अमीरिख, 'नमिराज' यों विचारी चित्त,
कर्म हटाय रिख पाये शिव ठौर है।

एकत्व की अनुभूति से किस प्रकार आत्मा को शान्ति और समाधि का अनुभव हो सकता है, यह नमि राजर्षि के उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है।

मिथिला के राजा नमि के शरीर में एक बार भयंकर दाहज्वर उत्पन्न हुआ। अनेक उपचार किये, पर शान्ति नहीं मिली। नमिराज छह मास तक दाहज्वर से पीड़ित रहे। आखिर एक वैद्य ने शरीर पर बावना चन्दन का लेप बताया। अत्यन्त अनुरागवती रानियों ने अपने हाथों से चन्दन घिसा।

---

१. सूत्रकृतांग १।२।२।३
२. समयसार ३८

चन्दन घिसने लगीं तो उनके हाथों के कंकण (सोने की चूड़ियाँ) परस्पर टकराए। इससे शोर हुआ। नमिराज को यह शोर सहन नहीं हुआ। शोर से उनकी व्याकुलता बढ़ी। उनकी शान्ति के लिए रानियों ने हाथों में एक-एक कंकण रखा, बाकी सब उतार दिये। आवाज बन्द हो गई।

नमिराज ने पूछा—क्या चन्दन नहीं घिसा जा रहा है? आवाज नहीं होती है? बताया, आपको आवाज सहन नहीं होती इसलिए एक-एक कंकण (सौभाग्य सूचक) रखा है, बाकी सब उतार दिये। अकेला कंकण आवाज नहीं करता।

'एक कंकण' की सूचना ने नमिराज के चिन्तन की दिशा बदल दी। वे विचारने लगे—जहाँ अनेक हैं वहाँ संघर्ष है, पीड़ा है। जहाँ एक है वहाँ शान्ति है। उनका चिन्तन बाहर से भीतर को मुड़ गया, जहाँ आत्मा अकेला है, वहाँ कोई संघर्ष नहीं, कोई वेदना नहीं, कोई व्याकुलता नहीं! जहाँ आत्मा के साथ शरीर लगता है, इन्द्रियाँ व मन माता, पिता, परिवार धन, सत्ता से जुड़ते हैं तभी संघर्ष बढ़ता है, अशान्ति होती है। अशान्ति का मूल अनेकता है, शान्ति का मूल एकता है। इस सब वाह्य जंजाल को छोड़कर मुझे अपनी आत्मा की चिन्ता करनी चाहिए। दूसरों की रक्षा और भरण-पोषण की चिन्ता में मनुष्य अपनी आत्मा की रक्षा भूल रहा है। अब—

अप्पाणरक्खी व चरेऽप्पमत्तो।

आत्मा का रक्षक बनकर अप्रमत्त होकर विचरो! इसीसे तुम्हें शान्ति प्राप्त होगी। बस, इस संकल्प ने नमिराज की वेदना को शान्त कर दिया और वे प्रातः होते-होते राज, परिवार, धन, सत्ता को छोड़कर एकाकी मुनि बनकर चल पड़े। द्रव्य से भी सब बाह्य परिग्रह छोड़ दिया, और भाव से भी राग-द्वेष-कषाय-ममत्व आदि का बन्धन काटकर सही अर्थ में—**अबिनिज्जे** - अद्वितीय अर्थात् एकाकी बन गये।

देवराज इन्द्र ने राजर्षि से अनेक प्रश्नोत्तर किये, उनमें उसने कहा—आप अपने शत्रुओं को जीतकर सर्वत्र अपनी विजय ध्वजा फहराइये। तो राजर्षि ने कितना सुन्दर उत्तर दिया—

जो सहस्सं सहस्सेण संगामे दुज्जए जिणे।
एगो जिणेज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ।[1]

जो युद्ध में दस लाख योद्धाओं को जीतकर विजय ध्वजा फहराता है, उससे भी बड़ा विजेता वह है जो एक अपनी आत्मा को जीत लेता है। आत्मविजय

---

१. उत्तराध्ययन ९।३४

ही परम विजय है। यह एक आत्मा अगर नहीं जीती गई तो यही परमशत्रु का काम करती है।

एगप्पा अजिए सत्तू।

एक अविजित आत्मा ही अपना सबसे बड़ा शत्रु है। जिसने एक इसे जीत लिया—"**सव्वमप्पे जिए जियं**"—उसने सबको जीत लिया।

तो एकत्वभावना में आत्मा पर दृष्टि केन्द्रित करके इसी का ध्यान करना है और प्रतिपल यह विचार करते रहना है—

एकस्य जन्म-मरणे गतयश्च शुभाशुभा भवावर्ते।
तस्मादाकालिकहितमेकेनैवात्मना कार्यम् ॥[1]

—इस भव (संसार) रूपी भंवर में पड़ा हुआ यह जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है, और अकेला ही शुभ-अशुभ गतियों में भ्रमण करता है। इसलिए अकेले को ही अपना स्थायी हित करना है। स्वयं अपने प्रयत्न से ही वह अपना हित कर पायेगा। अतः इस आत्मा को अकेले ही धर्म का आश्रय लेना होगा—

एगं चरेज्ज धम्मो

एकाकी रहकर, एकत्व भाव के साथ धर्म की आराधना, उपासना करनी है। एकत्व भावना का यही लक्ष्य है।



१. प्रशमरतिप्रकरण १५३

५. अन्यत्व भावना

"आत्मा अकेला है, अकेला आया है और अकेला जायेगा"—इस प्रकार का चिन्तन एकत्व भावना का विषय है, इस चिन्तन में जब लीनता आती है तो एक प्रश्न और उठता है—यह आत्मा अकेला है, तो यह माता-पिता, पुत्र, पत्नी, बहन-भाई आदि कौन हैं ? क्या वे अपने नहीं हैं ? इनसे आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है ? और उनसे भी निकट, अत्यन्त निकटतम सम्बन्ध रखने वाला यह शरीर; क्या यह भी मेरा (आत्मा का) नहीं है ? यह प्रश्न मन में उठता है, और इस पर भी चिन्तन चलता है। इस चिन्तन को पाँचवीं अन्यत्वभावना में लिया गया है। पहले आत्मा के एकत्व पर चिन्तन किया, अब आत्मा के सिवाय सब पर हैं, अन्य है, इस 'अन्यत्व भाव' पर चिन्तन किया जाता है।

अन्यत्व भाव : हंसविवेक

अन्यत्व भावना में मनुष्य को आत्मा और अनात्मा का विवेक कराया गया है। आत्मा भिन्न है, देह भिन्न है, जैसे घी का पात्र और घी; दो अलग-अलग वस्तुएँ है वैसे ही शरीर घी का पात्र है और आत्मा घी के समान है। दोनों परस्पर सहयोगी है, आधार-आधेय सम्बन्ध बनाये हुए है। यह सम्बन्ध कर्मों के कारण बना है। क्योंकि **कम्मं च जाइ मरणस्स मूलं**[1]—कर्म ही जन्म और मरण का मूल है, शरीर और आत्मा का सम्बन्ध वास्तविक नहीं है, कर्म-कृत है। कर्म के कारण सम्बन्ध बनता है, टूटता है। इसे यदि कोई वास्तविक समझ ले तो वह अज्ञान है, अविद्या है। कहा गया है-

> **देहोऽहमिति या बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्तिता।**
> **नाहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते।**[2]

—'मैं देह हूं' इस बुद्धि का नाम ही अविद्या है। 'मैं देह नहीं हूँ, चेतन आत्मा हूँ' इस प्रकार की निर्मल बुद्धि ही विद्या है। यही भेदविज्ञान है, जो सम्यक् दृष्टि आत्मा की पहली पहचान है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—

---

१. उत्तराध्ययन ३२।७

२. अध्यात्म रामायण, अयोध्या कांड ३३

सुद्धं तु वियाणंतो, सुद्धं चेवप्पयं लहइ जीवो।
जाणंतो असुद्धं असुद्धप्पयं लहई॥[1]

—जो अपने शुद्ध स्वरूप की अनुभूति करता है, वह शुद्ध भाव को प्राप्त करता है। जो अशुद्ध रूप का अनुभव करता है, वह अशुद्ध भाव को प्राप्त करता है।

यदि आप आत्मा को देह से भिन्न परम शुद्ध उपयोगमय, निर्मल, सिद्धस्वरूप में अनुभव करेंगे, यह चिन्तन करेंगे कि—

अप्पा सो परमप्पा

आत्मा सो ही परमात्मा है। तथा

जारिसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीवा तारिसा होंति।[2]

—जैसी शुद्ध आत्मा सिद्धों की है, वैसी ही आत्मा (मूल स्वरूप में) संसारस्थ प्राणियों की है। आत्मा में मूल स्वरूप से कोई अन्तर नहीं है। यदि इस प्रकार का चिन्तन, अनुभवन और भावना करेंगे तो आप उसी रूप की प्राप्ति कर लेंगे, यह निश्चित है। शुद्ध का चिन्तन करने वाला शुद्ध और अशुद्ध का चिन्तन करने वाला अशुद्ध को प्राप्त करता है। देवस्वरूप का ध्यान करने वाला देवस्वरूप को, राक्षसस्वरूप का ध्यान व चिन्तन करने वाला वैसे ही बीभत्स व क्रूर स्वरूप का दर्शन करता है। यह सिर्फ सिद्धान्त की ही बात नहीं है, किन्तु मनोवैज्ञानिक सत्य भी है। यह निश्चित तथ्य है कि आप यदि आत्मा की देह से भिन्नता का चिन्तन करेंगे तो आप उसी प्रकार की प्रगति भी करने लगेंगे और अन्त में आपका चिन्तन साकार ही हो जायगा। एक प्राचीन दृष्टांत है।

एक आचार्य का शिष्य बहुत ही मंदमति था। निरन्तर अभ्यास करते रहने पर भी वह शास्त्र की एक गाथा का पद भी याद नहीं कर सका। उसकी मंद बुद्धि देखकर कुछ साथी साधु उसे चिढ़ाने लगे। वह क्षुब्ध होकर आचार्य के पास आया। आचार्य ने उसे समझाया, तेरा ज्ञानावरण सघन है, इसलिए तुझे ज्ञान नहीं आता। अपने कर्मों का विचार कर, किसी पर भी राग-रोष मत कर।

मा रुष! मा तुष!

न तो किसी पर रोष करो, न किसी पर प्रसन्न हो।

---

१. समयसार १८६

२. नियमसार ४७

शिष्य **"मा रुष मा तुष"** ! पाठ का चिन्तन करता-करता यह भी भूल गया और **"माष-तुष"** इतना ही रटने लगा। वह रात-दिन इसी पद का चिन्तन करता। साथी साधु उसकी मंद बुद्धि देखकर हँसते, उसका नाम भी 'माषतुष' मुनि रख दिया। किन्तु वह मुनि किसी पर भी रोष नही करता, सतत वह यही पद रटता रहता, **'माष-तुष'**। एक बार वह यह पद बोलते-बोलते इसके अर्थ पर विचार करने लगा—जैसे उडद के दाने मे छिलका भिन्न है, माष-दाना अलग है, और ऊपर का तुष अलग है। दोनों उडद और छिलका भिन्न-भिन्न है, वैसे ही आत्मा और देह भिन्न-भिन्न है। आत्मा ज्ञानमय है, देह जड है। आत्मा शाश्वत है, देह नश्वर है। बस, माष-तुष के सहारे वह आत्मा के भेदविज्ञान के चिन्तन की सीढ़ी पर चढ़ गया। चिन्तन करते-करते इतना तल्लीन हो गया कि उसके ज्ञानावरण आदि कर्म क्षीण होने लगे, घनघाति कर्मों के घन उडने लगे और चिन्तन की धारा मे गहरे गोते लगाते-लगाते वह केवलज्ञानी बन गया।

तो जो व्यक्ति छह महीने में एक पद भी याद नहीं कर पाया, ऐसा मद-बुद्धि भी जब भेदविज्ञान का सूत्र पकड़ कर चला तो कुछ ही समय मे केवल-ज्ञानी बन गया। यह है इस विज्ञान की परिणति। इसलिए आचार्य ने कहा है—यदि तुम आत्मा को शरीर से भिन्न शुद्ध स्वरूप मे देखोगे तो उस चिन्तन मे लीन होते-होते वास्तव मे ही शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लोगे।

अन्यत्व भावना का यह चिन्तन एक प्रकार का हस-विवेक है। पृथक्करण-बुद्धि है, जो जड मे चेतन को भिन्न अनुभव कराती है। अशुद्ध से शुद्ध की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाती है। वस्तुस्थिति का यथार्थ ज्ञान करने के लिए इस अन्यत्व भावना का चिन्तन अत्यन्त आवश्यक है। जब तक जड़ चेतन की पृथक्ता का बोध नही होगा। आत्मा सम्यक्त्व लाभ भी नही कर सकेगा।

अन्यत्व भावना पर चिन्तन करते हुए भारतभूषण श्री रत्नचन्द्रजी महाराज ने लिखा है—

> **कोऽहं जगत्यत्र कदा प्रभृतिस्थितिर्मे**
> **माता-पिता च तनुजा मम के इमे स्युः ?**
> **संयोग एभिरभवन्मम किं निमित्त—**
> **स्तत्त्वं विचिन्तय च पंचम भावनायाम् ॥**[1]

हे आत्मन्। तू पांचवी भावना में इस प्रकार का चिन्तन कर—

१. भावनाशतक ३४

मैं कौन हूं ? यह जगत क्या है ? इस संसार के साथ मेरा सम्बन्ध क्या है ? और कब से है ? जिन्हें मैं माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि मानता हूँ वे वास्तव में कौन हैं ? इनका और मेरा सम्बन्ध किस कारण से हुआ है और कितने दिन टिकने वाला है ? इन सब बातों पर विचार कर।

वास्तव में संसार के साथ आत्मा का सम्बन्ध दूध और पानी की तरह एकाकार हो रहा है। दूध में पानी मिलने पर साधारण आदमी उसे पहचान नहीं पाता और पहचान लेने पर भी उसे अलग-अलग नहीं कर सकता। किन्तु राजहंस के सामने पानी मिला दूध रख देने पर वह पानी को अलग कर देगा और दूध को अलग कर देगा—**हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्**—हंस जैसे पानी से दूध को अलग कर देता है, वैसे ही आत्मा को राजहंस बनना है, और इस दूध-पानी रूप संसार और आत्मा के सम्बन्ध को पृथक्-पृथक् करना है। यह पृथक्करण-बुद्धि ही वास्तव में अन्यत्व भावना है। आत्मा-अनात्मा के सम्बन्धों को अलग-अलग समझ लेना यही आत्मा का विवेक है, ज्ञान है, इसे ही हंस-बुद्धि कहा है।

मैं कौन हूं ?

आत्मा के सामने सबसे पहला प्रश्न आता है मैं कौन हूं ? जिसे 'मैं' कह कर पुकारा जाता है, वह 'मैं' कौन है ? हम कहते हैं 'मैं रोटी खाता हूं।' इसमें 'मैं' सर्वनाम है, कर्ता है, और रोटी कर्म है, इसका अर्थ हुआ कि खाने वाला कोई और है, और जो वस्तु खाई जा रही है, वह रोटी कुछ और है। यह दोनों के पृथक् अस्तित्व की सूचना देता है। इसी प्रकार यह मेरा पिता है, यह मेरी माता है, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा धन है, यह मेरा शरीर है, इन वाक्यों में भी 'मैं' अलग प्रतीत होता है और माता-पिता तथा शरीर आदि के साथ सम्बन्ध बताता है। अब हमें यही सोचना है कि यह जो 'मैं' और 'मेरा' का सम्बन्ध है वह वास्तव में सच्चा सम्बन्ध है या काल्पनिक है ?

पीछे एकत्व भावना में बताया गया है—

एगो मे सासओ अप्पा नाण-दंसण संजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोग लक्खणा॥

—मेरी आत्मा जो ज्ञान दर्शन युक्त है, वही वास्तव में मेरी है, वह शाश्वत है और सदाकाल लोक में, परलोक में, स्वर्ग मे, नरक में सर्वत्र मेरे साथ रहने वाली है। इसके अलावा जितने भी पदार्थ है, सब संयोगजन्य है। सयोग मिलने पर एकत्र हुए है, वियोग होने पर बिखर जायेंगे।

जो मित्र सुख में साथी बने और दुःख आने पर मुंह भी न दिखाये, छोड़ कर भाग जाये, क्या वह सच्चा मित्र हो सकता है ? नहीं। तो इसी प्रकार

जो बाहरी सम्बन्ध हैं वे कब तक है? जब तक मृत्यु नहीं आती है। मृत्यु आई कि सब सम्बन्ध तोड़ देते है। शास्त्र में कहा है—

तं एक्कगं, तुच्छ सरीरगं से
चिईगयं दहिय उ पावगेणं।
भज्जा य पुत्तो वि य नायओ य
दायारमन्नं अणुसंकमंति।[1]

—जब शरीर से प्राण निकल जाते हैं, तब इस तुच्छ शरीर को श्मशान में ले जाकर चिता पर रखकर जला दिया जाता है और उसकी पत्नी, पुत्र तथा बांधव आदि किसी अन्य दातार की शरण ग्रहण करते हैं।

तो इन बाह्य सयोगों का सम्बन्ध तो सिर्फ श्मशान तक का है। श्मशान से आगे कोई साथ जा नहीं सकता, फिर ये अपने कैसे हुए?

इसलिए पहले यह विचार करना है कि "मैं कौन हूँ? मेरा स्वरूप क्या है?"

'मैं' आत्मा हूँ। आत्मा अमर है, शाश्वत है। अन्य पदार्थों की तरह यह नश्वर नही है। शरीर को चिता में जलाने पर भी यह आत्मा जलता नही है। शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर देने पर भी आत्मा का कभी हनन नही होता। यह कभी जन्मता ही नही, मरता ही नही। न घटता है, न बढ़ता है। रोग से, व्याधि से, जरा से कभी पीड़ित नहीं होता। गीता में कहा है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।[2]

इस आत्मा को न शस्त्र काट सकते है, न अग्नि जला सकती है, न पानी गला सकता है, न हवा सुखा सकती है। यह वास्तव में अच्छेद्य है, अदाह्य है, अशोष्य है, नित्य है, सर्वगत है, कहीं भी इसकी गति रुकती नहीं है। अचल है, और कभी नाश को प्राप्त नही होता।

जो मै हूँ, जो आत्मा है, वह इस प्रकार शाश्वत है, अजन्मा है, और अमर है। उसका कभी नाश नही होता यह मेरा स्वरूप है।

अब इसके साथ दूसरी वस्तुओं का सयोग बना है उसके विषय में भी सोचना है कि आत्मा के साथ अर्थात् मेरे साथ जो यह संसार जुड़ा है—माता, पिता, पुत्र-परिवार, मित्र-ज्ञाती आदि के सम्बन्ध है, क्या वे भी सदा से

१. उत्तराध्ययन १३।२५
२. गीता २।२३-२४

साथ हैं ? या यहीं पर जुड़े है ? ये मेरे माता-पिता क्या पिछले जन्म में भी मेरे साथ थे ? क्या आगे भी मेरे साथ चलेंगे ? यह धन, जिसे मैंने मेहनत करके, अनेक प्रकार के छल-प्रपंच करके एकत्र किया है, वह भी क्या मेरे साथ जायेगा ? और तो क्या, यह शरीर जिसे मैं इतना प्यार करता हूँ, बार-बार जिसकी सम्भाल करता हूँ और संसार में जो मुझे सबसे प्यारा है, क्या वह मेरे साथ जायेगा ? यदि मनुष्य विवेक पूर्वक इनका उत्तर सोचे तो क्या उत्तर आयेगा ? नहीं, ये कुछ भी मेरे साथ जाने वाले नहीं हैं। कहा है—

वित्तं पसवो य नाइओ, तं बाले सरणं ति मन्नइ।
एए मम तेसु वि अहं नो ताणं सरणं विज्जइ।[1]

—धन, पशु, ज्ञाति स्वजन आदि को शरण कौन मानता है ? जो मूर्ख है, जो इनकी वस्तुस्थिति नहीं जानता, वही इन्हें अपना समझता है। वास्तव में न ये मेरे रक्षक हैं, न मैं इनका रक्षक हूं। दोनों का सम्बन्ध केवल कृत्रिम है, क्षणिक है, कुछ काल का है। ये मुझे छोड़कर जा सकते हैं, मैं इन्हें छोड़कर जा सकता हूं। इसलिए यह सोचें—

अन्ने खलु कामभोगा, अन्नो अहमंसि
से किमंग पुण वयं अन्नमन्नेहिं कामभोगेहिं मुच्छामो ?[2]

ये कामभोग अन्य हैं, और मैं अन्य हूं।

फिर हम क्यों एक दूसरी वस्तु में आसक्त होते हैं ? जब काम भोग, वैभव आदि कभी भी मुझे छोड़ सकते हैं। और मैं भी इन्हें कभी भी छोड़ सकता हूं। यदि वे मुझे छोड़ गये तो संसार में मैं दीन-दरिद्र दुःखी बनकर भटकता रहूंगा और यदि मैं उन्हें छोड़कर चला गया तो उनका मालिक कोई और हो जायेगा। जैसे 'वेश्या के पति हजार' वैसे ही इन कामभोग, वैभव आदि के हजार मालिक हैं। इस प्रकार जब ये अस्थिर है, इनका मेरा सम्बन्ध कांच की शीशी की तरह तुरन्त एक झटके में ही टूटने वाला है। तो फिर मैं क्यों उनके लिए, इतनी ममता करता हूँ और क्यों इतने पाप करता हूँ, क्यों क्लेश उठाता हूँ ? जरा अन्तर में पैठकर सोच—

यस्मै त्वं यतसे बिभेषि च यतो यत्राऽनिशं मोदसे,
यच्छोचसि यदिच्छसि हृदा यत्प्राप्य प्रेप्रीयसे।
स्निग्धो येषु निजस्वभावममलं निर्लोठ्य लालप्यसे
तत्सर्वं परकीयमेव भगवन् ! आत्मन् ! न किंचित्तव।

१. सूत्रकृतांग १।२।३।१६
२. सूत्रकृतांग २।१।१३

हे मेरे भगवन् ! (ज्ञानादि गुणयुक्त आत्मन् !) सोचो जरा, जिन पुत्र-स्त्री कुटुम्बीजनों के भरण-पोषण के लिए तुम तरह तरह के प्रयत्न कर रहे हो, कभी-कभी भय खाते हो, जिस परिवार के प्रेम के नशे में पागल होकर कभी प्रसन्न होते हो, कभी किसी के वियोग व रोग से चिंतित होकर शोक करते हो, कभी जो सोचते हो वह मिल जाता है तो मन में खुशी से नाचने लगते हो और इन नाशवान पदार्थों में आसक्त होकर अपने ज्ञान आदि निर्मल स्वभाव को भी भुला देते हो और मोह में मत्त होकर पागल की तरह प्रलाप करने लगते हो. सोचो उसमें तुम्हारा क्या है ? **'तत् सर्वं परकीयमेव भगवन्'** हे आत्मन् ! जरा गहराई में विचार करो, यह सब तो परकीय है, पराया है, इसमें तुम्हारा क्या है ? तुम अपने स्वरूप को तो भूल बैठे हो, सिर्फ दूसरों के लिए ही यह सब कुछ कर रहे हो ?

ममत्व ही दुःख का कारण

तो इस प्रकार पर-वस्तु के साथ ममत्व बन्धन करके आत्मा दुःखी होता है, क्योंकि वास्तव में तो आत्मा का स्वरूप अलग है, वह चेतन है, धन जड़ है, दोनों का कोई सम्बन्ध हो ही नहीं सकता । किन्तु मोह व अज्ञान के कारण वह परवस्तु को भी अपनी मानने लग गया है । कल्पना करिए—यात्रा करते हुए यदि आपको पाँच दस अन्य यात्री मिल गये, उनमें परिचय हुआ और कुछ देर का साथ भी हुआ । अब यदि उस परिचय के कारण उन मुसाफिरों को आप अपना ही मान लें, जब वे आपसे बिछुड़ने लगें तो आप रोने-धोने लगें, उन्हें पकड़ लें कि नहीं हम से बिछुड़ो मत ! तो देखने वाले लोग क्या कहेंगे ? कैसा बेवकूफ है ? स्वयं वे यात्री भी आपसे यही कहेंगे "अरे यह क्या ! दो मिनट की मुहब्बत में यह कयामत ! तुम हम दो मिनट के लिए मिले, बस हमारा स्टेशन आ गया, हम उतर गये, तुम अपने, हम अपने !" तो

> **पथि-पथि विविध पथैः पथिकैः सह**
> **कुरुते कः प्रतिबन्धम् ?**
> **निज-निज कर्मवशैः स्वजनैः सह**
> **किं कुरुषे ममताबन्धम् ?**[1]

—अलग-अलग स्थानों को जाने वाले यात्री यदि कुछ क्षण के लिए एक साथ मिल गये तो कोई भी समझदार व विचारशील व्यक्ति उनके साथ मैत्री नहीं करता, करता है तो केवल रात्रि भर की मुलाकात करता है, उन्हें वह कभी अपना समझने की भूल नहीं करता ! वैसे ही संसार में माता-पिता-पुत्र-स्त्री

१. शांतसुधारस ५।५

आदि अपने-अपने शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार यात्रा करने वाले यात्री है। वे एक स्थान पर परस्पर मिल गये, तुम सबका परिचय हो गया, पर यह परिचय तो रेलवे यात्रियों की भांति ही कुछ समय का है? फिर तो सब अपने-अपने अगले स्थान पर जाने वाले हैं, कोई स्वर्ग में! कोई नरक में! कोई पशुयोनि में! तो...दो क्षण के इस परिचय में उनके साथ ममता का बन्धन क्यों कर रहे हो? उन्हें अपना क्यों मान रह हो? क्या तुम्हारा उनका साथ सदा का है? नही एक दिन का है या कुछ वर्षों का? यह भी तो पता नही! फिर क्यों उनके साथ ममत्व बाध रहे हो।

सफर मे हजारों यात्री मिलते है, बिछुड़ते है. पर क्या उनकी याद आती है? उनका बिछोह कभी सताता है? नहीं, ज्ञानी कहते है इसी प्रकार संसार की यात्रा करो। ममत्व का बन्धन जब तक नहीं है, किसी की कोई चिन्ता आपको नही।

सोचिए! आपके पड़ोस मे, मुहल्ले में, या गांव में किसी के यहा चोरी हो जाती है, आग लग जाती है, कोई दुर्घटना हो जाती है, किसी स्वजन की, प्रियजन की मृत्यु हो जाती है, वे लोग रोते हैं, कलपते है, हाहाकार मचाते हैं, सिर-छाती पीटते है, पर क्या आप भी उनकी चोरी, दुर्घटना या मृत्यु का समाचार सुनकर रोने लगते है? सिर-छाती पीटते है? नहीं! क्योंकि आपका उनके साथ कोई परिचय नही है। आपके लिए वे पराये है। यदि समझ लें कि आपका थोड़ा-बहुत परिचय है तो सुनकर थोड़ा-सा दो मिनट के लिए खेद होगा, यदि गहरा परिचय है तो आपको थोड़ी उदासी भी आयेगी, संवेदना प्रगट करने उनके घर जायेंगे भी पर थोड़ी देर बाद आप उनका दुःख भूलकर अपने सुख में मगन हो जायेगे।

तो दुर्घटना और मृत्यु का दुःख कितना होता है जितना-जिसका परिचय! परिचय या स्नेह नही, तो कोई दुःख नहीं, थोड़ा स्नेह, थोड़ा दुःख! अधिक स्नेह अधिक दुःख। तो दुःख का कारण किसी की मृत्यु होना नहीं, किन्तु स्नेह ही रहा है। स्नेह के कारण जब आप किसी को अपना समझ लेते हैं तब ही उसकी दुर्घटना से आपको दुःख होता है।

प्राचीन आचार्यों ने एक उदाहरण दिया है।

एक सद्गृहस्थ था। माता-पिता की काफी सम्पत्ति उसके पास थी। किन्तु दुर्भाग्य ऐसा आया कि सब सम्पत्ति नष्ट हो गई। घर में दरिद्रता आ गई। सेठ ने सोचा, अब तो धन कमाने के लिये कही विदेश में जाना चाहिये।

सेठ के दो महीने का एक पुत्र था। पत्नी को और दो महीने के पुत्र को छोड़कर सेठ विदेश में धन कमाने गया।

भाग्य जब साथ देता तो मनुष्य के दिन पलटने में समय नहीं लगता। धीरे-धीरे सेठ ने परिश्रम, ईमानदारी और साहस के साथ व्यापार किया। अपार लक्ष्मी फिर उसके हाथों में खेलने लग गई। व्यापार करते-करते सोलह वर्ष बीत गये। सेठ ने लाखों करोड़ों की सम्पत्ति कमायी। अब घर जाने की चिन्ता हुई। पुत्र और पत्नी की याद आई। सोचा, पुत्र भी १६ वर्ष का हो गया। अब बड़ी शान के साथ उसका विवाह करूँगा। और पहले से भी ज्यादा शान संसार में दिखाऊँगा, उसने किसी के साथ घर पर पत्र भेजा—"मैं अमुक दिन यहाँ से विदा होकर अमुक गाँवों में ठहरता-ठहरता घर पहुँच रहा हूँ।"

सेठानी ने पत्र पढ़ा तो उसकी खुशी का पार नहीं रहा। पुत्र भी पिता को देखने के लिए उतावला हो रहा था। माँ से कहा—मैं कुछ दूर पिताजी को लेने जाऊँगा। पिताजी की अगवानी करूंगा। माँ ने एक सेवक के साथ पुत्र को पिता की अगवानी करने भेज दिया। पुत्र दस-बीस कोस सामने जाकर एक गाँव में धर्मशाला में ठहरा। उधर वह सेठ भी खूब ठाट-बाट से पचासों नौकरों चाकरों के साथ उसी धर्मशाला में आकर ठहरा। पिता-पुत्र एक ही धर्मशाला में पास-पास में ठहरे है, लेकिन न पिता अपने पुत्र को पहचानता है, न पुत्र पिता को। क्योंकि पिता ने जो तिथि इस गाँव में पहुँचने की लिखी थी वह उससे दो दिन पूर्व ही पहुँच गया। इसलिए पुत्र को भी यह अनुमान नहीं हुआ कि यह ही मेरा पिता हो सकता है।

रात में सेठ के उस लड़के के पेट में दर्द हुआ। लड़का रोने लगा। साथ का जो सेवक था उसने अन्य यात्रियों से कहा—हमारे साथ में यह लड़का है, इसके पेट में भयंकर दर्द हो रहा है, किसी के पास कोई दवा हो तो दे दो। पर एक दूसरे के पेट दर्द से किसी दूसरे को क्या मतलब ? किसी ने कुछ नहीं सुनी। सेवक उसी सेठ के पास जाकर कहने लगा। आपके पास पेटदर्द की कोई दवा हो तो दीजिए। सेठ नींद में आराम से सोया था, उसने सेवक को डांटा—"तुम्हारे पेट में दर्द है तो हम क्या करे। भाड़ में जाय तुम्हारा लड़का। मेरी नींद क्यों हराम करते हो ?"

विचारा सेवक रात में क्या करता, लड़का पेटदर्द से मछली की तरह तड़फ रहा है, रो रहा है, चीख रहा है। सेठ ने कहा—"यह कौन मेरी नींद खराब कर रहा है। कहो उसे चुप हो जाय।" सेठ के नौकरों ने लड़के को और सेवक को डाटा। पर लडका तो विचारा दर्द के मारे चीख रहा था। सेठ को बहुत गुस्सा आया। कहा—"इस हरामी को टाग पकड़कर धर्मशाला से बाहर निकाल फैंको, मेरी नींद हराम हो रही है।" सेठ के नौकरों ने लड़के को उठाकर सर्दी में धर्मशाला से बाहर बरामदे में डाल दिया। सेवक

भी रो रहा है, लड़का कुछ देर तक तो तड़पता रहा, आखिर पेटदर्द के मारे उसके प्राणपखेरू उड़ गये। सेवक फूट-फूट कर रोने लगा। पड़ौसी यात्री आये, पूछा, लड़के के बाप का नाम क्या है? सेवक ने लड़के की जेब से चिट्ठी निकालकर बताई। कहा आज इसका पिता प्रेमचन्द सेठ, परदेश से यहां पहुँचने वाला है। हम उसी की अगवानी के लिए आये हैं। भीतर बैठे सेठ ने जब अपना नाम सुना तो चौंका। पता लगाया लड़का कौन है। स्वयं उठकर आया, और जब अपने ही हाथ की लिखी चिट्ठी देखी तो बस, फूट-फूट कर रो पड़ा। लड़के के शव को छाती से लगा-लगा कर विलाप करने लगा। हाय! मेरा इकलौता बेटा! मैं जीते जी इसका मुंह भी नहीं देख सका? अब पुत्र-वियोग में बेहाल सेठ बार-बार मूर्च्छित हो रहा है, विलाप कर रहा है।

तो जब तक सेठ का और उस लड़के का कोई अपनत्व सम्बन्ध नहीं निकला था, सेठ को यह मालूम नहीं पड़ा कि यह लडका मेरा ही है, तब तक उसका क्या व्यवहार रहा? उसके पेटदर्द से, उसके कराहने से सेठ को एक रंचभर भी पीड़ा नहीं हुई। उलटा उसे पेटदर्द से कराहते हुए भी बेरहमी से बाहर निकलवा दिया। क्यों? क्योंकि उसके साथ उसे कोई अपनत्व नहीं था? अपने को अन्य समझ रहा था, उसे अन्य। दोनों एक दूसरे के लिए पराये थे, जब अपने बने तो यह दुःख, शोक और विलाप हुआ।

ज्ञानी कहते है, आत्मा को देह के साथ, परिवार के साथ, और धन-वैभव के साथ अन्यत्व भाव रखना चाहिए। यह सोचना चाहिए कि वह मेरा नहीं है। जब तक अन्यत्व भाव है, आपको कोई चिन्ता शोक नहीं है। नमिराज ऋषि जब साधु बनकर चल देते हैं, इन्द्र उन्हें समझाने आता है। कहता है—

एस अग्गी य वाऊ य एयं डज्झइ मंदिरं।
भयवं अन्तेउरं तेणं, कीस णं नावपेक्खसि?

—यह अग्नि है, यह वायु है और इनसे आपका राजमहल जल रहा है, आपका रनिवास (अन्तःपुर) अग्नि में स्वाहा होता जा रहा है, आप उधर देखते क्यों नहीं?

देवराज का यह कथन सुनकर स्थितप्रज्ञ नमिराज ऋषि बोलते है —

सुहं वसामो जीवामो जेसिं मे नत्थि किंचणं।
मिहिलाए डज्झमाणीए न मे डज्झइ किंचण॥[1]

—जिसके पास अपना कहने लायक कुछ भी नहीं है, ऐसे हम लोग सदा सुख

१. उत्तराध्ययन ९।१२, १४

मे जीते हैं, सुखपूर्वक और निश्चित अपनी जीवन यात्रा करते हैं। मिथिला जलती है तो मेरा क्या ? उसमें मेरा तो कुछ भी नहीं जल रहा है !

यह सुख है अन्यत्व भावना का, हंसविवेक का। मिथिला जल रही है, अन्तःपुर जल रहा है लेकिन नमिराज ऋषि कहते है—सुह वसामो जीवामो, मैं तो सुखपूर्वक बैठा हूं। क्योंकि वे सोचते है जो जल रहा है, उसमें मेरा कुछ भी नहीं है, सब कुछ पर है। पर के जलने का दुःख करेंगे तो संसार में एक क्षण भी सुख से नहीं रह सकेंगे। आपको पता है, संसार में एक क्षण में, एक मिनट में हजारों लोग मरते है, पचासों अग्निकाड होते है और सैकड़ों दुर्घटनाएं होती है। पर आप कभी उनसे दुःखी होते है ? नही, क्योंकि उनसे आपका कोई सम्बन्ध नहीं है। आप उन्हें पराया समझते है।

आत्मा की तीन दृष्टियां

कुछ लोग यह कहते है कि संसार में अपने सिवाय सब पराये है इसलिए किसी का सहयोग और सेवा नही करना चाहिए, क्योंकि धर्म हमें यही बताता है कि इस संसार में तेरा कुछ भी नही है। मैं समझता हूं यह धर्म का गलत उपयोग है। वैराग्य यह जरूर कहता है, पर उसका व्यवहार सचाई से होना चाहिए। जहां अपना मतलब रहा, स्वार्थ रहा वहा तो आप सब को अपना बनालें, गधे को भी बाप बनालें, और जब स्वार्थ नही रहे, कुछ गाठ मे देना पड़े वहा वैराग्य की रटन लगायें—यह अनुपयुक्त है। धर्म कहता है, संसार का जो काम है, उत्तरदायित्व है, वह तो पूरा करो, लेकिन उसमे आसक्त मत बनो, जैसे धाय दूसरों के बच्चों की परवरिश, देखभाल करती है, पर सिर्फ अपना कर्त्तव्य समझकर, उनको अपना नही समझती। ग्वाला सैकड़ों गायों की रखवाली करता है लेकिन उन गायों को अपनी नही समझता। संसार में रहने का यही तरीका है—

> **अन्तरगत न्यारा रहे ज्यों धाय खिलावे बाल।**

कर्त्तव्य करो, पर यथार्थ ज्ञान के साथ, पुद्गल को, जड़ को और चेतन को, अलग-अलग समझकर योग्य व्यवहार करो। आचार्य शुभचन्द्र ने तीन तरह की आत्म-परिणतियां, विचारणाएँ बताई है, एक बहिरात्मभाव, एक अन्तरात्मभाव और परमात्मभाव !

> **आत्मबुद्धिः शरीरादौ यस्य स्यादात्मविभ्रमात् ।**
> **बहिरात्मा स विज्ञेयो मोह निद्रास्तचेतनः ॥**[1]

जिस मनुष्य को शरीर, घर, परिवार, कुटुम्बीजनो में आत्मबुद्धि हो, उन्हें

---

१. ज्ञानार्णव

अपना निजी समझता हो, आत्मा की तरह अपनत्व भाव रखता हो उसकी मोह-निन्द्रा में अन्तश्चेतना लुप्त हो गई है। ऐसा आत्मा बहिरात्मा है—वह पर पदार्थों को मेरा कहने वाला अर्थात् बाह्य वस्तु में आत्मभाव रखने वाला अज्ञानी है।

बहिर्भावानतिक्रम्य यस्यात्मन्यात्मनिश्चयः।
सोऽन्तरात्मा मतस्तज्ज्ञैः विभ्रमध्वान्तभास्करैः॥

—जिसने बाह्य पदार्थों में से आत्मभाव हटा लिया है, अन्तर आत्मा में ही जो निजत्व भाव से रमण करता है उसे अन्तरात्मा कहा गया है।

निर्लेपः निष्कलः शुद्धः निष्पन्नोऽत्यंतनिर्वृतः।
निर्विकल्पश्च शुद्धात्मा परमात्मेति वर्ण्यते॥

—जो कर्मों के लेप से रहित हो गया है, शरीर के बंधन से भी मुक्त हो गया है, रोग-शोक आदि समस्त विकार जिसके छूट गये है, समस्त विकल्प जाल से जो मुक्त हो गये है, अविनाशी और अनन्त स्वरूप को प्राप्त है वह परमात्मा है।

परमात्मा हमारा लक्ष्य है, अन्तरात्मा हम बन रहे है, बनना है, पर कब जबकि बहिरात्मभाव से मुक्त होंगे। बाह्यबुद्धि, बहिरात्मभाव से छुटकारा पाने के लिए अन्यत्व भावना का सतत चिन्तन करते रहना है। कविकुलभूषण श्री अमीऋषिजी ने कहा है —

चिदानन्द भिन्न पुद्गल से स्वरूप तेरो,
अमल अमित-ज्योति भानु के समान है।
अनन्त चतुष्टय विराजे, घटमांही याते,
सिद्ध सम आतम अपार ऋद्धिवान है।
भरमते भूलिके स्वरूप जड़ संग राचो,
करम कमाय सहै संकट समान है।
यातें मृगापुत्र निजरूप में मगन भये,
कहे अमीरिख पद पाये निरवाण है।

चिदानन्दमय ज्योतिस्वरूप, जो तेरा परम शुद्ध रूप है, उसका चिन्तन कर! मोह के कारण भ्रान्त होकर तू जड़ को अपना समझ रहा है उसी के कारण ये सब दुःख है, चिन्ताएं हैं इसलिए इस बाह्य-बुद्धि को हटा! जैसे मृगापुत्र ने संसार की असारता, विषय भोगों की अनित्यता समझकर पुद्गलों से आत्मा को भिन्न समझा उसी प्रकार अन्यत्वभाव का विचार कर परमसुखमय निर्वाण की प्राप्ति करें।

तो अन्यत्व भावना का यह चिन्तन हमें यही सूत्र देता है—**अन्नो जीवो अन्नं इमं सरीरं**—

—यह जीव अन्य है, शरीर अन्य है। जो बाहर में है, दीख रहा है, वह मेरा

नहीं है, जो कामभोग प्राप्त हुए हैं वे भी मेरे नहीं हैं—**अन्ने खलु कामभोगा अन्नो अहमंसि**[1] वे कामभोग सब मुझसे भिन्न है। यदि मैं भिन्न वस्तु में, पर-वस्तु में अपनत्व बुद्धि करूंगा तो—

विविधार्ति भयावहं तथा परभावेषु ममत्वभावनम्।[2]

—पर भाव में मम भाव करना विविध दुःखों और चिन्ताओं का कारण होगा। इसलिए उन पर-वस्तुओं से सदा आत्मा को भिन्न समझो! आत्मा अनन्य है, देह अन्य है। यही अन्यत्व भावना की फलश्रुति है।



१. सूत्रकृतांग २।१।१३
२. शांतसुधारस भावना ४

६. अशौच भावना

अन्यत्व भावना में आत्मा और अनात्मा को पृथक-पृथक समझने का बोध दिया गया है। आत्मा जिस शरीर में निवास कर रही है वह आत्मा के लिए एक बंधन है, कारागार है या पिंजरा है। इस पिंजरे में रहते-रहते इसके साथ मोह हो गया है। जैसे कोई कैदी ४०-५० वर्ष तक कैदखाने में रहने के बाद जब उससे छूटने का अवसर आता है तो दुखी होता है, बहुत वर्षों के सम्बन्ध के कारण कैदखाने से भी उसे प्रीति हो जाती है और वही उसे अपने घर जैसा लगता है। यही स्थिति शरीर के विषय में है। आत्मा इस शरीर में दीर्घकाल से निवास कर रहा है, इस कारण इसके साथ प्रीति, मोह और अपनत्व होगया है, और अपनत्व भी इतना गहरा हो गया है कि वह इसे अपना ही समझने लगा है, अपने साथ एकता की अनुभूति करने लगा है शरीर को अपने से अभिन्न मानने लग गया है और इस व्यामोह के कारण वह अनेक यातनाएं व कष्ट उठा रहा है, संसार में परिभ्रमण कर रहा है। अन्यत्व भावना में यह विवेक जगाया गया है कि यह आत्मा शरीर से भिन्न है "अन्नो जीवो अन्नं इमं सरीरं"— जीव अन्य है, शरीर अन्य है, इसी बात पर चिन्तन किया गया है।

शरीर का अन्तरंग स्वरूप

प्रश्न होता है आत्मा से शरीर की पृथकता का भान होने पर भी शरीर के प्रति राग का बंधन, स्नेह, आकर्षण कम कैसे हो? यह तो ठीक है कि आत्मा अन्य है, शरीर अन्य है, शरीर मेरा स्वरूप नहीं है, पर दीखने में तो सुन्दर दीख रहा है। इसकी सुन्दरता, सुगठितपना, और आकार-प्रकार देखकर मन में प्रेम तो जगता है न? क्या दूसरे का बच्चा सुन्दर है तो उसके प्रति मन में प्रेम नहीं उमड़ता? इसी प्रकार यह तर्क दिया जा सकता है कि शरीर भले ही जड़ है आत्मा से भिन्न है, पर दीखने में अच्छा दीखता है तो फिर उसके प्रति आकर्षण व मोह कैसे न हो?

शरीर के प्रति आकर्षण का कारण है उसका बाह्यस्वरूप? गोरी चमड़ी, सुन्दर आँखें, कोमल हाथ-पांव ये सब वस्तुएं ही मनुष्य के मन में शरीर के प्रति सौन्दर्य भावना जगाती हैं। सौन्दर्य भावना से आकर्षण बढ़ता है। चिन्तन में गहरे उतर कर देखा जाय तो मनुष्य का शरीर इतना सुन्दर नहीं है जितना

कि पशु-पक्षियों का है। प्राकृतिक सौन्दर्य मनुष्य शरीर की अपेक्षा पशु-पक्षियों के शरीर में अधिक होता है। देखिए—खरगोश के बाल कितने मुलायम होते हैं, हरिण की आँखें कितनी बड़ी-बड़ी और चमकदार होती हैं। किसी सुन्दरी की आँखों को उपमा देने के लिए कवि लोग उसे 'मृगाक्षी' कहते हैं। तोते की नाक कितनी तीखी और सुन्दर होती है। शुक-नासिका की उपमा दी जाती है। बंदर का शरीर कितना हलका और चपल होता है, बड़ी-बड़ी छलांगें लगा सकता है? घोड़े के पैर कितने सुदृढ होते है, कितना तेज दौड़ता है, सिंह की कटि, मयूर के पंख, कोकिल की बोली क्या कम सुन्दर है? सर्वश्रेष्ठ गायिका को लोग 'कोकिल कंठी' कहते हैं। तो गहराई में उतरने पर प्रतीत होगा कि सुन्दरता और प्राकृतिक विशिष्टता में मनुष्य के शरीर से भी पशुओं का शरीर अधिक है। किन्तु मनुष्य कृत्रिम सौन्दर्य में सबसे आगे है। कृत्रिम उपायों से ही उसने अपने शरीर को अधिक सुन्दर व आकर्षक बनाने का प्रयत्न किया है। पशु-पक्षी बिना किसी आभूषण व वस्त्र के भी सुन्दर लगते है, यदि मनुष्य वस्त्र उतार कर खड़ा होजाय तो कितना बीभत्स दीखेगा? मनुष्य का सौन्दर्य कृत्रिम है, वह वस्त्र-आभूषण साजसज्जा का है। वह आँखों में काजल लगाकर, केशों में तेल डालकर मुंह पर पाउडर-लिपस्टिक-क्रीम आदि लगाकर अनेकानेक उपायों से अपना सौन्दर्य बढाना चाहता है। कृत्रिम उपाय कौन करता है? जिसके पास प्राकृतिक सौन्दर्य कम हो।

फिर यह तो बात ऊपरी वस्त्र-आभूषण की रही। जिस गोरी चमडी को, नाक नक्शे को देखकर वह अपने रूप का गर्व करता है, उस शरीर का वास्तविक स्वरूप क्या है?[1] जिस सौन्दर्य पर इठलाकर वह स्वयं अपनी आत्मा को भी भूल रहा है उस सौन्दर्य के नीचे क्या छिपा है? बुद्धि पर मोह का पर्दा पड़ा है इसे हटाइये, और शरीर की वास्तविक स्थिति पर विचार कीजिये--

१. शरीर विज्ञान के अनुसार हमारे शरीर में ये पांच तत्त्व मुख्य है—
१. प्रोटीन (मांसजातीय-पदार्थ), २. चर्बी (स्निग्ध-पदार्थ घी-तेल आदि), ३. पार्थिवपदार्थ (लोहा-चूना आदि), ४. कार्बोहाईड्रेट (शर्कराजातीय-पदार्थ), ५—जल। इसके अलावा ऑक्सीजन, हाइड्रोजन आदि २३ तत्त्व और भी हैं। ऑक्सीजन के अतिरिक्त सभी पदार्थ पूर्वोक्त पांचो तत्त्वों में प्रविष्ट हो जाते हैं। शरीर में जल ५७ प्रतिशत, पार्थिव पदार्थ २० प्रतिशत एवं चर्बी, प्रोटीन व शर्करा ये तीनों मिलकर २३ प्रतिशत हैं। उक्त परिणामों में पाँचों तत्त्व रहने से धातुएँ सक्रिय रहती है।

अमेध्यपूर्णे कृमिजाल-संकुले
स्वभाव दुर्गन्धिनि शौचवर्जिते।
कलेवरे मूत्र-पुरीष-भाजने
रमन्ति मूढा विरमन्ति पंडिताः।[1]

—यह शरीर दुर्गन्धित पदार्थों से भरा हुआ है, कीड़े-कृमि इसमें कुलबुला रहे है। स्वभावतः ही यह दुर्गन्धि वाला है, इसमें पवित्रता व शुद्धता का तो नामोनिशान भी नहीं है और मल-मूत्र का भंडार है, इस अपवित्र शरीर को मूर्ख लोग, अज्ञानी सुन्दर मानते हैं, ज्ञानी इस अशुचिमय शरीर से विरक्त रहते हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

रसासृग् मांस मेदोऽस्थि मज्जा शुक्रान्त्रवर्चसाम्।
अशुचीनां पदं कायः शुचित्वं तस्य तत्कुतः॥[2]

—यह शरीर—रस, रक्त, मांस, मेद—चर्बी, मज्जा, वीर्य, आंत, और विष्ठा आदि अशुद्ध पदार्थों का भाजन है। अतः यह शरीर किस प्रकार पवित्र हो सकता है?

तन्दुलवैचारिक नामक प्राचीन जैनग्रथ में शरीर की अन्तरङ्ग स्थिति का दिग्दर्शन कराया गया है। नसों व नाड़ियो का, हड्डी आदि सबका वर्णन करने के बाद बताया है—

"इस शरीर में आठ सेर खून होता है, चार सेर चरबी। दो सेर मस्तक की मज्जा, आठ सेर मूत्र और दो सेर विष्ठा होती है, आधा सेर पित्त, आधा सेर श्लेष्म और एक पाव वीर्य होता है।"[3]

सोचिए जिस मल, मूत्र, रक्त और श्लेष्म का एक छींटा लगने पर आप शरीर को मल-मल कर धोते है, साबुन से रगड़ते है वस्त्र पर छींटा लग गया तो उसे भी सर्फ, साबुन आदि से धोकर साफ करते है, जब तक शुद्धि नहीं की, तब तक खाना नही खाते, अशुद्धि को देखकर जी मिचलता रहता है, उस शरीर के भीतर वे ही सब चीजें भरी है। सिर्फ चमड़ी का एक आवरण है। इस आवरण के नीचे क्या-क्या छुपा है, यह उक्त उल्लेख से आप समझ ही सकते हैं। भारतभूषण श्री रत्नचन्द्रजी महाराज ने लिखा है—

१. चन्दचरित्र, पृष्ठ ११४
२. योगशास्त्र ४।७२
३. लोकप्रकाश, पुंज ७

चर्मोच्छन्नं स्नायु-निबद्धास्थि-परीतं,
क्रव्यव्याप्तं शोणितपूर्णं मलभांडम् ।
मेदोमज्जामायुवसाढ्यं कफकीर्णम्,
को वा प्राज्ञो देहमिमं वेत्ति पवित्रम् ?[1]

—शरीर के ऊपर चमड़ी का वेष्ठन है—आवरण है उसके नीचे छोटी-मोटी हड्डियां एक दूसरे से गुंथी हुई है। इन हड्डियों के बीच-बीच में ऊपर नीचे, मांस के पिंड भरे हुए है, मोटी पतली अनेक नसें बिछी हुई है। इन नसों में होकर शरीर में ऊपर से नीचे तक रक्त का प्रवाह चल रहा है। जगह-जगह चर्बी, मज्जा, पित्त, कफ, मूत्र, विष्ठा—ऐसी अपवित्र वस्तुएं भरी है। कहिये कौन विवेकी इस अरमणीय शरीर को पवित्र कहेगा ?

शरीर के इन अवयवों को देखिए—आखों में कीचड़ (गीड़) भरा रहता है, कानों में मैल जमा होता है, मुंह से लार टपकती रहती है, थूक और खंखार गिरता है, नाक से श्लेष्म बहता रहता है। जो अवयव हमारे सबसे उपयोगी है, वे सभी तो इन अशुद्ध और गंदी वस्तुओं से भरे है।[2] क्या यह गन्दगी कहीं बाहर से आती है ? नहीं, भीतर में ही भरी है। देखिए—

बीभत्सोऽयं कीट-कुलागारपिचण्डो
विष्ठावासः पुक्कसकुण्डाऽप्रियगन्धः ।
लालापात्रं मांसविकारो रसनेयं
दृष्टोनांशः कोऽपि च काये रमणीयः ।

—जो पेट-उदर अन्न को पकाता है, और सारे शरीर को शक्ति स्फूर्ति देने का ठेकेदार है। उसकी रचना कैसी है ? कितने कृमि, कितना मल उसमें भरा है। मल-मूत्र कृमि आदि का तो जैसे वह कारखाना ही है। यदि उसकी गन्ध सीधी आप तक पहुंच सके तो उस गन्ध से आप घबरा जायेंगे, चमार की कुण्ड से भी ज्यादा गन्दी और घिनौनी है उसकी गन्ध। कुछ समय तक यदि पेट में मल रुक जाता है तो उसकी सडाद कितनी भयंकर होती है ? तो यह पेट का हाल

---

१. भावना शतक ४३

२. इस शरीर के भीतर क्या-क्या पदार्थ है, इसका एक वैज्ञानिक डा० हेरोल्ड ह्वीलर ने विश्लेषण कर बताया है—

"इस शरीर में सात बट्टी साबुन है, दस गैलन पानी है, स्नानघर पोता जाय, इतना चूना है। एक डब्बी सल्फर की गोलियां है। दो इंच लम्बी कील जितना लोहा है, नव हजार पेंसिले बनें इतना कार्बन है, बाईस-सौ दियासलाइयाँ बनें उतना फासफोरस है और एक चम्मच मेगनेसिया है।

—डा० हेरोल्ड ह्वीलर

है। और यह जीभ ? क्या सोने-चांदी से बनी है ? नहीं यह भी एक छोटा-सा मांस का टुकड़ा है। जिस मांस का नाम सुनते ही आपको घृणा आती है, ग्लानि आती है वह मांस का टुकड़ा आपके मुंह मे लगा है, प्रतिक्षण उससे लार व थूक टपक रहा है। किसी हड्डी के छूते ही आप अपने को अपवित्र समझने लगते हैं। ज्ञान करिए, आपके दांत किसके बने हैं ? वे हड्डी के ही टुकड़े हैं। ये हड्डी के टुकड़े हर समय आपके मुंह में बैठे है। कुछ भी खाते हैं, पीते हैं तो उनसे लगकर ही अन्न पेट में जाता है।

यह तो शरीर के अन्तरंग की एक झलक है इसके भीतर भी गन्दगी का अनुमान तो बड़ा ही कठिन और घृणोत्पादक है। फिर रोग कितने छिपे है। कहा गया है कि शरीर में ३५०००००० (साढ़े तीन करोड़) रोम हैं और ६१२५०००० (छह करोड़ साढ़े बारह लाख) रोग हैं, अर्थात् एक-एक रोम पर पौने दो से भी अधिक बीमारियां छुपी है। ये सब बीमारिया इस शरीर में हैं। इसलिए तो इसे 'वाहि रोगाण आलये—' व्याधि और रोगों का घर कहा है।

भगवती सूत्र में एक प्रसंग आया है। जमालि जब दीक्षा को तैयार हुआ तो उसकी माता ने स्नेहवश उसे रोकना चाहा, और कहा—अभी तो तुम युवा हो, सुन्दर व नीरोग शरीर है, मनुष्य सम्बन्धी भोग भोगो! तब जमालि कुमार इस शरीर की वास्तविकता का दर्शन कराता है—

एवं खलु अम्मयाओ ! माणुस्सगं सरीरं दुक्खाययणं विविहवाहि सय सन्नि-केयं अट्ठिकट्ठुट्ठियं छिराए हास-जाल-उवण-संसपिणद्धं मट्टियभंडं व दुब्बलं असुइ संकिलिट्ठं अणिट्ठविय सव्वकाल संठप्पयं जरा कुणिम-जज्जरघरं च सडणपडण विद्धंसण धम्मं...[1]

माता! मनुष्य का शरीर दुःख का घर है, हजारों व्याधियों के उत्पन्न होने की भूमि है। हाड रूपी काठ के आधार पर टिका हुआ है, नाड़ियों और नसों से जकड़ा है, मिट्टी के कच्चे बर्तन की तरह कमजोर है। अशुचिमय पदार्थों से भरा है, अस्थिर है। जरा और मृत्यु का टूटा-फूटा झोंपड़ा है। सड़ना, पड़ना और नष्ट होना इसका स्वभाव है, यह कभी भी छोड़ना है, पहले या पीछे।

शरीर का यह स्वरूप है। इसके भीतर का प्रत्येक कण-अशुचिमय है जो भी अच्छी से अच्छी वस्तु इसके अन्दर डाली जाये वह भी कुछ समय बाद दुर्गन्धमय अपवित्र बन जाती है। कहा है—

अशितमुपस्कर संस्कृतमन्नं जगति जुगुप्सां जनयति हन्नम् ।
पुंसवनं धेनवमपि लीढं, भवति विगर्हितमति जनमीढम् ।[2]

---

१. भगवती ६।३३
२. शांतसुधारस ६।६

—दूध-घी-शक्कर-केसर-कस्तूरी इलायची लौंग आदि मधुर और सुगन्धित पदार्थों से बने हुए खीर, जलेबी, मालपुए, लड्डू आदि स्वादिष्ट द्रव्य जब आदमी खाता है, तो कितने सुन्दर और मधुर लगते है किन्तु जैसे ही पेट में गये तो कितने जुगुप्सित बन जाते है ? वे ही सुन्दर वस्तुएं मल के रूप में परिणत हो जाती है। गाय का ताजा मीठा दूध पी लेने के बाद वही मूत्र बनकर शरीर के बाहर आता है—इतना गन्दा स्थान है यह तुम्हारा शरीर ! फिर भी तुम इसे शुद्ध और स्वच्छ मानते हो ? क्या यही है तुम्हारा शुचिवाद ! अशुचि का भंडार शरीर कितना ही धोया जाये, ऊपर से भले ही शुद्ध होता जाय पर भीतर की दुर्गन्धि और अशुचि तो नहीं मिट सकती।

मल्लीनाथ जी का प्रबोध

ज्ञातासूत्र में शरीर के सौन्दर्य की वास्तविक स्थिति दिखाने वाला एक मार्मिक उदाहरण है। मल्लीनाथ भगवान जो उन्नीसवें तीर्थंकर हुए, पूर्व जन्म में माया सेवन के कारण स्त्री गोत्र बंध जाने से राजा कुंभ के घर में पुत्री रूप में उत्पन्न हुए। वे इसी भव में तीर्थंकर होने वाले थे। स्त्री का शरीर स्वभावतः ही पुरुष से अधिक कोमल व सुन्दर होता है, फिर तीर्थंकरदेव तो अनन्त पुण्य-शाली होते है, उनकी सुन्दरता अद्वितीय होती है। मल्लीकुमारीजी की यह अद्वितीय सुन्दरता व सुकुमारता भरतक्षेत्र में चारों ओर आकर्षण का केन्द्र बन गई थी। अनेक राजा व राजकुमार चाहते थे कि मल्लीकुमारी के साथ उनका विवाह हो जाये। इनमें से छह देशो के बड़े-बड़े राजाओं के तो दूत मल्लीकुमारी के साथ विवाह का प्रस्ताव लेकर एक दिन एक ही साथ मिथिला नगरी मे राजा कुंभ की राज सभा में आ पहुँचे। एक कन्या और छह वर ! कैसे संभव होता ? फिर सभी यह जानते थे कि मल्लीकुमारी तो वैराग्य ले रही है, ससार के प्रति बिलकुल ही विरक्त है. इसी भव मे तीर्थंकर होने वाली है। कुंभराजा ने छहों दूतों को खाली हाथ लौटा दिया। इससे वे अपना अपमान समझकर क्रुद्ध हो गये और कुंभराजा के राज्य पर आक्रमण कर दिया। एक साथ छह राजाओं ने अलग-अलग दिशाओं से आक्रमण कर मिथिला को घेर लिया। कुंभ राजा क्षत्रियत्व के नाते सेना लेकर युद्ध करने को तैयार हुए। मल्लीकुमारी ने कहा—पिताजी ! मेरे कारण यह नर संहार हो, मुझे नहीं जचता। मैं दूसरे ही उपाय से इन राजाओं को समझा दूंगी, आप युद्ध में क्षत्रियो का रक्त न बहाओ।

मल्लीकुमारी ने एक योजना पहले ही बना ली थी। अशोक वाटिका में एक अत्यन्त रमणीय भवन बनाया। उसके बीचों-बीच एक रत्न जटित कमरा था। और उसके चारों ओर छह गर्भगृह थे। गर्भगृहो के द्वार बीच के कमरे में

खुलते थे। कमरे के ठीक बीच में एक अपने ही आकार की स्वर्ण-मणि जड़ित मूर्ति बनवाई। मूर्ति को देखने से लगता था साक्षात् मल्लीकुमारी बैठी है। उस मूर्ति के सिर में एक छेद था। मल्लीकुमारी जो भी भोजन करती उसका एक कौर प्रतिदिन उस मूर्ति में डाल देती है और ढक्कन कसकर बंध कर देती।

उधर मल्लीकुमारी के नहीं चाहने पर भी कुंभराजा अपनी क्षत्रियत्व की आन-बान के कारण युद्ध में कूद पड़े। एक ओर छह देशों की सेना और एक ओर अकेले एक देश की, वह भी एक ही नगर की सेना! कुंभराजा बहादुरी से लड़े, फिर भी हार गये। आखिर वे अपनी राजधानी में छुप गये और नगर के द्वार बंद करवा दिये। इधर मल्लीकुमारी की योजना चल रही थी। पिताजी को समझाकर छहों राजाओं को निमंत्रित कर लिया, मल्लीकुमारी से मिलने के लिए! अंधे को क्या चाहिए दो आंखे। छहों राजा यही चाहते थे। छहों ही अलग-अलग मार्ग से अशोक वाटिका में आये और उन छहों कमरों में अलग-अलग बैठ गये। सब की दृष्टि मध्य के कमरे में स्थित मल्लीकुमारी की प्रतिमा पर गिरी। सब को यही लगा कि मल्लीकुमारी साक्षात् खड़ी है। उसके अनुपम सौन्दर्य को देखकर सब मुग्ध हो रहे थे। सोच रहे थे बस, ऐसी स्त्री को प्राप्त कर हमारा जीवन सफल हो जायेगा। उसी समय मल्लीकुमारी ने अचानक पुतली के सिर का ढक्कन खोल दिया। इतने दिन का अन्न उसमें सड़ रहा था। ढक्कन खोलते ही भयंकर दुर्गन्ध उछली। राजाओं ने नाक बंद किये, फिर भी दुर्गन्ध के मारे उनका सिर फटने लगा, जी घबराने लगा और आकुल-व्याकुल होने लगे थे। उसी समय मल्लीकुमारी उनके सामने आई और बोली—राजाओ! आप लोग जिस रूप पर अभी मोहित हो रहे थे, जिस सौन्दर्य को अमृत की तरह आखों से पी रहे थे, अब उसी शरीर की गन्ध से आप घबरा क्यों रहे हैं? नाक-भौंह सिकोड़ कर घृणा क्यों कर रहे हैं?

राजाओं ने कहा—इस शरीर से भयंकर दुर्गन्ध आ रही है। यह दुर्गन्ध हमारे लिए 'असह्य' है।

मल्लीकुमारी—राजाओ! मेरे इस शरीर की भी यही स्थिति है। जिस बाह्य सौन्दर्य पर आप दीवाने हो रहे हैं उसी सौन्दर्य के नीचे यह दुर्गन्धमय पिण्ड छिपा है, हर एक शरीर में मल-मूत्र की इसी प्रकार की दुर्गन्ध है। हर उदर में मल-मूत्र सड़ रहा है, यह तो प्रत्येक शरीर का स्वभाव है। आप बाह्य रूप पर मुग्ध हो रहे है पर जरा अन्तर रूप को भी देखिए—इस पुतली में तो मैं एक-एक कौर अन्न का डालती थी, जिसमे ही इतनी दुर्गन्ध फैल गई है, तो इस शरीर में तो ३२ कौर प्रतिदिन डाले जाते हैं, इसमें कितनी दुर्गन्ध होगी। हे देवानुप्रिय—

'''इमस्स'''सोणिय पूयासवस्स'''दुरुयमुत्तपूइय पुरीस पुण्णस्स सडण-धम्मस्स'''

—इस श्लेष्म, पित्त, रज-शुक्र-रक्त और पीप से भरे मल-मूत्र आदि सड़ने वाली वस्तुओं के भंडार शरीर में कितनी अशुचि ! कितनी दुर्गन्ध भरी होगी ? कुछ कल्पना तो कीजिए। ऐसे दुर्गन्धपूरित अशुचिमय—

माणं तुब्भ देवाणुप्पिए, माउस्सए कामभोगेसु सज्जह, रज्जह, गिज्झह, मुज्झह !

हे देवानुप्रिय ! तुम इन मनुष्य शरीर सम्बन्धी कामभोगों में आसक्त मत बनो, अनुरक्त मत बनो, गृद्ध मत बनो, मूर्च्छित मत हो।"[1]

मल्लीकुमारी ने प्रबोध दिया, राजाओं को जाति-स्मरण ज्ञान हुआ। पूर्व भव में वे छहों ही मल्लीकुमारी के मित्र थे। साथ में दीक्षा लेकर साधना की थी। उन सब की स्मृतियां जागृत हुईं और वे जितशत्रु आदि छहों राजा प्रतिबुद्ध हो गये।

शरीर की अन्तरंग बीभत्सता का यह एक हृदय-स्पर्शी उदाहरण है। जिसने इस अशुचिमय शरीर का दर्शन कर लिया वह फिर इस शरीर में आसक्त नहीं होता।

शरीर की अपवित्रता का सजीव चित्र खींचते हुए कविवर सुन्दरदासजी ने कहा है—

> **हाड़ को पिंजर चाम मढ्यो पुनि, मांह भर्यो मल-मूत्र विकारा।**
> **थूक रु लार बहै मुख सो पुनि, व्याधि बहै नव द्वार हि द्वारा।**[2]
> **मांस की जीभतं खात सबै विन, ता मतिमान करो न विचारा।**
> **ऐसे शरीर में पंठिके सुन्दर, कैसे हि कीजिए शौच आचारा।**

इस शरीर के नव द्वार है, जिनमें से प्रतिक्षण अशुचिमय पदार्थ बह रहे है। इस अशुचि भंडार शरीर के प्रति कैसा आकर्षण ? कैसा मोह ? और कैसा है यह सौन्दर्य ? अशुचि भावना में सर्व प्रथम शरीर की इस अशुचिमय दशा पर चिन्तन करना चाहिए।

शरीरं व्याधि मन्दिरं

शरीर की स्थिति का सही चित्रण करते हुए दो बाते कही गई है—

---

१. ज्ञातासूत्र अध्ययन ८

२. पुरुष के शरीर मे नौ द्वार (दो कान, दो आंख, दो नाक, मुंह, मलद्वार, और मूत्रद्वार) हैं, तथा स्त्री के शरीर में ग्यारह द्वार (दो स्तन अधिक) माने गये हैं।

पहली बात–यह अशुचि से उत्पन्न है, इसका निर्माण माता के रज और पिता के शुक्र से हुआ है, माता के उदर में ही इसका विकास हुआ है, जहां कि प्रतिक्षण रक्त-मांस-मल-मूत्र आदि में गर्भ लिपटा रहा है। तो अशुचि से ही तो यह शरीर उत्पन्न हुआ है, स्वयं अशुचिमय है। आचार्य उमास्वाति ने कहा है–इस शरीर का आदि रज और वीर्य है, ये दोनों ही अपवित्र हैं, उत्तर कारण है—माता द्वारा गृहीत भोजन, जिसका रस आदि बनकर गर्भ-डिंभ को पोषण मिलता है—

अशुचिकरणसामर्थ्यादाद्युत्तरकारणाशुचित्वाच्च ।
देहस्याशुचिभावः स्थाने-स्थाने भवति चिन्त्यः ॥[1]

तो जिसके आदि और उत्तर—दोनों ही कारण अपवित्र है, वह शरीर पवित्र कैसे होगा ? इस तत्त्व पर विचार करना चाहिए। दूसरी बात—व्याधि और रोगों का घर है। **शरीरं व्याधिमन्दिरं** – शरीर व्याधि का मन्दिर है, अभी सुन्दर दीख रहा है, स्वस्थ दीख रहा है, पर दूसरे क्षण कितनी व्याधियां फूट निकलेंगी कुछ कल्पना नहीं की जा सकती। चक्रवर्ती सनत्कुमार का उदाहरण हमारे सामने है—

चक्रवर्ती सनत्कुमार

श्री सनत्कुमार इस अवसर्पिणी काल में चौथे चक्रवर्ती थे। अन्य चक्रवर्तियों की तरह उन्होंने भी भरतक्षेत्र के छह खण्डों में दिग्विजय कर पूर्ण साम्राज्य प्राप्त किया था। वे एक सुयोग्य शासक व दृढ़ धार्मिक सम्राट थे। उनका लावण्य तारुण्य का आश्रय पाकर और ही अधिक निखर चुका था। एक दिन देव-सभा में इन्द्र ने उनके सौन्दर्य की अत्यधिक प्रशंसा की। उन्हें देखने के लिए दो देवता वहां से आये। उन्होंने ब्राह्मण का वेष बनाया और प्रातःकाल ही राज दरबार में पहुँच गये। चक्रवर्ती ने उन्हें अपने पास बुला लिया। दोनों ही ब्राह्मणों ने कहा—हमने आपके सौन्दर्य की बहुत महिमा सुनी थी, अतः दर्शन करने के लिए आ गए। वास्तव में ही आप इस महिमा के पूरे योग्य हैं।

स्वाभिमान के साथ सनत्कुमार ने कहा—तब तो तुमने गलती कर दी। यदि मेरा रूप ही देखना था तो जब स्नान आदि से निवृत्त होकर अपनी राजकीय पोशाक में सिंहासन पर बैठता हूं और ऊपर छत्र, बगल में चंवर आदि होते है, तब देखना चाहिए था।

दोनों ही ब्राह्मणों ने नम्रता के साथ कहा—यदि आपकी कृपा होगी तो वह अवसर हमें अब भी मिल सकता है।

सनत्कुमार चक्रवर्ती ने मधुर हास्य के साथ कहा—हां, तुम ठहरो और मैं

---

१. प्रशमरति प्रकरण १५५

अभी घण्टे दो घण्टे में राज्य-सभा में आता हूं। तुम्हारे लिए वहाँ भी सुविधा होगी।

चक्रवर्ती अपनी रूप-संपदा पर फूले नहीं समा रहे थे। वे शीघ्र ही तैयार होकर सभा में आ गए। घमण्ड के साथ दोनो ब्राह्मणो से कहा—क्यों, अब देखा मेरा सौन्दर्य ? पहले और अब में सचमुच ही कितना अन्तर है ?

दोनों ही ब्राह्मण शिर धुनते हुए बोले—सम्राट ! वह सौन्दर्य अब नहीं रहा। सारी स्थिति ही बदल गई है।

चक्रवर्ती ने आश्चर्य और खेद के साथ पूछा—यह कैसे ?

ब्राह्मण—महाराज ! उस समय आप पूर्ण निरोग थे। अब आपके शरीर में एक ही नहीं, सोलह रोगों के अकुर फूट पड़े है, जो थोड़ी ही देर में अपना प्रभाव दिखला देंगे। यदि आपको सन्देह हो तो आप अपना पान थूक कर देखिए, उसमें कितने कीटाणु पैदा हो चुके हैं।

चक्रवर्ती ने वैसा ही किया। सारी वस्तुस्थिति जो उन ब्राह्मणों ने बतलाई थी, सामने आ गई। सम्राट का दिल बदल गया। वे अपने सौन्दर्य का इतना विकृत रूप देखकर दहल उठे। सारा साम्राज्य उन्हें भार लगने लगा और वैभव नश्वर। उसी समय उन्होंने प्रव्रज्या का संकल्प किया और सिंहासन से उतर कर पादचारी होकर चल पड़े। पारिवारिकों व रानियों ने छह महीनों तक अनुराग के कांटे बिछाकर उनका मार्ग रोकना चाहा, पर वे सफल नहीं हुए। संसार से उचटे हुए सनत्कुमार के मन को पुनः उसी साम्राज्य में टिका देना कोई सरल बात नहीं थी। वे सम्राट से सीधे अकिंचन परिव्राट् होकर निकल पड़े। कभी गुफाओं में अपनी समाधि लगाते तो कभी सूने घरो में, कभी भयावने जंगलों में पेड़ के नीचे कायोत्सर्ग करते तो कभी शहर के समीपवर्ती उद्यानों में भी। न कोई उनकी परिचर्या में था और न कोई रास्ता बताने वाला। कभी दो दिन का उपवास, कभी दस दिन का तो कभी महीने का। एक ओर उन्होंने अपने को तपस्या, ध्यान व साधना मे लगाया था तो दूसरी ओर घोर रोगों ने उन्हें घर दबोचा था। जिस दिन से साधु बने थे, उसी दिन से रोग उत्पन्न हो गये थे और वे क्रमशः बढ़ते ही जा रहे थे। न तो किसी प्रकार का उपचार था और न दुस्सह रोगों की पीडा से मन में अरति भी। उन्हें ऐसी अनुभूति हो रही थी, जैसे कि शरीर है ही नहीं।

इन्द्र ने फिर एक दिन अपनी सभा में सनत्कुमार मुनि की कष्ट सहिष्णुता की प्रशंसा की। इन्द्र ने कहा—भयंकर बीमारी होने पर भी वे औषधि का प्रयोग नहीं करते। यह उनकी अटल प्रतिज्ञा है। पूर्वागत दोनों देव वैद्य का रूप बनाकर सनत्कुमार मुनि को छलने के लिए फिर उनके पास आये। नमस्कार

कर उपचार करवाने के लिए बार-बार आग्रह करने लगे, किन्तु मुनि ने उनका कुछ भी नहीं सुना। जब वे अत्यन्त आग्रह करने लगे तो मुनि ने अपना थूक अपने शरीर से लगाया। लब्धि-बल से सारे रोग शान्त हो गये और शरीर निर्दोष हो गया। मुनि ने कहा—क्या तुम्हारी औषधि में इतनी शीघ्रता से रोग दूर करने की क्षमता है? देवों के मस्तक लज्जा से झुक गए। मुनि ने कहा—यदि मैं चाहता तो अपने रोग अपने तपोबल से कभी ठीक कर सकता था, किन्तु ये रोग तो शरीर के थे, आत्मा के तो नहीं। मेरी तो अपनी आत्मा है। शरीर तो यौगिक है, जो यहीं रह जायेगा और एक दिन मिट्टी में मिल जायेगा। अपनी साधना में अग्रसर होते हुए सनत्कुमार मुनि को वर्षों के वर्ष बीत गये। एक दिन वे अपनी साधना में सफल हुए और मुक्त बने।

तो, यह शरीर अशुचि एवं रोगों का घर है। शरीर की असारता, अशुचि-मयता तथा रोग एवं व्याधियों की खान होने का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान महावीर ने सम्बोधित किया है—

> परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवंति ते।
> से सव्व बलेय हायइ, समयं गोयम मा पमायए।
> अरइ गण्डं विसूइया आयंका विविहा फुसंति ते।
> विवडइ विद्धंसइ ते सरीरयं समयं गोयम! मा पमायए।[1]

—तुम्हारा शरीर कृश हो रहा है, केश सफेद हो रहे है। एक तरह सब इन्द्रियों की शक्ति क्षीण होती जा रही है। इस स्थिति में हे गौतम! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

वात आदि विकारों से चित्त में उद्वेग बढ़ रहा है, फोड़ा-फुन्सी (चर्म रोग) विसूचिका- हैजा-वमन तथा अन्य भी शीघ्रघाती विविध रोग शरीर में पैदा होने पर शरीर गिर जाता है, रोगों से आतंकित होकर अन्त में नष्ट हो जाता है, अतः हे गौतम! क्षण भर का भी प्रमाद मत करो।

शरीर की अशुचिमयता का चिन्तन करने का सार यही है कि इस शरीर के प्रति ममत्व कम हो, दैहिक सुन्दरता के प्रति आकर्षण कम हो और मनुष्य अपनी आत्मिक सुन्दरता का दर्शन करे। शरीर बाहर में अगर टेढ़ा-मेढ़ा है तो क्या? कुरूप है तो क्या? और सुन्दर है तो क्या? यह तो पुद्गल का स्वभाव है। यदि आत्मा में सुन्दरता नहीं है तो बाहरी सुन्दरता सुगंध-हीन फूल है। कवि ने कहा है—

---

१. उतराध्ययन १०।२६-२७

काली घणी कुरूप, कस्तूरी कांटा तुलं।
शक्कर घणी सुरूप, रोड़ा तुलं जु राजिया।।

कस्तूरी काली है तो क्या? गुणवान है, इसलिए कांटों से तुलती है। सैकड़ों रुपये की तोलाभर आती है। और शक्कर सफेद है, गोरी है, किंतु कस्तूरी जैसी गुणवान नहीं है इसलिए पत्थरों से तुलती है। तो बाहरी रूप का कोई मूल्य नहीं है। मूल्य आत्मा की सुन्दरता का है। अष्टावक्र ऋषि का शरीर आठ स्थानों से वक्र था किन्तु आत्मज्ञान में बड़े ऊंचे थे तो बड़े-बड़े ऋषि भी उन्हें प्रणाम करते थे। राजा जनक भी उनके चरणों में झुकते थे।

तो अशौच भावना के चिन्तन का जीवन में यही उपयोग होना चाहिए कि जिस शरीर की सुन्दरता पर आप मुग्ध हो रहे है, जिसकी ममता में दीवाने हो रहे हैं, उस शरीर के प्रति, उस रंग-रूप के प्रति हमारा आकर्षण कम हो। उसकी अपवित्रता और अशुचिमयता का चिन्तन कर शरीर की वास्तविकता समझें और आत्मा पर ध्यान केन्द्रित करें।



७. आश्रव भावना

एकत्व, अन्यत्व तथा अशौच भावना में आत्म-स्वरूप का, आत्मा से शरीर की पृथकता का तथा शरीर की अशुचिमयता का चिन्तन किया गया है। इस चिन्तन का मुख्य उद्देश्य यह है कि—आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित होने के लिये प्रयत्नशील बने। शुद्ध स्वरूप कोई अलग वस्तु नहीं है, जिसे प्राप्त करने कहीं बाहर जाना पड़े। कहा है—

इस दिल में ही है खुदा,
इस दिल से खुदा जुदा नहीं।

किन्तु इस आत्मा पर कर्मों का इतना सघन आवरण है कि अनन्त ज्ञान सूर्य भी ढक गया है। वह ज्ञान का प्रकाश पुंज, वह सुख की अनन्त धारा आवृत्त क्यों हुई? इसका उत्तर है कर्म।

सिद्धां जैसा जीव है, जीव सोही सिद्ध होय।
कर्म मैल का आंतरा, विरला बूझे कोय॥

इस जीव के और सिद्ध भगवान के मूल स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है, जो अन्तर है वह कर्म का है। कर्म आत्मा को आवृत क्यों करते हैं, कैसे करते हैं? इसका विचार करने के लिये 'आश्रव भावना' पर विचार करना होगा।

आश्रव भावना में यही विचार स्पष्ट किया गया है कि यह जीव मूलतः शुद्ध स्वरूपी है, किन्तु अज्ञान आदि के कारण कर्मों का संचय करके अशुद्ध बन गया है—

अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होई।[1]

अज्ञान (मिथ्यात्व) युक्त जीव कर्मों का कर्ता होता है, कर्मों के आगमन का जो मार्ग है, उसे ही आश्रव कहते हैं। अतः इस सातवी भावना में आश्रव तत्व पर विचार करके उसके निरोध करने का चिन्तन संवर भावना में किया गया है।

आश्रव का लक्षण

अब प्रश्न होता है कि आत्मा के साथ कर्मों के संयोग होने के कारण क्या हैं? कार्योत्पत्ति में कारणों का होना जरूरी है। तो इसका उत्तर यह है कि

१. समयसार ९२

जैसे कपड़ा बनाने में तन्तु कारण है, घर निर्माण में मिट्टी कारण है और वृक्ष के लिये बीज निमित्त है, इसी प्रकार आत्मा के साथ कर्मों का संयोग होने का कारण भी है। इस कारण का नाम है आश्रव। आश्रव यानी पुण्यपाप रूप कर्मों के आने का द्वार, जिसके द्वारा, जिसके माध्यम से वे शुभाशुभ कर्म आत्म-प्रदेशों में प्रविष्ट होते हैं, आत्मा के साथ बँधते है। आश्रव द्वारा आत्मा कर्मों को ग्रहण करती रहती है। जैसे नाली द्वारा तालाब में पानी आता है, दरवाजे के द्वारा मकान में प्रवेश होता है, वैसे ही आत्म-प्रदेशों में कर्मों के आगमन का जो मार्ग है वह है आश्रव। कर्म-आगमन का द्वार होने से आश्रव को आगमों में 'आश्रव-द्वार' भी कहा है।

संसारी जीव मन, वाणी और शरीर से युक्त है। जिन्हें संक्षेप में योग कहते है। योगों में परिस्पन्दनात्मक क्रिया प्रतिक्षण होती रहती है, जिससे वह सतत कर्म पुद्गलों का आश्रवण-ग्रहण करता रहता है। जैसे समुद्र में नदियों द्वारा पानी का आना चालू रहता है, एक क्षण को भी प्रवाह रुकता नही है, वैसे ही जीव हिंसा, झूठ आदि अथवा रागद्वेषात्मक प्रवृत्तियों के द्वारा कर्मो को ग्रहण करता रहता है, इसीलिये कर्मों के आने के मार्ग को आश्रव कहते है।

आश्रव कर्म आने का कारण है इसलिये वह कर्म से भिन्न है। कर्म जीव के द्वारा मिथ्यात्व आदि-आश्रव हेतुओं द्वारा किये जाते है। मिथ्यात्वआदि आश्रव के हेतु इसलिये है, कि उनके द्वारा जीव कर्मों को करता है, आत्म-प्रदेशों में ग्रहण करता है। आश्रव करण—साधन है और कर्म कार्य। आश्रव जीव का परिणाम है, क्रिया है और कर्म उन परिणामो या क्रियाओ के फल; जो कि पौद्गलिक हैं। इसीलिये कर्म से आश्रव को पृथक् माना है। आश्रव बंध भी नहीं है। दोनों भिन्न-भिन्न है। क्योंकि योग के निमित्त से प्रथम क्षण में जो कर्म स्कन्धों का आगमन होता है वह तो आश्रव है और उन कर्म स्कन्धों के आगमन के पीछे द्वितीय क्षण मे कर्म स्कन्ध जीव प्रदेशों में स्थिर होते है वह बंध है।

आश्रव के भेद

आश्रव के दो भेद है—१. **द्रव्याश्रव** २. **भावाश्रव**। दो भेद मानने का कारण यह है कि संसारी जीव शरीर आदि से संबद्ध है और ससार में अनेक प्रकार की पुद्गल वर्गणाएं भरी हुई है—जिनमे कार्मण वर्गणा भी एक है और वह कार्मण वर्गणा कर्म रूप बनने की योग्यता रखती है, लेकिन कार्मण वर्गणा कर्म रूप तभी बनती है जब जीव के आत्म-प्रदेशो मे परिस्पन्दन हो। अतः कार्मण वर्गणा और आत्मपरिणामों, दोनों को अलग अलग समझने के लिये द्रव्याश्रव और भावाश्रव यह दो भेद किये गये हैं। भावाश्रव तेल से लिप्त हुये

पदार्थ के समान है और द्रव्याश्रव उस चिकने पदार्थ से चिपकने के लिये आने वाली धूलि के समान है। भावाश्रव निमित्त कारण है और द्रव्याश्रव कारण की सामर्थ्य का परिणाम प्रदर्शित करता है।

द्रव्याश्रव—अपने-अपने निमित्त रूप योग को प्राप्त कर आत्म-प्रदेशों में स्थित पुद्गल कर्मरूप से परिणमित हो जाते हैं, अथवा ज्ञानावरण आदि कर्मों के योग्य जो पुद्गल आता है, उसे द्रव्याश्रव कहते हैं।

भावाश्रव—आत्मा के निज स्वरूप से विलक्षण जिन शुभ-अशुभ परिणामों से पुदगल द्रव्य कर्म बनकर आत्मा में आता है, उन परिणामों को भावाश्रव कहते हैं।

इस भावाश्रव के भी दो प्रकार है—१. ईर्यापथ आश्रव और २. साम्परायिक आश्रव।

ईर्यापथ आश्रव का अर्थ है—जिसमे कर्म का आश्रव तो होता है और आने के अगले क्षण ही बिना फल दिये उस कर्म का क्षय हो जाये। मोह का सर्वथा उपशम अथवा क्षय हो जाने पर ही ऐसे कर्म आया करते है। जहाँ तक कषाय का किंचित भी सद्भाव है, ईर्यापथ आश्रव नही हो सकता है। किन्तु उपशान्त कषाय, क्षीण कषाय और सयोगी केवली के योग के निमित्त से आये कर्म कषायों का चेप न होने से सूखी दीवाल पर पड़े हुये पत्थर की तरह द्वितीय क्षण में ही झड़ जाते हैं, बंधते नहीं हैं, अतः उसे ईर्यापथ आश्रव कहते हैं।

ईर्यापथ आश्रव सिर्फ योगनिमित्तक ही होता है।

सम्पराय आश्रव—सम्परायः संसारः तत् **प्रयोजनम् कर्म साम्परायिकम्**। संपराय अर्थात् संसार और जो कर्म संसार का प्रयोजक हो, संसार की वृद्धि करने वाला हो, ऐसे कर्म के आगमन को साम्परायिक आश्रव कहते हैं। संसारी जीवों में कषाय का चेप रहने से योग के द्वारा आये हुये कर्म गीले चमड़े पर धूल की तरह चिपक जाते है यानि उनका स्थितिबंध हो जाता है।

उक्त दोनों प्रकार के आश्रवों में योग निमित्तता है किन्तु ईर्यापथ में योग ही रहता है और साम्परायिक में मिथ्यात्व कषायादि सहित योग होता है। मिथ्यात्व आदि आत्मा के भावरूप है और योग प्रवृत्ति रूप है—इससे आत्म-प्रदेशों में परिस्पन्दन-कम्पन होता है और मिथ्यात्व आदि में नहीं होता है। अतः प्रवृत्ति की मुख्यता की अपेक्षा से योग परिस्पन्दन को आश्रव कह देते हैं।[1]

कर्म संसार के कारण है और कर्मों का आगमन योग द्वारा होने के साथ-साथ उनमें स्वभाव, फलोदय आदि के कारण मिथ्यात्व आदि रूप राग-

---

१. कायवाङ्मनःकर्मयोगः। स आश्रवः। —तत्त्वार्थसूत्र ६।१, २

द्वेषात्मक आत्मपरिणाम हैं। इसी कारण इन कारणों की अपेक्षा से आश्रव के पाँच भेद किये गये हैं—

१. मिथ्यात्व, २. अविरति, ३. प्रमाद, ४. कषाय, ५. योग।

इन पांच कारणों में पहले की अपेक्षा दूसरे में, दूसरे की अपेक्षा तीसरे में क्रमशः पाँचवें भाग में विपाक शक्ति की अपेक्षा अल्प से अल्पतर शक्ति वाले कर्मों का आगमन होता है। साथ ही जहाँ पहला कारण होगा, यानी मिथ्यात्व होगा वहाँ अविरति आदि शेष चारों का भी सद्भाव अवश्य होगा। लेकिन दूसरे, तीसरे आदि कारणों के सद्भाव में पूर्व का सद्भाव हो भी और न भी हो। किन्तु आगे के कारण अवश्य ही होंगे। जैसेकि जब तक मिथ्यात्व कारण विद्यमान रहेगा तब तक अन्य कारण बने ही रहेंगे। इसीलिये आश्रव के कारणों में मिथ्यात्व को प्रथम स्थान और अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को क्रमशः दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवा स्थान दिया है।

इन पाँचों के स्थान में एक का स्थान प्रमुख है और वह पाँचों ही स्थानों में दिखाई देता है। वह सबसे छोटा है किन्तु उसकी सत्ता और शक्ति सबसे अधिक है। वह स्वय दस हजार की सख्या का प्रतिनिधि है। यदि उसे हटा दिया जाये तो १२३४५ इस संख्या में दस हजार की कमी आ जाती है और संख्या २३४५ रहती है। इसमें दो की सख्या दो हजार का प्रतिनिधित्व करती है और उसे हटा दिया जाये तो संख्या सिर्फ ३४५ शेष रहती है। ३ की संख्या तीन सौ की प्रतिनिधि है और उसे अलग करने पर सिर्फ ४५ बचेंगे और दहाई का प्रतिनिधित्व करने वाली ४ की संख्या को हटाने पर सिर्फ ५ की संख्या रहती है और उसका बल भी नगण्य रह जाता है। इसीलिये जब तक मिथ्यात्व आदि पाँचों आश्रव कारण विद्यमान रहें तो आत्मकोष में १२३४५ की शक्ति के अनुरूप कर्म वर्गणायें आयेंगी। इसी प्रकार मिथ्यात्व के न रहने पर किन्तु अविरति आदि के क्रमशः हटने पर कर्म वर्गणाओं का आगमन भी कम से कम होता जायगा। यदि कर्मों के आगमन को रोकना है और कर्म शक्ति को अल्प से अल्प बनाते जाना है तो मिथ्यात्व आदि पाँचो आश्रव कारणों के उच्छेद का प्रयत्न करना चाहिये।

मिथ्यात्व आदि का विवेचन

मिथ्यात्व—प्रश्न हो सकता है कि कर्मबंध का मूल कारण क्या है ? तो इसके उत्तर में कहा गया—

कर्मबंधं च मिथ्यात्वमूलम्[1]

---

१. भावनाशतक, ४२

अर्थात्—कर्म बंध का मूल कारण मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व शब्द ही मिथ्यात्व की व्याख्या कर देता है। फिर भी सामान्य पाठकों की सुगमता के लिए उसकी कुछ विशेष व्याख्या यहाँ करते हैं। मिथ्यात्व को मिथ्यादृष्टि, मिथ्यादर्शन भी कहते हैं।

मिथ्या अर्थात् असत्य और दृष्टि—अर्थात् दर्शन, श्रद्धान। असत्य श्रद्धान, दर्शन मिथ्यादृष्टि है। यह सम्यग्दर्शन से विपरीत आशयवाली है। जीव आदि पदार्थों में विपरीत अभिनिवेश (आग्रह) तथा आत्मा से भिन्न पर पदार्थों में आत्मबुद्धि का आग्रह होना अर्थात् जीवादि तत्वों के विपरीत श्रद्धान को मिथ्यात्व कहते है। इस विपरीत श्रद्धान के कारण जड़ पदार्थों में चैतन्य बुद्धि, अतत्व में तत्व बुद्धि और विपरीत प्ररूपणा की जाती है।

मिथ्यात्व ही जीव को अनादि काल से संसार मे परिभ्रमण कराने का कारण है। यह जीव की बुद्धि को इस प्रकार आच्छादित कर लेता है कि यथार्थ ज्ञान से शून्य जैसा हो जाता है। अपने बारे मे भी यथार्थ दृष्टि नहीं होती है। यही बात पर-पदार्थों के बारे मे भी है। मिथ्यादृष्टि की स्वरूप स्थिति को संक्षेप मे विवेक शून्य निर्जीव शरीरवत् कह सकते हैं।

मिथ्यात्व के दो प्रकार है। वस्तु विषयक यथार्थ ज्ञान का अभाव और वस्तु का अयथार्थ श्रद्धान। इन दोनों में यह अन्तर है कि पहले में कर्मावरण की गहनता के कारण तत्व की यथार्थ श्रद्धा का अभाव रहता है। यह दशा एकेन्द्रिय आदि जीवो में पाई जाती है। दूसरे प्रकार का अयथार्थ श्रद्धान रूप मिथ्यात्व विचार दशा में होता है। जब कदाग्रह के वश होकर जीव किसी एक ही दृष्टि को अंगीकार कर उस पर दृढ़ बनता है। प्रथम प्रकार को नैसर्गिक या स्वाभाविक और द्वितीय प्रकार को अधिगमज भी कह सकते है। यह अधिगमज मिथ्यादृष्टि परोपदेश से तथा स्वचिन्तन आदि के द्वारा कदाग्रह से पनपती है। इससे जीव तत्व सिद्धान्तों में कुतर्क कर खोटी शंकाएँ उठाता है और सत्य को छोड़ असत्य मार्ग पर चलता है तथा वैसा करने के लिये दूसरों को भी प्रेरित करता है। जैसे जमालि ने मिथ्या आग्रह करके असत्य-सिद्धान्त की स्थापना की और दूसरों को भी उस ओर घसीटा।

तत्व का सत् श्रद्धान न होने से मिथ्यात्व के दूसरे प्रकार से और भी अनेक भेद हो सकते हैं। क्योंकि आत्मपरिणामों की कोई गणना नहीं है, और वे सम्यक् रूप भी होते हैं, मिथ्या रूप भी। जब परिणामों का प्रवाह तात्विक दृष्टि और सत्य प्ररूपणा की ओर उन्मुख होता है तो वे सम्यक् रूप और अतत्व में तत्व दृष्टि, विपरीत धारणा व असत्य आग्रह आदि से युक्त होकर वैसी ही प्ररूपणा की ओर उन्मुख होते हैं तो मिथ्या रूप हो जाते हैं। इस विपरीत-

अभिनिवेश के कारण ही जीव अपने आप को भूलकर संसार परिभ्रमण के कारण जुटाता है।

अविरति—विरति का अर्थ त्याग है और त्याग नहीं करना अविरति है अर्थात् इच्छाओं और पापाचरणों से विरत न होना अविरति कहलाता है। इच्छाओं की उत्पत्ति का स्थान मन है। पाप प्रवृत्ति शरीर व वचन द्वारा होती है। अतः मन और इन्द्रियों को असंयम में प्रवृत्त रखकर पृथ्वी आदि छह काय के जीवों की हिंसा का त्याग-प्रत्याख्यान न करना अविरति है।

जिन पापों और सावद्य प्रवृत्तियों का प्राणी त्याग नहीं करता है तो उनके प्रति प्राप्ति की इच्छाएं बनी रहती हैं और इच्छाओं के विद्यमान रहने से प्रतिसमय अशुभ कर्मों का आश्रव-आगमन होता रहता है। जहाँ त्याग-भाव नहीं हैं वहाँ कर्मों का आश्रव होते रहने से अविरति को आश्रव और आश्रव का कारण कहा है।

अविरति के बारह भेद है—

१—६. पृथ्वी आदि छह काय के जीवों की हिंसा का त्याग न करना।

७—११. स्पर्शन-रसन आदि पाच इन्द्रियों को विषय-प्रवृत्ति से न रोकना।

१२. मन का असयम अर्थात् मन को अशुभ वृत्ति में न हटाना।

जब तक मन व इन्द्रियों को संयमित नहीं किया जाता है तब तक अविरति का पाप लगता रहता है। कई व्यक्ति कह सकते है कि जिन पापों को हम करते नहीं, और जिन पदार्थों का भोग ही नहीं करते है तो उनका पाप हमें कैसे लग सकता है? तो इसका समाधान यह है कि जैसे द्वार के खुले रहने पर कोई भी आ सकता है और द्वार के बंद रहने पर कोई नहीं आ सकता है। इसी प्रकार जब तक त्याग नहीं होता है, आशा रूपी द्वार खुला है तो उसके निमित्त से आने वाला पाप नहीं रुक सकता है।

इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए श्री शतावधानी रत्नचन्द जी महाराज कहते हैं—

> प्रवृद्धं जनैरर्जितं द्रव्यजाते।
> प्रपौत्रा यथा स्वस्ववावं वदन्ति।
> भवानन्त्यसंयोजिते पापकार्ये,
> विना सुव्रतं नश्यति स्वीयता नो॥[1]

—बाप दादा द्वारा उपर्जित संपत्ति जैसे उसके लडके या पोते को विरासत

---

१. भावनाशतक ५१

में मिलती है और उस पर वे अपना अधिकार बताते हैं। वैसे ही पिछले अनन्त भवों में जीव पाप कर्मों के जिन साधनों की योजना करके आया है और जिनका वर्तमान जीवन से साक्षात सम्बन्ध भी नहीं रहा है, किन्तु जब तक पापस्थानों का मन, वचन, काय से त्याग नहीं किया, व्रतों को धारण नहीं किया तब तक पूर्व के अधिकरणों से उनके साथ के सम्बन्ध नष्ट नहीं होते हैं, उन पापों की क्रिया जीव को लगती रहती है।

अतः ज्ञानी होने का यही सार है कि चाहे वर्तमान में किसी वस्तु से सम्बन्ध नहीं है और इन्द्रिय-भोग भी नहीं किया है किन्तु भूतकाल में संपर्क होने और भविष्य में हो सकने की संभावना से पाप कर्मों के आने के द्वार को रोक देना चाहिये और वह द्वार तभी बंद हो सकता है जब प्रत्याख्यान—अविरति का त्याग किया जायेगा।

अविरति का त्याग करने से जीव को लाभ ही लाभ है। जिनकी ओर संकेत करते हुये कहा है—

निरुद्धासवे, असबलचरित्ते, अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिये विहरइ।

त्याग करने का पहला लाभ यह है कि जीव आश्रवों का निरोध करता है। कर्मों के आगमन का द्वार बन्द हो जाता है। दूसरा लाभ यह है कि शुद्ध चारित्र का पालन होता है। तीसरा लाभ यह है कि पाँच समिति, तीन गुप्ति रूप अष्ट प्रवचन माताओं के आराधन में सतत जागृति रहती है जिससे सन्मार्ग में सम्यक् समाधिस्थ होकर जीव विचरण करता है।

तो विरति के इतने लाभ है और अविरति की स्थिति में इनमें से एक भी लाभ होने वाला नहीं है किन्तु हानि होने की अधिक संभावना है। अतः आत्म-कल्याण के इच्छुक को अविरति को त्याग देना चाहिये।

इन्द्रिय विषयों में आसक्त जीवों को प्रतिबोध देते हुये अमीऋषि जी महाराज कहते है कि—हे जीव, यह तेरा घर नहीं है, एक दिन इसे छोड़ना ही पड़ेगा। अतः यहाँ मत उलझ और परलोक में जाने के लिये व्रत आदि का कलेवा साथ ले ले जिससे रास्ता सुख पूर्वक तय कर सके—

जाना है जरूर घर दूर है चेतन तेरा, मौत फिर रही सिर पल में गिरावेगा।
बाप दादा तेरो न कमायो चले वाम संग, आगे नहीं ज्ञाति देइ आदर बुलावेगा।
चार कोस जाय तब बाँधत खुराक साथ, चित्त में विचार परलोक कहाँ खावेगा।
अमीरिख कहे लीजे तप जप व्रत संग, अवसर चूके जीव पीछे पछतावेगा॥

प्रमाद—धर्म के प्रति आत्मा के आन्तरिक अनुत्साह-आलस्य भाव को अथवा शुभ उपयोग का अभाव या शुभ कार्य में उद्यम न करने को अथवा सम्यग् ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप मोक्ष-मार्ग के प्रति उद्यम करने में शिथिलता करने को प्रमाद कहते हैं। इन सबका अर्थ यह है कि आत्म-विकास की प्रवृत्ति में आलस्य एवं शिथिलता का नाम प्रमाद है।

मिथ्यात्व और अविरति के समान ही प्रमाद भी जीव का महान अनर्थ-कारी शत्रु है। इसीलिये भगवान ने कहा है—

समयं गोयममा पमायए !

—हे गौतम ! (जीव) समय मात्र का प्रमाद मत करो। समझ लो कि मकान के दरवाजे बद कर लिये गये है, लेकिन खिड़कियाँ खुली हुई है तो उनसे उड़ने वाली धूलि मकान में अवश्य ही प्रविष्ट हो जायेगी। इसी प्रकार से त्याग-प्रत्याख्यान करके पापों का त्याग कर दिया है लेकिन जब तक साधना उत्साह पूर्वक, अप्रमादी होकर नही की जायेगी तब तक साधना सफल नही हो सकती है। कहा भी है—

जेसिं उ पमाएण गच्छइ कालो निरत्थओ धम्मे।
ते संसारमणंतं हिंडंति पमायदोसेण ॥

—धर्म क्रिया में प्रमाद करते हुये जिनका समय व्यर्थ जाता है, वे अपने इस प्रमाद के दोष से अनन्त संसार में परिभ्रमण करते ही रहते है। इसलिये यदि जीव को इस संसार में भ्रमण नही करना है तो विवेकशील को क्षणमात्र का भी प्रमाद नहीं करना चाहिये और जो अपने कर्त्तव्य मार्ग पर आरूढ हो गया है उसके लिये तो प्रमाद शोभा नहीं देता है। जिसने जीवन में प्रमाद किया, उसने अपना जीवन ही गंवा दिया है—

न कर उम्र की इक भी जाया घड़ी।
के टूटी लड़ी जब कि छूटी कड़ी ॥
गई एक पल भी जो गफलत में छूट।
तो माला गई साठ होरों की टूट ॥

प्रमाद के कारण ही व्यक्ति अंहकार करता है। इन्द्रिय विषयो में लिप्त होता है, क्रोधादि कषायो के वश हो जाता है, निद्रा और इधर-उधर की कथाओं में समय व्यतीत करता है। ये सब कार्य प्रमाद-आलस्य को बढ़ाने वाले हैं अथवा आलसी व्यक्ति की दिन-चर्या को बतलाने वाले होने से प्रमाद के पाँच भेद माने है—

मज्जं विसय कसाया, निद्दा विकहा पंचमी भणिया।
एए पंच पमाया जीवा पाडंति संसारे ॥

मद, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा ये पाँच प्रमाद जीवों को संसार में भ्रमण कराते हैं। इन पाँचों में से जहाँ एक भी है, वहाँ अन्य अपने आप ही आ जाते है। उनको एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं।

एक राजा को शराब पीने की आदत थी। राजा के इस व्यसन को छुड़ाने के लिये एक बुद्धिमान मंत्री साधु का रूप बनाकर और एक जीर्ण-शीर्ण कंथा ओढ़कर राजदरबार मे उपस्थित हुआ। राजा ने साधु के वेष और कंधे पर रखी कंथा को देखकर कहा—महात्मा जी, आपकी चादर तो बहुत ही फटी हुई है!

साधु बोला—चादर कहाँ, यह तो मछली पकड़ने का जाल है। राजा को उत्तर सुनकर आश्चर्य हुआ कि साधु होकर मासभक्षी है। तब राजा ने पुनः प्रश्न किया कि—आप मास भी खाते है?

साधु ने पुनः उत्तर दिया—माँस ही नही, शराब भी पीता हूं।

शराब पीने की बात सुनकर राजा पुनः बोला—पैसे कहाँ से आते हैं? तो साधु ने उत्तर में कहा—जुआ खेलकर धन कमाता हूं।

जुए की बात सुनकर राजा ने पुनः प्रश्न किया—जब जुए में हार जाते हो तो खेलने के लिए रुपया कौन देता है? साधु बोला—यह तो बहुत ही सरल बात है—रात को चोरी करके धन एकत्रित कर लेता हूं।

राजा साधु के इन उत्तरो को सुनकर विचारो में डूब गया कि साधु के मांसभोजी होने से ही उसमें अनेक दुर्गुण और दुर्व्यसन आगये हैं। किसी ने ठीक ही कहा है—**नास्ति नष्टे विचारः** जब पतन शुरू हो गया तो फिर उसमें विचार और विवेक नही रहता। मुझमें भी शराब का एक दुर्गुण है, हो सकता है इसकी तरह दूसरे भी दुर्गुण आ जाय।

तो उक्त उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ भी प्रमाद का एक कारण है, वहा अन्य कारण उसके साथ अपने आप बने रहते है। अतः प्रमाद-विजय के लिए सदा जागृत रहना चाहिए, जिससे कर्मों का आश्रव न हो।

प्रमाद के पांच भेद

मद—जाति, कुल, बल, रूप, तप, ज्ञान, लाभ और ऐश्वर्य (बड़प्पन) का गर्व करना।

विषय—पांच इन्द्रियों के विषय—रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द इनमें आसक्त होना।

कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ। इन कषायों में प्रवृत्ति करना।

निद्रा—नींद, आलस्य मे सुस्त पड़े रहना।

विकथा—निरर्थक और पापजनक कथाएँ। स्त्री कथा, भोजन कथा, राज कथा, देश कथा।

सम्पूर्ण जगत में मानव जीवन सर्व श्रेष्ठ है। अतः उसके प्रत्येक समय का उपयोग नये कर्मों के आने को रोकने और बंधे हुए कर्मो के क्षय करने में करना चाहिए। तभी जीवन का सदुपयोग माना जायेगा। मानव जीवन की अनमोलता के बारे में कहा है—

दुल्लहे खलु माणुसे भवे

अर्थात् मानव जीवन मिलना अति दुर्लभ है। इसका एक-एक क्षण करोड़ों मोहरों से भी बेशकीमती है। अतः इसका जैसा-तैसा उपयोग करना अथवा आलस्य में गँवा देना जीवन को हार जाने जैसा है। मनुष्य जीवन का सही उपयोग तो यही है कि—

भारंड पक्खी व चरेऽप्पमत्ते

भारंड पक्षी की तरह अप्रमादी—सावधान रहना चाहिये। काम, क्रोध आदि ऐसे आकर्षक कपटी मित्र के समान है जो मौका देखते ही आत्मा पर आक्रमण कर उसकी अमूल्य निधि—ज्ञान-दर्शन—सुख आदि को लूट लेते हैं और अपना दास बनाकर आज्ञानुसार प्रवृत्ति कराते है। अतएव इन सबसे बचने का उपाय यही है कि सदा अप्रमत्त रहकर इन काम, क्रोध आदि को मित्र ही न बनाया जाये। प्रमादवश इन शत्रुओं का प्रतिरोध न किया गया तो कर्मों का आगमन होता रहेगा और कर्मों के दबाव से आत्मा की निम्न से निम्न गति होती रहेगी।

कषाय

आत्मा के कलुष परिणामों को कषाय कहते है अथवा जो जीव के सुख दुःख रूप बहुत प्रकार के धान्य को उत्पन्न करने वाले कर्म रूप खेत का कर्षण करती है—जोतती है उसे कषाय कहते है। कषाय आत्मा के स्वाभाविक स्वरूप को नष्ट करती है और कर्मो के साथ आत्मा का सम्बन्ध जोडती है। क्रोध, मान, माया, और लोभ कषाय के ये चार भेद है।

क्रोधादि इन चार कषायो को शास्त्र में लुटेरों की उपमा दी है। लेकिन इनमें और लोकप्रसिद्ध लुटेरो में यह अन्तर है कि लोकप्रसिद्ध लुटेरे तो सम्पत्ति का हरण कर भाग जाते है और क्रोधादि लुटेरे आत्मा की सम्पत्ति भी लूटते हैं और आत्मा में ही छुपकर बैठे रहते हैं। इसलिए इन्हें **'अज्झत्थ दोसा'** आत्मा में छिपे हुये दोष, रोग या तस्कर कहा है। ये आत्मा को अपने सम्पर्क द्वारा निःसत्व और तुच्छ बनाकर संसार में भ्रमण कराते रहते है। कहा भी है—

कोहो य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोहो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि ए ए कसिणा कसाया, सिंचन्ति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥[1]

अर्थात् ये क्रोध, मान, माया और लोभ वृद्धिगंत होकर जीव के पुनर्जन्म के मूल का सिंचन करते रहते हैं अर्थात् पुनः जन्म और पुनः मरण इस प्रकार से बारंबार जन्म-मरण का क्रम चलाते रहते हैं। इसीलिए इनको कष=संसार, आय=प्राप्ति, लाभ, कषाय कहते हैं। कषायों का यही कार्य है कि जीव के जन्म-मरण के मूल कारणों में वृद्धि करते हुए उसे बार-बार जन्म-मरण के द्वारा संसार में घुमाते रहते है।

कषाय जीव को संसार में परिभ्रमण कराने के साथ-साथ उसके आत्मिक गुणों का भी घात करते हैं—

कोहो पीइं पणासेइ माणो विणय-नासणो।
माया मित्ताणि नासेइ लोभो सव्वविणासणो ॥[2]

क्रोध प्रीति-स्नेह का नाश करता है, मान विनय-नम्रता का नाश करता है, माया-कपट मित्रता का नाश करता है और लोभ समस्त गुणों का नाश करता है। यह तो हुआ क्रोधादि कषायों के द्वारा होने वाला कार्य और जीव को उसका फल इस रूप में मिलता है कि—

अहे वयन्ति कोहेणं, माणेणं अहमा गई।
माया गइ पडिग्घाओ लोहाओ दुहओ भयं ॥[3]

अर्थात् क्रोध से जीव का अधःपतन होता है। जीव अपने स्तर से, स्थान से भ्रष्ट हो जाता है और जो स्थान भ्रष्ट हो गये उनकी लोक में प्रतिष्ठा नहीं होती है। मान से जीव नीच गति पाता है। माया सद्गति का ही नाश कर देती है। नीचगति में स्थित—निम्न स्तर पर रहने वाला जीव कभी उच्च विचारों की प्राप्ति के लिए विचार ही नहीं करता है, वह तो किसी न किसी का बुरा करने की प्रवृत्ति में लगा रहता है। लोभ से इहलोक परलोक दोनों में भय उत्पन्न होता है। लोभ का वशवर्ती जीव सदैव भयभीत रहता है क्योंकि उसे यहाँ अपने कृत्यों का भय रहता है और परलोक में अपने पूर्व कृत्यों के कारण भयभीत बना रहता है। इसीलिये ये आत्म-घातक कषाय छोड़ने योग्य हैं।

कषायों का आवेश आने पर मनुष्य की बुद्धि, विचार-शक्ति शून्य हो जाती

१. दशवैकालिक ८।४०
२. दशवैकालिक ८।३८
३. उत्तराध्ययन ९।५४

है। उसमें न तो भाषा-विवेक रहता है और न सभ्यता, शिष्टता ही। वह आवेश में आकर जैसा-तैसा बोल पड़ता है। गुरुजनों का अपमान कर बैठता है। अपने हितैषियों के साथ छल-कपट करने लगता है और उसके सद्गुण भी दुर्गुण में बदल जाते है। इसीलिए क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों को चांडाल चौकड़ी की उपमा दी जाती है। इन चारों में ऐसी मित्रता है कि एक के साथ चारों ही सदा बनी रहती है। उनका जिस जीव में वास है, वह जन्म चांडाल से भी बुरा है। उसे कर्मचांडाल या गुणचाडाल कह सकते है।

दूसरी तरह से कहा जाये तो ये क्रोधादि चारों आन्तरिक शत्रु होने के साथ-साथ दीमक की तरह आत्मा को खोखली बनाते रहते हैं। जिस समय क्रोध का वेग आता है तो व्यक्ति चाहे सो जाये लेकिन उसको नीद नहीं आती है, वह दिन रात शक्ति का हरण करता रहता है। इसीलिए तो कहा है—

> कषायास्तु नक्तं दिवं सर्वदेशे,
> कुकर्मास्त्रमाश्रित्य शक्ति हरन्ति।[1]

ये कषाय दिन रात किसी भी स्थान पर अपने कुकर्म रूपी शस्त्र के द्वारा जीव की शक्ति का हरण करती रहती है। उनके द्वारा शक्तिहरण का तरीका इस प्रकार का है कि—

ये क्रोध, मान माया और लोभ चारो कषाय विषयो की आसक्ति से पैदा होती है। अतः आसक्ति की तीव्रता-मंदता से इनके निम्नलिखित चार चार प्रकार है—

१. अनन्तानुबधी, ३. प्रत्याख्यानावरण,
२. अप्रत्याख्यानावरण, ४. सज्वलन।

अनन्तानुबधी क्रोधादि चतुष्क मे विषयो के प्रति आसक्ति इतनी प्रगाढ़तम होती है कि वह अनन्त संसार को ही बढ़ाती है। अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क में आसक्ति कुछ न्यून होती है। इस कषाय के परिणामों को प्रगाढ़तर स्थिति वाले कह सकते हैं। प्रत्याख्यानावरण कषाय में आसक्ति काफी न्यून होती है। इस कषाय के परिणाम प्रगाढ़ स्थिति वाले होते है। संज्वलनचतुष्क कषाय-परिणामों की मंद स्थिति को बतलाते है।

कषाय चाहे प्रगाढ़तम या मंद स्थिति वाली हो। लेकिन आत्मा का अहित करने वाली होने से त्यागने योग्य है और इनपर विजय पाने का उपाय है कि क्रोध को क्षमा से, मान को मृदुता से, माया को सरलता से और लोभ

---

१. भावनाशतक ५१

को सन्तोष से जीतो। इनके द्वारा ही कषायों पर विजय पाई जा सकती है और कषायविजय ही मुक्ति है—

कषायमुक्तिः किलरेव मुक्तिः।

कषायों के भेद

कषायों के मूल में क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार भेद हैं और विषयों के प्रति आसक्ति की अपेक्षा से क्रोधादि के अनन्तानुबंधी आदि चार-चार प्रकार हो जाते हैं। अतएव क्रोधादि चतुष्क का अनन्तानुबंधी आदि चार प्रकारो से गुणा करने पर कषायों के १६ भेद निम्न प्रकार हैं—

१-४. **अनन्तानुबंधी चतुष्क**—(अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ) ये उत्पन्न होकर जीवन पर्यंत नष्ट नहीं होतीं। आत्मा के सम्यकत्व गुण को आवृत करती है।

५-८. **अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क**—(अप्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया, लोभ) इनकी वासना एक वर्ष तक बनी रहती है। ये कषाय जीव को एकदेश चारित्र पालन नहीं करने देती हैं।

९-१२. **प्रत्याख्यानावरण चतुष्क**—(प्रत्याख्यानी क्रोध, मन, माया, लोभ) इनकी वासना चार माह तक रहती है। जीव सकल संयम के पालन मे असमर्थ रहता है।

१३-१६. **संज्वलन चतुष्क**—(संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ) इनका वासना काल पन्द्रह दिन रहता है। इस कषाय का उदय रहने पर यथाख्यातचारित्र उत्पन्न नहीं होता है, संज्वलन कषाय दसवें गुणस्थानतक रहती है।

कषायो के मूल में उक्त १६ भेद है, लेकिन जो स्वयं कषाय तो नहीं किन्तु कषायों की उत्पत्ति में सहायक हों और कषायों द्वारा अभिव्यक्त होती हों, ऐसी कषायों को नोकषय कहते है। इनके नौ भेद क्रमशः इस प्रकार है—

१७. **हास्य**—हंसी मसखरी की चेष्टा।

१८. **रति**—असत्कार्य मे आसक्ति, सत्कार्यों के प्रति उदासीनता।

१९. **अरति**—धर्म कार्यो, शुभप्रवृत्तियों में प्रवृत्ति न होना, उदासीन रहना।

२०. **भय**—डर का भाव बना रहा।

२१. **शोक**—अनिष्ट संयोग होने पर घबराना, दुःख होना।

२२. **जुगुप्सा**—अशुभ गध आदि से बेचैन हो जाना, घृणा का भाव पैदा होना।

२३. **स्त्रीवेद**—पुरुष समागम की इच्छा।

२४. **पुरुषवेद**—स्त्री समागम की इच्छा।

२५ **नपुंसकवेद**—स्त्री, पुरुष दोनों से समागम की इच्छा।

इस प्रकार से अनन्तानुबंधी क्रोध आदि चतुष्क के १६ और नोकषाय के ९ भेद मिलाने से कषाय के २५ भेद होते है। ये कषायभाव जीव के लक्षण नहीं हैं, किन्तु कर्म जनित वैकारिक प्रवृत्तिया है अतः इनको छोड़कर आत्मस्वरूप में रमण करने के लिये ही प्रयत्न करना चाहिये।

योग—मन, वचन, काया की प्रवृत्ति को योग कहते है। योग के निमित्त से ही आत्म-प्रदेशों में परिस्पन्दन होता है और मिथ्यात्व आदि के सद्भाव से आत्मा कर्मों को ग्रहण करने की ओर अग्रसर हो जाती है। इसीलिये कहा है—

> **सुवृष्टो यथा नो नदीपूररोधः,**
> **प्रवृत्तौ यथा चित्तवृत्तेर्न रोधः॥**
> **तथा यावदस्ति त्रिधा योगवृत्ति**
> **र्न तावत्पुनः कर्मणां स्यान्निवृत्तिः॥**[1]

जैसे नदी के उद्गम स्थान पर धुआंधार वर्षा होने पर नदी के पूर को नही रोका जा सकता है। वैसे ही जब तक मन, वचन, कायरूप योगों की प्रवृत्ति चालू हो तो कर्मों की निवृत्ति नहीं हो सकती है।

आत्मा की प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है—१ **बाह्य रूप** और २. **आभ्यन्तर रूप**। बाह्यप्रवृत्ति का नाम योग है और आभ्यन्तर प्रवृत्ति का नाम अध्यवसाय-परिणाम। ये दोनों भी दो दो प्रकार के हैं—शुभ और अशुभ। शुभ योग और शुभ अध्यवसाय के निमित्त है—संयम तप त्याग आदि, और ये कर्म-निर्जरा के कारण है। अशुभ योग और अशुभ अध्यवसाय के लिये मिथ्यात्व आदि का संयोग कारण है और यह कर्म आश्रव का द्वार है। अशुभ योग तो एकान्त रूप से आश्रव है और शुभ योग आश्रव और निर्जरा का कारण है। क्योंकि शुभ योग से पुण्य प्रकृतियों का आश्रव होने के साथ-साथ अशुभ प्रकृतियों की निर्जरा भी होती है।

आत्मा अपनी बाह्य प्रवृत्ति, क्रिया व परिस्पन्दन मन, वचन और काय के द्वारा करती है। इसलिये योग के मुख्य भेद तीन है—मनोयोग, वचनयोग और काययोग। जब तक इनका प्रवाह प्रचण्ड रूप से चलता रहता है तब तक आत्मा को इनके द्वारा होने वाली प्रवृत्तियों का परिणाम भुगतना पड़ता

१. भावनाशतक ४७

है। इसीलिये योग का सद्‌भाव तेरहवें गुणस्थान तक माना गया है और चौदहवें गुणस्थान में योग का अभाव हो जाने से कर्मों का आना सर्वथा रुक जाने से आत्मा सिद्ध हो जाती है।

योग के दो भेद

योग का अर्थ है—प्रवृत्ति। प्रवृत्ति शुभ भी होती है और अशुभ भी। इस कारण शुभ प्रवृत्ति को शुभयोग कहते हैं, शुभ योग से पुण्य का आश्रव होता है। अशुभ प्रवृत्ति को अशुभयोग कहते है। उससे पाप का आश्रव होता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—

"जिसका राग प्रशस्त है, अन्तर में अनुकम्पा की वृत्ति है, और मन में कलुषभाव नहीं है, उस जीव को पुण्य का आश्रव होता है। तथा—प्रमाद-बहुल चर्या, मन की कलुषता, विषयों के प्रति लोलुपता, पर-परिताप और पर-निन्दा—इससे पाप का आश्रव होता है।"[1]

वैसे तो योग सामान्य कर्माश्रव का कारण है लेकिन मुख्य रूप से अशुभ योग संसार का कारण होने से उसके निरोध का प्रयत्न करना चाहिये। योग के तीन भेदों में शक्ति की प्रबलता की अपेक्षा से पहले मनोयोग को उसके बाद वचन योग को और सबसे अन्त में काय योग को रखा है। इनकी दुष्ट प्रवृत्ति को रोकने का सबसे प्रमुख उपाय तो गुप्ति रूप है। इनकी प्रवृत्ति का सर्वथा निरोध, निग्रह कर लिया जाये। अतः योग की तरह गुप्ति के भी मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति यह तीन भेद हैं। किन्तु जब तक गुप्ति रूप शक्ति प्राप्त न हो, तब तक के लिये समिति द्वारा इनकी दुष्ट प्रवृत्ति को स्थानान्तरित करके शुभ प्रवृत्ति में लगाना चाहिये।

योग के उक्त तीन भेदों में से हम वचन और काय की प्रवृत्ति को किसी न किसी उपाय से अनुशासित कर सकते हैं लेकिन मनोयोग सबसे प्रबल है। वह इतना सूक्ष्म, गतिशील व चंचल है कि क्षण में आकाश और क्षण में पाताल पहुँच जाता है। मन के द्वारा क्षण मात्र में अधिक कर्म बांधे जा सकते हैं। इसके उदाहरण हैं प्रसन्नचन्द्रराजर्षि। जो अपने क्षण मात्र के चिन्तन से काल करने पर सातवें नरक भी जा सकते थे और क्षण मात्र में विचार बदलते ही केवलज्ञानी हो गये। यह सब कैसे हुआ ? तो इसका एक मात्र कारण मन है, मन का चिन्तन, विचार है। इसीलिये कहा है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।

---

१. पंचास्तिकाय १३५-१३६

मन ही मनुष्य के बंध और मोक्ष का कारण है।

यदि कर्मों के आश्रव को रोकना है तो सबसे पहले मन का निग्रह करो। मनोनिग्रह होने पर वचन और काय योग का निग्रह सरल हो जायेगा। मन जितने अंश में अशुद्ध और दुष्ट होगा उतने ही अंशों में वचन एवं काय योगों में अशुद्धता, दुष्टता बनी रहेगी। मन का निग्रह दुष्कर अवश्य है, लेकिन असम्भव नहीं है और इसका उपाय है अभ्यास एवं वैराग्य। जैसा कि गीता में कहा गया है—

असंशयं महाबाहो मनोदुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

हे अर्जुन ! यह ठीक है कि मन चंचल है, दुर्निग्रह है, लेकिन ऐसा नहीं कि उसको रोका न जा सके, उस पर विजय न पाई जा सके, प्रयत्न करने पर वह भी वश में आ जाता है और इसके दो उपाय हैं—अभ्यास व वैराग्य। लोक में प्रसिद्ध है—करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।

मनोनिग्रह के लिये जो उपाय गीता में कहे गये हैं, उन्ही को पातजल योगशास्त्र मे भी कहा गया है कि— **अभ्यासवैराग्याभ्याम् तन्निरोधः।** अभ्यास और वैराग्य से चित्तवृत्तियों का निरोध हो सकता है। जैन शास्त्रों मे गुप्ति और समिति को निग्रह का उपाय कहा है। मनोनिग्रह के लिये उपायों के रूप मे अन्य साधनों का भी संकेत कर सकते है लेकिन उन सबका एक ही अर्थ है कि प्रयत्नशील बनकर मनोनिग्रह करो और मन का निग्रह होने पर वचन, काय की प्रवृत्ति में अपने आप ही परिवर्तन होगा और कर्मों के आश्रव में न्यूनता आती रहेगी।

योग के भेद

सामान्य रूप से मन, वचन, काय—यह योग के मुख्य तीन भेद है। लेकिन विशेष रूप से योग के निम्नानुसार १५ भेद है—

१. **सत्य मनोयोग**—सत्य विषयक मानसिक प्रवृत्ति।
२. **असत्य मनोयोग**—असत्य विषयक मन की प्रवृत्ति।
३. **मिश्र मनोयोग**—सत्य और असत्य से मिश्रित मन की प्रवृत्ति।
४. **व्यवहार मनोयोग**—व्यवहारलक्षी मानसिक प्रवृत्ति।
५. **सत्य वचनयोग**—सत्य बोलना।
६. **असत्य वचनयोग**—मिथ्या भाषण करना, झूठ बोलना।
७. **मिश्र वचनयोग**—सत्य व असत्य से मिश्रित वचन बोलना।
८. **व्यवहार वचनयोग**—व्यवहार दृष्टि से वचन प्रयोग।

९. **औदारिक काययोग**—औदारिक शरीर की प्रवृत्ति। मनुष्य, तिर्यंचों का शरीर औदारिक होता है।

१०. **औदारिक मिश्रकाययोग**—औदारिक शरीर के साथ अन्य किसी शरीर की सन्धि के समय कायिक प्रवृत्ति।

११. **वैक्रिय काययोग**—वैक्रिय शरीर की प्रवृत्ति। देव और नारकियों का वैक्रिय शरीर होता है।

१२. **वैक्रिय मिश्र काययोग**—वैक्रिय शरीर से मिश्रित अन्य किसी शरीर की संधि के समय की कायिक प्रवृत्ति।

१३. **आहरक काययोग**—आहारक शरीर की प्रवृत्ति।

१४. **आहारक मिश्र काययोग**—आहारक शरीर के साथ अन्य शरीर की सन्धि के समय कायिक प्रवृत्ति।

१५. **कार्मण काययोग**—कार्मण शरीर का व्यापार। यह शरीर विग्रह-गति में होता है।

योग के उक्त १५ भेदों में से कुछ भेद त्याज्य है और कुछ भेद किसी सीमा तक आदरणीय है, जैसे सत्य मन, सत्य वचन योग आदि। क्योंकि ये योग कर्माश्रव का कारण होते हुए भी कर्मों के संवर तथा निर्जरा के भी कारण बनते है। लेकिन जो कर्मागमन के कारण हैं उनका त्याग करना ही श्रेयकर है, जिससे कर्मबंध की परम्परा न चल सके।

मिथ्यात्व आदि और कर्मबंध में कार्य-कारण भाव

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच कर्मों के आगमन के द्वार होने से आश्रव कहलाते है। उनके ही अनेक यहाँ तक कि असंख्यात भेद-प्रभेद कर लिये जायं, फिर भी वे सब इन पाँचों में समाहित हो जाते हैं। इनके परिणामों व योगप्रवृत्ति की अल्पाधिकता से ही वे सब भेद बनते हैं। अतः मिथ्यात्व आदि ही आश्रव के पांच कारण है। और इनके द्वारा आने वाले कर्म कार्य हैं। जब तक जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है तब तक उसकी योग निमित्तक प्रवृत्ति मिथ्यात्व आदि के रूप में प्रवृत्ति करेगी। इस प्रकार से कर्म और मिथ्यात्व आदि आश्रव कारणों में परस्पर कार्य-कारण भाव है। यह कार्य-कारण भाव की परम्परा अनादि काल से चली आ रही है। लेकिन भव्य जीव इस अनादि काल से चली आ रही परम्परा को अपने स्वरूप चिन्तन के द्वारा छिन्न भिन्न कर डालता है।

ज्ञानी के छिन माँहि त्रिगुप्ति तें सहज टलें ते।

आश्रव के मिथ्यात्व आदि पाँच भेदों में से मिथ्यात्व के २५, अविरति के

१२, प्रमाद के ५, कषाय के २५ और योग के १५, कुल मिलाकर ८२ भेद शास्त्रों में बतलाये हैं। उनमें योग के १५ भेदों में से शुभयोगों को छोड़कर शेष त्याज्य हैं। यदि संसार से शीघ्र ही मुक्ति पाना है तो इनको तत्काल छोड़ देना चाहिये। और इनको छोड़ने का मार्ग है—

भ जत्वं सदा मोक्षदं जैनधर्मम्।

हे जीव ! तू जैन धर्म को भज ! आलम्बन ले। क्योंकि जैन धर्म में मोक्ष का पवित्र मार्ग बतलाया है और वह मार्ग है सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप। इनसे ही मिथ्यात्व आदि का और उनके द्वारा आने वाले कर्मों का निरोध होता है।

आश्रव भावना के चिन्तन का फल

यह संसार समुद्र है, इसमें जन्म, जरा, मरण आदि रूप अनेक दुखों का जल भरा हुआ है। तृष्णा-आशा रूपी महा भयकर लहरें उठ रही हैं। ऐसे संसार समुद्र में कर्मों के आश्रव के कारण जीव गोते खा रहा है। अज्ञान के वश होकर जैसे भी इस महासमुद्र से निकलने का प्रयत्न कर रहा है, वैसे और अधिक डूब रहा है। इस समुद्र से पार तभी हो सकता है जब आश्रव के कारणों के दोषों को समझ कर और उनसे होने वाली अपनी हानि-लाभ का निश्चय करके साम्यावस्था में लीन बनेगा। जो भी भव्य प्राणी साम्यावस्था में लीन होकर और मोह कर्म के उदय से होने वाले मिथ्यात्व आदि भावों को त्यागने योग्य जानकर छोड़ देता है तथा कछवे के समान अपनी आत्मा को संवृत कर धर्म साधना में लीन हो जाता है वह द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के आश्रवों से रहित होता है।

आश्रव भावना के चिन्तन से ही जीव को बंध और बंध के कारणों का ज्ञान होता है और इस ज्ञान के फलस्वरूप आत्मिक विकास की परिपूर्णता के साधनों को उपलब्ध कर जन्म-मरण रूप संसार से मुक्त होकर अक्षय अव्याबाध सुख रूप निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। निर्वाण ही जीव का चरम लक्ष्य है।

८. संवर भावना

जीव कर्मावृत होकर अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। अपने वैचारिक परिणामों के कारण नवीन कर्मों का बंध और उन कर्मों की समय स्थिति पूर्ण करके क्षय भी करता है। लेकिन यह कर्म बंध और क्षय की प्रक्रिया सतत गतिमान रहने से संसार से पार नहीं हो पाता। मिथ्यात्व आदि के कारण कर्म परम्परा में कुछ न कुछ नवीन कर्मों की वृद्धि ही करता रहता है। नये कर्मों की वृद्धि के कारण हैं मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इनसे कैसे कर्मों का आगमन होता है, आत्म परिणामों की कैसी स्थिति होती है और इनमें सर्व प्रधान कौन है, इसके बाद कौन आदि इन सबका वर्णन पूर्वोक्त आश्रव भावना में किया गया है।

लेकिन आत्मा कैसी भी कर्मावृत हो जाये, अविकास की चरम सीमा (निगोद) में भी पहुंच जाये और दुःखों की तीव्रतम वेदना का अनुभव भी कर रही हो, फिर भी उसमें आत्मविकास की शक्ति सन्निहित रहती है। ज्ञान की सूक्ष्मतम किरण उसको पथावलोकन के लिये सदैव सहयोगी है। इसके सिवाय असत् से सत् की ओर बढ़ने का, अंधकार से प्रकाश में आने का आत्मा का स्वभाव होने से नवीन कर्मबंध न होने देने के लिये प्रयत्नों में जुटी रहती है। आकांक्षा के अनुरूप उपाय भी करती है, सहयोगी भी मिलते है और साधन भी जुट जाते हैं। इन साधनों और उपायों का चिन्तन करना ही संवर भावना का लक्ष्य है।

यदि सुधार की भावना से भी किसी व्यक्ति को उसके दुर्गुणों का ही सदैव दिग्दर्शन कराया जाता हो, लेकिन ऐसा होने पर भी वह व्यक्ति अपने जीवन से निराश हो जाता है, अथवा अभिमान वश और अधिक तेजी से पतन के मार्ग पर चल सकता है। सुधार के लिये दुर्गुणों का दर्शन कराने के साथ साथ उत्साहित करने के लिये उसके सद्गुणों की प्रशंसा करना भी जरूरी है। आश्रव के बाद संवर भावना का कथन करने में इसी दृष्टि को ध्यान में रखा गया है कि आश्रव भावना में मिथ्यात्व आदि दोषोत्पादक कारणों को बताया है और संवर में उन कारणों के उन्मूलन के उपायों को।

आत्म-परिणाम यदि वैतरणी नदी है तो मनोरथों की पूर्ति करने वाली

कामधेनु भी है, यदि कूटशाल्मलि वृक्षों का जंगल है तो नन्दन वन भी। इस प्रकार से आत्म-परिणामों के बारे में कहा जा सकता है कि—

बन्धप्पमोक्खो अज्झत्थेव।[1]

—बंध और मोक्ष आत्म-परिणामों पर निर्भर है। इसलिए जब आत्मा की परिणति मिथ्यात्व, अविरति आदि के साथ होती है तो कर्मों का आश्रव करने लगती है और जब अशुभ से निवृत्त होकर शुभ की ओर प्रवृत्त हो जाती है, मिथ्यात्व के बदले सम्यक्त्व, अविरति के बदले विरति आदि की ओर उन्मुख होती है तो कर्मों के आगमन को रोक देती है। जब मकान में धूलि आने को द्वार ही नहीं होगा, नाव में पानी आने का छेद ही नही रहेगा तो मकान में धूलि और नाव में पानी आयेगा कैसे? यही कार्य संवर भावना के चिन्तन में किया जाता है कि कर्मागमन के द्वारों को बन्द कर देना।

संवर का लक्षण

कर्मों का आगमन योग के निमित्त से आत्म-प्रदेशों में होने वाली चंचलता से होता है अतः यह चंचलता आश्रव है। चंचलता क्रिया, प्रवृत्ति रूप है, इसमें नये-नये कर्मों का आगमन होता है। लेकिन संवर इससे विपरीत गुण-धर्म वाला है। संवर आत्म-प्रदेशों की स्थिरता है। स्थिरता के कारण नवीन कर्मों का आगमन नही होता है। अतः संवर का लक्षण हुआ—

निरुद्धासवे संवरो।[2]

आश्रव का रुक जाना संवर है। जैसे नाला बन्द होने से तालाब में पानी नहीं आता है। द्वार बन्द होने पर कोई भी घर में प्रवेश नहीं कर सकता है, छिद्र के बन्द होने पर नाव में जल का प्रवेश नहीं होता है, वैसे ही आत्म-परिणामों में स्थिरता होने पर, आश्रव का निरोध होने पर आत्मा में शुभाशुभ कर्म नहीं आ सकते।

संवर आत्मा का निग्रह करने से होता है। यह निवृत्तिपरक है, प्रवृत्ति-परक नहीं है। अतः प्रवृत्तिमात्र आश्रव है, और निवृत्तिमात्र सवर। जिस उपाय से आत्मा का निग्रह हो, आश्रव रुक सके, वही उपाय उसी आश्रव को रोकने वाला संवर है। जैसा रोग होता है, उसके उन्मूलन के लिए वैसी ही औषधि कारगर होती है। यही बात आश्रव को रोकने के लिए संवर के उपायों के बारे में समझना चाहिए। इसलिए क्षमा से क्रोध का, मृदुता से मान का, ऋजुता से माया का, निस्पृहता से लोभ का तथा अन्य-अन्य दोषों का उनके

१. आचारांग १।५।२
२. उत्तराध्ययन २९।११

विरोधी गुणों के द्वारा निग्रह करने का उपदेश दिया गया है।[1] सारांश यह है कि आश्रव का निरोध करना संवर है।

संवर के भेद

संवर आश्रव का निरोधक होने से आश्रव के पांच भेदों—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग—के विरोधी क्रमशः सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय और योगनिग्रह—ये पांच भेद संवर के हैं।[2]

लेकिन संवर के भेदों की संख्या के बारे में अनेक परम्परायें उपलब्ध है। उनमें से कुछ निम्न प्रकार हैं—

१. पाँच समिति, तीन गुप्ति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परिषहजय और पांच चारित्र—यह कुल मिलाकर संवर के ५७ भेद होते हैं।[3]

२. सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय, अयोग, प्राणातिपात विरमण, मृषावाद विरमण, अदत्तादानविरमण, अब्रह्मचर्यविरमण, परिग्रहविरमण श्रोत्रेन्द्रियसंवर, चक्षुरिन्द्रियसंवर, घ्राणेन्द्रियसंवर, रसनेन्द्रियसंवर स्पर्शनेन्द्रियसंवर, मनसंवर, वचनसंवर, कायसंवर, उपकरणसंवर, सूची-कुशाग्र संवर। कुल मिलाकर संवर के यह २० भेद होते हैं।[4]

संवर के भेदों के सम्बन्ध में उक्त परम्पराओं की भिन्नता का कारण यह है कि आश्रव के भेदों के भेद करने पर प्रतिपक्षी संवर के भी उतने भेद हो जायेंगे। जैसे कि आश्रव के पाँच भेद हैं तो संवर के भी पाँच भेद होंगे तथा आश्रव के बीस भेद करेंगे तो संवर के भी बीस भेद होंगे। लेकिन संख्या भेद होने पर भी इन सबका समावेश संवर के मुख्य पाँच भेदों—सम्यक्त्व आदि में हो जाता है। साथ ही उनका स्वरूप आदि भी सभी प्रकार के पाठकों को सरलता से समझ में आने से सम्यक्त्व आदि संवर के पाँच भेदों के बारे में यहाँ वर्णन करते है।

सम्यक्त्व

यह मिथ्यात्व आश्रव का प्रतिपक्षी है। मिथ्यात्व कर्म-आश्रवद्वार है तो सम्यक्त्व उन कर्मों के आने को रोकता है। कर्मबंध का प्रबलतम कारण मिथ्यात्व है। जब तक जीवों को 'मैं कौन हूँ' और मेरा क्या कर्त्तव्य है का ज्ञान—श्रद्धा नहीं होगी, अपने स्वरूप का यथार्थ बोध नहीं होगा तब तक

---

१. दशवैकालिक ८ तथा उत्तराध्ययन १

२. स्थानांग ५।२।४१८ तथा समवायांग, ५

३. स्थानांग वृत्ति स्थान १

४. प्रश्नव्याकरण संवर द्वार तथा स्थानांग १०।७०९

स्वरूप-लाभ के लिए प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। मिथात्व जीव को स्वरूप दर्शन नहीं होने देता और जब तक स्व का बोध नहीं हो पाता है तब तक पर-पदार्थों का, उनके गुण धर्मों का भी ज्ञान नहीं कर पाता है। इस स्थिति के कारण जीव जन्म से जन्मान्तर में गमनागमन करता है। यह क्रम निरन्तर चालू रहता है। लेकिन जब जीव को अपने आप का विश्वास, अपने अस्तित्व एवं पर पदार्थों का बोध हो जाता है तो संसार के कारणों को दूर करने के लिए उद्यत हो जाता है। इसीलिए सम्यक्त्व का लक्षण है—

तहियाणं तु भावाणं सब्भावे उवएसणं।
भावेणं सद्दहन्तस्स सम्मत्तं तं वियाहियं ॥[1]

—वास्तविक भावों-जीव, अजीव आदि तत्त्वों के अस्तित्व का उसी रूप में कथन करना, जिस रूप में वे हैं तथा उसी प्रकार उनका श्रद्धान करना सम्यक्त्व है।

सम्यक्त्व का महत्त्व

यह सम्यक्त्व मोक्ष प्राप्ति का आदि कारण है। सम्यक्त्व के बिना न तो ज्ञान सम्यक् हो सकता है और न चारित्र ही। ऐसा भी कह सकते हैं कि ज्ञान और चारित्र सम्यक्त्व के बिना होते ही नहीं हैं—

नादंसणिस्स नाणं। नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं।[2]

इतना ही नही, ससार समुद्र में बहते हुए और अपने कर्मों के द्वारा कष्ट पाते हुए जीवों को सम्यग्दर्शन द्वीप के समान विश्राम स्थल है। सम्यग्दृष्टि जीव सुलभबोधि होते है। जैसे शरीर में सब अंगो के होते हुए भी यदि मस्तक न हो तो, उसकी कोई शोभा नही है। मस्तकविहीन शरीर धड़ कहलाता है और मस्तक के होने पर पूरा शरीर, यही बात सम्यक्त्व के लिए भी समझना चाहिए। सभी प्रकार के व्रत, तप, ज्ञान आदि के होते हुए भी यदि सम्यक्त्व नहीं तो उनका कोई महत्त्व नही है, वे सब हाथी के स्नान के समान शरीर की क्रिया मात्र हैं। इसी बात को शतावधानी श्री रत्नचन्द्र जी महाराज बड़े सुन्दर रूपक द्वारा कहते हैं—

विनैककं शून्यगणा वृथा यथा,
विनार्कं तेजो नयने वृथा यथा।
बिना सुवृष्टिं च कृषिर्वृथा यथा,
विना सुदृष्टिं विपुलं तपस्तथा ॥[3]

---

१. उत्तराध्ययन २८।३५
२. उत्तराध्ययन २८।३०-२९
३. भावनाशतक ५८

एक अध्यापक ने कागज पर पांच शून्य लिखकर विद्यार्थी से पूछा—इसकी संख्या कितनी हुई ?

विद्यार्थी देखकर हैरान रह गया। संख्या क्या बताये, पांच शून्य हैं, पहले कोई अंक नहीं है, तो संख्या कुछ भी नहीं बनी। विद्यार्थी की हैरानी देखकर अध्यापक ने शून्य के पहले एक अंक लिख दिया और पूछा—अब बताओ ?

विद्यार्थी तुरन्त बोल पड़ा—एक लाख।

तो शून्य पांच थे, किन्तु अर्थहीन, एक का अंक पहले लगते ही पांचों शून्य का महत्त्व हो गया।

तो, कागज पर दस, बीस, तीस या सैंकड़ों मनचाहे जितने शून्य लिख लिए जायें लेकिन वे शून्य हैं—निरर्थक हैं, जब तक उनके मूल में एक का अंक न हो, सूर्य का प्रकाश फैल रहा है, उसका प्रकाश वस्तुओं पर पड़ने से स्पष्ट भी दिखाई दे सकती हैं, लेकिन वे दिखाई तभी देगी जब नेत्रों में ज्योति हो। आँखों में देखने की शक्ति ही न हो तो वस्तुयें अपने आप अन्धे व्यक्ति के सामने दिखाने के लिए नहीं आ जायेंगी। खेत में हल भी अच्छी तरह से जोता गया हो, खाद बीज भी पूरी तरह से डाला है, लेकिन सुवृष्टि न हो तो, खेत में फसल नही उगेगी और किसान का परिश्रम भी व्यर्थ जायेग। यही बात सम्यक्-दर्शन रूप सुदृष्टि की है। यह सम्यग्दर्शन नहीं है तो जीव द्वारा किये जप, तप आदि वृथा है। वे इच्छित फल को प्राप्त कराने में सहायक नहीं हो सकते है। तपस्या उन्हीं की सफल है, ज्ञान उन्हीं का सत्य है, इन्द्रिय-दमन उन्हीं का सार्थक है—

> जे य बुद्धा महाभागा वीरा सम्मत्तदंसिणो।
> सुद्धं तेसिं परक्कंतं…………

जो सम्यग्दर्शन से सम्पन्न हैं, परमार्थ के ज्ञाता है। ऐसे महाभाग ही संसार वृद्धि को सदा के लिये रोक देते हैं। संसार का कारणभूत मिथ्यात्व का उच्छेद करने वाला सम्यग्दर्शन ही है, अतः मुमुक्ष जीव सम्यग्दर्शन की आराधना में दत्तचित्त होवे।

सम्यक्त्व के भेद

आत्मा के दर्शन गुण, श्रद्धान को आवृत करने वाला दर्शन मोहनीय कर्म हैं। इस कर्म की कालस्थिति ज्ञानावरणादि सात कर्मों से भी अधिक है। यों कह सकते है कि सभी कर्मों की कालस्थिति एक बाजू और सिर्फ मोहनीय कर्म की स्थिति दूसरी बाजू रहें तो मोहनीय कर्म की स्थिति उनसे अधिक है। ज्ञानावरण आदि सात कर्मों में से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्त-

राय की स्थिति तीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम, नाम-गोत्र की बीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम, आयु की तेतीस सागर प्रमाण लेकिन मोहनीय कर्म की स्थिति सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागरोपम की है । अपनी सुदीर्घ काल मर्यादा द्वारा तथा आत्मा को यथार्थ का भान न होने देने रूप कार्य के द्वारा मोहनीय कर्म जीव के संसार की वृद्धि करता रहता है। लेकिन कर्ममुक्त और क्षय होते-होते जब समस्त कर्मों की स्थिति कुछ कम एक कोड़ा-कोडी सागरोपम की रह जाती है तब राग-द्वेष रूप ग्रन्थि का भेद होता है और इस भेद के फलस्वरूप मिथ्यात्व मोहनीय का भी उपशम या क्षयोपशम होता है अर्थात मिथ्यात्व की शक्ति का अवरोध होता है । इस दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम, क्षय, क्षमोपशम द्वारा जीव को यथार्थ तत्व श्रद्धान रूप परिणाम की उत्पत्ति होती है। यही यथार्थ श्रद्धान रूप परिणाम सम्यक्त्व है।

मिथ्यात्व मोहनीय का अवरोध क्रमशः उपशम, क्षयोपशम या क्षय रूप होता है अतः सम्यक्त्व के भी क्रमशः औपशमिक सम्यकत्व क्षायोपशमिक सम्यकत्व और क्षायिक सम्यक्त्व ये तीन भेद होते हैं। जिनके लक्षण नीचे लिखे अनुसार हैं।

औपशमिक सम्यक्त्व—अनन्तानुबंधी चतुष्क (अनन्ता० क्रोध, मान, माया, लोभ) और दर्शन मोह की तीन प्रकृतियाँ—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन सात प्रकृतियो के उपशम होने के आत्मा की जो तत्व रुचि होती है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते है। इसमें मिथ्यात्व प्रेरक कर्म सत्ता मे रहते हुए भी राख में दबी अग्नि के समान कुछ समय उपशान्त रहते है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व—अनन्तानुबंधी कषाय तथा उदय प्राप्त मिथ्यात्व का क्षय और अनुदय प्राप्त मिथ्यात्व का उपशम करते हुये जीव को जो तत्व रुचि होती है वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है।

क्षायिक सम्यक्त्व—सम्यक्त्वघाती अनन्तानुबंधी चतुष्क और दर्शन मोह-त्रिक कुल सातो प्रकृतियों के क्षय से जीव को होने वाली तत्वरुचि क्षायिक सम्यक्त्व है।

उक्त तीन भेदों सहित आगमों में सम्यक्त्व के दो भेद और बताये है—

सास्वादन सम्यक्त्व—स-आ-स्वादन—यह तीन शब्द इसमें है। अर्थात् जीव का जो परिणाम सम्यक्त्व के थोड़े से स्वाद सहित है, वह सास्वादन सम्यक्त्व है। यह औपशमिक सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व के अभिमुख होने वाले जीव में होता है।

वेदक सम्यक्त्व—क्षपक श्रेणी अथवा क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने के पूर्व अनन्तानुबन्धी चतुष्क, मिथ्यात्व, मिश्रमोह का क्षय कर चुकने पर जो पुद्-

मलांशेष रहते हैं, उन्हें नष्ट करता हुआ जीव अन्तिम एक समय में जिस परिणाम का वेदन करता है वह वेदक सम्यक्त्व है। यह सम्यक्त्व होने के ठीक एक समय पूर्व में क्षयोपशम सम्यक्त्वधारी जीव वेदन करता है अतः इसे वेदक सम्यक्त्व कहते है।

सम्यक्त्व के उक्त भेद पात्र की अपेक्षा से हैं, वैसे सम्यक्त्व में भेद नहीं है। तत्त्वश्रद्धा ही उसका एक मात्र लक्षण है। सम्यक्त्व की प्राप्ति से ही आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। जिस आत्मा ने क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया है वह या तो उसी भव में मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं और कदाचित प्राप्त न कर सकें तो तीसरे भव में अवश्य मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। इसका कारण यह है कि जिन जीवों ने आयु बंध करने के पूर्व क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया वे तो इसी भव मे और आयुबन्ध के बाद क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले तीसरे भव में मोक्ष प्राप्त करते हैं।

उक्त पाँचो प्रकार के सम्यक्त्वों में से उपशम एवं सास्वादन सम्यक्त्व एक भव मे जघन्य एक बार, उत्कृष्ट दो बार तथा अनेक भवों की अपेक्षा जघन्य दो बार और उत्कृष्ट पांच बार प्राप्त कर सकते है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, एक भव मे जघन्य एक बार उत्कृष्ट पृथक्त्व (दो से नौ) हजार बार तथा अनेक भावों की अपेक्षा जघन्य दो बार, उत्कृष्ट असंख्यातबार प्राप्त कर सकते हैं। वेदक और क्षायिक सम्यक्त्व एक ही बार प्राप्त होता है।

उपशम सम्यक्त्व की स्थिति अन्तर्मुहूर्त है, सास्वादन सम्यक्त्व की स्थिति जघन्य एक समय, उत्कृष्ट छह आवलिका प्रमाण, क्षायोपशमिक की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट ६६ सागरोपम से कुछ अधिक। वेदक सम्यक्त्व की स्थिति एक समय है और क्षायिक सम्यक्त्व की स्थिति सादि अनन्त काल है। यानी क्षायिक सम्यक्त्व की आदि तो है किन्तु होने के बाद कभी अन्त नहीं होता है, प्राप्ति के बाद सदा बना रहता है।

यदि ये पाचों सम्यक्त्व पर के उपदेश या निमित्त के बिना स्वाभाविक रूप से प्राप्त हों तो नैसर्गिक और परोपदेशपूर्वक हों तो अधिगमज (आधिगमिक) कहलाते है।

सम्यक्त्व के परिचायक लक्षण

१. **शम**—क्रोधादि कषायों का उपशम या क्षय होना।

२. **संवेग**—मोक्ष प्राप्ति की इच्छा का रहना संवेग है।

३. **निर्वेद**—संसार से उदासीनता रूप वैराग्य का होना।

४. **अनुकम्पा**—प्राणियों पर दयाभाव रखना, उन्हें पीड़ा न पहुँचाना।

५. **आस्तिक्य**—जिनेन्द्र भगवान द्वारा बताये गये पदार्थों, परलोक, आत्मा-परमात्मा आदि अतिरिन्द्रीय पदार्थों पर पूर्ण आस्था-श्रद्धा का होना।

ये पांच सम्यक्त्व के लक्षण है।

सम्यक्त्व के पांच अतिचार

१. **शंका**—अरिहंत भगवान द्वारा बताये हुये जीवादि पदार्थों में सन्देह करना।

२. **कांक्षा**—बाह्य आडम्बर देखकर अन्य दर्शनों, मतों की अभिलाषा करना।

३. **विचिकित्सा**—मुक्ति तथा आगम-सम्मत धर्मक्रियाओं के फलों में संदेह करना।

४. **परपाषण्ड प्रशंसा**—अन्य मतावलंबियों (मिथ्यात्वियों) की प्रशसा करना।

५. **परपाषण्ड संस्तव**—अन्य मतावलंबियों (मिथ्यात्वियों) के साथ विशेष परिचय, आलाप, सलाप करना।

दोष रहित और गुणों सहित सम्यग्दर्शन से जो युक्त है, वे ससार मे रहकर भी जल कमलवत् निलिप्त रहते है। लौकिक आचार-व्यवहार करते हुये भी आत्म-प्रकाश में लक्ष्य साधना की ओर अग्रसर रहते हैं। सम्यग्दर्शन के उत्पन्न हो जाने पर संसार का अन्त निश्चित है। मिथ्यात्व का रुकना ही मोक्ष है।

विरति

कर्मों के आने का दूसरा कारण है हिंसादि पापो में लगे रहना। उन पापो से विरत होना, त्याग कर देना विरति-व्रत है। पापो के त्याग से कर्मों का आगमन रुक जाता है इसीलिये विरति को संवर कहा है। जब दृष्टिसम्यक् हो जाती है, यथार्थ बोध हो जाता है तो तदनुरूप क्रिया भी होने लगती है। इसीलिये सम्यक्त्व के बाद सम्यकप्रवृत्ति का ज्ञान कराने के लिए विरति को रखा है। दुनिया में देखा जाता है कि वस्तु का ज्ञान हो जाने पर उसकी प्राप्ति के लिये प्रवृत्ति की जाती है तो यही बात विरति के लिये भी समझना चाहिये।

जीवन मे व्रतो का स्थान श्वासोच्छ्वास के समान है। प्राणी के जीने की पहचान उसके सांस लेने से होती है। इसी प्रकार व्रतों के द्वारा सम्यक्त्व की पहचान होती है कि सम्यक्दृष्टि पाप कार्य नहीं करता है—

सम्मत्तदंसी न करेइ पावं।[1]

सम्यग्दृष्टि जीव पाप नहीं करता है। जब तक जीव पाप मे आनन्द मनाता रहता है तब तक समझना चाहिये वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। लेकिन यह भी सच है

---

१. आचारांग ३।२

कि पाप कार्य तभी नहीं होते, जब सम्यग्दर्शन हो जाता है। इसलिये सम्यकत्व और व्रत इन दोनों में कार्य-कारण भाव है, दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं। लेकिन व्रतों में सम्यक्ता आने का कारण सम्यक्त्व है। इसीलिये कहा है—

न तद्धनं येन न जायते सुखं,
न तत्सुखं येन न तोषसंभवः।
न तोषणं तन्न यतो व्रतादरो,
व्रतं न सम्यक्त्वमृतं भवेत्क्वचित् ॥[1]

धन वही है जिससे सुख प्राप्त होता है और सुख उसे कहते हैं जिससे संतोष मिलता हो, लेकिन यह संतोष तभी प्राप्त होता है, जब व्रतों का आचरण किया जाता है, इच्छाओं पर अंकुश लगाया जाता है और व्रतों का पालन, इच्छाओं का निग्रह करने के लिये सम्यक्दृष्टि होना जरूरी है।

क्रिया दो प्रकार की है—शुभ और अशुभ, पाप या पुण्य। क्रिया के साधन हे तीन—मन, वचन, काय। इनसे पाप और पुण्य रूप दोनों प्रकार की क्रिया हो सकती है। लेकिन पुण्य क्रिया अपेक्षा से ग्राह्य होने पर भी पाप क्रिया सर्वथा त्याज्य है। इस पाप की क्रिया को रोकने के लिये व्रत की आवश्यकता है। व्रत का अर्थ ही है आच्छादन करना, ढांकना, रोकना। व्रत शब्द 'वृ' धातु से बना है, जिस का अर्थ है आच्छादन करना, रोकना। इसीलिये जो पाप की क्रिया को, अविरति को आच्छादित करता है, रोकता है उसे व्रत कहते हैं। पाप क्रियाएँ हैं—हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इसलिये इनको रोकने का नाम व्रत है—

हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।[2]

और इन हिंसादि पाप कार्यों को रोकने से जीव के कर्मों का आश्रव नहीं होता है—

पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरूंभइ।[3]

प्रत्याख्यान (त्याग) से जीव आश्रव द्वारों का, कर्म बंध के रागादि हेतुओं का निरोध करता है।

पूर्व कथन का सारांश यह हुआ कि व्रतों के द्वारा पाप कार्यों से निवृत्ति हो जाती है और पाप कार्यों से निवृत्ति हो जाने पर नवीन कर्मों का आश्रव रुक जाता है। आश्रव का रुकना ही कर्मरोग की औषधि है। यदि हमें कर्म रोग पर

१. भावना शतक ५६
२. तत्त्वार्थसूत्र ७।१
३. उत्तराध्ययन २९।१४

काबू पाना है तो व्रतों का पालन करना ही चाहिये। हम अपने लौकिक व्यवहार में देखें कि रोग होने पर औषधि लेते हैं, प्यास लगने पर पानी पीते है, भूख लगने पर भोजन करते हैं तो कर्म रोग को हटाने के लिये भी उपाय करना जरूरी है और इस रोग की अमोघ औषधि है—व्रत।

बिना व्रतं कर्मरुगाश्रवस्तथा।[1]

कर्माश्रव रूपी रोग का उन्मूलन करने के लिये व्रत रूप औषधि का उपयोग करना चाहिए।

व्रत के भेद

हिंसादि पांच पापो का त्याग करना व्रत है लेकिन सभी मनुष्यों में यह क्षमता कहां है कि उनका पूर्ण रूप से त्याग कर सकें। कोई तो तीन करण (करना नही, कराना नही और अनुमोदना नहीं) और तीन योग (मन, वचन, काय) से त्याग कर सकते है और कोई यथा संभवित इच्छानुसार करण, योग के आधार पर त्याग करते है। इस दृष्टि से व्रतो के दो भेद हैं—सर्व विरति और देशविरति। सर्वविरति को महाव्रत, अनगार व्रत कहते हैं और देशविरति को अणुव्रत, आगारव्रत।

जिन्होंने बाह्य और आभ्यन्तर गृह[2] का त्याग कर दिया है उन्हे अनगार कहते है। अनगार हिंसादि पापों का तीन करण, तीन योग से यावज्जीवन के लिये त्याग करते है इसलिये उनके व्रत महाव्रत कहलाते है। लेकिन जिनका कुटुम्ब-परिवार आदि से सम्बन्ध जुड़ा हुआ है, घर-बार छोड़ने की जिन्होंने शक्ति प्राप्त नही की है लेकिन उनके छोड़ने की भावना रखते है, गृह-त्यागियों के मार्ग की श्रद्धा रखते है, उन्हें अपना आदर्श मानते है वे आगारी कहलाते है। इनके द्वारा यथायोग्य करण और योग के द्वारा इच्छा आदि के अनुसार व्रतों को ग्रहण किया जाता है उसे आगार व्रत कहते हैं। यह व्रत एक देश त्याग रूप होने से अणुव्रत है। अर्थात् सावद्य योगों का पूर्ण रूप से त्याग महाव्रत है और एक देश त्याग अणुव्रत है। महाव्रतों को राजमार्ग और अणुव्रतों को पगदण्डी कह सकते है। महाव्रतों का पालन तलवार की धार पर चलने के समान है और अणुव्रतों का पालन साधारण खींची रेखा का अनुसरण करना है। महाव्रत के पांच भेद है और अणुव्रत के १२ भेद।

---

१. भावनाशतक ६०

२. ईंट चूने आदि से बने घर, कुटुम्ब परिवार आदि को बाह्य गृह और मिथ्यात्व रागद्वेषादि को आभ्यन्तर गृह कहते हैं।

महाव्रत के भेद

महाव्रत के पाँच भेदों के नाम व उनकी व्याख्या क्रमशः इस प्रकार है।

१. **प्राणातिपात विरमण**—मन वचन काय से किसी भी जीव की हिंसा करना नहीं, कराना नहीं, और करने वाले की अनुमोदना करना नही।

२. **मृषावाद विरमण**—क्रोध, लोभ, हास्य आदि किसी भी कारण से मन, वचन, काय द्वारा असत्य भाषण करना नहीं, कराना नहीं, और करने वाले की अनुमोदना करना नहीं।

३. **अदत्तादान विरमण**—अदत्त वस्तु को लेने का तीन करण तीन योग से सर्वथा त्याग करना। अदत्त के चार प्रकार है—स्वामी-अदत्त, जीव-अदत्त, तीर्थंकर-अदत्त और गुरु-अदत्त। वस्तु के स्वामी की आज्ञा प्राप्त किये बिना लेना स्वामी-अदत्त है। स्वामी की आज्ञा होने पर भी वह वस्तु अचित्त—जीव रहित न हो तो जीव-अदत्त है। वस्तु अचित्त भी हो, किन्तु तीर्थंकर की आज्ञा के अनुसार एषणीय न हो तो तीर्थंकर-अदत्त है। वस्तु एषणीय—ग्रहण करने योग्य भी हो किन्तु गुरु से पूछे बिना, बताये बिना उपयोग में लेना गुरु-अदत्त है। इन चारों प्रकार से अदत्त छोटी-बड़ी आदि किसी भी वस्तु को उपयोग में न लेना न लिवाना और लेने वाले का अनुमोदन न करना अदत्तादान—विरमण है।

४. **मैथुन विरमण**—सभी प्रकार के मैथुन का सर्वथा रूप से त्याग करना मैथुन-विरमण है। स्थूल, सूक्ष्म, देव, मनुष्य-तिर्यंच सम्बन्धी मैथुन का सेवन न स्वयं करना, न दूसरों से कराना और न करने वाले की अनुमोदना करना। किन्तु नववाड़ के साथ ब्रह्मचर्य का पालन करना मैथुन-विरमण कहलाता है।

५. **परिग्रह विरमण**—धन-धान्य स्वर्ण आदि १४ प्रकार के बाह्य एवं मिथ्यात्व, कषाय आदि आभ्यन्तर परिग्रह—ममत्व भाव से मुक्त होना—परिग्रह विरमण रूप महाव्रत है।

महाव्रतों का विस्तृत वर्णन चारित्र भावना में किया जा चुका है

ये पाँच महाव्रत जीवन पर्यन्त पालन किये जाते हैं। इनमें किसी भी प्रकार की छूट नहीं होती है।

अणुव्रत के भेद

अणुव्रत महाव्रतों की अपेक्षा छोटे, स्थूल होते है, इनका गृहस्थ पालन करते है। लोक जीवन के साथ सम्बन्ध रहने से गृहस्थ पूर्ण निवृत्ति नहीं कर सकता। अतः आंशिक निवृत्तिपूर्वक पालन करता है। गृहस्थ के लिए व्रत-अणुव्रत के बारह भेद किये गये हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. **स्थूल प्राणातिपात विरमण**—त्रस जीवों को जान-बूझ कर बिना अपराध संकल्प पूर्वक मन वचन और काया द्वारा मारना नहीं तथा मरवाना नहीं । त्रस जीवों की निरन्तर हिंसा होने वाले पदार्थों—मांस-मदिरा आदि का सेवन नहीं करना ।
२. **स्थूल मृषावाद विरमण**—अनर्थ व हिंसाकारी वचन न बोलना और न बुलवाना ।
३. **स्थूलअदत्तादान विरमण**—लोक में जिसे चोरी कहा जाता हो और कानून के अनुसार जो चोरी मानी जाती हो ऐसी मोटी चोरी करना नहीं, न करवाना ।
४. **स्थूल मैथुन विरमण**—पर-स्त्री का सर्वथा त्याग करना एवं स्व-स्त्री के साथ मर्यादित होना, पर्व, तिथियों आदि पर सर्वथा ब्रह्मचर्य का पालन करना ।
५. **परिग्रह परिमाण व्रत**—क्षेत्र, धन, धान्य नौकर, पशु आदि की इच्छा पर अंकुश रखना । अन्यायोपार्जित धन की इच्छा न करना ।
६. **दिग्व्रत**—पूर्व, पश्चिम आदि छह दिशाओं की क्षेत्र मर्यादा जीवन पर्यन्त के लिये करना । बांधी हुई मर्यादा से बाहर न जाना ।
७. **भोगोपभोग व्रत**—भोग और उपभोग की वस्तुओं-भोजन, वस्त्र आदि का तथा पन्द्रह कर्मादान के व्यापारों का त्याग करना ।
८. **अनर्थदंड विरमण**—आर्त, रौद्र ध्यान न करना, जीवों की यतना में प्रमाद न करना, हिंसा के उपकरण न रखना, न दूसरों को देना दूसरों को पापकारी उपदेश न देना ।
९. **सामायिक**—समभाव-जनक सामायिक क्रिया का करना ।
१०. **देशावकाशिक व्रत**—दिग्व्रत में की हुई दिशाओं की मर्यादा को प्रतिदिन संकुचित करना तथा व्रत में रखी हुई मर्यादा का भी कम उपयोग करना उसका भंग नहीं करना ।
११. **पौषध व्रत**—अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा आदि तिथियों पर पौषध करना ।
१२. **अतिथि संविभाग व्रत**—त्यागी सुपात्र को योग्य वस्तु का दान करना ।

यह अणुव्रत के १२ भेद है । महाव्रत और अणुव्रत पाप क्रियाओं को रोकते है । महाव्रतों द्वारा पाप क्रिया सर्वथा रुकती है और अणुव्रत द्वारा एक अंश में ।

जीवन मे ऐसी बहुत सी क्रियाएँ है जिन्हे हम करते नही, किन्तु उनसे पाप कर्मों का आना चालू रहता है । अतः इनसे बचने का एक ही उपाय कि प्रत्या-

ख्यान कर लिया जाय। भले ही हम वर्तमान में क्रिया नहीं करते किन्तु अव्यक्त सम्बन्ध उनसे जुड़ सकता है अतः उनसे मुक्ति का उपाय व्रत को स्वीकार करना है। विरति संवर का यही आशय है।

अप्रमाद

व्रतों के बाद इसका क्रम है। यद्यपि व्रतों के द्वारा पाप क्रियाओं को रोकने के लिये सामर्थ्य प्राप्त करली, लेकिन उनके पालन में किंचिन्मात्र भी शिथिलता रखी तो कर्माश्रव को रोका नहीं जा सकता है। इसको एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते है, जैसे कि औषधि प्रयोग से रोग दूर हो गया, लेकिन वैद्य के बताये हुये पथ्य उपचार के अनुसार प्रवृत्ति नहीं की तो शरीर पूर्ण रूप से स्वस्थ नहीं हो सकता है और संभव है कि रोग का पुनः प्रकोप हो जाये। यह रोग का प्रकोप क्यों हुआ? तो इसका कारण है कि पथ्य आदि के लेने में आलस्य किया, प्रमाद रखा, उपेक्षा भाव दिखाया।

यही बात कर्म रोग के बारे में समझनी चाहिये कि सम्यक् श्रद्धा और व्रत रूप औषधि से रोग दूर हो गया, लेकिन उसके बाद सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति न की तो कर्म रोग के परमाणुओं का क्षय नहीं हो सकता है। यानी प्रमाद रोग का सहायक है, उसको दूर करना ही अप्रमाद है।

अप्रमाद के महत्त्व को प्रदर्शित करते हुये भावना शतक में कहा है—

ज्वरे निवृत्ते रुचिरेधते यथा,
मलेगतं शाम्यति जाठरी व्यथा।
तथा प्रमादे विगतेऽभिवर्धते,
गुणोच्चयो दुर्बलता च नश्यति॥

—जैसे ज्वर दूर होने पर मनुष्य को भोजन में रुचि बढ़ती है, पेट में जमा मल निकल जाने पर पेट की पीड़ा दूर हो जाती है, उसी प्रकार प्रमाद के दूर होने पर आत्मा में गुण उत्पन्न होने लगते है। दोषों का नाश होता है तथा आत्मा के गुणों की दुर्बलता दूर हो जाती है।

प्रमाद उत्पत्ति के कारण

मद (अंहकार), विषय, कषाय, निद्रा और विकथा प्रमाद के पाँच भेद आश्रव भावना में बतलाये जा चुके हैं। ये प्रमाद के बाह्य लक्षण हैं, लेकिन इनकी उत्पत्ति के मूल कारण आत्मा में विद्यमान—सम्यक् मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय, अनन्तानुबंधी चतुष्क, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, प्रत्याख्यानावरण चतुष्क, संज्वलन क्रोध है—मोहनीय कर्म की ये १६ प्रकृतियाँ है। जब तक इनका अस्तित्व है, तब तक अप्रमाद अवस्था प्राप्त नहीं होती है।

आत्मा की शुद्धि के क्रमारोहण (गुण स्थान) में छठे गुण-स्थान-प्रमत्त संयत-तक इनका सद्भाव पाया जाता है। इसलिये आत्मा अपने पूर्ण विकास की ओर अग्रसर नहीं हो पाती। जब इन प्रमाद जनक कारणों का अभाव हो जाता है तो आत्मा अप्रमत्त दशा को प्राप्त कर उपशम या क्षपक श्रेणी का आरोहण कर असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा करते हुये शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेती है।

प्रमाद दूर करने के उपाय

प्रमाद आत्मा का कपटी मित्र जैसा शत्रु है। यह अंतरंग में ही अपना कार्य करता है। अतः इससे सदा सावधान रहने की जरूरत है। आत्मा ने अपने प्रत्यक्ष में प्रकट रूप से दिखने वाले हिंसा, झूठ आदि शत्रुओं का त्याग तो व्रतों के द्वारा कर दिया, लेकिन प्रमाद रूप शत्रुओं को जीतने के लिये भी उपाय करना जरूरी है। जिसका कुछ संकेत यहा करते है।

प्रमाद को जीतने का सर्व प्रथम और स्थूल उपाय यह है कि पहले मोटे-मोटे प्रमादों को त्याग दिया जावे। जिन्हें हम प्रकट रूप से प्रमाद समझते है उनके लिये सावधान रहें। इससे सूक्ष्म प्रमाद भी निष्क्रिय बनेंगे और हमारी प्रवृत्ति में किसी भी प्रकार का विक्षेप नही डाल सकेंगे। सूक्ष्म प्रमादों को भी पूर्णरूप से नष्ट करने के लिये प्रतिदिन आत्मचिंतन करना चाहिये। व्रतों में लगे हुये दोषों की आलोचना करके पश्चात्ताप करना चाहिये। प्रतिदिन नियमित रूप से ऐसा करने पर सूक्ष्म प्रमाद दूर हो जाता है और आत्मा व मन स्वच्छ बन जाते है और स्वच्छ आत्मा मे शुद्ध विचारों का जन्म होता है।

इसलिये साधक को ज्ञान, दर्शन, चारित्र की सम्यक् आराधना एवं जीवन को सफल बनाने के लिये अप्रमाद सवर में सदैव दत्तचित्त रहना चाहिये। अप्रमाद के द्वारा कर्म बंध रुकेगा और दुःखानुभव भी नही होगा।

अकषाय

अप्रमाद के बाद अकषाय का क्रम है। यह कर्मास्रव को रोकने का चौथा उपाय है। व्रतों और अप्रमाद के द्वारा कर्मो को रोकने की चेष्टा में सफलता प्राप्त कर ली, लेकिन अभी भी कुछ ऐसे परिणाम आत्मा में विद्यमान है जिनसे आत्मा पूर्ण शुद्ध अवस्था को प्राप्त नही कर पा रही है। आत्म-परिणामों में जो मलिनता है, इसका कारण कषाय है। कषायों के कारण आत्मा कभी भी उच्च स्थान से पतित हो सकती है। जिससे आत्मशुद्धि के लिये किया कराया अभी तक का परिश्रम व्यर्थ चला जाता है।

कषाय केवल आध्यात्मिक दृष्टि से ही दुःखजनक नही है, किन्तु इहलोक

में भी दुखदायी हैं। कषायों का सबसे पहला प्रहार मनुष्य के मन-मस्तिष्क पर होता है, जिससे उसका जीवन अव्यवस्थित हो जाता है। सुख के साधनों से वंचित हो जाता है। इसके बाद वह विग्रह, विद्वेष की अग्नि द्वारा संसार की शान्ति को भंग कर देता है। आज विश्व में जो कुछ भी युद्धों का भय व्याप्त है, उसका मूल कारण कषाय वृत्ति ही है। इसीलिये स्व-पर उपकार के लिये कषायों का उन्मूलन करना चाहिए।

क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय है। इनमें जितनी तीव्रता होगी उतने ही तीव्र दुख देने वाले अशुभ कर्मों का बंध होगा। यदि ये कषाय अनन्तानुबंधी हुये तो नरकगति का बंध होगा और अप्रत्याख्यानी होने पर तिर्यंच आयु का। यह तो बहुत स्थूल बात हुई, किन्तु कषाय का सूक्ष्मतम अंश विद्यमान है तो वर्षों तक तपस्या करने पर भी आत्मा शुद्ध नहीं हो सकती है, उसे केवलज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है।

इसलिये कषाय-त्याग के साधनों का चिन्तन करना चाहिये। प्रत्येक मुमुक्षु को विचार करना चाहिये कि कब कषायों का बंधन छूटे। जब इनका संसर्ग छूटेगा तभी, उसी क्षण सच्चा सुख प्राप्त हो सकेगा।

कषाय-विजय का उपाय

कषाय यद्यपि काले घन घोर मेघों के समान है, लेकिन जैसे उन मेघों को भी वायु का वेग क्षण मात्र में इधर-उधर बिखेर देता है। उनके प्रलय की शक्ति को क्षण मात्र में तहस-नहस कर देता है। इसी प्रकार से कषायों को भी आत्मशक्ति द्वारा नष्ट किया जा सकता है। कषायों के नाश करने के उपायों के बारे में भगवान महावीर ने बताया है—

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायमज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥[1]

क्रोध पर क्षमा द्वारा, मान पर मृदुभाव द्वारा, माया पर आर्जव भाव द्वारा और लोभ पर संतोष द्वारा विजय प्राप्त की जा सकती है। इनके साथ ही क्रोधादि को अपना रूप प्रदर्शित करने में सहायक इन्द्रियों को संयम द्वारा जीता जा सकता है। कषायों पर विजय प्राप्त करने वाला सुखी होता है और वही मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी भी—

कोहं च माणं च तहेव मायं, लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा।
एयाणि वंता अरहा महेसी, न कुव्वइ पावं न कारवेइ ॥[2]

---

१. दशवैकालिक ८।३६

२. सूत्रकृतांग ६

अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार आध्यात्मिक दोष हैं, यानी आत्मा के गुणों को लूटने वाले हैं। जब इनका दमन कर दिया जाता है तभी महर्षि अर्हंत पद प्राप्त करता है। इसलिये इन क्रोधादि को न तो कोई स्वयं करे और न दूसरो को भी करने का अवसर दे। इसका सारांश यह है कि मुक्ति प्राप्त करना है तो क्रोधादि कषायों का त्याग कर देना चाहिये। कषायों का त्याग ही अकषाय अथवा कषाय संवर है।

अयोग

यह संवर का पांचवां उपाय है। अयोग का मतलब है कि मन, वचन और काय की विकारोत्पादक वृत्तियों का निग्रह करना।

किसी का अनिष्ट चिंतन करना, दुष्ट इच्छाएँ करना, ईर्ष्या, वैरभाव रखना यह दुष्ट मनोयोग है। किसी को निन्दा करना, गाली देना, झूठा लांछन देना, असत्य बोलना अशुभ वचन योग है तथा किसी को कष्ट देना चोरी करना, कुकर्म करना आदि अशुभकाय योग है। जब इन अशुभ प्रवृत्तियों को रोका जायेगा और शुभ में प्रवृत्ति होगी तो कर्माश्रव रुक जायेगा।

योग का सम्बन्ध संयोगी केवली गुणस्थान तक रहता है। इसलिए उनमें भी मन, वचन काय की परिस्पन्दनात्मक क्रिया होती रहती है। इस क्रिया में आत्मशक्ति मूलकारण है, इसलिए बल, वीर्य उत्साह, शक्ति, चेष्टा, करण ये सब योग के पर्यायवाची नाम है। इन सबके आशय को स्पष्ट करने वाली योग शब्द की व्याख्या इस प्रकार होगी—

वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले वीर्य-बल को योग कहते हैं, जिससे जीव औदारिक पुद्गल ग्रहण करके, श्वासोच्छ्वास रूप में बदल सकता है, शरीर की हलन-चलन आदि रूप क्रिया कर सकता है। यानी मन, वचन काय द्वारा होने वाली चेष्टाएँ वीर्य से होती है इसलिये योग के नाम वीर्य आदि हैं।

योग स्वयं दुष्ट नहीं है। जैसे पानी स्वयं स्वभावत. अशुद्ध नहीं है लेकिन नाली आदि में गिरने व पात्र के अशुद्ध होने पर अशुद्ध हो जाता है। यही बात योगों की शुद्धता और अशुद्धता के बारे में समझना चाहिए कि जब उसके साथ कषाय, प्रमाद आदि का संयोग हो जाता है तो वे अशुद्ध हो जाते है, और संयोग न होने पर शुद्ध रहते हैं। अशुद्ध योग कर्माश्रव के कारण है।

योग की सर्वथा निवृत्ति अयोगिकेवली नामक चौदहवें गुणस्थान में होती है और तेरहवे गुणस्थान तक योगों का सद्भाव है लेकिन उस गुणस्थान में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय इन चार बंध के कारणों के न रहने

से योग के कारण होने वाला बंध एक समय रहकर दूसरे समय नष्ट हो जाता है। इसीलिये उनके बंध को इरियावही (ईर्यापथिक) बंध कहते हैं। इस प्रकार की योग प्रवृत्ति कर्मबंध की कारण नहीं बनती है। लेकिन जब तक योग के साथ कषायों का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है तब तक जीव में अनेक प्रकार की अशुभ वृत्तियाँ पैदा होती रहती हैं। अतः इन अशुभ वृत्तियों से निवृत्ति लेना और शुभ-वृत्तियों में वृद्धि करना चाहिए।

शुभ वृत्तियों की वृद्धि के उपाय

किसी का बुरा विचारना, चिन्तन करना आदि मन की अशुभ वृत्ति है। अतः इसको रोकने के लिए क्षमा, संतोष आदि आत्मगुण का चिंतन करें। असत्य बोलना, दुर्वचन कहना आदि वचन की अशुभ प्रवृत्ति है, उसके बदले हितमित प्रिय वचन बोलने आदि से वचन में शुभता आती है। चोरी करना, इन्द्रिय विषयों का सेवन करना आदि कायिक अशुभ व्यापार है, उनको न कर जीवों पर करुणा करना, किसी को कष्ट न पहुँचाना शुभकाय योग है। यद्यपि मन, वचन, काय इन तीनों का सदा साथ रहता है। एक की वृत्ति का दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। अतः इन तीनों को शुभ की ओर प्रवृत्त करने के लिए सजग रहें। फिर भी इनमें मनोयोग अपना फल अति उग्रता से देते हैं। इसलिए अशुभ प्रवृत्तियों पर विजय पाने के लिए मनोयोग का निग्रह करना नितान्त आवश्यक है।

योगों पर विजय पाने का उपाय यह है कि पहले स्थूल दोषों का परिहार कर सूक्ष्म दोषों का निग्रह करने के लिए उद्यत होवें। दूसरा उपाय यह है कि मन की प्रवृत्तियों का निरीक्षण किया जाये, उसके विचारों की कमजोरी को जाना जाये। ऐसा करने पर मानसिक दोष दूर होंगे और साथ ही उन मानसिक दोषों का वचन व काय पर पड़ने वाला प्रभाव निर्बल होने से उनके दोषों पर भी जल्दी विजय पाई जा सकती है।

यह कार्य व्यक्ति की अपनी क्षमता पर निर्भर है कि वह योगों की अशुभ प्रवृत्तियो पर विजय पाने में किस सीमा तक समर्थ है। लेकिन उसका प्रयास यही हो कि मन, वचन, काय की अशुभ प्रवृत्ति को दूर करने के प्रयत्न में लगे रह कर शुभ प्रवृत्ति में अग्रसर बने।

संवर के इन उपायों पर बार-बार चिन्तन करना, और उन विधियों को जीवन में उतारने का संकल्प एवं प्रयोग करना यह संवर भावना का लक्ष्य है। संवर के प्रयोग से जीवन में संयम तथा निवृत्ति की वृद्धि होती है, और संयम ही जीवन का सार है।

☆

९. निर्जरा भावना

संवर भावना में कर्मों के आगमन द्वार को रोकने पर चिन्तन किया गया है। जिन कारणों से कर्मों का आस्रव होता है, कर्म रूप जल आत्म तालाब में आता है, उन-उन नालों व द्वारों को रोक देना संवर है।

प्रश्न होता है 'संवर' के द्वारा हम ने नये कर्म-प्रवाह को तो रोक दिया, किन्तु जो पानी आत्म-तालाब में पहले से जमा है, जो भरा हुआ है उसको खाली कैसे करें। इस प्रश्न का समाधान आगम की भाषा में इस प्रकार दिया गया है—

> **जहा महातलागस्स सन्निरुद्धे जलागमे।**
> **उस्सिचणाए तवणाए कमेणं सोसणा भवे।**
> **एवं तु संजयस्सावि पावकम्मनिरासवे।**
> **भवकोडी संचियं कम्मं तवसा णिज्जरिज्जइ।**[1]

—जिस प्रकार किसी बड़े भारी तालाब में जल भरने के द्वार को रोक देने पर जो जल भीतर रहता है, उसे उलीच कर अथवा सूर्य के ताप से सुखा देने पर वह तालाब रिक्त हो जाता है। इसी प्रकार संवर के द्वारा जिसने कर्म आगमन के द्वारों को रोक दिया है ऐसा संयमी करोड़ो भवों के संचित कर्मों को तप के द्वारा निर्जरित-नष्ट कर देता है।

तप के पहले संवर आवश्यक है. यदि संवर नहीं हुआ तो अकेला तप आत्मा को कर्ममुक्त नहीं कर सकता। कहा है---

> **तवसा चेव ण मोक्खो संवरहीणस्स होइ जिणवयणे।**
> **णहु सोते पविस्संति किसिणं परिसुस्सवि तलायं।**[2]

—जिस प्रकार तालाब में जल का प्रवेश होने रहने पर जल निकास का द्वार खोल देने पर, या उलीच-उलीच कर बाहर निकालने का प्रयत्न करने पर भी तालाब सूखता नहीं है, उसी प्रकार संवर न हो तो केवल तपमात्र से आत्मा कर्ममुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता।

---

१. उत्तराध्ययन ३०।५-६
२. भगवती आराधना १८५४

तप का भाव यहां पर निर्जरा से ही है, क्योंकि निर्जरा के कारणों में तप का अन्तर्भाव हो जाता है इसलिए यहां अभिप्राय है कि पहले संवर किया जाये, उसके बाद निर्जरा। संवरयुक्त निर्जरा ही मुक्ति का साधन है। इसलिए यहां पर निर्जरा के सम्बन्ध में विचार करते हैं।

निर्जरा का अर्थ

निर्जरा—शब्द का अर्थ बताते हुए कहा गया है—

देशेन यः संचितकर्मणां क्षयः
सा निर्जरा प्राज्ञजनैर्निवेदिता।[1]

-ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों का अमुक अंशों में क्षय होना, क्रमशः उनका आत्मा से झड़ जाना, कर्मावरण थोड़े-थोड़े दूर हटना—निर्जरा है। क्योंकि कर्म का सर्वथा क्षय हो जाना तो मोक्ष है—'**कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः**'—आत्मा से संपूर्ण कर्म-आवरण सर्वथा दूर हो जाये—इसका नाम मोक्ष है। निर्जरा और मोक्ष परस्पर कार्य-कारण है, निर्जरा मोक्ष का कारण है, मोक्ष निर्जरा का कार्य है। निर्जरा आत्मा का क्रमिक विकास है, मोक्ष संपूर्ण विकास। निर्जरा एक यात्रा है, मोक्ष मंजिल है। यहां हम निर्जरा पर ही विचार करते हैं। निर्जरा का स्पष्ट अर्थ हमारे सामने आया है—"**देशेनसंचितकर्मणां क्षयो निर्जरा**"—एक देश से अर्थात् क्रमिक रूप से, संचित कर्मों का नाश होना निर्जरा है। कालप्राप्त तथा तपोविशेष से कर्मों की फलदान शक्ति को नष्ट कर उन्हें झड़ा देना निर्जरा है।[2]

यही बात हेमचन्द्राचार्य ने कही है—

संसारबीजभूतानां कर्मणां जरणादिह।
निर्जरा सा स्मृता द्वेधा सकामा काम-वर्जिता॥[3]

-भवभ्रमण के बीज भूत कर्म है। कर्मों का आत्म-प्रदेशों से झड़ जाना अर्थात् पृथक् हो जाना 'निर्जरा' है। वह दो प्रकार की है—सकाम निर्जरा और अकाम निर्जरा।

कर्म की तीन अवस्थायें

निर्जरा किसकी होती है? उत्तर है—कर्म की! चाहे शुभ कर्म हो, या अशुभ कर्म। कर्म आत्मा का आवरण है। बन्धन है। एक सोने की बेड़ी है, एक

---

१. भावनाशतक ६७
२. (क) राजवार्तिक ७।१४।४०।१७
   (ख) द्रव्यसंग्रह ३६।१५०
३. योगशास्त्र ४।८६

लोहे की, किन्तु बेड़ी दोनों हैं। जब तक जीव बेड़ी में बन्धा है, तब तक मुक्त नहीं हो सकता। कर्म रूप बेड़ी से मुक्त होना आत्मा का लक्ष्य है, उस बेड़ी से मुक्त होने की प्रक्रिया-निर्जरा है। तो पहला समाधान हमारे सामने यह आया कि निर्जरा कर्मों की होती है। कर्म क्या है ? यह समझना भी जरूरी है।

जैसे कोई व्यक्ति शरीर पर तेल लगाकर धूलि में लोटे तो वे धूलिकण उसके शरीर में चिपक जाते है, उसी प्रकार मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग आदि से जब आत्म-प्रदेशों में परिस्पन्दन होता है, हलन-चलन होता है तब आकाश प्रदेश मे रहे हुए अनन्तानन्त कर्म पुद्‌गलों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होने लगता है, वे आत्मा के साथ सम्बद्ध पुद्‌गल ही 'कर्म' कहलाते है।[1] कर्मग्रन्थ में कहा है—

कीरइ जीएण हेउहिं जेणं तो भण्णए कम्मं।[2]

मिथ्यात्व, कषाय आदि हेतुओं से जो कर्म योग्य पुद्‌गल द्रव्य आत्म-प्रदेशो के साथ मिला लिया जाता है, वह आत्म-सम्बद्ध पुद्‌गल द्रव्य कर्म कहलाता है।

कर्म और आत्मा का सम्बन्ध अनादिकालीन है। जैसे कनकोपल (स्वर्ण-पाषाण) में सोना कब मिला, इसकी कोई आदि नहीं है। सोने में पाषाण-रूप मल का मिलाप अनादि कालीन है, वैसे ही जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध अनादि कालीन है। कहा है—

द्वयोरप्यनादि सम्बन्धः कनकोपलसन्निभः।

कनकोपल और स्वर्ण की भांति आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि कालीन है।

जो कर्म आत्मा द्वारा संग्रहित हो गया, साधारणतया वह तीन अवस्थाओं में रहता है। वे तीन अवस्थाएँ निम्न है—

१. बध अवस्था,
२. सत्ता अवस्था,
३. उदय अवस्था।

१. **बंध अवस्था**—जब पहले-पहले कर्म का बंध होता है,[3] वह आत्मा

---

१. स्नेहाभ्यक्त शरीरस्य रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम्।
रागद्वेषाक्लिन्नस्य कर्मबधो भवत्येनम्॥
—आवश्यकटीका

२. कर्मग्रन्थ प्रथम १

३. कर्म व आत्मा का सम्बन्ध सतति-प्रवाह की दृष्टि से अनादिकालीन होते हुए भी कर्म विशेष के बन्धन की दृष्टि से सादि व सांत है। यहां कर्म विशेष के बन्धन की अपेक्षा से ही पहले-पहल कर्मबंध की चर्चा है।

के साथ दूध व पानी की तरह मिल जाता है। आत्मा व कर्म का यह मिलन, सम्बन्ध ही बन्ध अवस्था है।

२. **सत्ता अवस्था**—जब तक कर्म फलविपाक रूप में उदय में न आकर आत्मा के कोषागार में स्थित रहता है, वह सत्ता अवस्था है। जैसे धन कमाना, अर्जित करना बंध है, अर्जित संपत्ति को भूमि में, या बैंक में सुरक्षित रख देना, उपयोग में न लेना सत्ता है। जमीन में बोया हुआ बीज जैसे कुछ समय तक जमीन में ही रहता है, फिर धीरे-धीरे अंकुरित होता है वैसे ही कर्म आत्मा के साथ बंधने के बाद जब तक उदय में नहीं आता है, तब तक वह सत्ता अवस्था में रहता है।

३. **उदय अवस्था**—अबाधा का समय पूर्ण होने पर कर्म उदय में आता है, अपना फल दिखाता है। यह फल दिखाना उदय अवस्था है। बीज जैसे भूमि से अंकुरित होकर बाहर आता है।

उदय भी दो प्रकार का होता है। जैसे वृक्ष में आम का फल लगा, एक ने उस फल को कच्ची अवस्था में ही तोड़कर भूसा-घास आदि में रखकर पकाया और दूसरे ने फल को वृक्ष पर ही लगा रहने दिया और समय आने पर अपने आप पक गया। प्रथम प्रकार का पाक प्रयत्न-साध्य है, दूसरे प्रकार का पाक प्रकृति-सिद्ध है। प्रकृति-सिद्ध अर्थात् सहजरूप में जो कर्म समय पर अपना फल देते हैं वे 'उदय' तथा प्रयत्न-सिद्ध अर्थात् प्रयत्न करके उदय में लाना 'उदीरणा' कहलाती है।

कर्मों की इन तीन अवस्थाओं में बन्ध-अवस्था एवं सत्ता-अवस्था में रहे हुए कर्म की निर्जरा नहीं होती, उदय अथवा उदीरणागत कर्मों की ही निर्जरा होती है।

सविपाक-अविपाक निर्जरा

जो कर्म उदय में आते है उनकी निर्जरा सविपाक निर्जरा है, जिन कर्मों की उदीरणा करके उदय में लाया जाता है उनकी निर्जरा अविपाक निर्जरा कहलाती है—

> **सव्वेसिं उदय समागवस्स कम्मस्स णिज्जरा होइ।**
> **कम्मस्स तवेण पुणो सव्वस्स वि णिज्जरा होई॥**[1]

सविपाक निर्जरा तो सभी उदयगत कर्मों की होती है (जोकि कालस्थिति के पूर्ण होने पर स्वयं पक गये है) किन्तु अविपाक निर्जरा-पके व अपके (पक्व-

---

१. भगवती आराधना १८३९

अपक्क) सभी कर्मों की होती है, किन्तु उसका कारण है तप आदि । इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्द-कुन्द ने कहा है—

चादुगदीणं पढमा, वयजुत्ताणं हवे बिदिया ।[1]

चार गति के सभी जीवों को पहली अर्थात् सविपाक निर्जरा होती है, किन्तु अविपाक निर्जरा सम्यक्‌दृष्टि व्रतधारियों को ही होती है ।

तत्वार्थसूत्र की टीका सर्वार्थसिद्धि मे बताया गया है—"क्रम से परिपाक काल को प्राप्त हुए और अनुभव रूपी उदयावलि के स्रोत में प्रविष्ट हुए ऐसे शुभाशुभ कर्म की फल देकर जो निवृत्ति होती है, वह **विपाकजा** (सविपाक) निर्जरा है, तथा आम और पनस (कटहल) फल को औपक्रमिक क्रिया विशेष द्वारा जिस प्रकार अकाल में पका लेते है उसी प्रकार जिसका विपाक काल अभी प्राप्त नही हुआ है, तथा जो उदयावली से बाहर स्थित हैं, ऐसे कर्म का तप आदि औपक्रमिक क्रिया विशेष की सामर्थ्य से उदयावली मे प्रविष्ट कराके जो अनुभव किया जाता है, वह **अविपाकजा** निर्जरा है ।"[2]

सविपाक निर्जरा प्रत्येक जीव को प्रत्येक क्षण होती रहती है, किन्तु इसी के साथ नये कर्म भी बंधते रहते है । यदि सविपाक निर्जरा न हो तो फिर जीव की शुद्धि या विकास भी कैसे हो ? फिर जो जीव निगोद मे पड़ा है, नरक में बैठा है, वह वहां से निकलकर ऊपर की गति में कैसे आयेगा ? पूर्वबद्ध कर्मों का वेदन होने पर ही उनसे छुटकारा होता है-**वेइत्ता मोक्खो, नत्थि अवेइत्ता**[3] बांधे हुए कर्म वेदे बिना, भोगे बिना मुक्ति नही है, उन्हें भोगने पर ही उनसे छुटकारा मिल सकता है, किन्तु यह भोगने का क्रम अज्ञान व अबुद्धिपूर्वक होता है, सहज रूप में होता है, इसमें किसी प्रकार का संकल्प (शुभ विचार) नहीं होता है इसलिए यह निर्जरा आत्म-विशुद्धि की दृष्टि से अकिंचित्कर है और उस निर्जरा के साथ-साथ नये कर्म का बंध भी होता जाता है, जितने कर्म खिरे हैं उन से अधिक भी बंध जाते है, आत्मा का हलकापन उस निर्जरा मे नहीं हो सकता । इसलिए इस निर्जरा को सहजनिर्जरा, स्वाभाविक निर्जरा, स्वकालप्राप्त निर्जरा[4] अबुद्धिपूर्वा निर्जरा कहा है ।[5] आगे बताये जाने वाले सकाम-अकाम भेद के अनुसार इस निर्जरा को हम 'अकामनिर्जरा' भी कह सकते है ।

---

१. बारसअणुवेक्खा ६७
२. सर्वार्थसिद्धि ८।२३।३९९।९
३. दशवैकालिक चू० १
४. द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामी कीर्तिकेय) १०३-१०४
५. तत्र नरकादिषु गतिषु कर्मफलविपाकजा अबुद्धिपूर्वा ...।
—सर्वार्थसिद्धि ९।७।४१७।९

तो, आत्मशुद्धि की दृष्टि से सविपाक निर्जरा का भी कोई महत्त्व नहीं है, किंतु वहां अविपाक निर्जरा पर ही विशेष बल दिया गया है। क्योंकि सविपाक निर्जरा अनन्त काल तक होती रहे तब भी उससे कर्म-मुक्ति नहीं हो सकती। मुक्ति के लिए, आत्मशुद्धि के लिए तो प्रयत्न करना पड़ता है, पुरुषार्थ करना पड़ता है, इसलिए अविपाक निर्जरा ही आत्म-शुद्धि की साधिका है। भगवान महावीर ने जानबूझ कर अत्यंत उग्र उपसर्गों का सामना किया। अनार्य आदि देशों में भ्रमण किया। गजसुकुमाल मुनि ने जानबूझ कर ही श्मशान में जाकर ध्यान किया, कर्मों की उदीरणा की, अर्जुनमाली मुनि ने, धन्ना-शालिभद्र आदि अणगारों ने कर्मों की उदीरणा कर उनका वेदन किया यह सब अविपाक निर्जरा थी और उसीसे उनकी आत्मा निर्मल एवं विशुद्ध बनी।

अकाम-अकाम निर्जरा

अविपाक निर्जरा पर विशेष चिन्तन करते हुए बताया है—

> **भुक्ते विपाकेऽर्जित कर्मणां स्वतो**
> **यद् भ्रंशनं स्यात्तदकामनिर्जरा।**
> **यन्मोचनस्यात्तपसैव कर्मणा—**
> **मुक्ता सकामा शुभलक्षणा च सा॥[१]**

निर्जरा के और भी दो प्रकार हैं—स्वतःही, विपाक होने पर, कर्मोदय होने पर कर्मों का खिरना नाश होना अकाम निर्जरा है। तथा प्रयत्न एवं ज्ञानपूर्वक तप आदि क्रियाओं के द्वारा कर्मों का नाश करना सकाम निर्जरा है। परतन्त्रता के कारण, पराधीनता के कारण भोग-उपभोग-भोजन-पान आदि का निरोध हो जाना अकाम निर्जरा है।[२]

यहां अकाम एवं सकाम शब्द को समझ लेना आवश्यक है। अकाम-का अर्थ है कामना से रहित, एवं सकाम का अर्थ है कामना सहित। कामना के भी दो अर्थ होते है, सांसारिक सुख, भोग, ऐश्वर्य-देव आदि पद की कामना भौतिक कामना है। और सर्व कर्मों से मुक्त होकर अनन्तशान्ति, अनन्त ज्ञान-दर्शन रूप अव्याबाध सुख केन्द्र मोक्ष की कामना-आध्यात्मिक कामना है। जीव के लिए भौतिक कामना हेय है, विष है। आध्यात्मिक कामना उपादेय है, अमृत तुल्य है। क्यों कि मोक्ष ही आत्मा का चरम लक्ष्य है, अगर उसकी भी कामना नहीं, तो फिर जप-तप-संयम आदि किसलिए है? दान-शील तप-भाव आदि

---

१. भावनाशतक ६८

२. पारतन्त्र्याद् भोगोपभोगनिरोधोऽकामनिर्जरा।

—सर्वार्थसिद्धि ६।२०।३३५।१०

मोक्ष के ही लिए किये जाते हैं। साधक को **'मोक्खाभिकंखी'** एवं **तम्हा अव्वाबाह सुहाभिकंखी** जो विशेषण दिये है वे इसी बात के सूचक है कि वह संसार से उदासीन रहकर भौतिक सुखों की कामना से मुक्त रहें और मोक्ष के शाश्वत एवं अव्याबाध सुखों की कामना करे।

तो भौतिक एव आध्यात्मिक कामना में तप के फल रूप भौतिक सुखों की कामना छोड़कर आत्म-सुखों की कामना पूर्वक अर्थात् मोक्ष की कामना पूर्वक जो तप आदि क्रियाएं की जाती है वह सकाम निर्जरा है।

यहाँ सर्वप्रथम अकामनिर्जरा को समझ लेना चाहिए ताकि सकाम निर्जरा का महत्त्व समझना सुगम हो जाये।

अकाम निर्जरा

पराधीनता-पूर्वक, परवश होकर भूख-प्यास आदि कष्टों को सहन करने से जो कर्म निर्जरा होती है वह अकाम निर्जरा है। भगवान महावीर ने कहा है—

वत्थगंधमलंकारं इत्थिओ सयणाणि य।
अच्छन्दा जे न भुंजंति न से चाइत्ति वुच्चइ।[1]

जो वस्त्र, गंध, अलंकार, स्त्री, तथा शयन-आसन आदि सामग्री को परवशता के कारण भोग नहीं सकता उसे त्यागी नहीं कहा जा सकता। त्याग के बिना निर्जरा कैसे ? तो पराधीनतापूर्वक कष्ट क्रिया करना अथवा उत्पन्न हुए कष्ट को सहन करना अकाम निर्जरा है।

अकाम निर्जरा अनेक प्रकार से होती है जिनमें मुख्यतः दो भेद है---

१. अनिच्छापूर्वक
२. अज्ञानपूर्वक

जैसे-नरक तिर्यच आदि गतियों में अनेक प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते है, असह्य वेदनाए भोगनी पडती है, घोरातिघोर यातना छेदन-भेदन आदि की पीड़ाएं भोगी जाती है। मनुष्य जीवन मे भी जेल में भूख-प्यास सहनी पड़ती है, कष्ट करना पड़ता है, भूमि पर सोना पड़ता है, ब्रह्मचर्य पालना पडता है गरीबी मे रोटी-वस्त्र आदि के अभाव मे भूख सहना, शीत-ताप आदि सहना, रोग होने पर मजबूरी में पीड़ा सहना-ये सब जो कि अनिच्छापूर्वक कष्ट सहे जाते है, प्राणी इन कष्टो में रोता है, कलपता है, छुटकारा पाने की चेष्टा करता है, इन वेदनाओ से छूटने के लिए हिंसा झूठ आदि पापाचरण भी करता है, पर कर्म-फल भोग बिना छूट नहीं पाता। इस प्रकार दुःख सहने की इच्छा नहीं होते हुए भी दुःख सहन करना, अनिच्छापूर्वक कष्ट करना अकाम निर्जरा

१. दशवैकालिक २।२

है। औपपातिक सूत्र में बताया है "लोक निन्दा एव लोक भय से शील पालने वाली स्त्रियां अकाम निर्जरा करती हैं। वैसे ही जो अपनी इच्छा के विरुद्ध भूख-प्यास सहते है, ब्रह्मचर्य पालते है, कायक्लेश सहते है वे कालधर्म प्राप्त कर वाण-व्यन्तर जाति के देवता में उत्पन्न होते हैं।"[1]

अकामनिर्जरा का दूसरा भेद है, अज्ञानपूर्वक कष्ट सहना। जिन्हें देव, गुरु, धर्म का ज्ञान प्राप्त नही हुआ है, मोक्ष का स्वरूप, आत्मा का स्वरूप और आत्मा का लक्ष्य जो समझ नहीं पाये है, वे व्यक्ति स्वर्ग की कामना से, परलोक में चक्रवर्ती आदि पद की कामना से तथा इस लोक में पूजा-प्रतिष्ठा-यश की भावना से जो तप आदि का आचरण करते हैं—वह अज्ञान तप है। अज्ञान तप का अधिक से अधिक इतना ही फल है कि मर कर स्वर्ग में छोटी जाति का अल्पऋद्धि वाले देवता बन जाये। नरसी भगत ने तो इस अज्ञान तप को सर्वथा अशुद्ध ही कह दिया है।

ज्यां लगे आत्मतत्त्व चीन्ह्यो नहीं त्यां लगे साधना सर्व झूठी।

सकाम निर्जरा

अकाम निर्जरा चाहे अनिच्छा पूर्वक हो, या अज्ञानपूर्वक; वह अत्यन्त अल्प फल देने वाली है। किन्तु इसके विपरीत जिस क्रिया के साथ आत्मज्ञान होता है, आत्मा और मोक्ष का विवेक होता है वह अल्प से अल्पतर निर्जरा भी महान फल देने वाली होती है। शास्त्र में बताया है--

जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुयाहिं वासकोडीहिं।
तं नाणी तिहिं गुत्तो खवइ उसासमित्तेणं।[2]

अज्ञानी जीव, जिन कर्मों को करोड़ो वर्षों में भी नहीं खपा सकता है, ज्ञानी जीव, जो कि तीन गुप्ति से गुप्त है, एक श्वासोच्छ्वास मात्र जितने समय में ही उतने कर्म खपा सकता है, ज्ञानपूर्वक निर्जरा का यह महत्व है। नमिराजर्षि ज्ञान व अज्ञान तप की तुलना करते हुए कहते है--

मासे-मासे उ जो बालो कुसग्गेणं तु भुंजइ।
न सो सुयक्खाय धम्मस्स कलं अग्घइ सोलसिं।[3]

अज्ञानी जीव मास-मास खमण का व्रत करके, दूब की नोंक पर रखे, इतना-सा अनाज खाकर पारणा करे, और फिर मासखमण करले। इतनी कठोर तपस्या करके भी वह सम्यग्ज्ञान युक्त क्रिया करने वाले साधक के धर्म की सोलहवी कला—अर्थात् सोलहवें अंश के बराबर भी कर्म निर्जरा नहीं कर पाता।

१. औपपातिक सूत्र ८
२. (क) महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक १०१ (ख) प्रवचनसार ३।३८
३. उत्तराध्ययन ६।४४

तामली तापस का उदाहरण हमारे सामने है उसने साठ हजार वर्ष तक कठोर तप किया। बेले-बेले पारणा करता था। पारणे में भी अत्यन्त अल्प नाम मात्र का अन्न ग्रहण करता, सूर्य के सामने आतापना लेता, लेकिन इतनी उग्र तपश्चर्या का फल क्या मिला? अत्यन्त अल्प। वह काल धर्म प्राप्त कर ईशान कल्प मे इन्द्र बना।

और अब देखिए धन्ना अणगार ने ज्ञानपूर्वक नौ महीने तप किया। काल प्राप्त कर सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न हुए।[1] अर्जुनमाली ने ज्ञानपूर्वक छह महीने तप किया और छह महीने की तपस्या के द्वारा ही सब कर्म क्षय कर मोक्ष में जाकर विराजमान हुए।[2] मरुदेवा माता ने हाथी के होदे पर बैठे-बैठे ही सिद्धि प्राप्त कर ली। भरत चक्रवर्ती ने आरिसा भवन मे बैठे-बैठे केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया, सम्यक् ज्ञान पूर्वक की गई सकाम निर्जरा का इतना महान फल होता है। क्रोड़ वर्ष की अकाम निर्जरा से भी एक घड़ी की सकाम निर्जरा अधिक फलदायी है— यह भगवान महावीर का कथन है। अकाम निर्जरा अन्धी दौड़ है। सकाम निर्जरा विवेकपूर्वक गति है। इसलिए शास्त्र में कहा है—जो भी क्रिया करो, वह —

> नो इह लोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा
> नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा
> नो कित्ति वण्ण सद्द-सिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा
> नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा[3]

न तो इस लोक के सुख के लिए न परलोक के सुखों के लिए, न कीर्ति-यश, प्रतिष्ठा आदि के लिए, किन्तु एक मात्र निर्जरा के लिए तप करो। कर्म निर्जरा की बुद्धि से की गई क्रिया सर्वार्थदायिनी होगी।

सकाम निर्जरा : तप

जैसा पूर्व में बताया है निर्जरा के दो भेद है। सविपाक और अविपाक। अविपाक निर्जरा में तप के द्वारा कर्मों को पकाकर निर्जरित किया जाता है। तप, कर्म निर्जरा का सर्वोत्तम साधन है। यद्यपि दान, शील भाव भी कर्म निर्जरा के मुख्य साधन है। जिनमें भाव तो सभी क्रियाओं के साथ रहता ही है। किन्तु फिर भी तप को निर्जरा का मुख्य कारण मानने का आशय यह है कि उसके अन्तर्गत प्रायः समस्त आध्यात्मिक क्रियाये आ जाती है। तप; संवर एवं निर्जरा उभयात्मक होने से संयम के सभी भेद एवं निर्जरा के सभी साधन

१. अणुत्तरोववाइयदशा २. अंतगडदशा ३. दशवैकालिक-९।४

तप के अन्तर्गत आ जाते हैं। इसलिए तप का फल ही कर्म निर्जरा बताया गया है—

> तवेण वोदाणं जणयइ[1]
>
> भवकोडी संचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ[2]
>
> तवेण परिसुज्झइ

आगमों के ये समस्त वाक्य तप की महिमा की ओर संकेत करते हैं। उपाध्याय विनय विजय जी ने कहा है—

> यथा सुवर्णस्य शुचिःस्वरूपं
>
> दीप्तः कृशानु प्रकटीकरोति।
>
> तथात्मनः कर्मरजो निहत्य
>
> ज्योति स्तपस्तद् विशदीकरोति।

जिस प्रकार प्रदीप्त अग्नि सोने के मैल को साफ करके उसके शुद्ध स्वरूप को प्रकाशित कर देती है, उसी प्रकार तप भी आत्मा के अशुभ कर्म रूपी मल को दूर करके आत्मा के उज्ज्वल स्वरूप को प्रकट कर देता है।

जैन सूत्रों एवं अन्य ग्रन्थों में तप की अपार महिमा के साथ उसके बारह भेदों का वर्णन किया गया है।

वैसे साधारण तौर पर तप का मतलब भूखे रहना माना गया है। लेकिन तप का अर्थ सिर्फ भूखा रहना नहीं है। भूखा रहना तो तप का लक्षण लोगों ने अपनी समझ से मान रखा है, लेकिन वास्तव में तप का अर्थ है—

> तापयति अष्टप्रकारं कर्म-इति तपः।

जो आठ प्रकार के कर्मों को तपाता हो, उन्हें भस्मसात् कर डालता हो उसे तप कहते है। तप का द्विमुखीप्रभाव होता है। वह बाह्य में शारीरिक कृशता का कारण है, अन्तर में काम क्रोधादि व कर्मो को कृश कर देता है। इस प्रकार से तप बाह्य और अन्तर में काम क्रोधादि व कर्मों का उन्मूलन कर आत्मा को शुद्ध बनाता है।

तप की उक्त शाब्दिक परिभाषा में तप की सभी विशेषताओं का संकेत कर दिया गया है। फिर भी भावों की प्रधानता से आचार्यों ने तप की व्याख्या की है—

> इच्छानिरोधस्तपः।

---

१. (क) भगवती २।५ (ख) उत्तराध्ययन २९।२८।

२. उत्तराध्ययन ३०।६

इच्छाओं का निरोध करना तप है। यह परिभाषा आगमों के आधार से की गई है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—

पच्चक्खाणेणं इच्छानिरोहं जणयइ[1]

प्रत्याख्यान—त्याग से इच्छाओं का निरोध हो जाता है। इच्छाओं के निरोध को तप मानने का कारण यह है कि इच्छाओ का सम्बन्ध सिर्फ बाह्य पदार्थों की प्राप्ति तक सीमित नही है, इच्छाएँ प्राप्त और अप्राप्त सभी प्रकार के पदार्थों के लिए होती है और फिर उनका रूप भी आकाश की तरह अनन्त है—

इच्छा हु आगास समा अणंतिया।[2]

जब तक इन इच्छाओ को नही रोका जाता है और सिर्फ कामना विशेष के कारण देह दमन के लिए भूख प्यास सहन की जाती है तो वह तप नहीं है।

इस प्रकार से बाह्य और अन्तर दोनों प्रकार की इच्छाओं के निरोध करने को तप कहे जाने से तप के भी दो भेद है—बाह्य और आभ्यंतर।

तप के यह बाह्य और आभ्यन्तर भेद अपेक्षा विशेष से है। जिस तप मे शारीरिक क्रिया की प्रधानता होती है और बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा युक्त होने के कारण दूसरों को भी दृष्टि गोचर होता है, उसे बाह्य तप कहते हैं और जिस तप में मानसिक क्रिया की प्रधानता होती है और आन्तरिक वृत्तियों की परिशुद्धि जिसमे मुख्य होती है तथा मुख्य रूप से बाह्य पदार्थों की अपेक्षा नहीं होती है, वह आभ्यन्तर तप है।

बाह्य और आभ्यन्तर तप के छह-छह भेद होते है। उनमें से बाह्य तप के छह भेद इस प्रकार हैं—

अनशन

यह अन् और अशन इन दो शब्दों से बना है। जिसमे अन् का अर्थ है नही और अशन के माने है आहार, भोजन। यानि आहार-जल आदि का त्याग करना अनशन है। उक्त दोनों प्रकार के साधकों के लिए दो विकल्प है। जिस अनशन में चारों प्रकार के आहारों (अशन, पान, खादिम, स्वादिम) का त्याग किया जाता है वह चौविहार और जिसमें सिर्फ जल (प्रासुक जल) के सिवाय अन्य तीन प्रकार के भोजन का त्याग किया जाता है वह तिविहार अनशन कहलाता है।

---

१. उत्तराध्ययन २९।१३

२. उत्तराध्ययन ९।४८

भोजन आदि का त्याग एक दिवस या अधिक दिनों तक अथवा जीवन पर्यन्त के लिए किया जाने से अनशन तप के दो प्रकार हैं—

१. कुछ समय के लिये किया जाने वाला भोजनादि का त्याग **इत्वरिक अनशन** तथा

२. यवज्जीवन के लिये किया जाने वाला भोजन का त्याग **यावत्कथिक अनशन** कहलाता है। इसे मरणकालिक अनशन या संथारा भी कहते हैं।

इत्वरिक अनशन एक दिन के उपवास (चतुर्थ भक्त) से लेकर छह मास तक का होता है। भद्र प्रतिमा, सर्वतोभद्र प्रतिमा, कनकावली तप, गुणरत्न संवत्सर तप, मासिक द्विमासिक भिक्षु प्रतिमा आदि इत्वरिक अनशन के अनेक भेद है।[1]

अनशन से यद्यपि शरीर दुर्बल होता है पर वह मनोविकारों को दूर करने वाला है। स्वास्थ्य की दृष्टि से अनशन का महत्त्व तो सर्वविदित है, कि वैद्य शारीरिक विकारों एवं रोगों का शमन करने के लिये उपवास व लंघन आदि कराते हैं। महान् आयुर्वेदज्ञ वागभट्ट ने—**'लंघनं परमौषधं'**—लंघन को परम औषधी बताया है। जैसे सोने को शुद्ध करने के लिये अग्नि है, वैसे ही शरीर और मन को शुद्ध करने के लिये अनशन तप मुख्य साधन है।

अनशन तप को मुख्य मानकर भी जैनधर्म में यह भी स्पष्ट बताया गया है कि जिस तप से मन में दुर्ध्यान जगता हो, पीडा वेदना एवं व्याकुलता का अनुभव होता हो, धार्मिक क्रियाओं में हानि पहुँचती हो एवं शारीरिक क्रियाएँ करने में असमर्थता अनुभव होती हों तो वह तप भी निषिद्ध है। इसके लिये कहा है—

बलं थामं च पेहाए सद्धामारोग्गमप्पणो।
खेत्तं कालं च विन्नाय तहप्पाणं निजुजए॥[2]

—बल, शक्ति, श्रद्धा, स्वास्थ्य, द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि का विचार करके अपने शरीर को तप आदि क्रियाओं में लगाना चाहिये।

उक्त कथन का यह अर्थ है कि तप तो करना चाहिये, किन्तु उसमें आन्तरिक समता में किसी भी प्रकार से विघ्न नहीं आना चाहिये। आहार छोड़ दिया, लेकिन मानसिक शान्ति न रह सकी तो वह सिर्फ भूखे मरना कहलायेगा, तप का आनन्द और लाभ नहीं मिलेगा।

---

१. उत्तराध्ययन २९।३६
२. दशवैकालिक ८।३५

अनशन का दूसरा नाम उपवास है। यदि उपवास शब्द के अर्थ पर विचार करें तो उससे समता भावना में स्थिर होने का आशय निकलता है। जैसे उप-समीप और वास-रहना। अर्थात् आत्मा के समीप निवास करना। ज्ञान, दर्शन, आनन्द स्वरूप आत्मा मे स्थिर होना, इसी का अनुभव करना। आत्मा मे स्थित वही हो सकता है, आत्मा का अनुभव वहीं कर सकता है जो समभाव रखता है जो **'समभावभावियप्पा'** – समभाव से भावित आत्मा है, जो राग, द्वेष आदि विषम भावों से दूर रहता है।

ऊनोदरी

बाह्य तप का दूसरा भेद है—ऊनोदरी। जिसका अर्थ है—

ऊन—कम और उदरी—पेट,

अर्थात् भूख से कम खाना। प्रत्येक प्राणी पेट वाला है और भूख का अनुभव सबसे पहले पेट को होता है। अतः भूख से कम खाना, पेट को कुछ खाली रखना ऊनोदरी तप है।

भूख से अधिक खाना, पेट को ठूँस-ठूँस कर भरना रोग का घर है तो भूख से कम खाना स्वास्थ्य का नियम है। इससे स्वास्थ्य की रक्षा होने के साथ-साथ मानसिक स्वास्थ्य भी ठीक रहता है। मानसिक संयम सबल बनता है और इन्द्रियो की असद्वृत्ति मे संकोच आता है। मुख्य रूप मे जिह्वा की तो कसौटी ही होती है कि स्वादिष्ट भोजन सामने रखा है, लेकिन उसमें से परि-मित खाना बड़ा कठिन है। इसीलिये कहा जाता है कि उपवास करना सरल है, लेकिन भूख से कम खाना कठिन है। लेकिन जो खाद्य-संयम रखते हैं उनके लिये यह अति सरल भी है।

यह ऊनोदरी तप संयम का सोपान है तो स्वास्थ्य व विवेक का भी लक्षण है। इसका पालन रोगी, भोगी, योगी, बाल, युवा, वृद्ध सभी प्रकार के व्यक्ति कर सकते हैं तथा उपवास करने में सहायक है। इसीलिए ऊनोदरी को तप के दूसरे स्थान पर रखा है।

कम खाना बुद्धिमानी का लक्षण है। योगी दिन में एक बार खाता है, भोगी दो बार और रोगी बार-बार। बार-बार खाना, स्वस्थता का लक्षण नहीं है। दिन भर भेड़-बकरी की तरह चरते रहना, मनुष्य को रोगी बनाता है। आज के स्वास्थ्य विशेषज्ञ तो कहते है—नाश्ता भी नाश करता है स्वास्थ्य के लिये। उनका कहना है, पेट जितना हल्का रहे और इसे जितना कम श्रम करना पड़े मनुष्य उतना ही स्वस्थ और सबल रहेगा।

ऊनोदरी से सिर्फ जिह्वा-संयम की साधना ही नहीं होती है, किन्तु इसी प्रकार वस्त्र, पात्र आदि अन्य भोग-उपभोग की वस्तुओं को भी न्यून रखने से उन इन्द्रियों का संयम भी पाला जा सकता है। आज के युग में महंगाई पर काबू पाने का यही एक उपाय है कि कम से कम वस्तुओं में जीवन निर्वाह करना। सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से भी यह लाभप्रद है तथा आत्मनिग्रह से संयम की वृद्धि हो सकती है।

भिक्षाचरी

इसका सम्बन्ध विशेषतया मुनि जीवन से है। मुनि शुद्ध और निर्दोष आहार प्राप्त करने के लिए अनेक घरों से भिक्षावृत्ति द्वारा भोजन लेकर शरीर का निर्वाह करते हैं। इस वृत्ति से मान का शमन होने तथा इन्द्रियों की वृत्ति-का दमन होने से समता भाव में अधिक वृद्धि होती है। भिक्षा द्वारा आहार की गवेषणा करने में भी साधु विविध प्रकार के अभिग्रहों (प्रतिज्ञाओं) द्वारा आहार आदि के प्रति आकर्षण में कमी लाते हैं और रुचि के अनुकूल नहीं होने पर भी रूखा-सूखा जैसा भी आहार मिलता है उसे समभावपूर्वक खाते हैं।

रस-परित्याग

रस का अर्थ है दूध, दही, घी, तेल, मिष्ठान्न आदि विगय (विकृतियां) इनका त्याग करना और स्वाद पर विजय पाना रस परित्याग कहलाता है। व्यक्ति का भूख से अधिक खाने का कारण स्वादलोलुपता है। स्वास्थ्य रक्षा के लिए सात्विक भोजन आवश्यक है, लेकिन चटपटे, मसालेदार, मीठे भोजन को देखकर बिना भूख के भी खाते जाते हैं। जिससे अनेक प्रकार की बीमारी हो जाने से मनुष्य की असमय में मृत्यु हो जाती है या डाक्टरों के पास बार-बार दौड़ना पड़ता है। इस पर विजय पाने से शारीरिक, मानसिक और आत्मिक स्वास्थ्य ठीक रहता है और मनुष्य पवित्र विचारों से युक्त होकर सोचता है कि हम खाने के लिए नहीं जी रहे है, वरन् अधिक से अधिक अच्छे कार्य करके दूसरों की भलाई करने के लिए शरीर को भाड़ा दे रहे है। अगर शरीर स्वस्थ रहा तो अधिक जीवित रह कर स्व-पर कल्याण कर सकेंगे।

रसना पर संयम रखने की साधना कठिन है लेकिन जो इस पर विजय पा लेते हैं उन्हें तपस्वी कहा जाता है।

कायक्लेश

काय का अर्थ है शरीर और क्लेश का अर्थ है दुःख, वेदना, कष्ट यानी शरीर को दुःख देना, कष्ट देना कायक्लेश है। आप कहेंगे कि शरीर तो धर्म का साधन है, जब तक शरीर, इन्द्रियां स्वस्थ हैं, तभी तक धर्म साधना अच्छी

तरह से हो सकती है। अतः उसको कष्ट में डालना तप कैसे कहलाता है? इसका उत्तर तीन प्रकार से दिया जा सकता है।

(१) पहली बात तो यह है कि शरीर को जितना भी सुख के साधनों के बीच रखा जाएगा, उतना ही वह कमजोर होता जायेगा। छोटी-मोटी बीमारी या संकट के समय कष्ट सहने की क्षमता नहीं रहेगी और कष्ट-सहिष्णुता के अभाव में जीवन का विकास नहीं हो सकता है।

(२) दूसरी बात यह है कि शरीर जड है। क्षणभंगुर है और हर प्रकार से शरीर की रक्षा करने पर भी इसे छोड़ना पड़ेगा, अतः आत्म-विकास के लिये इसका अधिक से अधिक उपयोग करने का ध्यान रखना चाहिए। इसीलिये आत्मशुद्धि के लिये शरीर को कसना पड़ता है।

(३) तीसरी बात जो सबसे मुख्य है, वह है कि आत्मा और शरीर दो भिन्न तत्त्व है। शरीर जड़ है और आत्मा चेतन। दोनों का कर्म के द्वारा संयोग हो रहा है। संसारी जीव के लिये शरीर आधार है और जीव आधेय! जैसे कि दूध, घी आदि का आधार वर्तन है, जब घी या दूध को गरम करना पड़ता है तो उसे बर्तन में रखते है। बिना बर्तन के गर्म नहीं हो सकता है। इसी प्रकार से आत्मा को तपाने के लिए शरीर को भी कष्टों की अग्नि में तपाना पड़ता है। बिना शरीर को तपाये संसारी आत्मा शुद्ध नहीं हो सकती है और हमारा लक्ष्य तो आत्मा को कर्म मल से शुद्ध बनाना है। इसीलिए भूख प्यास, ध्यान-आसन आदि के द्वारा शरीर को क्लेश पहुंचाते हैं, जिससे कि आत्मा शुद्ध बने। इसी आध्यात्मिक दृष्टि के आधार पर काय क्लेश तप का विधान किया गया है। विवेकपूर्वक लक्ष्य सिद्धि के लिये, संयम और समता की साधना के लिए शरीर को कष्ट देना तप है। किन्तु अज्ञानपूर्वक लोकरंजन के लिए देह-दमन करना तप नहीं कहलाता।

प्रतिसंलीनता

यह बाह्य तप का अन्तिम छठा भेद है। संलीनता का अर्थ है संकोच; निग्रह और लीनता, इसका यह अर्थ हुआ कि असद्‌वृत्तियों में इन्द्रियों को संकुचित करना, हटाना, मन, का निग्रह करना और सद्‌वृत्तियों में इन्हें लीन रखना, प्रवृत्त करना और आत्म-रमणता का अभ्यास करना।

प्रतिसंलीनता तप के मुख्य चार भेद है—

१. **इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता**—आँख, कान आदि पाँचों इन्द्रियों को उनके मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयों की ओर न जाने देना, उसमें राग, द्वेष न करना और यदि ये विषय इन्द्रियों के समक्ष आ भी जाय तो विकल्पों से मुक्त होकर समभाव रखना। यानि इन्द्रियों को विषयाभिमुख न होने देना।

२. **कषाय-प्रतिसंलीनता**—क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों का निग्रह करना। यदि कषायों की उत्पत्ति हो गई हो तो वैसे कारण मिल गये हो तो विवेक के द्वारा उनका शमन करना और मन को चिन्तन द्वारा शुभ विचारों की ओर मोड़ देना।

३. **योग प्रतिसंलीनता**—मन, वचन एवं शरीर को योग कहते है। इन्हें अशुभ की ओर से निवृत्त कर शुभ में प्रवृत्त करना। मौन रहना, सेवा, वैय्यावृत्य, स्वाध्याय आदि में लगा देना।

४. **विविक्त शैयासन सेवना**—ऐसे एकान्त स्थान पर रहना जहां काम, क्रोध आदि विकारों को उत्तेजना न मिले और संयम में बाधा न हो।

इस प्रकार से बाह्य तप के यह छह भेद है।

आभ्यन्तर तप

आभ्यन्तर तप का अर्थ है—जिस तप साधना में शरीर की अपेक्षा मन और आत्मा की वृत्तियों का सम्बन्ध हो। इसका रूप बाहर में कुछ नहीं दिखाई देता। कायिक कष्ट भी कम होता है, लेकिन मानसिक परिणामों को उज्ज्वल व सरल बनाता है। इसीलिये इसे आभ्यन्तर तप कहा है।

बाह्य तप और आभ्यन्तर तप दोनों का साधना में समान स्थान है। क्योंकि आत्मशुद्धि के लिये जैसे उपवास, स्वादवर्जन, कष्ट सहिष्णुता जरूरी है, वैसे ही विनय, सेवा, स्वाध्याय, ध्यान की भी साधना करनी चाहिये। साथ ही दोनों का अस्तित्व एक दूसरे पर आश्रित है अतः एक दूसरे के पूरक है। बाह्य तप से आभ्यन्तर तप पुष्ट बनता है और आभ्यन्तर तप से अनशन ऊनोदरी आदि बाह्य तपों की साधना सहज रूप से होती रहती है।

आभ्यन्तर तप के भी बाह्य तप के समान छह भेद है। जिनका आशय निम्न प्रकार है—

प्रायश्चित्त

दोष की शुद्धि करना प्रायश्चित्त कहलाता है। प्रमाद या अज्ञान वश भूल हो जाने पर उसके लिये ग्लानि या पश्चात्ताप करना कठिन होता है। लेकिन भूल के प्रति पश्चात्ताप करने से जीवन में प्रमाद व पाप होना कम हो जाता है और पुनः उस गलती को दुहराया नहीं जाता है और पवित्र भावो का विकास होता है। प्रायश्चित्त करने की भावना अन्तरंग में पैदा होती है और आत्म-निरीक्षण द्वारा सबल बनती है और आत्मा की शुद्धि होती है इसीलिए प्रायश्चित्त को आभ्यन्तर तप माना है।

प्रतिदिन प्रतिक्रमण करते समय 'मिच्छामि दुक्कड' बोला जाता है, इसमें भी पाप के प्रति पश्चाताप का भाव ध्वनित होता है।

विनय

विनय अर्थात नम्रता, अनुशासन-बद्धता। गुरुजनों के प्रति विनम्र भाव रखना, उनका अनुशासन मानना और अपने से छोटों के प्रति वात्सल्य भाव रखना विनय है। विनय मन की वृत्ति है। स्वभावतः विनयी व्यक्ति सदाचारी, सरल व शालीन होता है। विनय के अनेक भेद हैं जिनमें ज्ञान विनय आदि अधिक प्रसिद्ध है। विनय के महत्त्व को बतलाते हुये कहा है—

धम्मस विणओ मूलं, परमो से मोक्खो।[1]

धर्म का मूल विनय है और उसका फल मोक्ष है। यानी विनय श्रेष्ठ धर्म है।

विनय तप का पालन करना बहुत ही सरल है। प्रत्येक व्यक्ति गुरुजनों माता पिता आदि के प्रति नम्र रहे और उनके अनुशासन को माने तो वह स्वयं में एक प्रकार का उत्साह पायेगा और दूसरों से सम्मान प्राप्त करेगा। लेकिन जो मन से विनम्र न हों और ऊपर से विनय का प्रदर्शन करते हैं वे मायावी है, और लोगों की नजर में चापलूस माने जाते है।

वैयावृत्य

इसका अर्थ है सेवा करना। सेवा करना बड़ा कठिन माना है—

सेवा धर्मो परम गहनो योगिनामप्यगम्यो।

सेवा लोक दिखावे के लिये नही की जाती है, किन्तु उसमें समर्पण की भावना होती है। अपनी सभी सुख सुविधाओं का त्याग करना पड़ता है। सेवा (वैयावृत्य) करने से कर्मो की निर्जरा होती है। जैनागमों में तो सेवा की महानता बतलाने के लिये कहा है—

वैयावच्चेणं तित्थयरनामगोत्तं कम्मं निबंधइ।[2]

वैयावृत्य करने से तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म की प्राप्ति होती है।

सच्चे सेवक के मन मे छोटे बड़े, अपने पराये की भावना नही होती है। वह तो जरूरतमंद को ध्यान में रखकर अपने दुख दूर करने के लिये तन, मन, धन सभी कुछ अर्पित कर देता है। सेवा के अनेक रूप है और उसमें कोई भेद नहीं होता है। फिर भी पात्र की अपेक्षा से आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष

१. दशवैकालिक ९।२।२
२. उत्तराध्ययन २९।४४

(नवदीक्षित) ग्लान (रोगी), गण, कुल, संघ, साधु और साधर्मिक व्यक्तियों की सेवा करना ये वैयावृत्य के दस भेद कहे गये।[1]

स्वाध्याय

सत्शास्त्रों का विधिपूर्वक अध्ययन करना स्वाध्याय कहलाता है। अध्ययन करने से मन एकाग्र होता है, उसकी असत्प्रवृत्ति रुकती है और ज्ञान का विकास होता है। हम देखते हैं कि बालक की बुद्धि का विकास करने के लिगे बाल्यकाल से ही उस की प्रवृत्ति पढ़ने की ओर मोड़ते हैं। जिससे अवस्था के अनुसार उसके ज्ञान का विकास होता जाता है और वह अनेक विषयों का पारंगत भी बन जाता है। इसीलिये शास्त्रों में स्वाध्याय को ज्ञानावरण कर्म के क्षय का कारण कहा है—

सज्झाएणं णाणावरणिज्जं कम्मं खवेई।[2]

वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा ये स्वाध्याय के पाँच प्रकार हैं। इन सब की विशद विवेचना स्वतन्त्र रूप से कभी की जायेगी लेकिन सामान्य तौर पर इनका अर्थ है—

वाचना—किसी ग्रन्थ या पुस्तक को बाँचते रहना।

पृच्छना—विशेष ज्ञान प्राप्ति के लिये बार-बार पूछना।

परिवर्तना—अध्ययन को सबल बनाने के लिये बार-बार दुहराना।

अनुप्रेक्षा—अभ्यास को स्थायी रखने के लिये चिन्तन करते रहना।

धर्मकथा—जो कुछ समझा है उसका दूसरों को भी ज्ञान कराने के लिये सुनाना।

ध्यान

चित्त को किसी भी विषय पर एकाग्र, केन्द्रित करना ध्यान है। मन सदैव गतिशील रहता है, ऐसा कोई भी क्षण नहीं जब मन विचारों के ताने-बाने में उलझा हुआ न हो। कभी शुभ विचारों की ओर बढ़ता है तो कभी अशुभ विचारों की ओर। इसके उदाहरण है प्रसन्नचन्द्रराजर्षि, जो मन के संकल्प-विकल्पों के कारण काल करने पर सातवें नरक भी जा सकते थे और विचारों के बदलते ही केवलज्ञानी बन गये। इसीलिये मन के बारे में कहा—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

तो इस मन के प्रवाह को अशुभ से हटाकर शुभ विचारों की ओर अग्रसर कर किसी विषय पर केन्द्रित करना ध्यान कहलाता है। इससे आत्मबल का

---

१. तत्वार्थसूत्र ९।२२

२. उत्तराध्ययन २९।१९

विकास होता है और मन समाधिस्थ होने लगता है। सामान्यतः ध्यान के चार भेद हैं—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। इनमें से आदि के दो ध्यान अशुभ होने से संसार के कारण हैं और अन्त के दो ध्यान शुभ है; मोक्ष के साधन हैं।

व्युत्सर्ग

वि और उत्सर्ग यह दो शब्द इसमें जुड़े हुए है। जिनका अर्थ होता है— वि—विधि पूर्वक और उत्सर्ग—त्यागना। अर्थात् पर पदार्थों के प्रति आसक्ति का व आत्मविकारों के परिहार के लिये अभ्यास करना। इस तप का आराधक इतना मोहरहित बन जाता है कि उसे अपने शरीर के प्रति भी ध्यान नहीं रहता है। इसीलिये कुछ ग्रन्थों में व्युत्सर्ग का दूसरा नाम कायोत्सर्ग भी कहा है। हम नाम की अपेक्षा इसके अर्थ को समझें कि व्युत्सर्ग तप में लीन पाषाण-प्रतिमावत होकर दंश-मशक आदि के परिषहों में और दुष्ट जनों द्वारा प्रहार होने पर भी निराकुल भाव से आत्मस्थ रहता है और साधना में दृढ़ता बढ़ने के साथ साधक परमसहिष्णुता को प्राप्त कर लेता है। देहासक्ति से सर्वथा-विमुक्त होने के अभ्यास में सहायक होने से व्युत्सर्ग को तप माना है।

उपसंहार

इस प्रकार निर्जरा भावना में निर्जरा के स्वरूप, लक्षण और उसके साधनों पर बार-बार चिन्तन-मनन करते रहना चाहिए। इस चिन्तन से आत्मा में तप के प्रति, दान एवं शील के प्रति आकर्षण बढ़ता है, हृदय में तप करने की भावना जगती है, तप करने की शक्ति भी अन्तर में जागृत होती है, और आत्मा जब उस पर आगे बढ़ता है तो कर्म दलिकों को क्षीण कर परम विशुद्धि की ओर बढ़ जाता है।



१०. धर्म भावना

संवर एवं निर्जरा—धर्म के मुख्य स्रोत हैं। ऐसा भी कह सकते है—धर्म उभयात्मक है—संवर रूप धर्म एवं निर्जरा रूप धर्म। धर्म के इन दोनों स्वरूप का वर्णन संवर भावना एवं निर्जरा भावना के अन्तर्गत आ गया है। वैसे धर्म का परिवार इतना विस्तृत है कि विविध प्रकारों से, विविध अपेक्षाओं और दृष्टियों से यदि उस पर चिन्तन किया जाय तब भी उसकी गहराई और व्यापकता को नाप पाना कठिन है। धर्म-परिवार की अनेक प्रासंगिक बातों पर विचार करने के लिए संवर-निर्जरा भावना के पश्चात् धर्म भावना बताई गई है। जिन विषयों पर वहां चिन्तन नहीं किया गया, उन्हें धर्म भावना में लिया जायेगा।

धर्म का अर्थ

'धर्म' शब्द संसार में इतना व्यापक और इतना प्रिय शब्द है कि 'धर्म' कहते ही लोग उसका अर्थ समझ लेते हैं। जैसे मां शब्द बोलने पर उसकी परिभाषा करने की जरूरत नहीं रहती कि मां किसे कहते है, उसी प्रकार धर्म शब्द है। इतनी व्यापकता में जहां वह अत्यधिक लोकप्रिय हुआ है, वहां धर्म के विषय में अनेक भ्रांत धारणाएं और असंगत मान्यताएं भी पनप गई हैं। अज्ञानवश, अन्धविश्वास एवं कुसंगति के कारण लोगों ने धर्म जैसे पवित्र शब्द के साथ अनेक गलत-सलत अपवित्र मान्यताएं जोड़ दी, इस कारण आज के समय में धर्म शब्द का सही अर्थ व लक्षण समझना बहुत जरूरी हो गया है।

धर्म शब्द का अर्थ करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

दुर्गति-प्रपतद् प्राणी-धारणाद् धर्म उच्यते।[1]

दुर्गति में गिरते हुए प्राणी को धारण करने वाला तत्त्व धर्म कहा जाता है।

महाकवि वाल्मीकी ने भी धर्म की यही परिभाषा की है—

धारणाद् धर्म इत्याहुः धर्मेण विधृताः प्रजाः।[2]

---

१. योगशास्त्र २।११

२. वाल्मीकि रामायण ७।५९ प्रक्षेप २।७०

धारण करने के कारण ही धर्म को धर्म कहते है, धर्म के द्वारा सारी प्रजा, समस्त जगत अपने-अपने स्थान पर ठहरा हुआ है।

इन परिभाषाओं मे यह स्पष्ट हो जाता है कि संसार में धर्म ही एक ऐसा तत्त्व है, जो विश्व का आधार बन सकता है। समस्त विश्वस्थिति का, प्राणि-मात्र की जीवन-स्थिति का आधार भूत तत्त्व यदि कोई है तो वह धर्म ही है। धर्म के कारण मनुष्य अपनी स्थिति में चल रहा है, पृथ्वी अपनी धुरी पर स्थिर है, सूर्य अपने मंडल में गतिशील है, पवन चल रहा है, अग्नि जल रही है। समय पर ऋतुएं अपना-अपना प्रभाव दिखाती हैं, इन सबका कारण—आधारभूत तत्त्व धर्म है। कवि ने कहा है—

> यस्य प्रभावादिह पुष्पदन्तौ,
> विश्वोपकाराय सदोदयेते।
> ग्रीष्मोष्मभीष्मा मुदितस्तडित्वान्,
> काले समाश्वासयति क्षितिं च॥[1]

जिसके प्रभाव से जगत के उपकार के लिए सूर्य और चन्द्र समय पर उदित होकर प्रकाश देते है, ग्रीष्मऋतु की भीष्म निदाघ से सतप्त जगत को समय पर बादल जलवर्षा कर पृथ्वी को शीतलता और शाति प्रदान करते है, वह परम पवित्र प्रभावशाली तत्त्व क्या है ? वह है धर्म।

तो धर्म को विश्व स्थिति का आधारभूत माना गया है। जैन आचार्य कार्तिकेय ने तो वस्तु मात्र के स्वभाव को ही धर्म शब्द द्वारा व्यक्त किया है—

धम्मो वत्थुसहावो।[2]

वस्तु का स्वभाव धर्म है। अग्नि का स्वभाव उष्णता है, जल का स्वभाव शीतलता है। उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव मे स्थिर रहे यही धर्म का स्वरूप है। आत्मा का स्वभाव शुद्ध ज्योतिर्मय है। वह ज्ञान दर्शन रूप आलोक से सदा आलोकित रहे, यह आत्मा का धर्म है।

इस प्रकार धर्म की अनेक परिभाषाएँ, अनेक अर्थ हमारे सामने है। कहते हैं—आजतक संसार में धर्म की कई हजार परिभाषाएं हो चुकी हैं। किन्तु बात यह है कि परिभाषा कर देने से ही कोई वस्तु जीवन में नहीं आती और उससे लाभ नहीं होता। धर्म जब जीवन में उतरे तभी उसका लाभ होगा।

गांधी जी से किसी ने पूछा—आपका धर्म क्या है ?

---

१. शांतसुधारस धर्मभावना ३
२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४७७

गांधी जी ने उत्तर दिया—"मोक्ष की ओर ले जाने वाला और संयम की शिक्षा देने वाला शास्त्र ही मेरा धर्म है।" तो मुख्य बात है धर्म का जीवन में संयम के रूप में आचरण हो। तभी धर्म अपना शुभ चमत्कार दिखाता है। इसलिए महाभारत में धर्म को आचारलक्षण बताया है—

आचारलक्षणो धर्मः।[1]

धर्म का लक्षण है—आचार अर्थात् सच्चरित्र।

इसी प्रकार—अहिंसा लक्षणो धर्मः—भी कहा गया है जिसमें जीवमात्र के प्रति करुणा और प्रेम की उत्कट भावना हो, वह धर्म है।

धर्म का स्वरूप

सदाचार और अहिंसा को धर्म का लक्षण बताया तो प्रश्न होता है, क्या इतना ही धर्म है? वास्तव में संक्षेप और विस्तार दोनों ही शैलियों से धर्म के विषय में चिन्तन किया गया है। संक्षेप में सदाचार या अहिंसा में ही धर्म का समग्र तत्व समा गया है। विस्तार से अगर समझना चाहें तो लीजिए! आगमों के आलोक में विविध शैलियों के द्वारा धर्म का स्वरूप समझा जा सकता है। धर्म के दो रूप बताते हुए कहा है—

दुविहे धम्मे—
सुयधम्मे चेव चरित्तधम्मे चेव।[2]

धर्म के दो प्रकार है—श्रुत धर्म और चारित्र धर्म!

श्रुत का अर्थ है—ज्ञान! और चारित्र का अर्थ है—आचार! आचार के पहले विचार, क्रिया के पहले ज्ञान होना जरूरी है। जिस ग्राम को हमें जाना है, उस ओर बढ़ने से पहले उस ग्राम का मार्ग जान लेना बहुत ही जरूरी है, वरना भटकते रहेंगे, मंजिल पर नहीं पहुंचेंगे। इसलिये जीवन में क्या आचार पालना, कैसी क्रिया करना इसका पहले ज्ञान होना चाहिए। **पढमं नाणं तओ दया** पहले जीव का ज्ञान करो, फिर उसकी दया पालो। तुम्हें जीव-अजीव का ज्ञान ही नही है तो दया कैसे पालोगे? इसलिए पहले श्रुतधर्म अर्थात् ज्ञानधर्म है, वस्तु तत्व का सम्यक् ज्ञान करना यह धर्म है, फिर प्राप्त किए हुए ज्ञान का आचरण करो। इस प्रकार दो चरणों में धर्म का समग्र रूप आता है। ध्यान रखा जाय, एक चरण से नही चला जायगा। **न हु एगचक्केण रहो पयाइ**—एक चक्के से रथ नहीं चलेगा। सिर्फ ज्ञान के सहारे मुक्ति प्राप्त करना

१. महाभारत अनुशासनपर्व १०४
२. स्थानांग ४।४।३।८

चाहो तो नहीं मिलेगी, सिर्फ चारित्र के सहारे ही सब कुछ करना चाहो तो नहीं होगा। किन्तु—

आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खो।[1]

ज्ञान और क्रिया, विद्या और आचरण दोनों के मिलने से ही मोक्ष होगा। इसलिए धर्म का यह द्वितत्वात्मक स्वरूप बताया है—श्रुतधर्म और चारित्रधर्म।

विचारात्मक धर्म है—तत्त्व की सम्यक् परीक्षा, विचारों में अनाग्रह, सहिष्णुता और प्रत्येक तत्त्व के प्रति सम्यक् विवेक।

आचारात्मक धर्म है—आत्मा की निर्मलता, जीवन व्यवहार में शुद्धता।

आचारात्मक धर्म का विस्तार करके उसके चार रूप बताये हैं—

चत्तारि धम्म दारा—
खंती मुत्ती अज्जवे मद्दवे।[2]

धर्म के चार द्वार हैं—क्षमा, संतोष, सरलता और विनय।

धर्म के दूसरे चार प्रकार और बताये हैं—

दानं च शीलं च तपश्च भावो
धर्मश्चतुर्धा जिनबांधवेन।
निरूपितो यो जगतां हिताय
स मानसे मे रमतामजस्रम्।[3]

दान, शील (ब्रह्मचर्य, सदाचार), तप और शुद्ध भावना—जगत के कल्याण के लिए विश्वबन्धु जिनेश्वरदेव ने धर्म के ये चार प्रकार बताये है।

दान का अर्थ है—वितरण, विसर्जन। आचार्य ने कहा है—**स्वपरोपकारार्थं वितरणं दानं**—अपने और अन्य के उपकार के लिए वितरण करना दान है। दान दूसरे को दिया जाता है, लेकिन यह समझने की बात है कि दान से सिर्फ दूसरे का ही नही, अपना भी उपकार होता है। वस्तु अन्य को दी जाती है किन्तु पुण्य रूप में आपका उपकार हो रहा है। इसके अनेक भेद हैं—सुपात्रदान, अभयदान, विद्यादान आदि। अभयदान को सब दानो में श्रेष्ठ बताया गया है **दाणाणसेट्ठं अभयप्पयाणं**[4] क्योंकि जीवमात्र को अभय देना, एक प्रकार का जीवनदान है, जीवन दान सबसे उत्तम दान है।

---

१. सूत्रकृतांग १।१२।११
२. स्थानांग ४।४।३८
३. शान्तसुधारस धर्मभावना १
४. सूत्रकृतांग ६।२३

शील का अर्थ ब्रह्मचर्य या सदाचार है। शील को आचार्यों ने मोक्ष का सोपान कहा है—

सीलं मोक्खस्स सोवाणं।[1]

भगवान महावीर ने तो ब्रह्मचर्य की महिमा बताते हुए यहाँ तक कह दिया है—

तं बंभं भगवंतं
जम्मि आराहियम्मि य आराहियं वयमिणं सव्वं।[2]

—वह ब्रह्मचर्य भगवान है। उसकी (ब्रह्मचर्य) की आराधना कर लेने पर सब धर्मों की आराधना स्वतः हो जाती है।

ब्रह्मचर्य की महिमा अपार है। उसकी आराधना जीवन का शृंगार है।

तप का वर्णन निर्जरा भावना में बताया जा चुका है और भाव का वर्णन तो यह चल ही रहा है। भाव के आधार पर ही तो समस्त क्रिया-कलाप सार्थक होते है। तो धर्म का यह चतुर्विध स्वरूप है।

पंचमहाव्रत धर्म

चारित्र धर्म का विस्तार करने पर उसके पांच भेद हमारे सामने आते है—

अहिंस सच्चं च अतेणगं च,
तत्तो य बंभं अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाइं,
चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विउ।[3]

विद्वान, जिन—वीतराग देव द्वारा उपदिष्ट पांच महाव्रत रूप चारित्र धर्म को स्वीकार करे। वह पंच महाव्रत हैं—

१. अहिंसा, २. सत्य, ३. अस्तेय, ४. ब्रह्मचर्य और ५. अपरिग्रह।

यह पंचमहाव्रत रूप धर्म स्वीकार करने पर आत्मा परम सुखरूप निर्वाण को प्राप्त करता है। इस धर्म को स्वीकार करने की प्रेरणा देते हुए कहा है—

ताइणा बुइए जे धम्मे अणुत्तरे
तं गिण्ह ! हियंति उत्तमं।[4]

जगत के त्राता भगवान ने जो श्रेष्ठ और अनुत्तर—लोक में उत्तम है ऐसा धर्म बताया है, उसको हितकारी समझकर स्वीकार करो ! यही धर्म—

१. शीलपाहुड २० (कुन्दकुन्दाचार्य)
२. प्रश्नव्याकरण २।४
३. उत्तराध्ययन २१।१२
४. सूत्रकृतांग २।२।२४

सुहावहं धम्मधुरं अणुत्तरं
धारेज्ज निव्वाणगुणावहं महं ।[1]

जीवन में सुखदायी है, श्रेष्ठ है और निर्वाण के गुणों को—मोक्ष सुखों को प्रदान करने वाला है, अतः इस धर्म की धुरा को धारण करो !

पाँच महाव्रत धर्म का विवेचन चारित्र की २५ भावनाओं के प्रकरण में विस्तार के साथ किया है ।

दस धर्म

धर्म के स्वरूप को और अधिक विस्तृत बनाते हुए शास्त्र में धर्म के दस भेद बताये हैं । अर्थात् धर्म के कारणभूत विविध अंगों का आचरण करने की शिक्षा दी गई है । वे दस धर्म यतिधर्म अथवा 'श्रमणधर्म' के नाम से प्रसिद्ध है—

दसविहे समणधम्मे—
खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे, लाघवे,
सच्चे, संजमे, तवे, चियाए, बंभचेरवासे ।

दस प्रकार का श्रमण धर्म है, जैसे

१. क्षमा	६. सत्य
२. मुक्ति-निर्लोभता	७. संयम
३. आर्जव-सरलता	८. तप
४. मार्दव-विनय	९. त्याग
५. लाघव-अकिंचनता	१०. ब्रह्मचर्य

वास्तव में धर्म के स्वरूप का यह विस्तार है । सत्य, संयम आदि जितने भी आत्मशुद्धि के, इन्द्रियनिग्रह के प्रकार हैं, वे सब धर्म हैं । इन सब स्वरूपों में धर्म की यही परिभाषा प्रकट होती है—**आत्मशुद्धि साधनं धर्मः** अथवा—**मोक्षोपायो धर्मः** आत्मा को शुद्ध निर्मल बनाने का जो साधन है, वह धर्म है । अथवा जिस साधना से मोक्ष की प्राप्ति हो, मोक्षप्राप्ति का जो भी उपाय है, वह धर्म है । धर्म की इस परिभाषा के अन्तर्गत जो भी क्रिया, साधना, आचरण आता है, उन सबको हम धर्म कह सकते है ।

धर्म की उत्पत्ति और आवश्यकता

यह समझ लेना चाहिए कि धर्म का जो भी स्वरूप है, वह मूलतः एक है—साधना ! साधना व्यक्तिगत होती है, उसमें व्यक्ति को आत्मनियन्त्रण, मनोनिग्रह, देहदमन एवं संयम करना पड़ता है । कोई चाहे कि मैं धन से या अपने प्रभाव

---

१. उत्तराध्ययन १९।९८

से, सत्ता या बल से धर्म को खरीद लू, दूसरों से धर्म करवा कर अपना कल्याण कर लूं या धन की तरह धर्म को भी छीन लूं—तो इन उपायों से धर्म नहीं हो सकता। धर्म के विषय में कहा है—

धर्म न बाड़ी नीपजे धर्म न हाट बिकाय।
धर्म शरीरां नीपजे जो कछु कीन्हो जाय।

धर्म की कहीं खेती नहीं होती, कहीं दुकान नहीं लगी है, कही नीलामी नहीं होती कि जाकर, पैसा देकर, जोर दिखाकर खरीद लिया जाय ! धर्म तो शरीर से ही किया जाता है। इसीलिए तो देह को धर्म का साधन माना है—

धम्मसाहण हेउस्स साहु देहस्स धारणा।[1]

—धर्म की साधना करने के लिए ही साधु देह को धारण करते है। अर्थात् धर्मसाधना का मुख्य साधन देह है।

धर्म के दूसरे साधनों की चर्चा शास्त्रों में अलग-अलग दृष्टियों से कई प्रकार की मिलती है। एक जगह बताया है—

संवेगेणं अणुत्तरं धम्मसद्धं जणयइ।[2]

संवेग (वैराग्य) से सर्वश्रेष्ठ धर्मश्रद्धा उत्पन्न होती है। अर्थात् धर्म को उत्पन्न करने के लिए वैराग्यरूप वृष्टि की आवश्यकता है। नम्रता अर्थात् विनय, अनुशासनबद्धता से भी धर्म की उत्पत्ति होती है—

धम्मस्स विणओ मूलं।[3]

विनय, नम्रता धर्म का मूल है और उसका अन्तिम रसपूर्ण फल है—मोक्ष।

एक प्राचीन आचार्य ने धर्म के बीजों की व्याख्या करते हुए बताया है—

जीवदया सच्चवयणं परधण परिवज्जणं सुशीलं च।
खंति पंचिंदिय निग्गहो य धम्मस्स मूलाइं॥[4]

जीवदया, सत्यवचन, परधन का त्याग, ब्रह्मचर्य, क्षमा, पाँच इन्द्रियों का निग्रह—ये सब धर्म के मूल है।

महाभारत में एक प्रश्न के उत्तर में बताया है—

---

१. दशवैकालिक ५।९२
२. उत्तराध्ययन २९।२
३. दशवैकालिक ९।२।२
४. दर्शनशुद्धि तत्त्व

सत्येनोत्पद्यते धर्मो दयादानाद् विवर्धते।
क्षमया स्थाप्यते धर्मः क्रोध-लोभाद् विनश्यति।[1]

—सत्य से धर्म की उत्पत्ति होती है, दया और दान से उसकी वृद्धि होती है। क्षमा रखने से धर्म जीवन में स्थिर होता है। क्रोध एवं लोभ के कारण धर्म का नाश हो जाता है।

धर्म की उत्पत्ति, वृद्धि और विनाश के ये कारण आपके सामने है, इनमें विनाश के कारणों—क्रोध, लोभ, मोह, पाप आदि से बचना है और उत्पत्ति तथा वृद्धि एव स्थिरता के उपायों का सेवन करना है।

यह निश्चित समझ लेना चाहिए कि शरीर के लिए जितनी आवश्यकता भोजन की है, उससे भी कहीं अधिक आवश्यकता जीवन के लिए धर्म की है। यदि जीवन में धर्म नहीं रहा, तो समझ लो वह प्राण बिना का शरीर है।

कहते है कि रूस की दीवारों पर यह नारा लिखा हुआ मिलता है—"धर्म मनुष्य जाति के लिए अफीम है।" इसका उद्देश्य है लोगों में धर्म के प्रति नफरत पैदा करना। वास्तव में धर्म के नाम पर जो दंभ, द्वेष, ईर्ष्या एवं झगड़े हुए है, लोगों का कत्ल हुआ है, उसी को उन लोगों ने धर्म समझ लिया। जबकि यह तो धर्म के नाम पर अधर्म, धर्म के लिबास मे साप्रदायिकता का शैतान था। धर्म तो मनुष्य को सच्चरित्र. ईमानदार और जनहितैषी बनाता है बुराई को मिटाकर भलाई सिखाता है। फ्रेंकलिन नामक विचारक ने लिखा है—"आज संसार में धर्म विद्यमान है, धर्म की विद्यमानता में भी जब इतनी बुराइयां और सत्रास पैदा हो गया है तो यदि संसार में धर्म न रहा तो उसकी क्या दशा होगी? यह कल्पना ही बड़ी भयानक है।" उक्त विचारक का यह सोचना यथार्थ है कि धर्म के रहते हुए भी मनुष्य इतनी क्रूरता सीख गया है तो उसकी अनुपस्थिति में वह क्या नही करेगा? आज आपके सामने नरक का भय है, कर्मों का भय है, बदनामी का भय है, तो आप काफी बुराइयों से बचे हुए हैं। यदि समझ लो, यह भय न रहे तो फिर क्रूर से क्रूर आचरण करते समय कौन आपको रोकेगा? कौन आपकी आत्मा को धिक्कारेगा? कविवर श्री अमीऋषि जी ने कहा है—

या जिनधर्म बिना गति जीव को, काहु भई नहीं जाय उधारी।
राचो रह्यो मन पुद्गल में अति, छाय रही घट भर्म अंधारी।
यद्यपि श्री गुरु के उपदेश-रवि किरणां न करै उजियारी।
तर्दपि सूझी करै न कभू शिव पंथ पीयूष कहै सुविचारी॥

१. महाभारत शांतिपर्व १७।१०१

धर्म का फल

जैसा कि पूर्व में बताया है कि संसार की स्थिति का मूलाधार धर्म है। धर्म के प्रताप से ही मनुष्य को समस्त सुख एवं सम्पदाएं प्राप्त होती हैं। भारतभूषण रत्नचन्द्र जी म० ने लिखा है—

येन समप्रासिद्धिविर्य्याद्धश्चापि जायते शुद्धिः।[1]

धर्म के प्रताप से ही ऋद्धि, सिद्धि और शुद्धि—तीनों वस्तुओं की प्राप्ति होती है।

ऋद्धि—भौतिक संपत्ति, यश, सत्ता आदि।

सिद्धि—अणिमा, लघिमा आदि योगजन्य सिद्धियां।

शुद्धि—आत्मा की उज्ज्वलता, निर्मल दशा।

संसारी मनुष्य ऋद्धि चाहता है, योगी लोग सिद्धि चाहते है, संत व वैरागी जन शुद्धि चाहते हैं, किन्तु इन तीनों का ही उत्पत्ति केन्द्र है—धर्म। धर्म ही एक ऐसा क्षेत्र है, ऐसी भूमि है, जिस पर रिद्धि, समृद्धि, शुद्धि, बुद्धि आदि की फसल उत्पन्न होती है। उपाध्याय विनयविजय जी ने लिखा है—

प्राज्यं राज्यं सुभगदयिता नन्दनानन्दनानां
रम्यं रूपं सरसकविता चातुरी सुस्वरत्वम्।
नीरोगत्वं गुणपरिचयः सज्जनत्वं सु बुद्धिं
किन्तु ब्रूमः फल परिणतिं धर्म कल्पद्रुमस्य।[2]

—विशाल साम्राज्य, सुन्दर स्त्री, पुत्र, पोते, सुन्दर रूप, सरस काव्यशक्ति निपुणता-चतुरता, मीठी वाणी, आरोग्य, गुणों से प्रेम या सद्गुणों का परिचय, सज्जनता और सद्बुद्धि ये सभी धर्मरूप कल्पवृक्ष के फल है।

धर्म को कल्पवृक्ष कहा गया है। कल्पवृक्ष के सामने जो भी कामना करो, वह पूर्ण करता है, इसी प्रकार धर्म के द्वारा मनुष्य की समस्त कामनायें पूर्ण होती है। आचार्य समंतभद्र ने तो इससे भी बढ़कर एक बात कही है—

संकल्प्य कल्पवृक्षस्य चिन्त्यं चिन्तामणेरपि।
असंकल्प्यमसंचिन्त्यं फलं धर्मादवाप्यते॥[3]

—कल्पवृक्ष से फल कब मिलता है? जब उसके सामने संकल्प करो! इच्छा करो! चिन्तमणि कब मनोकामना पूर्ण करता है? जब उसके सामने चिन्तन किया जाय। उनसे तो संकल्पित और चिन्तित फल की ही प्राप्ति होती है,

१. भावनाशतक ६०
२. शान्तसुधारस धर्मभावना
३. आत्मानुशासन २२

किन्तु धर्म से तो असंकल्प्य और अचिन्त्य फल की प्राप्ति होती है। धर्म रूप कल्पवृक्ष भौतिक कल्पवृक्ष से भी बढ़कर है।

धर्मभावना की फलश्रुति

धर्म भावना की फलश्रुति यही है कि हम धर्म के इस शुद्ध स्वरूप का चिन्तन करें। उसके विविध साधना मार्गों का ज्ञान प्राप्त करें और यह समझें जैसे पाथेय (भाता) साथ में लेकर लम्बे सफर में जाने वाला व्यक्ति मार्ग में भूख और प्यास के दुख से मुक्त रहकर सुखपूर्वक अपनी यात्रा करता है, वैसे ही—

एवं धम्मंपि काऊणं जो गच्छइ परं भवं।
गच्छन्तो सो सुही होइ, अप्पकम्मे अवेयणे।[1]

—जो व्यक्ति धर्म साधना करके, परभव में जाता है, उसके कर्म अल्प रहते है इसलिए उसकी वेदना भी कम होती है और सुखपूर्वक परलोक की यात्रा करता है।

धर्म साधना के इस स्वरूप और फल का चिन्तन करते हुए धर्म में दृढ़ श्रद्धा और आचरण में धर्म को साकार करते हुए हम आत्मा को इहलोक परलोक में सुखी बनाने की प्रयत्न करे।



१. उत्तराध्ययन १९।२१-२२

११. लोक भावना

धर्म भावना में धर्म की उपादेयता, आत्म-उत्थान के लिए धर्म की अनिवार्यता एवं उत्तम सुखों की प्राप्ति के रूप में धर्म फलों का चिन्तन किया गया है। लेकिन **'न धर्मो धार्मिकैर्विना**, धर्म की साधना साधकों के बिना नहीं हो सकती है और धर्म की साधना वही करेगा जो सुख प्राप्ति का इच्छुक है। यह शक्ति जीवों के अतिरिक्त जड़ पदार्थों में सम्भव नहीं है। जीवों को भी हम अनेक रूपों में देखते है। कोई मानवतनधारी है तो कोई देव, नारक, तिर्यंचयोनि में विद्यमान है। सभी धर्म साधना करना चाहते हैं, लेकिन देव और नारक अपने प्राप्त का भोग करने के अतिरिक्त उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विकास के लिए प्रयत्न करने में अक्षम हैं। अपने पूर्व-कृत कर्मों के अनुरूप ही प्रवृत्ति करने में निमग्न हैं, उन्हें अवसर ही नहीं और चिंतन नहीं कर पाते कि वर्तमान की अपेक्षा भविष्य को विकासोन्मुखी बनायें। तिर्यंचों में कुछ धर्म-चेतना के विकास का अवकाश है, लेकिन वे भी एक निश्चित सीमा से आगे नहीं बढ़ पाते है। मनुष्य सब जीवों में श्रेष्ठ है, मनुष्य में धर्म साधना की पूर्णरूपता है, वह अपनी पारिणमिक विशेषताओं और सामर्थ्य के फलस्वरूप धर्म साधना का प्रमुख अधिकारी है।

ये सभी प्राणधारी लोक मे रहते है। अशुद्ध अवस्थाओं मे भी लोक में रह रहे हैं और पूर्ण शुद्ध होने के अनन्तर भी लोक में रहेंगे। इनके आवास, आत्मविकास की आधारभूमि लोक है, अतः लोक का स्वरूप, आकार-प्रकार क्या है? उसकी रचना के मूल तत्व क्या हैं? शाश्वत है या अशाश्वत, नित्य या अनित्य आदि का ज्ञान कराने के लिए धर्म भावना के अनन्तर लोक भावना का चिंतन किया जा रहा है।

लोक—स्वरूप के चिन्तन का अर्थ यह नहीं है कि हम लोक के झमेलों में पड़ें, या व्यर्थ ही लोक चिन्ता करें। किन्तु लोक का अर्थ है—जीव समूह और उनके रहने का स्थान। जिसमें हम भी एक हैं। जैसे एक घर में रहने वाला सदस्य अपने घर के सम्बन्ध में विचार करता है, उसके आधार व उत्थान आदि के सम्बन्ध में चिन्तन करता है, वैसे ही मनुष्य इस लोकगृह का एक सदस्य है। अन्य जीव समूहों के साथ उसका भी यहां दायित्व है और

वह यह भी देख सकता है कि जो जीव धर्म का आचरण करते हैं वे लोक में किस प्रकार सुखी होते हैं, किस प्रकार उच्च जाति, कुल आदि में जन्म लेते है और जो जीव अधर्म-आचरण करते हैं वे निगोद एवं नरक आदि दुर्गतियों को प्राप्त कर किस प्रकार के कष्ट पाते हैं।

लोकस्वरूप का चिन्तन वही करता है, जिसे लोक पर, चतुर्गति रूप संसार पर विश्वास होता है, जो यह मानता है कि आगे परलोक है, जहाँ मेरे शुभ-अशुभ कर्मों का फल अवश्य मिलेगा। इसलिये भगवान महावीर ने कहा है—आध्यात्मिक विकास चाहने वाला आत्मा व लोक का अपलाप नहीं करेगा।

जे लोगं अब्भाइक्खति से अत्ताणं अब्भाइक्खति।
जे अत्ताणं अब्भाइक्खति से लोगं अब्भाइक्खति।।[1]

जो लोग अर्थात् जीवसमूह का अपलाप करता है, उसके विषय में शंका एवं असत्य प्ररूपणा करता है वह वास्तव में ही अपने, अपनी आत्मा के विषय मे शंका एवं अपलाप करता है। जो अपनी आत्मा का अपलाप करता है, वह लोक में अन्य जीव समूहों का भी अपलाप करता है।

जिसे अपनी आत्मा पर श्रद्धा है, वह लोक पर श्रद्धा अवश्य करेगा। जो अपनी आत्मा पर विचार करता है वह लोक के स्वरूप पर भी अवश्य विचार करेगा। भगवती सूत्र में प्रसंग आता है—जब स्कन्धक संन्यासी भगवान महावीर के समवसरण में आता है तो अन्य प्रश्नो के साथ ही वह लोक के सम्बन्ध में भी अनेक प्रश्न करता है, वह पूछता है—भंते! यह लोक सान्त है या अनन्त? —"**किं स अंते लोए अणंते लोए**"[2]

लोक और जीव के सम्बन्ध में उसने यह गम्भीर प्रश्न पूछा है और समाधान पाकर भगवान का धर्म स्वीकार कर तपःसाधना मे लगता है।

तो लोकस्वरूप का चिन्तन हमे आत्मचिन्तन की ओर मोड़ता है, आत्माभिमुख करता है। सूत्रकृताग में इसीलिए साधकों को स्पष्ट निर्देश दिया गया है—

नत्थि लोए अलोए वा नेव सन्नं निवेसए।
अत्थि लोए अलोए वा एवं सन्नं निवेसए।।[3]

—यह संज्ञा-श्रद्धा या विश्वास मत करो कि लोक और अलोक नही है।

---

१. आचारांग १।१।३

२. भगवती सूत्र २।१

३. सूत्रकृतांग श्रु० २१ अ० ५ गा० १२

किन्तु यह विश्वास करो कि लोक है, अलोक है। लोक में जीव है, अजीव है, धर्म-अधर्म-आकाश आदि द्रव्य हैं। पुण्य-पाप, बंध-मोक्ष है।

यह लोक-श्रद्धा अर्थात् लोक-स्वरूप का विश्वास आत्मा को वैराग्य और निर्वेद की ओर उन्मुख करता है, इसलिए लोक-भावना में लोक स्वरूप का विचार किया जाता है।

लोक की परिभाषा

सभी प्रकार के पदार्थ—चाहे वे जड़ या चेतन, दृश्यमान या अदृश्यमान, सूक्ष्म या स्थूल, स्थावर या जंगम आदि किसी भी रूप में हों—जहाँ देखे जाते हैं अथवा जहाँ जीव अपने सुख-दुःख रूप से पुण्य-पाप का फल वेदन करते हैं उसे लोक कहते है। पदार्थ में होने वाली प्रत्येक क्रिया अथवा पदार्थ द्वारा की जाने वाली प्रत्येक क्रिया लोक में होती है, लोक के सिवाय अन्यत्र उनका अस्तित्व नहीं है। अतः उन सबके आश्रय-आवास स्थान को लोक कहा गया है—

भायणं सव्व दव्वाणं।[1]

— सब द्रव्यों के लिये लोक आधारभूत है। इस लोक में अनन्त जीव भी निवास कर रहे हैं और पुद्गल (जड़) भी। इनकी गति तथा स्थिति भी हो रही है और अवस्था से अवस्थान्तर होते हुये भी अपने मूल गुण-धर्मात्मक अस्तित्व को बनाए हुए हैं। ऐसा कभी नहीं होता है कि जड़ चेतन हो गया हो या चेतन जड़, मूर्त अमूर्त हो गया हो या अमूर्त मूर्त। सभी पदार्थ अपने अस्तित्व की अभिव्यक्ति के स्वयं कारण है और उनके द्वारा होने वाला कार्य भी स्वयं उनका है।

इन सब दृष्टियों को ध्यान में रखते हुए जैन सिद्धान्त में लोक स्वरूप का वर्णन किया है—

धम्मो अहम्मो आगासं कालो पुग्गल-जन्तवो।
एस लोगो त्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं॥[2]

—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव यह द्रव्य जहाँ पाये जाते हैं, उसे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी जिनेश्वरदेव ने लोक कहा है। अर्थात् इन छह द्रव्यों के समुच्चय को लोक कहते हैं। लोक का ऐसा कोई हिस्सा नहीं है जहाँ पर यह छह द्रव्य न हो।[3]

एक प्रश्न खड़ा होता है कि लोक का स्वरूप षड्द्रव्यात्मक क्यों है ? क्या इनके अतिरिक्त अन्य द्रव्य नहीं हैं ? तो इसका उत्तर यह है कि इस चराचर

---

१. उत्तराध्ययन २८।९ २. उत्तराध्ययन २८।७
३. लोकाकाशेऽवगाहः। —तत्त्वार्थसूत्र ५।१२

विश्व में हम दो द्रव्य—जीव और अजीव (पुद्गल) को प्रत्यक्ष देखते हैं। वे स्थिर भी दीखते हैं और गतिमान भी। यह स्थिति और गति बिना आधार एवं समय के नहीं हो सकती है। जीव और पुद्गल की गति-स्थिति आदि के कारण क्या हैं। इन कारणों की विवेचना ही लोक है और उन सब कारणों को लेकर ही छह द्रव्य माने गये है। इन छह द्रव्यों में से धर्मद्रव्य गति का सहायक कारण है और अधर्मद्रव्य स्थिति का। इस गति और स्थिति का आधार आकाश द्रव्य है और उसमें लगने वाले समय का बोधक कालद्रव्य है। यह गति-स्थिति रूप क्रिया करने वाले दो द्रव्य है—पुद्गल और जीव। जो कुछ विविधताएँ और विचित्रताएँ हम देखते है, वे सब पुद्गल और जीव द्रव्य पर आधारित हैं। इनके द्वारा लोकव्यवस्था चलती रहती है। ये द्रव्य अनादि अनन्त हैं। न तो कभी असत् से सत् की उत्पत्ति होती है और न सत् का कभी विनाश। जैनदृष्टि से लोक-व्यवस्था का यही स्वरूप है। भगवती सूत्र में गौतमस्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने बताया है—

अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ।
नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ॥[1]

अस्तित्व अर्थात् सत् सदा, सत्‌रूप में ही परिणत होता है और नास्तित्व (असत्) सदा नास्तित्व (असत्‌रूप) में।

यही बात आचार्य कुन्दकुन्द ने कही है—

भावस्स नत्थि नासो नत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।
गुणपज्जएसु भावा उप्पाय वयं पकुव्वंति।[2]

किसी भाव यानि सत् का कभी नाश नहीं होता है और न असत् की उत्पत्ति ही होती है किन्तु अपने गुणों और पर्यायों द्वारा सद्भूत पदार्थ उत्पत्ति एवं विनाश रूप होते रहते है अर्थात् उक्त धर्मादि द्रव्यों में नवीन अवस्थाओं की उत्पत्ति एवं पुरानी अवस्थाओं का विनाश होते रहने पर भी वे अपने स्वभाव का परित्याग नहीं करते है। वे पर्याय की दृष्टि से बदलते हुए भी द्रव्य की दृष्टि से अपने स्वरूप में स्थिर रहते हैं।

अन्य दार्शनिकों ने भी जैनदर्शन की इस सत्यता को माना है कि प्रत्येक द्रव्य एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था रूप में परिणमित होते रहते है। वे न तो सर्वथा नित्य हैं और न सर्वथा विनाशी, किन्तु परिणमनशील होकर नित्य हैं और परिणाम का लक्षण कहा है—

---

१. भगवती १।३

२. पंचास्तिकाय १।५०

अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः।[1]

अवस्थित द्रव्य में पूर्व धर्म का नाश होने पर धर्मान्तर की उत्पत्ति होने को परिणाम कहते हैं।

इस प्रकार से धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव इन छह द्रव्यों के समुदाय को लोक कहते हैं।

छह द्रव्यों में से आकाश सर्वत्र व्यापक है जबकि अन्य द्रव्य उसके व्याप्य है। अर्थात् आकाश धर्म आदि शेष पाच द्रव्यों के साथ भी रहता है और उनके अतिरिक्त उनमे बाहर भी रहता है। वह अनन्त है अर्थात् कोई उसका अन्त नहीं ले सकता है। अतः आकाश के जितने भाग में छहों द्रव्य रहते हैं उसे लोक कहते हैं और लोक से अतिरिक्त शेष अनन्त आकाश अलोक कहलाता है।

यह लोक ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है, अक्षय, अव्यय एवं अवस्थित है। काल की अपेक्षा इसका कभी नाश नहीं होता, कभी उत्पन्न नहीं होता, और न कभी होगा।[2]

धर्म आदि षड्द्रव्यों के कथनक्रम की अपेक्षाएँ

लोक भावना के अन्तर्गत जब हम लोक के स्वरूप का चिन्तन करते है तो सबसे पहले हमारी चिन्तनधारा टिकती है लोक के स्वरूप पर। लोक का स्वरूप क्या है, किन-किन पदार्थों से लोक बना है, इस लोक के मूल तत्व क्या हैं, उनके गुण, धर्म क्या है? इस विषय पर चिन्तन करते हैं तो सर्व प्रथम उत्तर आता है—**षड् द्रव्यात्मको लोकः**—यह लोक छह द्रव्यों से बना है। छह द्रव्यों के नाम पीछे बताये गये हैं, अब उनके क्रम और स्वरूप का चिन्तन करते हैं :—

द्रव्य के छह भेदों के क्रमकथन के सम्बन्ध में निम्नलिखित तीन रूप देखने को मिलते हैं—

१. धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव। यह कथन-क्रम आगमकालीन है।[3]

१. पातंजल योगसूत्र ३।१३

२. कालओ णं कयाइ णासी, न कयाइ भवइ न कयाइ न भविस्सइत्ति भुवि भवइ य भविस्सइ य ध्रुव णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे।' —स्थानांग ५।३।५३०

३. उत्तराध्ययन २८।७

२. वाचकमुख्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, जीव और काल इस क्रम का अनुसरण किया है।

३ बृहद् द्रव्यसंग्रह के कर्त्ता नेमिचन्द्राचार्य ने जीव और उसके अनन्तर पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल का क्रम रखा है।

तीनों ही प्रकार के कथन में द्रव्यों के नाम समान है लेकिन आपेक्षिक दृष्टि से कथन करने से क्रम में भिन्नता प्रतीत होती है। जैसे कि आगमों में द्रव्य के अजीव और जीव इन दो मूल भेदों को ध्यान में रखकर और अजीव द्रव्यों में भी पहले अरूपी धर्म, अधर्म, आकाश और काल का कथन करके रूपी द्रव्य पुद्गल का स्थान रखा है तथा जीव द्रव्य इन सब से भिन्न है, इसके गुण धर्म पृथक् है, यह सकेत करने के लिये अजीव के पश्चात् जीव द्रव्य को स्थान दिया है।

वाचक उमास्वाति ने द्रव्यों के नामों का कथन प्रदेशापेक्षा से किया है कि धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव द्रव्य बहुप्रदेशी है और काल एकप्रदेशी है। द्रव्यसंग्रहकार ने षड्द्रव्यों मे जीव द्रव्य प्रधान है, ससार और मोक्ष का कर्त्ता, शुभाशुभ कर्म फलों का भोक्ता है, अतः उसे सर्व प्रथम माना और धर्म आदि शेष पाँच अजीव द्रव्य जीव के उपकारी होने से जीव के अनन्तर पुद्गल आदि अजीव द्रव्यों का कथन किया है। इस प्रकार आपेक्षिक दृष्टि से यह क्रम-भिन्नता देखने में आती है।

उक्त कथन क्रम में आगमिक कथन प्रामाणिक एवं वर्णनशैली में सुबोध है अतः तदनुसार द्रव्यों के लक्षण आदि का विवेचन करते है।

षड्द्रव्यों के लक्षण

धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव इन छह द्रव्यों में से आदि के पाँच द्रव्य चेतनाविहीन होने से अजीव है। अजीव के उक्त पाँच भेदों में से भी पुद्गल द्रव्य के सिवाय शेष चार द्रव्य अमूर्त है। पुद्गल द्रव्य मूर्त है। आगमों के अमूर्त के लिये अरूपी और मूर्त के लिये रूपी शब्द का उपयोग किया गया है। अरूपी और रूपी की परिभाषा क्रमशः इस प्रकार है--

जिसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श न हो और आंखों से दिखाई न दे, उसे अरूपी कहते है।

जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श हो तथा जिसके विविध प्रकार के आकार बन सकें उसे रूपी कहते है।[1]

---

१. मुत्तो रूवादि गुणो। —बृहद् द्रव्यसंग्रह गा० १५

लोक में व्याप्त उक्त जीवादि षड्द्रव्यों में से ईंट, चूना, मिट्टी, सोना चाँदी आदि जितने भी भौतिक पदार्थ और उनकी विविध अवस्थाएँ दिखलाई देती हैं वे सब रूपी हैं, लेकिन जीव द्रव्य स्वभावतः अरूपी होने पर भी जब तक अपने रागादि परिणामों के द्वारा कर्म पुद्गल वर्गणाओं को ग्रहण करता रहता है, तब तक वह रूपी भी कहलाता है और संसार में जन्म-मरण कर, नाना योनियों में भ्रमण करता है किन्तु जब अपने आध्यात्मिक विकास द्वारा कर्म-मल का निःशेष रूप से क्षय कर लेता है तब स्वाभाविक अरूपी दशा को प्राप्त कर लेता है और पुनः कभी भी रूपी अवस्था को प्राप्त नहीं होता है।

धर्म, अधर्म, आकाश और काल यह चार द्रव्य सदैव अरूपी ही रहते है। उनकी होने वाली क्रिया स्वाभाविक होती है और कभी भी विकार भाव को प्राप्त नहीं होते हैं। जबकि जीव और पुद्गल दोनों स्वाभाविक और वैभाविक (संयोगज) दोनों प्रकार की क्रिया करते है। इतना होने पर भी वे दोनों द्रव्य अपने मूल स्वभाव का कभी भी त्याग नहीं करते है। यानि न तो जीव कभी पुद्गल (अजीव) हो जाता है और न पुद्गल जीव का संयोग होने पर भी जीव बन सकता है। दोनो का मूल स्वरूप सदैव पृथक् व स्वतन्त्र रहता है।

धर्मादि षड् द्रव्यों के लक्षण क्रमशः नीचे लिखे अनुसार है।

धर्म द्रव्य

यह गति सहायक द्रव्य है। जीव और पुद्गल में गतिशीलता की शक्ति है। गमन में परिणत पुद्गल और जीव को गमन करने में जो सहकारी कारण बनता है उसे धर्म द्रव्य कहते है।[1] यह द्रव्य स्वयं गमन नही करते हुए पुद्गल और जीवों को कदापि गमन नहीं कराता है। जैसे कि मछली को गमन करने में पानी सहकारी निमित्त है, उसी प्रकार से पुद्गल और जीव द्रव्यों की हलन-चलन, गमन आदि रूप में होने वाली गति क्रिया में सहायक कारण धर्म द्रव्य है।

अधर्म द्रव्य

यह स्थिति सहायक द्रव्य है। इसका स्वभाव धर्म द्रव्य से विपरीत है। अर्थात् जिस प्रकार धर्म, पुद्गल और जीव को गति क्रिया में सहायक बनता है उसी प्रकार से अधर्म द्रव्य ठहरने की इच्छा रखने वाले अथवा ठहरे हुए पुद्गल और जीव द्रव्यों को ठहरने में सहायक बनता है।[2] जैसे कि पथिक

---

१. गई लक्खणो उ धम्मो —उत्तराध्ययन २८।९

२. अहम्मो ठाणलक्खणो —उत्तरा० २८।९

को वृक्ष की छाया। किन्तु गमन करते हुये पुद्गल और जीवों को कदापि बलात् नहीं ठहराता है।

धर्म और अधर्म इन दोनों द्रव्यों की यह विशेषता है कि पुद्गल और जीव द्रव्यों में यद्यपि गति और स्थिति करने की सामर्थ्य है और जब वे गति या स्थिति करने की प्रवृत्ति करते हैं तो ये दोनों अपने गुणानुसार उनके गमन या स्थिति में सहायक बन जाते हैं और वे भी सहकारी निमित्त के रूप में, न कि प्रेरक कारण के रूप में। जैसे कि रेलगाड़ी चलती है तो जो कोई उसका सहारा लेना चाहे, उसमें आकर बैठ जाये तो उसे वह यात्रा करा सकती है, लेकिन कोई चलना न चाहे तो रेलगाड़ी किसी को प्रेरित नहीं करती कि तुम चलो, उसका कार्य इतना ही है कि यात्री की यात्रा में सहयोगी बन जाना।

आकाश द्रव्य

यह सब पदार्थों को अवकाश--आधार-आश्रय देने वाला द्रव्य है।[1] विश्व के समस्त पदार्थ आकाश पर आश्रित है। अर्थात् जीवादि समस्त द्रव्यों को अवकाश (रहने को स्थान) देने की योग्यता जिसमें है, उसे आकाश द्रव्य कहते हैं। आकाश के दो भेद है—लोकाकाश और अलोकाकाश। यद्यपि आकाश अनन्त, असीम और अपरिमित है, फिर भी आकाश के जितने क्षेत्र में धर्मादि द्रव्य रहते है, उसे लोकाकाश और शेष आकाश को अलोकाकाश कहते है।

यद्यपि लोकाकाश और अलोकाकाश की सीमा विभाजन करने के लिये दोनों के बीच कोई रेखा खींची हुई नहीं है, तथापि एक प्राकृतिक भेद है कि धर्मादि द्रव्य जितने आकाश के क्षेत्र में रहते है उतने क्षेत्र को लोकाकाश कहते हैं और उसके अतिरिक्त शेष अनन्त आकाश अलोकाकाश कहलाता है।

आकाश में धर्मादि द्रव्यों को अवकाश देने के गुण को एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—जैसे कि एक घड़ा पानी से लबालब भरा है, उसमें इतनी भी जगह दिखलाई नहीं देती कि अन्य कोई वस्तु डालने पर उसमें समा जाए लेकिन यदि उसमें मुट्ठी भर चीनी या नमक डाल दिया जाय तो वह भी उसमें समा जाता है और पानी का स्तर भी उतना ही बना रहता है। प्रश्न होता है, घड़ा जब पानी से भरा है तो चीनी या नमक के अणुओं को समाने के लिये घड़े में स्थान कहां से आया? उत्तर है—घड़े में जल भरा है, पर उस जल में भी आकाश है, वह आकाश ही अन्य अणुओं को अवकाश देता है। इसीलिये तो कहा है—**नहं ओगाह लक्खणं**—नभ (आकाश) का लक्षण ही है—अवकाश।

---

१. उत्तराध्ययन २८।९

तो चीनी और नमक के उदाहरण के अनुसार धर्मादि द्रव्य भी आकाश में अवकाश देने के गुण के कारण अवस्थित हैं।

काल द्रव्य

जो द्रव्यों की नवीन, पुरातन आदि अवस्थाओं के बदलने में निमित्त रूप से सहायता करता है, उसे काल द्रव्य कहते हैं। काल के दो प्रकार हैं—क्रिया रूप और वर्तना रूप। क्रिया रूप काल के निमित्त है–सूर्य और चन्द्र। सूर्य की गति-क्रिया से होने वाला घड़ी, घन्टा, दिन, रात्रि, पक्ष, मास, वर्ष आदि क्रिया रूप काल है। यह कालव्यवहार मनुष्य क्षेत्र—ढाई द्वीप में ही होता है। क्योंकि सूर्य, चन्द्र ढाई द्वीप में ही गतिशील है। वर्तनारूप काल द्रव्यों की पर्यायों के परिवर्तन द्वारा ज्ञात होता है। बाल, युवा, वृद्ध, नूतन, पुरातन, ज्येष्ठता, कनिष्ठता आदि का लोकव्यवहार वर्तनारूप काल की सहायता से होता है।

पुद्गल द्रव्य

जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श हो उसे पुद्गल कहते है। शास्त्र में बताया गया है—

> सद्दन्धयार उज्जोओ, पहा छायाऽतवे इ वा।
> वण्ण—रस—गंध—फासा—पुग्गलाणं तु लक्खणं।

जगत मे जो भी वस्तु हमें दिखाई देती है सूघी जाती है, चखी जाती है, छूई जाती है, आकृतिमान है वह सब पुद्गल द्रव्य है। रूप, रस आदि का विवेचन इस प्रकार है :—

आंखों से जो देखा जाये उसे रूप—वर्ण या रंग कहते हैं। कृष्ण, नील, रक्त (लाल), पीत और श्वेत यह रंग के पांच भेद है।

जीभ के द्वारा जिसका स्वाद लिया जाये उसे रस कहते हैं। तिक्त, कटु, कषाय (कषैला), आम्ल (खट्टा), मधुर, रस के यह पांच भेद हैं।

नाक के द्वारा जो सूँघा जाये वह गंध है। सुगन्ध और दुर्गन्ध यह गंध के दो भेद हैं।

जो छुआ जाय वह स्पर्श है। शीत, उष्ण, रूक्ष (रूखा), स्निग्ध (चिकना), लघु (हलका), गुरु (वजनदार), मृदु (कोमल), कर्कश (खुरदरा) यह स्पर्श के आठ भेद है। रूप के ५, रस के ५, गंध के २ और स्पर्श के ८ भेद मिलाने से कुल २० गुण पुद्गल के होते हैं। उक्त रूप आदि चार मूलगुण और उनके उत्तर गुण २० सिर्फ पुद्गल द्रव्य में ही पाये जाते हैं। इसीलिये पुद्गल को ग्रहण कर सकते हैं, देख सकते हैं। शब्द, बंध, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, भेद, तम (अंधकार) छाया, आतप (सूर्य का उष्ण प्रकाश), उद्योत (चन्द्र का शीतल प्रकाश) भी

पुद्गल मय है। तिकोन, चौकोन आदि आकार-प्रकार पुद्गल के परिणाम, पर्याय-अवस्थाएं हैं।

भोजन, पानी, विचार, भाषा, श्वासोच्छ्वास आदि सभी पुद्गल की लीलाएं है। हम सभी संसारी जीवो के शरीर भी पुद्गल है। यदि पुद्गल द्रव्य न हो तो विभिन्न प्रकार की आकृतिया, विविध दृश्य, रंग, रस, गंध आदि जिनको हम इन्द्रियों द्वारा अनुभव करते है, कदापि नहीं कर सकते।

पुद्गल की परिभाषा

'पुद्गल' यह पुद् और गल इन दो शब्दो मे बना है। इसमें पुद् का अर्थ है पूरण और गल का अर्थ है गलन। अर्थात् 'पूरणाद् गलनाद् पुद्गलः' जिसमें पूरण और गलन होता रहता है उसे पुद्गल कहते है। पूरण और गलन स्वभाव वाला होने से पुद्गल पिंड रूप भी हो सकता है और खंड-खंड होकर इतना सूक्ष्म भी हो जाता है कि जिसका कोई टुकड़ा नहीं हो सके। उक्त दोनों प्रकार के स्वभाव वाला होने से पिंड रूप पुद्गल को स्कन्ध और अविभागी सूक्ष्मतम अंश को परमाणु कहते है।

स्कन्ध—दो या दो से अधिक परमाणुओं के योग से निष्पन्न होता है। इसमे संख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणु हो सकते है, किन्तु कम से कम दो परमाणुओ का योग तो होता ही है।

परमाणु—परम-अणु अर्थात् पुद्गल का वह अंश जिसके दो टुकड़े न हो सके और जो स्वयं अपना आदि है, स्वयं ही अपना अंत और मध्य है। इन्द्रियों के द्वारा जो ग्रहण न किया जा सके, ऐसे अविभागी अंश को परमाणु कहते है। पुद्गल के ऊपर बताये गये वर्णादि के बीस गुणों में से कोई एक वर्ण, कोई एक रस, कोई एक गंध और दो स्पर्श परमाणु मे सदैव पाये जाते है। जैन दर्शन-सम्मत परमाणु की यह व्याख्या विश्व की सबसे प्राचीन और प्रामाणिक व्याख्या है। विज्ञान ने आज जिसे परमाणु कहा है वह जैन दर्शन की दृष्टि से स्कन्ध ही है। परमाणु का इतना सूक्ष्म विश्लेषण आज के वैज्ञानिकों के लिये जिज्ञासा और अनुसंधान का विषय है।

पुद्गल द्रव्य में पूरण-गलनात्मक परिवर्तन सतत होता रहता है। चाहे वह स्कन्ध रूप हो या परमाणु रूप। इन अवस्थाओ मे भी वर्ण, गंध, रस, स्पर्श ये पुद्गल के मूल गुण तो पाये ही जाते है। ऐसा कभी नहीं होता कि उक्त वर्ण आदि चार गुणों मे से किसी में एक, किसी में दो या किसी में तीन गुण पाये जाते हों। लेकिन इतना अवश्य है कि किसी परमाणु में किसी एक गुण की अधिकता होने से वह किसी न किसी इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हो जाता है और

दूसरे गुण गौण रहते हैं जो इन्द्रियग्राह्य नहीं होते हैं। लेकिन इन्द्रियग्राह्य न होने से उस गुण का अस्तित्व नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता है। जैसे कि वैज्ञानिक हाइड्रोजन और नाइट्रोजन को गंध, रस हीन मानते हैं, लेकिन इन दोनों के संयोग से बने अमोनिया में गंध, रस मानते है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अमोनिया मे जो गंध और रस हैं वे नवीन उत्पन्न नहीं हुए हैं किन्तु हाइड्रोजन और नाइट्रोजन मे इन गुणों का सद्भाव होने से वे अमोनिया में इन्द्रिय-गोचर हो गये।

वैज्ञानिक पुद्गल को मैटर, न्याय-वैशेषिक दर्शन भौतिक तत्व, सांख्य दर्शन प्रकृति शब्द से कहते है। बौद्ध दर्शन में विज्ञान-संतति के लिये पुद्गल शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैन दर्शन मे भी पुद्गल युक्त (शरीरवान) आत्मा को पुद्गल कहा है, लेकिन सामान्यतया पुद्गल शब्द का प्रयोग रूप-रसादि गुण युक्त रूपी द्रव्य के लिये प्रयुक्त हुआ है।

जीव की व्याख्या

जीव द्रव्य—आत्मा, प्राणी जन्तु, सत्व, भूत आदि आदि जीव के ही अन्य नाम हैं। ये नाम विवक्षा दृष्टि मे जीव के लिये व्यवहार मे लाये जाते है और उन विवक्षाओं को लेकर जैन सिद्धान्त मे सूक्ष्मतम विवेचन किया गया है। लेकिन सामान्य से जीव की परिभाषा करते हुए कहा गया है—

जीवो उवओग लक्खणो।[1]

जीव का लक्षण उपयोग है और उपयोग की व्याख्या करते हुए बताया है कि चेतना परिणाम को उपयोग कहते है।

उपयोग जीव का असाधारण लक्षण है जो अन्य द्रव्यों से उसके अस्तित्व को पृथक् सिद्ध करता है। अन्य द्रव्यों में उपयोग नहीं है, इसीलिये वे अजीव, अचेतन, जड़ कहे जाते हैं और जीव सचेतन।

आगमो मे उपयोग के दो भेद किये है—साकारोपयोग (ज्ञान) और निराकारोपयोग (दर्शन)। इसीलिये जिसमें ज्ञान और दर्शन रूप उपयोग पाये जाते है उसे जीव कहते हैं। जीव का यह लक्षण सक्षेप दृष्टि से किया गया है, लेकिन विस्तार दृष्टि से जीव का लक्षण बताते हुये कहा है—

नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य एयं जीवस्स लक्खणं॥[2]

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य, उपयोग यह जीव का लक्षण है। अर्थात्

---

१. उत्तराध्ययन २८।१०

२. उत्तराध्ययन २८।११

जीव ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य (शक्ति) और उपयोग रूप है। इन गुणों में भी जीव में विद्यमान अन्य अनन्त गुणों और शक्तियों का समावेश हो जाता है। जीव की वह व्याख्या स्पष्ट सूचित करती है कि जीव अर्थात् आत्मा अनन्त ज्ञान आदि के साथ ही अनन्त वीर्य (पराक्रम) और अनन्त सुख का भी यह आत्मा धाम है लेकिन प्रत्यक्ष में इन गुण व शक्तियों की पूर्णतया अभिव्यक्ति दृष्टिगोचर नहीं होती है, क्योंकि आत्मा उनका विकास नहीं कर पायी है। इनमें भी ज्ञान, दर्शन इन दो को मुख्यता देने का कारण यह है कि प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है। सामान्य रूप का दर्शन होता है, अनुभव किया जाता है तथा उसका कथन विशेषताओं के द्वारा हो सकता है। अतः पदार्थ के सामान्य रूप का बोध जीव अपने दर्शन गुण द्वारा करता है तथा विशेष रूप का कथन ज्ञान द्वारा। यह अनुभव एवं विवेचन की क्षमता अन्य द्रव्यों में अजीव होने के कारण नहीं होती है, किन्तु जीव मे होती है। इसीलिये ज्ञान और दर्शन रूप उपयोग को जीव का मुख्य लक्षण कहा जाता है।

जीव को चेतन इसलिये कहते हैं कि उसमें सुख-दुःख, हित-अहित, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि की अनुभूति करने की क्षमता है। स्व-पर का ज्ञान, अपने हित मे प्रवृत्ति और अहित से निवृत्ति का विवेक सिर्फ जीव मे ही पाया जाता है।

जीव शब्द की शाब्दिक व्याख्या करते हुये कहा है—

दशसु प्राणेषु यथोपात्त प्राणपर्यायेण त्रिषु कालेषु
जीवनानुभवात् जीवति, अजीवीत जीविष्यति इति वा जीवः।[1]

दश प्राणों[2] में से अपनी पर्यायानुसार गृहीत यथायोग्य प्राणों के द्वारा जो जीता है, जीता था और जीवेगा इस त्रैकालिक जीवन गुण वाले को जीव कहते है। प्राणो के दस भेदों को इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास इन चार प्रकारों में संक्षेप से गर्भित कर लेते है।

जीव को प्राणी, जन्तु, पुरुष, मानव आदि नामो से भी कहा जाता है, उनके कारणभूत कार्य या गुण भी उसमें विद्यमान है। जैसे कि बार-बार जन्म लेने से जन्तु, अच्छे-अच्छे गुणों का स्वामी होने से पुरुष। मनु ज्ञान या विचार को कहते हैं और जीव के ज्ञानवान होने से मानव कहा जाता है—'मननात् मनुष्य······।' इसी प्रकार से और भी जीव के पर्यायवाची नाम हो

---

१. राजवार्तिक १।४

२. पाँच इन्द्रिय—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। तीन बल—मनोबल वचनबल और कायबल तथा श्वासोच्छ्वास और आयु। यह प्राण के दस भेद है।

सकते है लेकिन इन सब का अन्तिम सारांश यही है कि जिसमें ज्ञान-दर्शनात्मक उपयोग है, वह जीव है।

जीव के स्वभाव, शक्ति, अवस्थाओं आदि सभी का दिग्दर्शन कराते हुये निश्चय व व्यवहार नय के अनुसार जीव का जो कथन किया गया है वह इस प्रकार है —

जो उपयोग मय है, अमूर्त है, कर्ता है, प्राप्त शरीर के बराबर है, भोक्ता है, संसार में स्थित है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है, वह जीव है। निश्चय नय और व्यवहार नय की अपेक्षा जीव की इन विशेषताओं का कथन करके संक्षेप में उसका समग्र वर्णन कर दिया है। जैसे कि निश्चय नय की अपेक्षा से वह ज्ञान-दर्शन रूप शुद्ध चैतन्य रूप प्राणों में जीता है और व्यवहार नय की अपेक्षा अपने इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास रूप प्राणों से जीवित रहता है। इसी प्रकार से उपयोग आदि की अपेक्षाओं के बारे में समझना चाहिये। विस्तार भय से यहाँ संकेत मात्र ही किया गया है।

जीव के दो प्रकार हैं—कर्म सहित और कर्म रहित। कर्म सहित जीव संसारी है जो जन्म-मरण के कारण विभिन्न शरीरों को धारण करते हैं और कर्म रहित जीव सिद्ध, बुद्ध, मुक्त कहलाते है। मुक्त जीव का शरीर या अन्य किन्ही भी पौद्गलिक पदार्थों के साथ किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं होता है, जबकि संसारी जीवों का सम्बन्ध होने से सुख, दुःख, लाभ, अलाभ, हानि, वृद्धि को प्राप्त करते है।

उक्त धर्मादि षड्द्रव्यों मे धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव को प्रदेशवान होने से अस्तिकाय माना गया है। 'अस्तिकाय' कहने का अर्थ यह है कि ये द्रव्य एक प्रदेश रूप या एक अवयव रूप नहीं हैं किन्तु प्रदेशप्रचय अर्थात् प्रदेशसमूह रूप है। धर्म, अधर्म, आकाश और जीव प्रदेशप्रचय रूप है और पुद्गल अवयव रूप और अवयवप्रचय रूप है। इसीलिये इन्हें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, और जीवास्तिकाय कहते हैं। द्रव्य की अपेक्षा काल की सत्ता तो है किन्तु बहुप्रदेशी न होने से काल को कायवान द्रव्य नही माना है। इसीलिये काल को सिर्फ काल द्रव्य कहते हैं। कालद्रव्य लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नों की राशि के समान एक-एक अणु के रूप में स्थित है।

धर्मादि षड्द्रव्यों में द्रव्य की अपेक्षा से धर्म, अधर्म और आकाश एक एक द्रव्य हैं और निष्क्रिय हैं अर्थात् ये द्रव्य गति-शून्य होकर भी अपने स्वरूप में सदृश परिणमन रूप क्रिया करते हैं। इसीलिये इनमें विजातीय संयोग होने

पर भी विकार उत्पन्न नहीं होता है और प्रदेशों की अपेक्षा धर्म और अधर्म द्रव्य के असंख्यात प्रदेश, आकाश के अनन्त प्रदेश[1] होते हैं। पुद्गल द्रव्यापेक्षा अनन्त है और संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त प्रदेश है। कालद्रव्य एक प्रदेशी है। जीव, द्रव्य की अपेक्षा अनन्त हैं और प्रत्येक जीव असंख्यात प्रदेशी है।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय ये दो द्रव्य जैनदर्शन के सिवाय अन्य दर्शनों में इस रूप में नहीं माने गये हैं। जैनदर्शन में जिस द्रव्य को आकाशास्तिकाय कहते हैं, उसको जैनेतर दर्शनों में आकाश कहते हैं, पुद्गलास्तिकाय यह संज्ञा भी सिर्फ जैन शास्त्रों में प्रसिद्ध है, अन्य शास्त्रों में पुद्गल स्थानीय तत्त्व को प्रधान, प्रकृति, परमाणु आदि नाम से कहा गया है। जीव द्रव्य को जैन शास्त्रों में परिणामी नित्य लेकिन अन्य दर्शनों में कूटस्थ नित्य, निष्क्रिय माना गया है। विज्ञान ने ईथर तत्त्व को माना है जो जैन शास्त्रों के धर्मास्तिकाय का स्थानीय कहा है।

उपर्युक्त छह द्रव्य एक दूसरे के साथ दूध और पानी, सोना और मिट्टी के समान ओतप्रोत होकर लोकाकाश में रहे हुये हैं और अपने स्वभाव में स्थित हैं। इन छह द्रव्यों की अपने स्वभाव में स्थिति ही लोक है।

लोक की स्थिति का आधार

लोक का षड्द्रव्यात्मक स्वरूप समझने का सार यह है कि हम उस स्वरूप पर विचार करें कि जिस लोक में हम रहते हैं और जिन पुद्गलों के सहारे हम सुख-दुःख आदि का अनुभव करते हैं वह सब पर है, पुद्गल है, जड़ है। लोक में चेतन सिर्फ जीव है और जीव ही अपनी सदसद् वृत्तियों के कारण कर्मों का उपार्जन करता है और वह उन कर्मों का फल भोगता है। अब लोक की स्थिति के आधार के सम्बन्ध में हम विचार करते हैं।

यह पृथ्वी, इसके चारों ओर का वायुमंडल, पृथ्वी के नीचे की रचना, तथा इसके ऊपर आकाश में स्थित सौर मंडल का स्वरूप, उनके ऊपर रहने वाली जीव राशि, इनमें उत्पन्न होने वाले पदार्थ और उनका एक दूसरे के साथ सम्बन्ध आदि यह सब वर्णन भूगोल का विषय है। प्रत्यक्ष होने से पृथ्वी-मंडल की रचना के बारे में हम बहुत कुछ जान भी लेते हैं। आधुनिक यंत्रों से इस दृश्यमान पृथ्वी-खंडों के अतिरिक्त अन्य कुछ भू-खंडों का प्रत्यक्ष करना भी

१ पुद्गल के अविभागी परमाणु के द्वारा आकाश का जितना क्षेत्र रोका जाता है, उतने क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं।

संभव है परन्तु असीम लोक की अपेक्षा पृथ्वी का यह ज्ञान भी किसी गणना में नहीं है। यंत्रों की अपेक्षा, योगियों की आध्यात्मिक दृष्टि अत्यन्त विश्वस्त होती है अतः यहां सर्वज्ञ भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित लोकस्थिति के आधार का कथन प्रस्तुत करते है। उन्होंने लोकस्थिति का यह ज्ञान किसी भौतिक यंत्र की सहायता से नहीं, किन्तु अपनी आध्यात्मिक दृष्टि से अर्थात् परम विशुद्ध केवलज्ञान दृष्टि से किया था। केवलज्ञान द्वारा वस्तु का सही एवं अविसंवादी स्वरूप जानकर उन्होंने अन्य जीवों के लिये उसका वर्णन किया है, जो इस प्रकार है। शास्त्र में लोक की स्थिति आठ प्रकार से प्रतिपादित की है—

(१) वात—तनुवात आकाश प्रतिष्ठित है, (२) उदधि—घनोदधि वात-प्रतिष्ठित है, (३) पृथ्वी—उदधि प्रतिष्ठित है, (४) त्रस और स्थावर प्राणी—पृथ्वी प्रतिष्ठित है, (५) अजीव, जीव प्रतिष्ठित है, (६) जीव, कर्म प्रतिष्ठित हैं, (७) अजीव जीव के संगृहित है, (८) जीव कर्म से संगृहित है।[1]

अर्थात् त्रस, स्थावर आदि प्राणियों का आधार पृथ्वी है, पृथ्वी का आधार उदधि है, उदधि का आधार वायु है और वायु का आधार आकाश है। यहां एक प्रश्न होता है कि वायु के आधार पर उदधि और उसके आधार पर पृथ्वी कैसे ठहर सकती है? तो इसका समाधान यह है कि—कोई पुरुष चमड़े की मशक को हवा भरकर फुला देवे और फिर उस मशक के मुह को फीते से मजबूत गाठ देकर बांध देवे और इसी प्रकार मशक के बीच के भाग को भी बांध देवे। ऐसा करने से मशक में भरी वायु के दो भाग हो जायेंगे और मशक डुगडुगी जैसी लगने लगेगी। तब मशक का मुंह खोलकर ऊपर की वायु निकाल दी जाये और उसमें पानी भर दिया जाये तथा मुह पुनः बंद कर बीच का भी बंधन खोल दे, इसके बाद जो पानी मशक के ऊपर के भाग में भरा गया था वह ऊपरी भाग में रहेगा अर्थात् ऊपर ही रहेगा, नीचे नहीं जायेगा। क्योंकि ऊपर के भाग में जो पानी है, उसका आधार मशक के नीचे के भाग में रही हुई वायु है। इससे यह स्पष्ट हुआ कि जैसे मशक में वायु के आधार पर पानी ऊपर ठहरा रहता है, नीचे नहीं जाता है वैसे ही पृथ्वी आदि भी वायु—वात के आधार पर प्रतिष्ठित है।

भगवती सूत्र के सिद्धान्त में लोक की स्थिति बतलाई है कि जीव, अजीव आदि सभी पदार्थ पृथ्वी पर रहते है और पृथ्वी वायु के आधार पर टिकी हुई है। लेकिन अन्य दर्शनकारो ने भिन्न-भिन्न कल्पनाएं की हैं जैसे कि पृथ्वी शेष-

---

१. भगवती श० १, उ० ६

नाग के फन पर ठहरी है, किन्तु यह बात कुछ युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती है कि इतनी मोटी और अपरिमित वजन वाली पृथ्वी शेषनाग के फन पर कैसे टिकी हुई है ?

जैन शास्त्रों में जो पृथ्वी को वाताधारित कहा है, उसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

इस पृथ्वी का पाया—नींव घनोदधि पर आधारित है। पृथ्वी की तरह घनोदधि भी असंख्यात योजन विस्तार वाला है। नीचे के भाग में सात पृथ्वियाँ हैं, जिन्हे सात नरक कहते है, उनके नीचे प्रत्येक के चारों ओर घनोदधि है। यह घनोदधि जैसे पेड के चारों तरफ छाल होती है, उसी प्रकार से यह पृथ्वी के चारों ओर है। यह जलजातीय है और जमे हुए घी के समान है। इसकी मोटाई नीचे मध्य में बीस हजार योजन की है और वहाँ से एक एक प्रदेश पतला होते होते सब से ऊपरी किनारे पर सिर्फ छह योजन मोटा रह जाता है। दूसरी पृथ्वी के घनोदधि की भी यही स्थिति है और किनारे के मोटेपन में योजन के एक तृतीयांश की अधिकता रहती है। इसी प्रकार से तीसरी, चौथी आदि प्रत्येक पृथ्वी के घनोदधि की मोटाई मे योजन का एक तृतीयांश अधिक अधिक होते होते सातवें नरक के घनोदधि की मोटाई किनारे पर आठ योजन की है और सातों पृथ्वियों के मध्य भाग मे मोटाई बीस हजार योजन की है तथा लंबाई चौड़ाई व परिधि असंख्यात योजन प्रमाण है।

घनोदधि के नीचे घनवायु का आवरण है। यानी घनोदधि को घनवायु घेरे हुए है। यह घनवायु कुछ पतले पिघले हुए घी के समान है। लम्बाई-चौड़ाई व परिधि असंख्यात योजन की है और पतला होते होते किनारे पर सिर्फ साढ़े चार योजन जितना रह जाता है। यह पहली नरक भूमि की घनवायु का प्रमाण समझना चाहिए। दूसरे नरक से सातवे नरक तक इस घनवायु की मोटाई एक एक कोस बढती जाती है और सातवें नरक में मोटाई छह योजन हो जाती है। अर्थात् दूसरे नरक में पौने पाँच योजन, तीसरे मे पाँच योजन, चौथे में सवा पाच योजन, पाँचवें में साढ़े पाँच योजन, छठे में पौने छह योजन और सातवें में छह योजन की मोटाई घनवात की समझना चाहिए।

यह घनवात भी तनुवात से आवृत है। इसका रूप तपे हुए घी के समान समझना चाहिए। उसकी लंबाई चौड़ाई परिधि तथा मध्य की मोटाई असंख्यात योजन की है और मोटाई घटते घटते अन्त मे डेढ योजन प्रमाण रह जाती है। नीचे की पृथ्वियों में प्रत्येक पृथ्वी मे १/१२ भाग बढ़ते बढ़ते सातवें नरक की तनुवात की मोटाई दो योजन की है।

तनुवात के नीचे असंख्यात योजन प्रमाण आकाश है और सातवें नरक के

आकाश के असंख्यात योजन के आगे धर्मास्तिकाय आदि पांच द्रव्य पूरे होते हैं और वहीं लोक की सीमा भी पूरी हो जाती है। इसके बाद अलोक है, जिसमें आकाश के अतिरिक्त अन्य कोई द्रव्य नहीं है।

इन घनोदधि, घनवात और तनुवात को उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है कि एक दूसरे के अन्दर रखे हुए तीन लकड़ी के पात्र हों, उसी प्रकार ये तीनों वातवलय एक दूसरे में अवस्थित हैं। यानी घनोदधि छोटे पात्र जैसा, घनवात मध्यम पात्र जैसा और तनुवात बड़े पात्र जैसा है और उसके बाद आकाश है। इन पात्रों में से जैसे छोटे पात्र में कोई पदार्थ रखा जाये वैसे ही घनोदधि वलय के भीतर यह प्रत्येक पृथ्वी अवस्थित है, इस पृथ्वी मंडल में जो नीचे सात नरक भूमियाँ मानी हैं, सात पात्रों को थोड़ा-थोड़ा अन्तर देकर लटकाने पर जो आकृति दीखेगी, वैसे ही वे अपने घनोदधि वलय में एक दूसरे पर स्थित हैं।

पृथ्वी और अलोक के बीच ऊपरी भाग में सिर्फ बारह योजन का अन्तर है। वह योजन का अन्तर इस प्रकार से समझना चाहिये कि छह योजन का घनोदधि, साढ़े चार योजन का घनवात और डेढ़ योजन का तनुवात वलय है। और उसके बाद अलोक प्रारम्भ हो जाता है। निचले भाग में सातवें नरक के तीनों वलयों के सोलह योजन होने से सोलह योजन का अन्तर है।

यह लोक के अधोभाग के अवस्थान का कथन है। इसी प्रकार से ऊर्ध्व लोक—देवलोक भी घनोदधि वलय पर आधारित है। वह इस प्रकार समझना चाहिये कि प्रथम दो देवलोक घनोदधि पर आश्रित हैं, तीसरा, चौथा और पाँचवां घनवात पर, छठा, सातवां और आठवां घनोदधि और घनवात पर और इसके अनन्तर नौवें से लेकर सर्वार्थसिद्धि तक सिर्फ आकाश के आधार पर अवस्थित है।

इस प्रकार से जीव और अजीव का समूह रूप यह लोक असंख्यात योजनों की लम्बाई चौड़ाई वाला है तथा क्रमशः घनोदधि, घनवात, तनुवात वलय द्वारा आवृत्त होकर आकाश में अवस्थित है।

लोक का आकार

जैन शास्त्रों में इस षड्द्रव्यात्मक लोक का आकार 'सुप्रतिष्ठक संस्थान'[1] वाला कहा है। जमीन पर एक सकोरा उलटा, उस पर दूसरा सकोरा सीधा और उस पर तीसरा सकोरा उलटा रखने से जो आकार बनता है, वही आकार लोक का होता है।

---

१. भगवती, ७।१।४

लोक के इस आकार का कथन आचार्यों ने विभिन्न रूपकों द्वारा समझाया है। जैसे कि इस लोक का आकार कटिप्रदेश पर हाथ रख कर तथा पैरों को पसार कर नृत्य करने वाले पुरुष के समान है। इसीलिये लोक को पुरुषाकार की उपमा दी गई है। कहीं-कहीं पर वेत्रासन पर रखे गये मृदंग के समान लोक का आकार बताया है। इसी प्रकार की और दूसरी वस्तुएँ जो जमीन में चौड़ी, मध्य में सकरी तथा ऊपर में चौड़ी और फिर सकरी हों और वे एक दूसरे पर रखी जायें तो उनका जो आकार बनेगा वह लोक के आकार का दिग्दर्शन करायेगा। लेकिन शास्त्रों में बताई गई औंधे सकोरे पर दूसरे सीधे और तीसरे औंधे सकोरे के रखने से बनने वाली आकृति सरलता से समझ में आ जाती है और यह औंधे फिर सीधे और फिर औंधे सकोरे के रखने से बनने वाली आकृति से लोक के अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक के आकार का ज्ञान भी सहज रूप में हो जाता है कि पहले औंधे रखे हुये सकोरे के समान अधोलोक, ऊपर सकरा और नीचे चौड़ा दूसरे सीधे रखे हुये सकोरे के तल भाग के समान मध्यलोक और उससे लेकर पाँचवें देवलोक तक का भाग नीचे सकरा और ऊपर चौड़ा है तथा दूसरे के ऊपर रखे गये तीसरे औंधे सकोरे के समान पांचवें देवलोक से लेकर सर्वार्थ सिद्धि विमान तक का आकार है।

लोक के अधः, मध्य और ऊर्ध्व यह तीन विभाग होने का मध्य बिन्दु, मेरु पर्वत के मूल मे है। इस मध्यलोक में बीचोबीच जम्बूद्वीप है और जम्बूद्वीप के भी ठीक मध्य मे मेरु पर्वत है। जिसका पाया जमीन मे एक हजार योजन और ऊपर जमीन पर ९९००० योजन ऊँचा है। जमीन के समतल भाग पर इसकी लम्बाई-चौड़ाई चारों दिशाओं मे दस हजार योजन की है। इस मेरु पर्वत के भी बीचोंबीच गोस्तनाकार आठ रुचक प्रदेश है। ये आठ रुचक प्रदेश चार ऊपर और चार नीचे हैं और ये प्रदेश दिशा व्यवहार के कारण बने है यानी ये आठों दिशाओं के केन्द्र रूप हैं।

मेरु पर्वत के पाये के एक हजार योजन मे नौ सौ योजन के नीचे अधोलोक प्रारम्भ होता है और सातवें नरक तक का लोक अधोलोक कहलाता है। अधोलोक के ऊपर १८०० योजन तक मध्य लोक है। अर्थात् रुचक प्रदेश से नौ सौ योजन नीचे और नौ सौ योजन ऊपर कुल मिलाकर १८०० योजन मध्यलोक की सीमा है। मध्यलोक के ऊपर का सभी क्षेत्र मुक्ति स्थान पर्यन्त ऊर्ध्वलोक कहलाता है।

इन तीनों लोकों में अधोलोक और ऊर्ध्वलोक की ऊँचाई, चौड़ाई से ज्यादा और मध्यलोक में ऊँचाई की अपेक्षा लम्बाई-चौड़ाई अधिक है।

क्योंकि मध्यलोक की ऊँचाई तो सिर्फ १८०० योजन प्रमाण और लम्बाई-चौड़ाई एक राजू प्रमाण है।

अधोलोक और ऊर्ध्वलोक की लम्बाई-चौड़ाई एक सी नहीं है। यदि अधो लोक की लम्बाई-चौड़ाई को ही लें तो जो उसमें सात पृथ्वियाँ हैं, उसमें सातवीं पृथ्वी की लम्बाई-चौड़ाई अधोलोक की ऊँचाई से कुछ कम सात राजू की है। फिर उस नीचे के भाग से एक प्रदेश चारों ओर से घटाते जायें तो छठे नरक में एक राजू कम हो जाती है यानी छठा नरक छह राजू लम्बा है। इसी प्रकार एक-एक प्रदेश घटाने से पांचवां नरक पांच राजू, चौथा नरक चार राजू, तीसरा नरक तीन राजू, दूसरा नरक दो राजू, और पहला नरक एक राजू लम्बा चौड़ा है। जो मध्य लोक की लम्बाई-चौड़ाई के बराबर है।

ऊर्ध्वलोक की लम्बाई-चौड़ाई को जानने के लिये अधोलोक से विपरीत एक-एक प्रदेश की वृद्धि करने पर ऊर्ध्वलोक के पाचवें देवलोक में पाच राजू लम्बाई-चौडाई होगी और फिर इस लम्बाई-चौड़ाई के बाद एक-एक प्रदेश की कमी करने पर लोक के चरम ऊपरी भाग पर एक राजू की लम्बाई चौड़ाई रहती है। यानी ऊर्ध्वलोक का अन्तिम भाग मध्यलोक के बराबर ही लम्बा चौड़ा है।

(लोक के आकार की स्पष्ट जानकारी संलग्न चित्र पृ० ३२० से प्राप्त हो सकती है।)

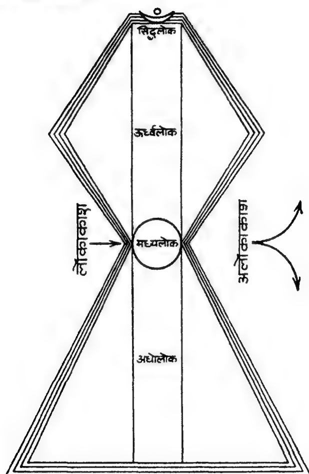
लोक की चौड़ाई के बारे में बताये गये उक्त संकेत का सारांश यह है कि नीचे जहां सातवा नरक है वहां सात राजू चौड़ा है और वहां से घटता-घटता सात राजू ऊपर आने पर दोनो सकोरों की संधि के स्थान में जहाँ मध्य लोक है वहां एक राजू चौड़ा, फिर क्रमशः बढ़ते-बढ़ते पांचवें देवलोक के पास जो मध्यलोक से साढ़े तीन राजू ऊँचा है, पांच राजू चौड़ा है। उसके बाद फिर क्रमशः घटता-घटता साढ़े तीन राजू ऊपर जाने पर जहां तीसरे सकोरे का अन्तिम भाग है, एक राजू चौड़ा है और इसी अन्तिम भाग में सिद्धशिला है। इस सम्पूर्ण लोक की ऊँचाई चौदह राजू की है और चौडाई अधिकतम सात राजू तथा जघन्य एक राजू प्रमाण है।

यह लोक त्रस और स्थावर जीवों से खचाखच भरा हुआ है लेकिन त्रस जीव तो सिर्फ त्रसनाडी में और स्थावर जीव त्रसनाडी व स्थावरनाड़ी दोनों में होते है।[1]

---

१. लोक के आर-पार ऊपर से नीचे तक चौदह राजू ऊँचे और एक राजू चौड़े ठीक बीच के आकाश प्रदेश को त्रसनाड़ी कहते है तथा शेष लोक स्थावर-नाड़ी कहलाता है।

लोक का आकार



चौदह राजु उत्तंग नभ लोक पुरुष संठान।
तामैं जीव अनादितै भरमत हैं बिन ज्ञान॥

लोक की घनाकार लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई

इस संपूर्ण लोक की ऊँचाई चौदह राजू तथा अधिकतम लम्बाई, चौड़ाई सात राजू और न्यूनतम एक राजू है। लेकिन इसकी घनाकार कल्पना की जाये यानी लम्बाई-चौड़ाई-ऊँचाई एक सी की जाये तो सात राजू ऊँचाई, सात राजू लम्बाई और सात राजू चौड़ाई होगी। क्योंकि समस्त लोक के एक एक राजू प्रमाण टुकड़े किये जायें तो ३४३ टुकड़े होते है। उनमें से अधोलोक के १९६ और ऊर्ध्वलोक के १४७ घनराजू है। और इनका घनमूल ७ होता है। अतः घनीकृत लोक का प्रमाण सात राजू हुआ और घन राजू ३४३ होते है।

यहां पाठक यह भी जानना चाहेंगे कि राजू का प्रमाण क्या है, उसकी लम्बाई चौड़ाई क्या है? तो चौदह रज्ज्वात्मक लोक का विस्तार समझाने के लिए जैन सूत्र भगवती ११।० में छह देवों का दृष्टांत दिया गया है, वह इस प्रकार है—

जम्बूद्वीप की परिधि तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन, तीन कोस, एक सौ अट्ठाईस धनुष्य और कुछ अधिक साढ़े तेरह अंगुल है। अब कल्पना कीजिये कि महान् ऋद्धिवाले छह देवता जम्बूद्वीप के मेरु पर्वत की चूलिका को घेर कर खड़े हैं। इधर चार दिक्कुमारियाँ, (देवियाँ) हाथों में बलिपिण्ड लेकर जम्बूद्वीप की आठ योजन ऊँची जगती पर चारों दिशाओं में बाहर की तरफ मुख करके खडी है। वे एक ही साथ चारों बलिपिण्डों को नीचे गिरायें। उस समय उन छहों देवों में से हर एक देवता मेरुचूलिका से अपनी शीघ्रतर गति द्वारा नीचे आकर पृथ्वी तक पहुँचने से पहले ही उन चारों बलिपिण्डों को ग्रहण करने में समर्थ हैं। बलिपिण्ड जितनी देर में देवियों के हाथों से छूटकर जमीन तक आठ योजन भी नहीं आ पाते, उतनी-सी देर में वह देवता मेरुचूलिका से लाख योजन तो नीचे आ जाता है और लगभग सवा तीन लाख योजन जम्बूद्वीप के चारों ओर एक चक्कर लगा देता है अर्थात् सवा चार लाख योजन का क्षेत्र लांघ देता है।

उपर्युक्त शीघ्रगति से उन छहों देवों में से घनीकृत लोक के मध्य भाग से चार देवता तो चारों दिशाओं में जायें और दो ऊपर नीचे जायें। उस समय हजार वर्ष की आयु वाला एक बालक उत्पन्न होकर पूर्ण आयुष्य भोगकर मर जाये, यावत् उसकी सात पीढ़ियां बीत जायें एवं उसके नाम-गोत्र भी नष्ट हो जायें। इतने लम्बे समय तक भी यदि वे छहों देवता अपनी शीघ्रतर गति से निरन्तर चलते ही जायें तो भी इस लोक का अन्त नहीं आ सकता एवं जितना रास्ता वे तय करते हैं उससे असंख्यातवां भाग शेष रह जाता है। इस उदाहरण से लोक का विस्तार जाना जा सकता है।

प्रसंगोपात्त आधुनिक विज्ञान के अनुसार लोक का विस्तार समझने के लिए हम जरा आधुनिक वैज्ञानिकों की विचारधारा भी समझ लें—

आईंस्टीन के मतानुसार प्रति सेकिण्ड एक लाख ८६ हजार मील चलने वाली प्रकाश की किरणें यदि संसार की परिक्रमा करें तो उन्हें १२ करोड वर्ष लग जायेंगे।

ग्रहों और ब्रह्माण्डों के विषय में वैज्ञानिकों का मत—वैज्ञानिकों के मतानुसार यह पृथ्वी एक लम्बूतरे फुटबॉल की तरह गोल है और एक हजार मील प्रति घण्टा की गति से अपनी धुरी पर घूम रही है तथा ६६ हजार मील प्रति घण्टा की गति से सूर्य की वार्षिक परिक्रमा पूरी कर रही है। पृथ्वी की तरह अन्य ग्रह भी सूर्य मण्डल के चारों ओर घूम रहे है। सूर्य से इनकी दूरी निम्न प्रकार है—

ग्रह	दूरी (मीलों मे)
बुध	३ करोड ६० लाख
शुक्र	६ करोड ७३ लाख
पृथ्वी	९ करोड़ ३० लाख
मंगल	१४ करोड १० लाख
बृहस्पति	४८ करोड ३० लाख
शनि	८८ करोड़ ७१ लाख
अरुण	१७८ करोड ५० लाख
वरुण	२७९ करोड ३० लाख
यम	३४७ करोड

हमको यह भी जान लेना चाहिये की सूर्य का आकर्षण उन ग्रहों में भी करोड़ों मील दूर तक है। पर वहाँ कोई ग्रह नही है। सूर्य मण्डल ६०० करोड़ मील लम्बा है और इतना ही चौड़ा है। यह गोला इस ब्रह्माण्ड (जिसे आकाश-गंगा कहते है) के चारों और घूम रहा है। इसे अपना एक चक्कर पूरा करने में ३० करोड़ ६७ लाख २० हजार वर्ष लगते है। इस ब्रह्माण्ड के बाहर हमारा सूर्य मण्डल अकेला ही नही है, ऐसे डेढ़ अरब सूर्य मण्डल घूम रहे है। हमारा यह सूर्य मंडल उन सबसे छोटा है। पूर्वोक्त बृहत् सूर्य मण्डलों के बीच घूमता हुआ हमारा यह सूर्य मण्डल ऐसा प्रतीत होता है, मानों हजारों मील प्रतिघण्टा की गति से चलती हुई आँधी में घूमते हुए बड़े-बड़े वृक्षों एवं पहाड़ों के बीच मे एक राई का दाना घूम रहा है।

आकाश गंगा से आगे जो चमकते हुए सितारे दिखाई देते हैं, उनमें से

प्रत्येक सितारा एक-एक ब्रह्माण्ड है, ऐसे कितने ब्रह्माण्ड हैं, यह किसी को पता नहीं है। कहा जाता है कि लगभग ११ हजार करोड़ ब्रह्माण्ड तो वैज्ञानिकों ने गिन लिए हैं। कई सितारे तो पृथ्वी से इतने दूर है कि १ लाख ८३ हजार मील प्रति सेकिण्ड की गति से चलनेवाली उनकी रोशनी यहाँ अरबों वर्षों तक भी नहीं पहुँच सकती। इन सबसे परे भी कितने खरब ब्रह्माण्ड और हैं, उनका अभी तक कोई पता नहीं लगा है और न कभी लग सकता है। अस्तु, इस अनन्त सृष्टि पर ज्यों-ज्यों विचार किया जाता है त्यों-त्यों हैरानी होती है और दिमाग चक्कर खाने लगता है।

हमारी यह दृश्यमान पृथ्वी एक सिरे से दूसरे सिरे तक ७६२७ मील चौड़ी है। इस पर ३५० करोड़ से भी अधिक मनुष्य रहते है। चाँद पृथ्वी से लगभग ढाई लाख मील दूर है।[1]

अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक का वर्णन

चौदह राजू ऊँचाई प्रमाण इस लोक के तीन भाग-ऊर्ध्व, मध्य और अधः लोक, यों विभाजन होने का कारण—मेरु पर्वत की अवस्थिति है। मेरु पर्वत की स्थिति के आधार पर ही लोक के तीन भाग की कल्पना की गई है।

उनकी स्थिति, रचना आदि का वर्णन क्रमशः यहाँ किया जा रहा है—

अधोलोक

इसको नरक भी कहते है। इन नरक स्थानों मे जीव घोर पापों के विशेष फल भोगने के लिये जन्म लेते है और इन जन्म लेने वाले जीवों को नैरयिक या नारक कहा जाता है। ये नरक सात हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

१. रत्नप्रभा, २. शर्कराप्रभा, ३. बालुकाप्रभा, ४. पंकप्रभा, ५. धूम्रप्रभा, ६. तमप्रभा और ७. महातम प्रभा।

१. रत्नप्रभा—यह पृथ्वी नाना प्रकार के कृष्ण वर्ण वाले भयंकर रत्नों से व्याप्त है। इसके तीन काण्ड (हिस्से) हैं—१. खरकाण्ड, २. पंकबहुलकाण्ड, ३. अप्बहुलकाण्ड। खरकाण्ड में अनेक प्रकार के रत्न है, दूसरे पंकबहुलकाण्ड में अत्यधिक कीचड है और तीसरे अप्बहुल काण्ड में जल की विशेषता है।

इस पृथ्वी की मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन की है और उसमें से ऊपर नीचे एक एक हजार योजन छोड़कर बीच के एक लाख अठहत्तर हजार (१, ७८०००) योजन में तेरह पाथड़े अर्थात् पृथ्वी पिंड हैं और १२ आन्तरे

१. मिलाप, २१ मई १९६९ के सम्पादकीय लेख के आधार पर

(रिक्त स्थान) हैं यानी वह तेरह छत के मकान जैसा है। पाथड़ों में पापी जीवों के निवास स्थान हैं। अंतरों में पहले दो अंतर तो खाली हैं, शेष दस अन्तरों में दस प्रकार के भवनपति देवों का निवास है। दूसरे से लेकर सातवें नरक तक के अन्तर खाली हैं। पाथड़ों की मोटाई सब नरकों में तीन तीन हजार योजन की है।

प्रथम नरक में तीस लाख नरकावास हैं। यहाँ रहने वाले नारकियों की जघन्य आयु दस हाजार वर्ष और उत्कृष्ट एक सागर की है।

२. **शर्कराप्रभा**—भाले, बरछी आदि से भी तीक्ष्ण कंकरों से व्याप्त है। इस नरक भूमि में पाथड़े ग्यारह एवं अंतर दस हैं। इसमें नरकावास पच्चीस लाख हैं और यहाँ की जघन्य आयु एक सागर की तथा उत्कृष्ट आयु तीन सागर की है। इसकी मोटाई एक लाख बत्तीस हजार योजन की है।

३. **बालुकाप्रभा**—भड़भूंजे के भाड़ की ऊष्ण बालू से भी अधिक ऊष्ण बालू से व्याप्त है। यहाँ पाथड़े नौ और अंतर आठ हैं। आवास पन्द्रह लाख तथा आयु जघन्य तीन सागर व उत्कृष्ट सातसागर की है। मोटाई एक लाख अट्ठाईस हजार योजना की है।

४. **पंकप्रभा**—रक्त, मांस और पीव जैसे कीचड़ से व्याप्त। यहाँ पाथड़े सात और अन्तर छह है। दस लाख नरकावास हैं और आयु जघन्य सात सागर तथा उत्कृष्ट दस सागर की है। मोटाई एक लाख बीस हजार योजन की है।

५. **धूमप्रभा**—मिर्च आदि के धूए से भी अधिक खारे धुएं से व्याप्त। यहाँ पाथड़े पांच और अन्तर चार है। तीन लाख नरकावास है और आयु जघन्य दस सागर तथा उत्कृष्ट सत्रह सागर की है। इस भूमि की मोटाई एक लाख अठारह हजार योजन प्रमाण है।

६. **तमःप्रभा**—घोर अंधकार से व्याप्त। इस नरक में पाथड़े तीन और अंतर दो हैं। यहां नरकावास पांच कम एक लाख है। इस नरक भूमि में जीवों की जघन्य आयु सत्रह सागर और उत्कृष्ट बाईस सागर की है। एक लाख सोलह हजार योजन की मोटाई है।

७. **महातमःप्रभा**—घोरातिघोर अंधकार से व्याप्त। यहाँ एक पाथड़ा है, इसलिये अंतर बिलकुल नहीं है। यहाँ पाँच नरकावास हैं तथा जघन्य आयु बाईस सागर तथा उत्कृष्ट तेतीस सागर की है इस भूमि की मोटाई एक लाख आठ हजार योजन प्रमाण है।

इन सात नरक भूमियों में कुल नरकावासों की संख्या चौरासी लाख है।

तथा नारक जीवों की उत्कृष्ट अवगाहना क्रमशः पहले नरक में पौने आठ धनुष छह अंगुल, दूसरे में साढ़े पन्द्रह धनुष बारह अंगुल, तीसरे में सवा इकतीस धनुष, चौथे में साढ़े बासठ धनुष, पाँचवें में सवासौ धनुष, छठे में ढाई सौ धनुष और सातवें में पाँचसौ धनुष है तथा जघन्य अवगाहना सभी नरकों में अंगुल के असंख्यातवें भाग की है।

इन जीवों का वैक्रिय शरीर होता है। जब ये उत्तर वैक्रिय शरीर बनाते हैं तो उस समय उनकी जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग जितनी होती है और उत्कृष्ट अपनी अवगाहना से दुगनी तक बना लेते हैं।

ये नारक जीव आपस मे एक दूसरे को दुख पहुचाया करते हैं। और प्रथम तीन नरकों तक परमाधार्मिक देवता जाकर उनको दुख देते है। शेष नरकों में स्वयं नारकी जीव आपस में एक दूसरे को कष्ट देते रहते हैं। इसके अतिरिक्त इन नरकों में क्षेत्रकृत वेदना भी होती है। प्रथम तीन नरकों में शीत योनियां है, चौथे-पाँचवें में शीत, उष्ण दोनों प्रकार की योनियां हैं और छठे सातवें नरक मे सिर्फ उष्ण योनिया हैं। यहा शीत और उष्णता इतनी तीव्र है कि मेरु पर्वत के बराबर का लोहे का गोला भी गल जाये।

सम्यग्दृष्टि नारकों को मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये तीन ज्ञान होते हैं और मिथ्यादृष्टियों के मति, श्रुत और विभंग ऐसे तीन अज्ञान होते हैं। अवधि-ज्ञान या विभंग ज्ञान जघन्य आधा कोस और उत्कृष्ट चार कोस तक के क्षेत्र प्रमाण का होता है।

नरक की वेदना

नरकों की वेदना असह्य एवं उग्रतर है। नरक की तीव्र जाज्वल्यमान वेदना का वर्णन ससार भावना में सक्षेप में किया गया है। अधिक विस्तार से जानने के इच्छुक उत्तराध्ययन (१९) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (नरक अधिकार) देखें।

सूत्रकृतांग के ५ वें निरय विभक्ति अध्ययन में नारकीय दुःखो का रोमांचकारी चित्रण किया है—

भंजंति णं पुव्वमरी सोरसं,
समुग्गरे ते मुसले गहेउं।
ते भिन्नदेहा, रुहिरं वमंता,
ओमुद्धगा धरणीतले पडंति॥[1]

---

१. सूत्रकृतांग १।५।२।१९

वे नारक जीव परस्पर पूर्व जन्मो का बैर याद करके रोषपूर्वक एक दूसरे का नाश करते हैं। मुद्गर लेकर एक दूसरे का मस्तक फोड़ते है, शरीर से खून बहने लगता है, टुकड़े-टुकड़े होकर औंधे सिर भूमि पर गिर पड़ते है।

नरक की वेदनाओं का विस्तृत वर्णन सूत्रों में देखना चाहिये।

मध्य लोक

इसे हम मनुष्य लोक भी कह सकते है। यद्यपि इस लोक मे व्यन्तर और ज्योतिष्क देवों व तिर्यंचो का भी वास है, लेकिन मुख्यरूप से मनुष्यों का वास यहाँ ही होने से मनुष्य लोक कहा जाता है। इसका दूसरा नाम तिर्यक् लोक भी है। जिसका कारण यह है कि इस लोक मे जितने भी द्वीप व समुद्र हैं, वे एक दूसरे को घेरे हुये दुगने-दुगने विस्तार व चूड़ी के आकार वाले होकर समतल भू-भाग पर तिरछे विस्तार मे फैले हुए है। इन सबके बीच में जम्बूद्वीप नामक द्वीप है, जो थाली के समान है और उसको लवणसमुद्र चारो ओर से घेरे हुये है। इसके बाद द्वीप, फिर समुद्र इस प्रकार से द्वीप के बाद समुद्र और समुद्र के बाद द्वीप, असंख्यात द्वीप-समुद्र है। अन्तिम द्वीप का नाम स्वयंभूरमण द्वीप और उसके बाद समुद्र का नाम स्वयंभूरमण समुद्र है।।

जम्बूद्वीप के ठीक बीच मे सुमेरू पर्वत है, जो जमीन मे एक हजार योजन और जमीन से ऊपर ९९००० योजन ऊंचा है। कुल मिला कर यह पर्वत एक लाख योजन ऊंचा है। इसके तीन काड—भाग है और ऊपर चालीस योजन की चूलिका है। मेरु पर्वत पर चार वन है—भद्रशालवन पृथ्वी के बराबर पर्वत को घेरे हुये है। पांच सौ योजन ऊपर जाने पर नन्दनवन है, जहाँ क्रीड़ा करने देव भी आया करते है। फिर बासठ हजार पांचसौ योजन ऊपर जाने पर सौमनसवन है और फिर चूलिका के चारों ओर फैला हुआ पांडुकवन है। उसमें स्वर्णमय चार शिलाएँ है जिनपर तीर्थंकरो के जन्म महोत्सव मनाये जाते है।

मेरु पर्वत के जमीन के अन्दर गये पाये के एक हजार योजन में से ऊपर नीचे एक-एक सौ योजन छोड़ने पर बीच के आठ सौ योजन के अतराल में वाणव्यंतर जाति के देव रहते है। ऊपर के सौ योजनों में भी नीचे ऊपर दस-दस योजन छोड़ कर शेष रहे ८० योजन के अंतराल मे जृम्भक देवताओ के आवास हैं। पहली पृथ्वी (प्रथम नरक) की सतह पर असंख्यात द्वीप समूह है। जिनमे मनुष्य और तिर्यंचों को छोड़कर वाणव्यन्तर जाति के देवों के नगर है और ज्योतिषि देवो की राजधानियां है।

जमीन के ऊपर रहे हुये ९९००० हजार योजन ऊचे मेरु पर्वत पर समतल

से ७६० योजन ऊपर ज्योतिषचक्र है। चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारा ये पांच प्रकार के ज्योतिषी देव हैं। यह ज्योतिष चक्र ११० योजन की ऊँचाई में है अर्थात् ७६० से लेकर ९०० योजन तक की ऊँचाई में ज्योतिषी देव हैं और उसके बाद उसकी सीमा समाप्त हो जाती है। यह ज्योतिष चक्र मनुष्यों के रहने योग्य ढाई द्वीप प्रमाण तिरछे क्षेत्र में सतत मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करता रहता है और उसके बाद के समस्त क्षेत्र में ज्योतिष चक्र (सूर्य-चन्द्र) अपने-अपने स्थान में अवस्थित है यानी मेरु की प्रदक्षिणा नहीं करता है। मनुष्यलोक में दिन-रात्रि आदि काल का ज्ञान सूर्य, चन्द्र की गति से होता है। ढाई द्वीप के बाहर दिन-रात रूप कालगणना नहीं होती।

इस मेरु पर्वत की नौ सौ योजन ऊँचाई तक मध्यलोक की सीमा समाप्त हो जाती है।

मेरु पर्वत के समतल भूमि पर जम्बूद्वीप जो एक लाख योजन लम्बा एक लाख योजन चौड़ा है, में सात क्षेत्र हैं। उनमें दक्षिण से उत्तर दिशा की गणना क्रम में सबसे पहला भरत क्षेत्र है। यह भरत क्षेत्र जम्बूद्वीप में पूर्व, पश्चिम और दक्षिण दिशा से लवण समुद्र से घिरा हुआ है और इसकी आकृति अर्ध-चन्द्र के आकार की है। इस भरत क्षेत्र के उत्तर में क्रमशः हैमवत, हरि, महा-विदेह, रम्यक, हैरण्यवत, और ऐरावत क्षेत्र है। ऐरावत क्षेत्र भी पूर्व पश्चिम और उत्तर दिशा में समुद्र से घिरा हुआ है और अर्धचन्द्राकार है। शेष पाँच क्षेत्र पूर्व पश्चिम में समुद्र से घिरे हुये है। इन सात क्षेत्रों को एक दूसरे से अलग करने वाले पूर्व पश्चिम लम्बे छह पर्वत हैं जो वर्षधर पर्वत कहलाते है। इनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

हिमवान, महाहिमवान, निषधगिरि, नीलपर्वत, रुक्मीपर्वत, और शिखरीपर्वत। ये छहों पर्वत पूर्व-पश्चिम दिशा में लवण समुद्र तक लम्बे फैले हुये हैं। इनमें से भरत और हैमवत के बीच हिमवान, हैमवत और हरिवर्ष का विभाजक महाहिमवान, हरिवर्ष और महाविदेह का विभाजक निषध, विदेह और रम्यक का विभाजक नील पर्वत, रम्यक व हैरण्यवत का विभाजक रुक्मी, पर्वत तथा हैरण्यवत और ऐरावत का विभाजक शिखरी पर्वत है।

भरत, ऐरावत तथा देवकुरु-उत्तरकुरु को छोड़कर शेष विदेह क्षेत्र कर्म-भूमियाँ कहलाती है। यहाँ के निवासी असि, मसि, वाणिज्य आदि करके अपना जीवन निर्वाह करते हैं। इन्ही क्षेत्रों के मनुष्य मोक्ष प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते है और तीर्थकरों का जन्म भी इन्ही क्षेत्रों में होता है। हैमवत, हरि, देवकुरू, उत्तरकुरु, रम्यक और हैरण्यवत क्षेत्रों में युगलिक मनुष्य रहते हैं। हैमवत और

हैरण्यवत में अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे जैसी रचना है। हरि, रम्यक में दूसरे आरे जैसी तथा देवकुरू व उत्तरकुरू में पहले आरे जैसी रचना है। देवकुरू और उत्तर कुरू को छोड़कर शेष विदेह क्षेत्र में चौथे आरे जैसी रचना होती है और यहाँ तीर्थंकर सदा विद्यमान रहते है। अभी सीमंधर तीर्थंकर विद्यमान है।

जम्बूद्वीप की दक्षिण दिशा में पूर्व, पश्चिम व दक्षिण इन तीन दिशाओं में लवण समुद्र द्वारा तथा उत्तर में पूर्व पश्चिम लम्बे हिमवान पर्वत से घिरा हुआ पाँच सौ छब्बीस योजन छह कला का चौड़ा अर्धचन्द्राकार भरत क्षेत्र है। भरत क्षेत्र के मध्य भाग में पूर्व पश्चिम लम्बा, पचास योजन चौड़ा और पच्चीस योजन ऊँचा वैताढ्य पर्वत है। हिमवान् पर्वत से निकली हुई और क्रमशः पूर्व तथा पश्चिम दिशा में बहने वाली गंगा और सिन्धु नदियों व वैताढ्य पर्वत द्वारा किये गये विभाजन से भरत क्षेत्र के छह खड हो जाते है। इन छह खण्डों पर राज्य करने वाला चक्रवर्ती कहलाता है। भरत क्षेत्र की तरह उत्तर में स्थित ऐरावत क्षेत्र की रचना भी समझना चाहिये। इन दोनों क्षेत्रों में रहने वाले मनुष्य आदि की श्री, बुद्धि आदि में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के छह छह आरों के द्वारा वृद्धि-ह्रास होता रहता है। इस समय दोनों क्षेत्रों मे अवसर्पिणी काल का पाँचवाँ आरा दुषमा काल है।

एक लाख लम्बे-चौड़े जम्बूद्वीप को घेरे दो लाख की लम्बाई-चौड़ाई वाला लवणसमुद्र है। उसके बाद चार लाख की लम्बाई चौडाई वाला लवण समुद्र को घेरे हुए धातकीखण्ड द्वीप है और इस धातकीखण्ड को भी घेरे हुए आठ लाख की लम्बाई चौड़ाई वाला कालोदधि नामक समुद्र है। इस कालोदधि नामक समुद्र को घेरे सोलह लाख के लम्बे चौड़े विस्तार वाला पुष्कर द्वीप है। इसके बाद पुष्कर समुद्र आदि ही दूने-दूने विस्तार वाले असंख्यात द्वीप, समुद्र है। अन्तिम द्वीप का नाम स्वयंभूरमण और समुद्र का नाम भी स्वयंभूरमण है।

तीसरे द्वीप—पुष्करद्वीप के ठीक मध्य में बलयाकार मानुषोत्तर पर्वत है जिससे उसके आठ-आठ लाख योजन विस्तार वाले दो समान भाग हो जाते हैं। जिससे जम्बूद्वीप, लवण, समुद्र, धातकी खण्ड, कालोदधि और आधे पुष्कर द्वीप तक मे मनुष्यो का निवास होता है। इसके आगे मनुष्य नही होते है, सिर्फ तिर्यंच जीवों का वास है। यह मनुष्यक्षेत्र पन्द्रह लाख योजन लम्बा-चौड़ा विस्तार वाला है।

इन दुगुने-दुगुने विस्तार वाले द्वीपों में भरत आदि क्षेत्र, हिमवान पर्वत आदि पर्वत और सुमेरु पर्वत जम्बूद्वीप से दूने-दूने हैं। पुष्करार्ध द्वीप तक

पन्द्रह भरत आदि क्षेत्र हो जाते है और वे मनुष्यों के निवास योग्य हैं। इन क्षेत्रों में भी जम्बूद्वीप के क्षेत्रों के समान कर्मभूमि भोगभूमि की रचना है। लवण समुद्र, कालोदधि समुद्रों के बीच में अनेक अन्तर्द्वीप हैं जिनमें युगलिक मनुष्य रहते हैं और यहाँ भोगभूमियों के समान मनुष्यों को जीवन निर्वाह के साधन उपलब्ध हैं।

मध्य लोक के इस कथन का सारांश यह है कि इस लोक में द्वीप और समुद्र असंख्यात हैं। वे क्रम से द्वीप के बाद समुद्र और समुद्र के बाद द्वीप इस तरह अवस्थित हैं। इन द्वीप, समुद्रों के सबसे बीच में जम्बूद्वीप नामक द्वीप है। उसकी रचना थाली के समान है और शेष द्वीप, समुद्रों की रचना एक दूसरे को घेरे हुए वलय (चूडी) के आकार की है। जम्बूद्वीप में भरतादि सात क्षेत्र, हिमवान आदि छह वर्षधर, गंगा सिन्धु आदि चौदह नदियाँ तथा एक सुमेरु पर्वत है और उसके बाद के सभी क्षेत्रों में अपने पूर्व द्वीप से दूने-दूने क्षेत्र आदि है और उनके नाम जम्बूद्वीप के क्षेत्र, पर्वतों के नाम जैसे ही है। पुष्कर द्वीप के मध्य मानुषोत्तर पर्वत है और इस पर्वत के पूर्व तक ही मनुष्य पाये जाते हैं। इसलिए जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और आधा पुष्करद्वीप यह ढाई द्वीप व लवण समुद्र और कालोदधि समुद्र पर्यन्त क्षेत्र में मनुष्य पाये जाते है। मानुषोत्तर पर्वत के बाद मनुष्यों का वास नहीं है, किन्तु तिर्यंच जीव पाये जाते है। भरत, ऐरावत तथा देवकुरु उत्तरकुरु को छोड़कर शेष विदेह क्षेत्रों में कर्मभूमियाँ है, बाकी के क्षेत्रो में भोगभूमियाँ है।

ढाई द्वीप में कुल मिलाकर पांच मेरु, तीस वर्षधर पर्वत, पांच भरत, पाँच ऐरावत, पाँच हैमवत, पाच हैरण्यवत, पाँच हरि, पाँच रम्यक, पाच विदेह पाँच देव कुरु, पाँच उत्तरकुरु कुल मिलाकर पैंतालीस क्षेत्र है।

मध्य लोक मे मनुष्यो और तिर्यचों की उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम और जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

उर्ध्वलोक

इस लोक मे वैमानिक देवों के विमान व उन सबके ऊपर लोकान्त में सिद्धशिला स्थित है। इसका प्रारम्भ मेरु पर्वत की चोटी से एक बाल मात्र अन्तर से प्रारम्भ होता है। देवों के भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक ये चार भेद है। इनमें से वैमानिक देवों के विमान ऊर्ध्वलोक में में है। विमानों को स्वर्ग भी कहते हैं।

ये वैमानिक देव भी दो प्रकार के हैं—कल्पोपपन्न और कल्पातीत। जहाँ मनुष्य लोक की तरह स्वामी-सेवक, राजा-प्रजा का व्यवहार होता है, उसे कल्प कहते हैं और कल्प में उत्पन्न होने वाले देवता कल्पोपपन्न कहलाते हैं। जहाँ

राजा, प्रजा आदि का व्यवहार नही होता व स्वर्ग कल्पातीत हैं और उनमे उत्पन्न होने वाले देव कल्पातीत कहलाते है। इन कल्पातीत देवताओं को अहमिन्द्र भी कहते है।

कल्प बारह है—१. सुधर्म, २. ईशान, ३. सनत्कुमार, ४. महेन्द्र, ५. ब्रह्म, ६. लान्तक, ७ शुक्र, ८. सहस्रार, ९. आनत, १०. प्राणत, ११. आरण और १२. अच्युत।

कल्पातीत चौदह हैं—नव ग्रैवेयक एव पाच अनुत्तर। नव ग्रैवेयक के नाम हैं (१) भद्र, (२) सुभद्र, (३) सुजात, (४) सौमनस, (५) प्रियदर्शन, (६) सुदर्शन, (७) अमोघ, (८) सुप्रबुद्ध, (९) यशोधर। (१) विजय, (२) वैजयंत (३) जयन्त, (४) अपराजित और (५) सर्वार्थसिद्धि ये पाच अनुत्तर विमानों के नाम हैं। ये सब मिलाकर छब्बीस देवलोक होते है। इनमे विमानों की संख्या कुल मिलाकर चौरासी लाख सत्तानवे हजार तेईस है।

कल्पोपन्न देव कहलाने का कारण यह है कि उनमें इन्द्र, सामानिक, यात्रस्त्रिश, पार्षद्य, आत्मरक्षक, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोगिक और किल्विषिक के द्वारा इस प्रकार की कल्पना होती है।

इन्द्र—ये सभी देवों के स्वामी होते है। यह पद राजा, शासनकर्ता जैसा है।

सामानिक—इन्द्रत्व को छोड़कर शेष सभी बातो में इन्द्र के समान होते है।

त्रायस्त्रिश—ये इन्द्रों के गुरु के समान पूज्य होते हैं। राज पुरोहित का कार्य करते है। इनकी संख्या तेतीस होती है।

पार्षद्य- इन्द्र की सभा के सदस्य होते है। ये मंत्री आदि की तरह होते है। इन्द्र को सलाह आदि देते है।

आत्मरक्षक—ये इन्द्र के अगरक्षक जैसे होते हैं।

लोकपाल—ये सीमा की रक्षा करने वाले जैसे होते है।

अनीक—ये देवता सेना और सेनापति के रूप में कार्य करते है।

प्रकीर्णक—ये देशवासी जैसे साधारण प्रजाजन।

आभियोगिक—दास-दासी तुल्य होते है।

किल्विषिक—ये अन्त्यज की तरह के होते है।

यह दस प्रकार का विभाग देवो में सुधर्म आदि बारह कल्पों में होती है। इन बारह कल्पों में सुमेरु पर्वत से असख्यात कोडा-कोडी योजन ऊपर पहला और दूसरा देवलोक है। ये दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए है। इनकी लम्बाई चौडाई असख्यात योजन की है। इन दो देव विमानों के असंख्यात योजन ऊपर तीसरा

और चौथा देव लोक है। ये भी आपस में जुड़े हुय हैं। वहाँ से असंख्यात योजन के अन्तर से एक दूसरे के ऊपर पांचवां, छठा, सातवां, आठवां देवलोक है। आठवें देवलोक से असंख्यात योजन दूर जुड़े हुये नौवें और दसवें देवलोक हैं। वहां से इतनी ही दूरी पर ग्यारहवें और बारहवें देवलोक आपस में जुड़े हुये है।

कल्पातीत विमानों की स्थिति इस प्रकार है। ग्यारहवे बारहवें देवलोक से असंख्यात योजन ऊपर नव ग्रैवेयक विमान है। ये विमान तीन पाथड़ों में है और एक-एक पाथड़े में तीन-तीन ग्रैवेयक है जिनमे ग्रैवेयक जाति के देव रहते है। इन ग्रैवेयक विमानों के ऊपर पाच अनुत्तर विमान है जो चारों दिशाओ मे चार और बीच में सर्वार्थसिद्धि नामक विमान है। अनुत्तर विमानों में निवास करने वाले देवता सर्वोत्कृष्ट होते है और सम्यग्दृष्टि ही होते हैं। ये योगी की तरह निर्विकार, सरल, भद्रपरिणामी होते है। ये सभी मोक्षगामी होते है और अधिक से अधिक तीन या पाँच भव धारण करते है।

पाँच अनुत्तर विमानो से ऊपर बारह योजन के अन्तर पर सिद्धिशिला है। यही लोक या धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों की सीमा समाप्त होती है।

इन वैमानिक देवों का शरीर वैक्रिय होता है तथा आयु का प्रमाण क्रमशः इस प्रकार है—प्रथम स्वर्ग वालों की आयु जघन्य एक पल्य व उत्कृष्ट दो सागर, दूसरे वालों की जघन्य साधिक एक पल्य और उत्कृष्ट साधिक दो सागर। तीसरे में दो और सात सागर, चौथे में साधिक दो और साधिक सात सागर, पाँचवें में सात दस, छठे मे दस चौदह, सातवें मे चौदह सत्रह, आठवें मे सत्रह अठारह, नौवे में अठारह उन्नीस दसवें में उन्नीस बीस, ग्यारहवें में बीस इक्कीस बारहवें मे इक्कीस बाईस सागर की आयु है।

ग्रैवेयकों मे जघन्य बावीस और उत्कृष्ट इकतीस सागर की आयु है जो क्रमशः एक-एक ग्रैवेयक मे एक एक सागर बढ़ते हुये नौवे ग्रैवेयक मे इकतीस सागर की होती है। अनुत्तर विमानवासियों की आयु जघन्य इकतीस सागर तथा उत्कृष्ट तेतीस सागर की है। सर्वार्थसिद्धि विमानवासियो की जघन्य और उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर की होती है।

इन वैमानिक देवों में नीचे-नीचे के देवों की अपेक्षा ऊपर (१) स्थिति, (२) प्रभाव, (३) सुख, (४) द्युति, (५) लेश्या विशुद्धि, (६) इन्द्रिय विषय और (७) अवधि ज्ञान अधिक है और गति (गमन करने की शक्ति और प्रवृत्ति), (२) शरीर अवगाहना, (३) परिग्रह, (४) अभिमान, इन चार बातों की न्यूनता पाई जाती है।

ये देवगण सम्यग्दृष्टि भी होते है और मिथ्यादृष्टि भी हो सकते हैं। मिथ्या दृष्टि देव नव ग्रैवेयक तक पाये जाते हैं। अनुत्तर विमानों में तो सभी

देव सम्यग्दृष्टि होते हैं। ये सभी देव त्याग तपस्या आदि बिलकुल नहीं कर सकते हैं।

लोक के अधः, मध्य और ऊर्ध्व इन तीनों में रहने वाले जीवों की जीवन सम्बन्धी व्यवस्था का ऊपर संकेत किया गया है। जीव अपने-अपने कृतकर्मों के अनुसार इन स्थानों को प्राप्त कर वहाँ सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। इस सुख-दुःख की प्राप्ति, वृद्धि-हानि के क्रम का संक्षेप में नीचे संकेत करते है।

सुख-दुःख की हानि-वृद्धि का क्रम

लोक में रहने वाले प्राणियों के सुख-दुःख के बारे में सामान्यतः शास्त्रों में कहा गया है—

मच्चुणाऽभाहओ लोओ जराए परिवारिओ।[1]

यह संसार मृत्यु से पीडित है एवं जरा से घिरा हुआ है तथा शरीर व मन सम्बन्धी अनन्त वेदनाएं है। नरक आदि दुःख रूप फलों के देने वाले है। यहां जन्म का दुःख है, मरण का दुःख है, वृद्धावस्था का दुःख है और बारम्बार दुःखों से सम्बन्ध जोड़ने वाला है। अतः ज्ञानीजनों को इस सम्बन्ध से राग नहीं करना चाहिये। फिर भी इस लोक में धर्मसाधना करने के अवसर मिलते है, मोक्षप्राप्ति भी संसारी जीव करता है, इस दृष्टि से संसार में कुछ सुख भी है। इस सुख-दुःख में किस प्रकार हानि और वृद्धि होती है और किस गति में दुःख और सुख कितना और कैसा है आदि के बारे में बताया गया है—

उच्चैरुच्चैर्वर्तते सौख्यभूमि-
र्नीचैर्नीचैर् दुःख वृद्धिः प्रकामम्।
लोकस्याग्रेऽस्त्युत्कटं सौख्यजातं,
नीचैः प्रान्ते दुःखमत्यन्तमुग्रम्॥[2]

—लोक के निचले हिस्से से जैसे-जैसे ऊपर की ओर बढ़ते जायेंगे वैसे-वैसे दुःख कम और सुख की वृद्धि होती जाती है और ऊपरी भाग में भी जैसे-जैसे नीचे की ओर आते हैं तो दुःख में वृद्धि होती जाती है और ऊपर की ओर बढ़ने पर सुख बढ़ता जाता है। लोक के चरम ऊपरी भाग पर जहां सिद्ध जीव रहते हैं उत्कृष्टम सुख ही सुख है और लोक के सबसे नीचे हिस्से सातवे नरक में उत्कट से उत्कट भयकर दुःख है।

उक्त श्लोक में यह बताया गया है कि लोक के उच्च और नीच प्रदेश में सुख-दुःख की कैसी स्थिति है। लोक में सबसे नीचे नारकी, मध्य में मनुष्य

१ उत्तराध्ययन १४।२३ २. भावनाशतक ८०

तिर्यंच, ऊपर देवता और इन देवताओं से ऊपर लोक के अग्रभाग में सिद्ध भगवान रहते हैं। सिद्ध भगवान तो सर्व प्रकार के दुःखों से अतीत होकर अनन्त सुख का अनुभव सदैव करते रहते हैं।

लेकिन संसारी जीव जो सातवें नरक से लेकर ऊपर सर्वार्थसिद्धि विमान पर्यन्त रहते हैं, उनमें नीचे सातवें नरक के नारकी को जितना दुःख है उतना ही ऊपर बसने वाले सर्वार्थसिद्धि विमान के देवताओं को सुख है। यानी सातवें नरक में दुःख की चरम सीमा है और सर्वार्थसिद्धि विमान में सुख की उत्कृष्ट सीमा है। आयुष्य दोनों जगह तेतीस सागरोपम है। अतः सातवें नरक के जीवों को इतने लम्बे समय तक दुःख भोगना पड़ता है और सर्वार्थसिद्धि का वासीदेव इतने लम्बे समय तक सुख का भोग करता है।

नारकी जीवों की दुःखस्थिति का वर्णन करते हुए कहा है—

ते घोर रूवे तमिसंधयारे तिव्वाभितावे नरए पडंति।[1]

वे जीव नरक में पड़ते हैं। जिसका दृश्य अत्यन्त घोर भयंकर है, घोर अन्धकार से भरा हुआ है और वहाँ की स्वाभाविक गर्मी इतनी तीव्र है कि उसके आगे अग्नि का ताप तो किसी गिनती में नहीं है। यहाँ हम अग्नि की गर्मी को अधिक तीव्र मानते हैं, उससे भी अनन्त गुनी अधिक गर्मी की वेदना नारकी जीवों को भोगना पड़ती है। इसी प्रकार शीत की स्थिति है कि हम हिमालय की बर्फीली ठण्ड को अधिक शीतकारी मान लें, लेकिन उससे भी अनन्त गुनी शीत नरकों में होती है। यह तो नरकों में क्षेत्रजन्य दुःख का संकेत है। लेकिन नरकों में रहने वाले जीव परस्पर में एक दूसरे को किस प्रकार कष्ट पहुँचाते हैं और परमाधार्मिक देव कैसे दुःख देते हैं? वहाँ जीव की होने वाली स्थिति का वर्णन करते हुये कहा है—

हण छिंद भिंद ण दहेति सद्दे सुणित्ता परहम्मियाणं।
ते नारगाओ भय भिन्न सन्ना कंखंति कन्नाय दिसवयामो॥[2]

इसे मारो, इसे काटो, इसे भेद दो, इसे जला दो, इस प्रकार के परमाधार्मिक देवों के शब्द सुनकर भयभीत हुये नारकी जीव भाग छूटने का रास्ता खोजते हैं किन्तु उन्हें कहीं भाग छूटने या दो क्षण विश्राम लेने का भी अवकाश नहीं मिलता है सदैव वेदना को भोगते रहते हैं। यदि कोई नरक से भागने की कोशिश करता है तो वे परमाधार्मिक देव त्रिशूल से भेदकर उसे नीचे पटक देते हैं तथा अन्य प्रकार से कल्पनातीत दुःखों को देते रहते हैं।

---

१. सूत्रकृतांग-गा० १।५।१।३
२. सूत्रकृतांग १।५।१।६

नरकों की वेदना का यह संक्षेप में संकेत किया गया है और सातों नरकों में पहले की अपेक्षा दूसरे में, दूसरे की अपेक्षा तीसरे में यावत सातवें नरक पर्यन्त अधिक-अधिक वेदना का भोग करना पड़ता है। इस वेदना का वर्णन अनेक ग्रन्थ लिख देने पर भी पूरा नहीं हो सकता है।

अधोलोक के ऊपर मध्यलोक है। इसमें मुख्यतः मनुष्य और तिर्यंच बसते हैं। यहाँ भी दुःख का रूप है—

सारीरमाणसाहं दुःक्खाहं तिरिक्खजोणिए।
माणुस्सं च अणिच्च वाहिजराण वेयणा पउणा॥

अर्थात् तिर्यंच गति में शारीरिक और मानसिक दुःख है। मनुष्य गति में आयु की अस्थिरता, व्याधि, रोग, जरा, मरण आदि की प्रमुख वेदना है।

तिर्यंच और मनुष्यों के दुःखों का भी पार नहीं है। अनेक प्रकार की आधि-व्याधि लगी हुई है। शारीरिक, मानसिक दुःख प्रतिक्षण होता रहता है। फिर भी वह दुःख नरक जैसा नहीं है, नरकों से कम है। मध्य लोक में नरकों जैसी उष्ण वेदना, शीत वेदना, भूख-प्यास की वेदना तो नहीं भोगनी पड़ती है लेकिन वेदना तो होती ही है।

ऊर्ध्वलोक में वैमानिक देव रहते हैं। इन देवताओं को मध्य लोक के बराबर दुःख तो नहीं है। आयु, शरीर, ऋद्धि, वैभव आदि के सुख हैं। जैसे-जैसे ऊपर को जाये वैसे-वैसे आयु, वैभव, सुख-साधनों में वृद्धि होती रहती है। कषाय मन्द होने से परिणामों में निर्मलता रहती है। इसीलिये नीचे के विमानों की अपेक्षा ऊपर के देव विमानों में सुख अधिक है। सर्वार्थसिद्धि के देवों का सुख तो कथनातीत है। तेतीस सागरोपम की दीर्घ आयु में सुख ही सुख का अनुभव करते हैं।

इस ऊर्ध्वलोक में सर्वार्थसिद्ध विमान से भी ऊपर लोक के अग्र भाग में सिद्ध आत्मायें विराजमान हैं। उनको प्राप्त होने वाले सुखों के बारे में कहा है कि—

जवि अत्थि माणुसाणं तं सोक्खं णविय सव्वदेवाणं।
जं सिद्धाणं सोक्खं अव्वाबाहं उवगयाणं॥
जं देवाणं सोक्खं सव्वद्धपिंडिय अणंतगुणं।
नय पावइ मुत्तिसुहं णं ताहि वागवग्गूहिं॥
सिद्धस्स सुहोरासी सव्वद्धा पिंडिओ जइ हवेज्जा।
सोऽणतवग्गा भइओ सव्वागासे ण मायेज्जा॥
जइणाम कोई मिच्छो नगरगुणे बहुविहे वियाणंतो।
न चइये परिकहेउं उवमाहिं तहिं असन्तीए॥[1]

---

१. उववाईसिद्धवर्णन

सिद्ध भगवान जो सुख भोगते हैं वह अव्याबाध है, उपमा रहित है और वह सुख मनुष्य अथवा देवता किसी को भी प्राप्त नहीं है। यदि देवताओं के सभी कालों के सभी सुखों को एकत्रित करके पिंड बना लिया जाये और उन्हें अनन्त गुण कर लिया जाये और उसके भी अनन्त-अनन्त वर्ग बना लिये जायं तो भी वह सुख सिद्धों के सुख के बराबर नहीं हो सकता है। सिद्ध भगवान के समस्त सुख का एक एक पिंड बनाकर उसके अनन्त भाग कर लें और उसमें से एक अंश भाग को आकाश में बिखेर दें तो लोक-अलोक दोनों आकाश भर जाएंगे फिर भी वह पूरा नहीं होगा।

सिद्धों के होने वाले सुख की उक्त उपमाओं का सारांश यह है कि वह सुख अनुपम है, निरुपाधिक, दुःख-रहित एकान्त सुख है। सिद्धों के होने वाला सुख आत्मजन्य होने से उसकी इन्द्रियविषय-जन्य सुखों से तुलना नहीं की जा सकती है और न उसके वर्णन करने की शक्ति किसी भी इन्द्रिय में है। यह सुख तो अनुभूतिजन्य है और अनुभव करने वाला ही उसको जान सकता है। लोकभाषा में इस सुख के लिए यही कहा जा सकता है कि गूगा मिश्री के स्वाद को कैसे कह सकता है।

इस प्रकार से लोक के उच्चतम स्थान पर आत्यन्तिक सुख है और वहाँ से क्रमशः नीचे-नीचे सुख में न्यूनता आते-आते मध्यलोक में सुख की मध्यम स्थिति है और अधोलोक में दुःख ही दुःख है। इसलिये एकान्त सुख प्राप्त करना है तो जीव को अपने ऊर्ध्वगमन स्वभाव को विकसित करने के लिये प्रयत्नशील बनना चाहिये जिससे अन्त में लोकाग्र में स्थित हो सके।

लोक नित्य है

षड्द्रव्य मयी इस लोक में जीव अपने परिणामों के द्वारा सुख-दुःख का वेदन करता रहता है। जीव स्वयं कर्मों का कर्त्ता है और स्वय ही उन कर्मों के फलस्वरूप नारकादि पर्यायो को प्राप्त होता है। कर्मों का फल भोग कराने के लिये अन्य कोई शक्ति ईश्वर आदि नही है। किसी ने इस लोक को बनाया नही है और न अन्य कोई इसका रक्षक व संहारक है। लोक न तो कभी नया उत्पन्न हुआ है और न कभी इसका अन्त होने वाला है किन्तु अनादि अनन्त है तथा जीव-अजीव द्रव्यों से भरा हुआ है। लोक के कर्तृत्व आदि का निषेध और इसके नित्यत्व का संकेत करते हुए श्री शतावधानी रत्नचन्द जी महाराज कहते हैं—

नायं लोको निर्मितः केनचिन्नो, कोऽप्यस्यास्ति त्रायको नाशको वा।
नित्योऽनादिः संभृतोजीवाजीवं वृद्धि ह्रासौ पर्ययानाश्रयन्ते ॥[1]

१. भावनाशतक ७५

इस लोक को किसी ने बनाया नहीं है और न कोई इसका त्रायक (रक्षक) व नाशक है किन्तु यह नित्य और अनादि है, जड़-चेतन—जीव और अजीव द्रव्यों से व्याप्त है तथा उन द्रव्यों की पर्यायों की उत्पत्ति विनाश उत्पाद-व्यय द्वारा रूप से रूपान्तरित—अवस्था से अवस्थान्तरित होता रहता है। यानी धर्मादि छह द्रव्यों में द्रव्य रूप से तो कभी हानि-वृद्धि नहीं होती है लेकिन जो हानि-वृद्धि दिखलाई पड़ती है वह उन द्रव्यों की अपनी-अपनी पर्यायों में होने वाली हानि-वृद्धि है। लेकिन लोक अनादि नित्य है—

कालओ णं लोए न कयाइं न आसी, न कयाइं न भवइ न कयाइं भविस्सइ। भविंसु य भवइ य, भविस्सई य। धुवे णिइए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे। णत्थि पुण से अन्ते।[1]

काल की अपेक्षा लोक का विचार करने पर ज्ञान होता है कि वह भूत-काल में किसी समय नहीं था, ऐसा नहीं है। वर्तमान काल में नहीं है ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है और भविष्य में भी किसी समय नहीं होगा ऐसा कहना भी युक्तिसंगत नहीं है। वह था, है, रहेगा यही कहा जा सकता है। वह ध्रुव है, नियत है, शाश्वत है, अक्षय है, अवस्थित है और नित्य है, अतः उसका कभी अन्त होने वाला नहीं है।

जब भूत, वर्तमान और भविष्य काल में लोक यथारूप से विद्यमान रहने वाला है तब वह नित्य ही है यानि अनादि से अनन्त काल तक रहने वाला है। यह कृत्रिम नहीं है और कभी बना भी नहीं है तो इसके नये बनने और बनाने वाले का प्रश्न नहीं उठता है, लेकिन इस सिद्धान्त को न समझने वाले कहते है कि जगत बनाया हुआ है और इसका बनाने वाला ईश्वर है। जगत व उसके कर्त्ता ईश्वर के बारे मे उनका कहना है—

कर्तास्ति कश्चिद् जगतः स चैकः स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः।[2]

इस जगत (लोक) का कोई न कोई कर्त्ता—बनाने वाला **अवश्य है और** वह कर्त्ता एक है, सर्वव्यापी है, स्वतन्त्र है और नित्य है।

लेकिन इस विडम्बना पूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वालों की प्रताड़ना करते हुए श्लोक के उत्तरार्द्ध में कहा है—

इमा कुहेवाकविडम्बनाः स्युस्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम् ॥

अर्थात् इस प्रकार के विडम्बनापूर्ण दुराग्रह से भरे हुए विचारो का प्रति-

---

१. भगवती २।१

२. स्याद्वाद मंजरी, श्लोक ६

पादन कौन करते हैं ? जिनके हे नाथ ! आप अनुशासक नहीं है—आप मार्गदर्शक नहीं है। क्योंकि यह लोक तो धर्मास्तिकाय आदि छह द्रव्यों का समुदाय रूप है। इन षड्द्रव्यों में न तो कोई द्रव्य कम होने वाला है न अधिक। सदैव इनकी संख्या भी छह रहने वाली है। इन छह द्रव्यों से कोई एक द्रव्य न होता और उसको ईश्वर ने नया बनाया होता तब भी लोक ईश्वर के द्वारा बनाया हुआ कह सकते थे और ईश्वर लोक का कर्त्ता माना जाता पर, वैसा नहीं है।

यह लोक कार्य है और ईश्वर उसका कर्त्ता है, उसको सिद्ध करने के लिए कहा जाता है कि पृथ्वी आदि कार्य होने से किसी बुद्धिमानकर्त्ता द्वारा बनाये गये हैं जैसे घट पट आदि। लेकिन यह कथन युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि जैसे घट पट आदि का दृश्य शरीर वाला कर्त्ता दिखलाई देता है, वैसे पृथ्वी आदि का सशरीरीकर्त्ता दिखता है। तथा अदृश्य शरीर वाले ईश्वर को सिद्ध करने के लिये कोई प्रमाण नहीं है। यदि माहात्म्य विशेष से ईश्वर के अदृश्य शरीर की सिद्धि मानी जाये तो पहले माहात्म्य विशेष सिद्ध हो तब ईश्वर को सिद्ध करने वाले अदृश्य शरीर की सिद्धि होगी और ईश्वर के अदृश्य शरीर की सिद्धि होने पर ईश्वर की सिद्धि मानने पर इतरेतराश्रय दोष आता है।

ईश्वर एक है और वह इस विचित्र लोक का निर्माण करता है तो यह कथन सत्य नहीं है, क्योंकि घट का बनाने वाला कुम्भकार अलग है और पट को बनाने वाला जुलाहा पृथक् सिद्ध है। अतः जब कार्यों की भिन्नता से उसके भिन्न-भिन्न कर्त्ता प्रत्यक्ष दिख रहे हैं तो एक को सब का कर्त्ता कैसे माना जा सकता है ? ईश्वर सर्वगामी भी नहीं है क्योंकि ईश्वर को शरीर से सर्वव्यापी नहीं माना जा सकता है। शरीरधारी जीवों को हम किसी स्थान विशेष में ही देखते है और वह उसी स्थान पर कार्य कर सकता है। इसी प्रकार से यदि ईश्वर स्वतन्त्र व परम दयालु है तो उसने दुखी जीवों का निर्माण क्यों किया ? उसे तो सर्वत्र सुखी जीवों का ही निर्माण करना चाहिए था।

जगत कर्त्ता ईश्वर नित्य भी नहीं है। यदि नित्य माना जाये तो सदैव सृष्टि की उत्पत्ति होते रहना चाहिए, कभी भी विश्राम नही लेना चाहिए ; यदि कहें कि ईश्वर नित्य होकर इच्छावश सृष्टि का निर्माण करता है तो उसके अविराम निर्माण करने की शक्ति में दोष आता है। ईश्वर के नित्य होने से इच्छाओं को भी नित्य होना चाहिए किन्तु कार्यों की भिन्नता से उसकी इच्छाओं में भी विषमता (नाना प्रकारता) का दोष आता है। अतः ईश्वर जगत का कर्त्ता नहीं हो सकता है।

ईश्वर को कर्त्ता मानने के सम्बन्ध में यह भी विचारणीय है कि ईश्वर से पहले जगत में कोई द्रव्य नहीं था तो ईश्वर था कहां ? वह किस आधार पर रहता था ? ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानने वालों को ईश्वर का अस्तित्व सृष्टि से पहले मानना ही पड़ेगा और उसकी स्थिति किसी न किसी स्थान पर माननी पड़ेगी और वह स्थिति आकाश के बिना नहीं हो सकती, अतः ईश्वर से पहले आकाश द्रव्य का अस्तित्व मानना ही चाहिये। ईश्वर के चैतन्य रूप होने से जीव द्रव्य का सद्भाव स्वयंमेव सिद्ध हो गया। जिस काल में जगत नहीं था और ईश्वर था, तो इससे काल द्रव्य भी जगत से पूर्व का सिद्ध मानना पड़ेगा। लोक का निर्माण शून्य से हुआ नहीं, कुछ न कुछ निर्माण तत्व अवश्य थे, जिनसे यह जगत बना, इससे पुद्गल द्रव्य का अस्तित्व सिद्ध हो गया। पुद्गलों के खण्डन-विखण्डन, आकर्षण-विकर्षण के बिना आकारों का बनना सम्भव नहीं है। अतः इस खण्डन-विखण्डन आदि की क्रिया में सहायक धर्मास्तिकाय की सिद्धि हो जाती है। आकारों की स्थिति के लिए अधर्मास्तिकाय को मानना भी जरूरी है। इस खन्डन और विखन्डन स्थिति से धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय की जगत निर्माण होने से पूर्व सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार से ईश्वर को जगतकर्त्ता मानने से पूर्व ही धर्मास्तिकाय आदि षड्द्रव्यों का अस्तित्व मानना सिद्ध होता है और लोक के निर्माण में यही षड्द्रव्य कारण है अन्य कोई सातवाँ द्रव्य दिखता नहीं जिसे ईश्वर ने बनाया हो।

ईश्वर ने धर्मादि द्रव्यों का संयोग भी नहीं किया है। क्योंकि ये षड्द्रव्य ईश्वर द्वारा आपस में संयोग कराने से पूर्व खण्ड-खण्ड रूप में नहीं थे लेकिन ये सभी द्रव्य लोकव्यापी है, अखण्ड हैं अतः एक खण्ड पहले था और दूसरा खण्ड बाद में बना हुआ नहीं कह सकते है। यदि यह कहा जाये कि अमूर्त धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव ये पाँच द्रव्य तो पहले से थे किन्तु मूर्त-पुद्गल द्रव्य का संयोग ईश्वर ने कराके सृष्टि की रचना कर दी तो यह और भी उपहासास्पद कल्पना है। क्योंकि अमूर्त से मूर्त द्रव्य का अशरीरी ईश्वर ने सम्बन्ध क्यों कराया ? तथा ऐसा मानने पर अशरीरी ईश्वर को हम शरीरधारी जीवों के समान शरीरवान मानना पड़ेगा और वैसा मानने पर स्वयं ईश्वर-वादियों के मत का खण्डन हो जाता है। साथ ही यह भी सोचना पड़ता है कि अशरीरी ईश्वर के पास पुद्गल परमाणु आये कहाँ से ? पुद्गलो के बिना यह पुद्गल रूप जगत बना कैसे ? गीता का सिद्धान्त है कि—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

असत् सत् हो नहीं सकता और सत् से असत् बनता नहीं है। अतः बिना पुद्गलों के यह पुद्गलमय जगत बनना सिद्ध नहीं होता है।

इसी प्रकार से ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता मानने में अन्य अनेक प्रकार के दोष दिखते हैं और शंकाएँ पैदा होती हैं जिनका समाधान ईश्वरवादियों के पास नहीं। इसके बदले यहीं युक्तिसंगत सिद्ध होता है कि जीव–कर्म और वस्तुओं के विविध स्वभावों के कारण लोक में विभिन्न परिवर्तन होते रहते हैं और धर्मादि षड् द्रव्य अपने मूल स्वभाव में स्थिर रहकर परिवर्तन करते हैं। उनकी पर्यायों में वृद्धि-हानि, चय-उपचय होता रहता है। किन्तु लोक शाश्वत है, नित्य है, जीव अजीव से भरा हुआ है और न उसका कोई निर्माता है न संहरता आदि है—

अणंते नितिए लोए सासए न विणस्सइ।[1]

साथ ही नरक आदि गतियों के द्वारा जीव लोक में नाना प्रकार के दुखों का वेदन करता है। यह सब अनादि काल से होता आ रहा है और समय की दृष्टि से अनन्त पुद्‌गल परावर्तन व्यतीत हो चुके हैं और भविष्य में भी व्यतीत होते रहेंगे।

लोक का यह संक्षिप्त स्वरूप जैन आगमों के अनुसार यहां बताया गया है। अन्य दर्शनों में कुछ विभिन्नता भी है, उसकी चर्चा यहां प्रासंगिक नही हैं। आज के विज्ञान, भूगोल-खगोल आदि की दृष्टि से भी कुछ बातें चर्चनीय हो सकती हैं, लेकिन मुख्य बात तो यह है कि जो स्वरूप केवली भगवान ने बताया है, वह अतीन्द्रिय ज्ञान से देखा है, आध्यात्मिक योग दृष्टि से अनुभव किया है। आज का विज्ञान सिर्फ भौतिक यन्त्रों से ही इन चीजो को देख रहा है। वह विकास कर रहा है, जैसे-जैसे भूगोल-खगोल सम्बन्धी ज्ञान बढ़ता जा रहा है वैसे-वैसे वह अपनी पुरानी धारणाओं में संशोधन कर रहा है। आज से पचास वर्ष पूर्व क्या, दस वर्ष पूर्व का विज्ञान और आज का विज्ञान भी एक दूसरे के काफी विरोध में चला गया है और नई धारणाएँ बनाई है। अपनी ही पुरानी धारणाओं को असत्य बना रहा है, ऐसी स्थिति में आज के विज्ञान को अन्तिम सत्य नहीं माना जा सकता। स्वयं वैज्ञानिकों में भी परस्पर मतभेद है। अतः हम भौतिक विज्ञान को वहीं तक सत्य मानेंगे जहाँ तक कि सर्वज्ञ-वचनों में साक्षात् विरोध अर्थात् प्रत्यक्ष विरोध न हों।

लोक भावना में लोक स्वरूप का चिन्तन इसलिए बताया गया है कि इस विशाल लोक में यह आत्मा अनन्त-अनन्त जन्म-मरण कर चुका है, कभी नरक में, कभी निगोद में और कभी स्वर्ग की उच्चतम भूमिका तक चला गया है

---

१. सूत्रकृतांग १।४।६

लेकिन जब तक आत्म-स्वरूप की पहचान नहीं हुई तब तक भ्रमण ही करता रहा। इस अनन्त लोक यात्रा का अन्त नहीं आया।

दूसरी बात लोक की विचित्र स्थितियों का अवलोकन, मनन करने से मन धर्म के प्रति, जिन वचनों के प्रति श्रद्धाशील होगा। चिन्तन में एकाग्रता आयेगी और जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा पाने के मार्ग की खोज प्रारम्भ होगी।

लोक भावना एक प्रकार से अनादिकालीन लोकयात्रा का अन्त खोजने की एक कुंजी है, लोक-स्वरूप को समझकर भव-भ्रमण से मुक्ति के लिए प्रयत्न करने की एक प्रेरणा-ध्वनि है।



१२. बोधि-दुर्लभ भावना

पिछले प्रकरण में बताया है—धर्म ही आत्मा की सुगति का कारण है। इहलोक और परलोक में सुख देने वाला धर्म ही है, अतः "धम्मं चर सुदुच्चरं—उस धर्म का आचरण करना चाहिए।

जो मनुष्य आलस्य, अज्ञान एवं मोहवश धर्म को नहीं समझता अथवा समझकर भी उस पर आचरण नहीं करता वह पुनः इस संसारचक्र में, अनंत अथाह भवप्रवाह में डूब जाता है। संसार भावना एव लोक भावना में यह बताया गया है कि संसार एक अनन्त प्रवाह है? नाना योनियों में भटकता हुआ प्राणी अत्यन्त दुःख एवं वेदना भोगता हुआ इधर से उधर परिभ्रमण करता रहता है। उसे पुनः धर्म का सहारा मिल पाना बहुत ही कठिन है।

धर्म की प्राप्ति कितनी दुर्लभ है, इसको समझाने ने लिये ज्ञातासूत्र में एक कछुवे का दृष्टांत दिया है।

एक विशाल सरोवर था। उस सरोवर में अनेक मच्छ-कच्छ रहते थे। उस सरोवर के अथाह जल पर सघन शैवाल (काई) जम गई थी। शैवाल की परतें भी इतनी गहरी थीं कि वे वर्षों में भी उस पर से कभी हटी नहीं थीं। उस शैवाल की सघन परत के कारण सरोवर के नीचे जल में कभी सूर्य की धूप भी नही पहुँच पाती। जल में भीतर रहने वाले मच्छ-कच्छ आदि सदा उसी सघन अन्धकार में भटकते रहते। उन्हे कल्पना भी नहीं थी कि प्रकाश क्या होता है? सूर्य क्या होता है, चाँद क्या होता है? उन मच्छ-कच्छ आदि जलजीवों की पीढ़ियाँ की पीढ़ियाँ सूर्य दर्शन किये बिना ही गुजर चुकी थीं।

एक बार बहुत जोर की हवा चली, उस हवा के तेज प्रवाह से सरोवर के एक किनारे पर शैवाल की परत जरा सी हट गई थी। एक छिद्र-सा बन गया था। एक कछुवा जो जल के भीतर बहुत गहरा रहता था। जल में तैरता-तैरता सरोवर के उस किनारे पहुँच गया जहां से शैवाल हटी थी। उसे उधर प्रकाश दिखाई दिया। वह प्रकाश उसे बडा विचित्र-सा लगा, आज तक कभी प्रकाश देखा नही था, आज पहली बार प्रकाश देखकर वह उस किनारे तक आया। पूनम की रात थी। आकाश में चन्द्रमा चमक रहा था। तारे झिलमिला रहे थे। चाँदनी छिटकी थी, सरोवर के तट पर अनेक मनुष्य बैठे चन्द्र-ज्योत्स्ना का आनन्द लूट रहे थे। कछुवे ने यह सब देखा तो उसे बड़ा

ही अजीब लगा। साथ में बड़ा ही सुखद और मनोरम भी लगा यह दृश्य ! वह कुछ देर तक देखता रहा, उसके मन में आश्चर्य बढ़ रहा था। उसने सोचा—कैसी है यह विलक्षण दुनिया ! मैंने आज तक ऐसी दुनिया नहीं देखी। ऐसा दृश्य नहीं देखा। मैं अकेला ही यह दृश्य देखूंगा तो क्या फायदा ? अपने भाइयों को भी यह दृश्य दिखाना चाहिए। वह दौड़ा। नीचे गहरे जल में गया। अपने साथियों से ऊपर देखे अद्‌भुत दृश्य की चर्चा की। कहा—हम लोगो ने आज तक ऐसी दुनियां नहीं देखी। चलो, मैं सबको एक नई दुनियाँ दिखादूं। कुछ बूढ़े कछुवों ने उसे डाँटा—पागल हो गया है। कहीं ऐसा दृश्य होता ही नहीं है, झूठ बोल रहा है। कुछ साथियों ने कहा—चल, हमें दिखा। वह बोला चलो, अभी मैं इन आँखों से देखकर आ रहा हूं, तुमको भी दिखा देता हूँ, फिर तो तुम मुझे सच्चा मानोगे ?

उधर हवा का एक दूसरा तेज झोका आया। जहाँ से शैवाल हटी थी, वहाँ फिर से सघन दीवाल छा गई। पूरा तालाब फिर एक जैसा शैवाल की काली परत के नीचे ढँक गया। कछुवा उस प्रकाशमय छिद्र की खोज में साथियों को साथ लिए इधर से उधर भटकता रहा, उसे फिर वह छिद्र दिखाई नहीं दिया। वह बहुत परेशान हुआ। साथी उसका मजाक करने लगे, कोई उसे झठा और कोई पागल बताने लगे। विचारा कछुआ बहुत ही दुःखी हुआ, खूब भटका, पर कहीं वह छिद्र पुनः दिखाई नहीं दिया जिसमें से प्रकाश की किरण आती हो। वह हताश होकर बैठ गया।

बताया गया है उस महा सरोवर में वर्षों और सदियों बाद प्रकाश की एक किरण दिखाई दी, वह भी कुछ क्षण भर के लिये, पुनः कब हवा का झोका आये, शैवाल की परतें हटे, वह कछुआ उधर आये और प्रकाश किरण का दर्शन करे। पुनः यह सब संयोग मिलना कितना दुर्लभ है ? कितना कठिन है ? किन्तु कल्पना करो कि वह संयोग तो पुनः मिल भी जाये। लेकिन इस संसार सागर में प्राणी रूप कछुवा जो अनादि काल से अन्धकार में भटक रहा है, उसे मनुष्यजन्म रूप छोटे से छिद्र में धर्म रूप प्रकाश की किरण एक बार दिखाई दे दी, अगर वह उसे छोड़कर चला जाय, सोचे दुबारा भी पुनः झट मिल जायेगी, यदि सामने आये उस सत्य की, धर्म की उपेक्षा कर देगा तो पुनः उस धर्म रूप किरण के दर्शन होने अत्यन्त दुर्लभ है।

दुर्लभ बोधि भावना में जीवन की इस दुर्लभता का ही चिन्तन किया गया है। यह आत्मा संसार में अनादि काल से अनेक-अनेक योनियों में, गतियों में किस प्रकार भटक रहा है। इसका एक सजीव चित्रण उत्तराध्ययन सूत्र में किया गया है। कहा है—

दुल्लहे खलु माणुसे भवे, चिर कालेण वि सव्वपाणिणं ।
गाढ़ाय विवाग कम्मुणो, समयं गोयम ! मा पमायए ॥[1]

विश्व के सब प्राणियों को चिर काल तक भटकते रहने पर भी मनुष्य भव की प्राप्ति बड़ी दुर्लभ है। क्योंकि कर्मों का विपाक—भोग बड़ा सघन है, उस कर्म-विपाक के कारण यह आत्मा एक-एक योनि में असंख्य-असंख्य और अनन्त अनन्त काल तक भटकता रहा है। एक-एक योनि में कितना समय बिताया है, उसकी कोई गणना तीर्थंकर देव भी नहीं कर सके, इसलिए वे भी असंख्य कह-कर रह गये।

असंख्य भवभ्रमण

यह संसार-लोक अपरिमित है। जीवों के जन्म लेने की योनियां भी अपरिमित है, और काल भी अपरिमित है। इस अपरिमित लोक में जीव एक-एक योनि में अपरिमित काल तक जन्म-मरण करता रहा है। जब कभी यह जीव पृथ्वीकाय में उत्पन्न हुआ तो वहां असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी बीत जाये इतने असंख्यात काल तक एक ही पृथ्वी (सूक्ष्म एवं बादर) काय में जन्म लेता रहा, मरता रहा, फिर वहीं जन्म लेता रहा। इस प्रकार वहाँ से असंख्य काल के बाद निकला तो अपकाय में, फिर तेजसकाय में, फिर वायुकाय में, यों एक-एक काय में असख्य जन्म-मरण की घाटियों को पार-करता हुआ कभी ऐसी महाघाटी में पहुँच गया कि वहां तो बस, उसकी कायस्थिति और भव-स्थिति की कल्पना ही रोमाच पैदा कर देती है। वह घाटी है वनस्पतिकाय, और वह भी निगोद! निगोद वह महाघाटी है, जिसमें फंसने के बाद जीव अनन्तकाल तक उसी में चक्कर काटता रहता है।

वनस्पति काय के दो भेद बताये गये हैं, साधारण और प्रत्येक। प्रत्येक वनस्पति में एक शरीर में एक जीव रहता है। जैसे वृक्ष, लता, फूल आदि। किन्तु साधारण वनस्पति की स्थिति बड़ी विचित्र है। वहाँ एक शरीर में अनन्त जीव रहते हैं, और वह भी कितनी-सी जगह में? बताया है, सूई की नोंक पर जितना भाग टिके इतने से भाग में असंख्यात श्रेणियाँ होती है, असंख्यात अंतर होते है। एक-एक श्रेणी में असंख्यात गोले होते हैं और एक-एक गोले में असंख्यात शरीर हैं। अब सोचिए एक शरीर कितने सूक्ष्मतम स्थान पर ठहरा है? एक शरीर को कितनी अल्प जगह मिली है, पर आगे चलिए! उस इतने सूक्ष्म शरीर में, एक शरीर में अनन्त जीव रहते है। शरीर एक; जीव अनन्त! अनन्त जीव एक ही श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति से श्वास लेते हैं। एक को

१. उत्तराध्ययन १०।४

कोई कष्ट होता है तो एक साथ अनन्त जीवों को कष्ट होता है। उन जीवों की भवस्थिति (आयुष्य) कितनी है? बताया है—एक स्वस्थ मनुष्य को श्वासोच्छ्वास लेने में जितना समय लगता है उतने समय मे वे निगोद के जीव लगभग १७½ बार जन्म-मरण कर लेते हैं। कितना अल्प आयुष्य है? सिर्फ जन्मना और मरना, फिर जन्म फिर मरण यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। एक मुहूर्त भर (अन्त मुहूर्त) समय में तो वह ६५५३६ भव कर लेते है।[1] इस निगोद में जीव की कायस्थिति कितनी है?[2] अनन्त काल! अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी, अनन्त पुद्गल परावर्तन तक सूक्ष्म निगोद से बादर में, बादर से सूक्ष्म में यह भ्रमण करता रहता है। वहाँ अनन्तकाल अनन्त जन्म-मरण करने के बाद प्रत्येक वनस्पति मे आता है।

वणस्सइकायमइगओ उक्कोसं उ संवसे।
कालमणन्त दुरंतं, समयं गोयम! मा पमायए।[3]

इस प्रकार अनन्त-अनन्त जन्म-मरण करने के बाद यह जीव स्थावर योनि से निकलकर त्रस जाति में आता है। वहाँ भी दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय एवं चार इन्द्रिय वाला जीव बनकर अनेक-अनेक जन्म-मरण करता रहता है। प्रत्येक जीव की वहा भी सख्यात-संख्यात हजार वर्ष की उत्कृष्ट कायस्थिति है। कर्मों का कुछ भार हलका होने पर वहा से निकल कर पंचेन्द्रिय जाति में आता है। पंचेन्द्रिय जाति में लगातार सात-आठ भव कर सकता है। देव और नरक योनि में एक-एक भव ही होता है। अर्थात् देव का भव करके वह न तो पुनः देव

१. कौन कितने जन्म मरण करते है—

बारे सहस्र आठसे चौबीस एक मोरत मे,
जनम मरण पृथ्वी पाणी तेउ वाय मे।
साडी पैंसठ सहस छतीस करे निगोदिया,
बत्तीस हजारसो प्रत्येक हरिकाय में ॥
बेंद्री माही अस्सी साठ तेन्द्री माही जाणिये तो,
चोंद्री में चालीस संख्या कहा सूत्रराय मे।
असन्नी चौबीस सन्नी एक भव संख्या जाण,
कहत तिलोक धर्म ध्यावे मो न जाय मे ॥२३॥

—पूज्यपाद तिलोकऋषि जी म०

२. जीवों की भवस्थिति और कायस्थिति का रोमांचक वर्णन जीवाभिगम सूत्र में देखना चाहिए।

३. उत्तराध्ययन १०।६

योनि में जाता है, न नरक में। बीच में कोई अन्य शरीर ही धारण करना होता है। मनुष्य या तिर्यंच लगातार सात-आठ भव एक ही जाति में कर सकते है।[१] इस प्रकार यह जीव पंचेन्द्रिय जाति में आकर तिर्यंच एवं नरक योनियों में असह्य दुःख एवं घोर वेदना भोगता रहा है। तिर्यंच जीव—पशु पक्षी जीवन के अपार कष्ट तो हम प्रतिदिन आँखों से देखते ही हैं। नरक जीवन की अनन्त वेदनाओं का वर्णन भी शास्त्र से सुनते हैं। यद्यपि हम अनन्तवार वह वेदना भोग चुके हैं, पर भूल गये।

दुर्लभ मनुष्यत्व

तो इसप्रकार इस अनन्त संसार में अनन्त काल तक अनेकानेक जीवयोनियों में आत्मा भटकता रहा है—पर सर्वत्र दुःख, वेदना एवं त्रास भोगता रहा है, किन्तु कहीं भी इसे धर्म का श्रवण नहीं मिला, मिले भी कैसे? धर्म श्रवण तो मुख्यतः मनुष्य जन्म का ही लाभ है। और मनुष्य जन्म कितना दुर्लभ है, कितना कठिन है यह पूर्वोक्त वर्णन से आप जान ही चुके है। शास्त्र में बताया है—

कम्मसंगेहिं सम्मूढा दुक्खिया बहुवेयणा।
अमाणुसासु जोणीसु विणिहम्मंति पाणिणो।
कम्माणं तु पहाणाए आणुपुव्वी कयाइ वि।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता आययंति मणुस्सयं॥[२]

—कर्मों के संग से, कर्मो के कारण यों अनन्त-अनन्त वेदना भोगते हुए यह दुःखी जीव मनुष्येतर योनियो में भटकता रहा और कष्ट पाता रहा। काल परिपाक से कर्मों की कुछ हानि हुई, जीव की कुछ अन्तर् शुद्धि हुई, अशुभ कर्मों का प्राबल्य कम हुआ तो मनुष्य योनि में आकर उत्पन्न हुआ।

अनन्त भव भ्रमण करने के बाद मनुष्य जन्म प्राप्त होता है—इससे यह अनुमान हो जाता है कि यह जन्म कितना दुर्लभ है। मनुष्य भव की दुर्लभता का वर्णन शास्त्रों में स्थान स्थान पर किया गया है। जैसे—

माणुस्सं खु सुदुल्लहं[३]

मनुष्य जन्म प्राप्त होना दुर्लभ है।

दुल्लहे खलु माणुसे भवे चिरकालेण वि सव्वपाणिणं।[४]

सभी प्राणियों को मनुष्य भव की प्राप्ति होना दुर्लभ है।

---

१. उत्तराध्ययन १०।१३-१४
२. उत्तराध्ययन ३।६-७
३. उत्तराध्ययन २०।११
४. उत्तराध्ययन १०।४

मनुष्य जन्म दुर्लभ इसलिए है कि वह सब गतियों में श्रेष्ठ है। धर्म करने का अवसर सिर्फ मनुष्य जीवन में ही मिल सकता है। धर्म के साधन रूप चार अंग संसार में दुर्लभ बताये गये है।

चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुइ सद्धा संजमंमिय वीरियं।[1]

संसार में सभी जीवों के लिए चार बाते (चार अंग) परम दुर्लभ हैं—मनुष्य जन्म, धर्म-श्रुति, श्रद्धा और संयम (संयम में पराक्रम)

उक्त चार बातों का विस्तार करके छह बातें भी दुर्लभ बताई है—

छ ठणाइं सव्वजीवाणं दुल्लभाइं भवंति—
माणुस्सए भवे, आरियेखेत्ते जम्मं, सुकुले पच्चायाती
केवलिपन्नत्तस्स धम्मस्स सवणया, सुयस्स वा सद्दहणया,
सद्दहियस्स वा सम्मं काएण फासणया।[2]

छः वस्तुयें सभी जीवों के लिए दुर्लभ है—

१. मनुष्यभव ४. केवलिप्ररूपित धर्म श्रवण
२. आर्य क्षेत्र ५. धर्म पर श्रद्धा—प्रतीति
३. उत्तम कुल में जन्म ६. श्रद्धा के अनुरूप आचरण !

मनुष्य जन्म की दुर्लभता का यह वर्णन करने का कारण यह है कि जीव चाहे जितने उत्कृष्ट स्वर्गीय सुख प्राप्त करले, सर्वार्थसिद्ध विमान मे भी चला जाये, किन्तु उस भव में उसे मोक्ष प्राप्त नही हो सकता। मोक्षप्राप्ति सिर्फ औदारिक शरीर से ही हो सकती है। यही कारण है कि देवता भी मनुष्य योनि की इच्छा करते रहते है, वे भी मनोकामना करते है कि हम यहाँ से आयुष्य पूर्ण कर मनुष्य का शरीर धारण करें, किसी आर्य क्षेत्र में जन्म लें, उत्तम कुल की प्राप्ति हो और वहां धर्म सुनने का अवसर पाकर संयम एवं तप त्याग का आचरण कर हम अपनी अनादिकालीन जन्म-मरण की परम्परा का अन्त कर मोक्ष सुखों की उपलब्धि करें।

वैदिक ग्रन्थों मे भी कहा है—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि,
धन्यास्तु ते भारत-भूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्।[3]

---

१. उत्तराध्ययन ३।१
२. स्थानांग ६।४८५
३. विष्णुपुराण २।३।२४

स्वर्ग में देवगण भी निरन्तर यही गान करते हैं कि जो स्वर्ग एवं अपवर्ग (मोक्ष) के मार्ग स्वरूप भारत वर्ष में देवभव से पुनः मानवभव में जन्म लेते है, वे धन्य है। अथवा जो भारत मे मानव जन्म लेते है, वे पुरुष हम देवताओं की अपेक्षा भी अधिक धन्य है।

तो ऐसे दुर्लभ मनुष्य जन्म को प्राप्त कर जो प्रमाद एवं आलस्य में, भोग-विलास में जीवन को बर्बाद कर देता है, तो वह कितनी बड़ी मूर्खता है?

आचार्य सोमप्रभसूरि ने कहा है—

> स्वर्णस्थाले क्षिपति स रजः पादशौचं विधत्ते
> पीयूषेण प्रवरकरिणं वाहत्यैन्धभारम्।
> चिन्तारत्नं विकिरति कराद् वायसोड्डायनार्थं
> यो दुष्प्राप्यं गमयति मुधा मर्त्यजन्म प्रमत्तः।[१]

—जो मनुष्य इस दुष्प्राप्य मनुष्य जन्म को प्राप्त करके भोग-विलास में खो देता है, वह सोने की थाली में धूल या मिट्टी भरता है, कीचड़ से सने पावों को धोने के लिए अमृत को बहाता है, हाथी की पीठ पर ईंधन ढोता है, और कौआ उड़ाने के लिए कंकर की जगह चिन्तामणि रत्न को ही फेंक रहा है।

मनुष्य जन्म को सोने की थाली, अमृत घट, ऐरावत हाथी एवं चिन्तामणि रत्न की उपमा दी गई है, किन्तु वास्तव में वे सभी चीजे बहुमूल्य वाली होते हुए भी मनुष्य जन्म की गरिमा के सामने तुच्छ हैं। किन्तु जैसे उन चीजों को धूल-फेंकने, पैर धोने में दुरुपयोग करना नितान्त मूर्खता है वैसे ही मानव जीवन को भोग-विलास तथा आराम आनन्द प्राप्त करने के लिए खोना मूर्खता है। इस जीवन का लक्ष्य बहुत ऊँचा है, यह शरीर बड़ा मूल्यवान है, इस शरीर के द्वारा उत्तम व अनन्त सुखों की प्राप्ति की जा सकती हैं।

धर्म सुनना भी दुर्लभ है

मनुष्य जन्म मिलने पर भी यदि अन्य बातों का संयोग न मिले तो इस जीवन का क्या उपयोग? इसलिए इन्द्रियों की परिपूर्णता—हाथ-कान-आँख आदि सभी इन्द्रियाँ ठीक मिलें, आरोग्य अच्छा मिले, फिर ऐसे देश में जन्म हो, जहाँ पर जिनधर्म का श्रवण किया जा सके, ऐसे कुल या वंश की प्राप्ति हो, जिस कुल में धर्म के संस्कार सहजता से प्राप्त—हों इन बातों की आवश्यकता हैं।

उक्त सब बातें मिल जाने पर धर्म का निकट सम्पर्क होना भी सरल नहीं

---

१. सिन्दूरप्रकरण

है। बड़े पुण्य योग से धर्म का सुनना मिलता है। संत तुलसीदास जी ने कहा है—

सुत दारा अरु लक्ष्मी, पापी के भी होय।
सन्त समागम हरिकथा तुलसी दुर्लभ होय।

पुत्र व लक्ष्मी आदि की प्राप्ति पूर्वपुण्यों से हो सकती है किन्तु यदि भावी पुण्य का योग न होगा, भविष्य का जन्म या अगला जन्म सुधारने का योग न होगा तो सन्त समागम, अर्थात् साधुसन्तों का योग एवं धर्म कथा का श्रवण हो पाना बहुत दुर्लभ है। बताया गया है कि सन्तों के मुख से धर्म श्रवण कर पाना मनुष्य के तीन काल की पुण्याई का सूचक है। पहले तो पूर्व जन्म-कृत पुण्य के कारण सन्तों का समागम हुआ, धर्म सुनने को मिला, वर्तमान में जो क्षण सन्त-समागम में बीत रहे हैं—वे अति सफल जा रहे हैं, वे क्षण कृतार्थ हो रहे हैं, यह वर्तमान में भी पुण्यार्जन चल रहा है, और इस सन्त सेवा एवं धर्म श्रवण का फल भविष्य में निश्चित ही सुखदायी होगा, पुण्यकारी होगा इससे भविष्य भी सुधरेगा इस प्रकार—"**व्यनक्ति कालत्रितयस्य योग्यताम्**" सन्तदर्शन और धर्म श्रवण मनुष्य के तीनों काल के सद्भाग्य का सूचक है। इसलिए ही धर्मश्रवण को अत्यन्त दुर्लभ बताया गया है—

अहीणे पंचिदियत्तं पि से लहे
उत्तमधम्म सुइ हु दुल्लहा।[1]

पाचों इन्द्रियों की परिपूर्णता, स्वस्थता मिलने पर भी उत्तम धर्म का सुन पाना अत्यन्त दुर्लभ है। धर्मश्रवण में अनेक विघ्नबाधाएं उपस्थित हो जाती है। धर्म श्रवण के १३ प्रतिबन्धक कारण बताये गये है[2]—

१. आलस्य,	२. मोह	३. अवज्ञा
४. अहंकार	५. क्रोध	६. प्रमाद
७. कृपणता	८. भय	९. शोक
१०. अज्ञान	११. व्याकुलता	१२. कुतूहल
१३. खेल-तमाशे की रुचि।		

इन कारणों से धर्मश्रवण में विघ्न उपस्थित होने पर चाहते हुए भी श्रवण कर नहीं पाता। इसलिए मनुष्य जन्म के बाद दूसरा अंग धर्म-श्रुति दुर्लभ है—

सुई धम्मस्स दुल्लहा

१. उत्तराध्ययन १०।१८
२. भावना शतक पृ० ३८७।

धर्मश्रवण में धर्म सुनाने वाला भी निर्लोभी और ज्ञानी मिलना चाहिए। अधिकतर उपदेशक सत्य बात नहीं कहकर लोगों के मनोरंजन की बात ही कह देते हैं। सत्य-तथ्य-पथ्य उपदेश देकर सन्मार्ग बताने वाले गुरु भी दुर्लभ हैं। कहा है—

बहवो गुरवो लोके शिष्य वित्तापहारकाः।
दुर्लभास्तु गुरुर्लोके शिष्य चित्तापहारकाः॥

शिष्य व श्रोताओं का वित्त (धन) हरने वाले गुरु और उपदेशक तो गली-गली में मिल जायेंगे, किन्तु चित्त (मन व अज्ञान) को हरने वाले गुरु मिलना बहुत दुर्लभ है।

इसलिए मनुष्य जीवन, धर्मश्रवण, सच्चा उपदेशक मिल जाये, धर्म सुनने को भी मिले, किन्तु सुनकर इस पर श्रद्धा भी होना चाहिए।

आहच्च सवणं लद्धुं सद्धा परम दुल्लहा।

पुण्य योग से धर्म सुनने का सुयोग भी मिल जाये, किन्तु सुने हुए धर्म पर यदि श्रद्धा न हुई हो, तो सुनना क्या काम का? इस कान से सुना और उस कान से निकाल दिया तो वह श्रोता तो सरौता जैसा हुआ। श्रोता को मिट्टी की तरह होना चाहिए। मिट्टी में जो भी पानी गिरा, वह उसके भीतर समा जाता है, किन्तु पत्थर पर चाहे जितना पानी गिराओ, पत्थर कभी भीगता नहीं, यदि धर्म सुनने वाले श्रोता पत्थर जैसे मिल गये तो विचारा उपदेशक चाहे जितना गला फाडकर उपदेश करे, तो भी क्या लाभ?

एक गुजराती कवि ने कहा है—

नदी किनारे कोई नर ऊभो तरस्या नहीं समाणी।
कां तो अंग ज आलस् एहनो, कां तो सरिता सुकाणी॥
कल्पतरु तल कोइ नर बेठो, क्षुधा खूब पीड़ाणो।
नहीं कल्पतरु ए बावलियो, के भाग्य रेख भूसाणी॥

—यदि नदी के किनारे जाकर भी पानी-पानी करते रहे, प्यास नहीं बुझी तो यही मानना होगा कि या तो जाने वाला आलसी है, जो पानी पीने का श्रम भी नही करता, या फिर वह नदी नही है, अर्थात् नदी में पानी ही नहीं है। कल्प-वृक्ष के नीचे खड़े होकर भी कोई कहे कि भूखा हूँ, तो मानना चाहिए वह कल्पवृक्ष नही, बबूल का पेड़ है, या फिर वह व्यक्ति भाग्यहीन है, वर्ना नदी के पास जाकर प्यासा रहना, कल्पवृक्ष के नीचे खड़ा होकर भूखा रहना, जैसा असंगत-सा लगता है, वैसा ही असगत-सा प्रतीत होता है—साधु-संतों की संगति में रहकर, रोज धर्मशास्त्र सुनकर भी कोरा रहना।

सुनी हुई बात पर विचार करना, चिन्तन करना और विवेक पूर्वक उसका निष्कर्ष निकालना—यह सच्चे श्रोता का गुण है। श्रावक का अर्थ क्या है?

"श्रुत्वा श्रद्धातीति श्रावकः"—सुनकर उस पर जो श्रद्धा करे वह श्रावक! यदि कोई धर्म सुनकर भी उस पर श्रद्धा न करे तो वह कैसा श्रावक ? वास्तव में जिसे हम श्रद्धा, विश्वास या सम्यग्दर्शन कहते हैं, वही 'बोधि' हैं। यह 'बोधनिधि' विवेक; संसार में अत्यन्त दुर्लभ है।

श्रद्धा परम दुर्लभ

इस श्रद्धा से, धर्म के प्रति आस्था से ही मनुष्य जीवन का कल्याण हो मकता है। वह श्रद्धा प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है। कहा है—

> **संबुज्झह, किं न बुज्झह**
> **संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।**
> **णो हूवणमंति राइओ**
> **णो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥**[1]

हे मनुष्यो ! तुम धर्म तत्त्व को समझो, तुम क्यों नहीं समझ रहे हो ? आगे सद्बोधि, (सम्यक्त्व) का मिलना बडा कठिन है। ये बीती हुई रातें वापस नहीं आयेगी, और गया हुआ मनुष्य जन्म दुबारा मिल पाना दुर्लभ है। यदि मनुष्य जन्म में धर्म सुनकर, उस पर श्रद्धा नहीं की, यदि श्रद्धा करके फिर भी उससे डिग गये तो फिर बार-बार यह श्रद्धा रूप रत्न नहीं मिलेगा।

> **इओ विद्धंसमाणस्स पुणो संबोहि दुल्लहा।**[2]

यहाँ से भ्रष्ट होने के बाद फिर संबोधि मिल पानी बहुत दुर्लभ है।

यदि जीवन में एक बार भी सम्यक्त्व मिल जाता है, संबोधि लाभ हो जाता है तो यह निश्चय समझो कि फिर मुक्ति की गारन्टी हो गई। तत्त्वामृत में कहा है—

> **सम्यक्त्वेन हि युक्तस्य ध्रुवं निर्वाणसंगमः।**

यदि आत्मा को एक बार सम्यक्त्व की स्पर्शना हो गई तो फिर कभी भी मुक्ति की प्राप्ति अवश्य होगी। कहा है—

> **अंतो मुहुत्तमित्तंपि फासियं हुज्ज जेहिं सम्मत्तं।**
> **तेसिं अवड्ढपुग्गल परियट्टो चेव संसारो।**[3]

जिस जीव को अन्तर्मुहूर्त मात्र भी सम्यक्त्व की स्पर्शना हो गई तो समझ लो, उसने अपना संसार परित-सीमित कर लिया। अर्ध पुद्गल परावर्तन काल के भीतर-भीतर ही वह मोक्ष प्राप्त कर लेगा।

संसार भ्रमण का हेतुभूत मिथ्यात्व है, मिथ्यात्व के कारण ही जीव चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण करता है, यदि एकबार ही सम्यक्त्व रूप बोधि की प्राप्ति हो गई तो फिर मिथ्यात्व का मूल कट गया।

---

१. सूत्रकृतांग २।१।१ २. सूत्रकृतांग १५।१८ ३. धर्मसंग्रह अ० २।२१ टी०

गौतम स्वामी के उत्तर में भगवान ने बताया है—सम्यग्दर्शन के द्वारा—**भवमिच्छत्तछेयणं करेइ**—भवभ्रमण के हेतुभूत मिथ्यात्व का छेदन हो जाता है। जब भ्रमण का मूल नष्ट हो गया तो मुक्ति की गारंटी भी होगई। तो इसलिए कहा गया है—

बुध्यतां बुध्यतां बोधिरतिदुर्लभा।
जलधिजलपतित-सुररत्न युक्त्या।[1]

हे मनुष्यो! समझो! संसार में बोधि-सम्यक्त्व अत्यंत दुर्लभ है। जैसे किसी दरिद्र व्यक्ति ने बड़ी तपस्या करके, उपासना करके देवता को प्रसन्न किया। देवता ने प्रसन्न होकर उसे एक-चिन्तामणि रत्न दिया और कहा—इस रत्न से तेरी मन-इच्छित सब वस्तुएं प्राप्त होंगी। समग्र मनोकामना पूर्ण करने वाला यह रत्न है। दरिद्र व्यक्ति उस रत्न को लेकर अपने देश, जो समुद्र के उस पार था, गया। मार्ग में जहाज में बैठा, सोचा यह रत्न कोई छीन न ले, हाथ में, मुट्ठी में बन्द करके रखा और मुट्ठी भी कोई खुला न ले अतः जहाज से बाहर रखी। भाग्यवश उसे नींद का एक झपकी लगी, मुट्ठी खुल गई और चिंतामणि रत्न समुद्र में गिर गया। अब वह रोने लगा, पछताने लगा पर समुद्र में गिरा रत्न क्या वापस मिल सकता है? नहीं। तो इसी प्रकार यह संबोधि-चिन्तामणि रत्न के समान है, यदि मिथ्या संगति, अहंकार या प्रमाद वश यह हाथ से छूट गई तो फिर संसार समुद्र में डूब जायेगा, पुनः बोधि मिलपाना अत्यन्त दुर्लभ है। आगे कहा है—

चक्कि भोज्यादिरिव नरभवो दुर्लभो
भ्राम्यतां घोरसंसारकक्षे!

इस घोर ससार वन में भटकते हुए नरभव, श्रद्धा, सम्यक्त्व आदि एक बार खो जाने के बाद पुनः मिल पाना दुःसंभव है। जैसे वह दरिद्र ब्राह्मण चक्रवर्ती के भोजन को एक बार प्राप्त कर बार-बार उसके लिए तरसता रहा, पर उसे उस जीवन में तो वह पुनः मिल पाना संभव नहीं हुआ।

चक्रवर्ती का भोजन

एक बार एक भूखा ब्राह्मण चक्रवर्ती की सभा मे पहुँचा। कुशल-प्रश्न के अनन्तर उसने अपनी दीनावस्था से चक्रवर्ती को परिचित किया। चक्रवर्ती को उस पर दया आई। उसने उसे यथेष्ट वर माँगने के लिए कहा। कुछ वर उसने स्वयं सोचा। फिर मन में आया, श्रीमतीजी से भी परामर्श तो कर लेना ही चाहिए। चक्रवर्ती से कुछ समय मांग कर घर आया। दोनों में लम्बे समय

---

१. शांतसुधारस भावना १२।१

तक विचार-विनिमय चलता रहा, किन्तु किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचे। पत्नी की ओर से प्रस्ताव आया, दो सौ-चार सौ रुपये मांग लिए जाएं; किन्तु बीच में तर्क आ गया, वे तो दो-चार महीनों में ही समाप्त हो जाएंगे। फिर वही गरीबी रहेगी। बहुत सारा धन, सोना-चांदी व जायदाद मांग ली जाए। फिर तर्क सामने आया, वह तो किसी के द्वारा चुराया भी जा सकता है। वर तो ऐसा मांगना चाहिए, जिसमे वर्तमान का कष्ट भी दूर हो जाए और भविष्य में भी कभी कष्ट देखना न पड़े। श्रीमतीजी ने प्रस्ताव रखा, यदि हमें प्रतिदिन एक-एक घर पर खीर-पूरी का भोजन व सोने की एक मुहर मिल जाए तो कोई खट-पट भी नहीं रहेगी और जिन्दगी भी बड़े सुख में बसर होगी। श्रीमान्‌जी को भी यह प्रस्ताव अच्छा लगा; आखिर पेटू ब्राह्मण जो ठहरा।

दूसरे दिन राज-सभा में वह ब्राह्मण पहुँचा। श्रीमतीजी द्वारा बनाया गया प्रस्ताव का मसविदा बड़े स्वाभिमान के साथ उसने चक्रवर्ती के सम्मुख रखा। यह सुनकर चक्रवर्ती कुछ मन ही मन हंसा और उसे उसके भाग्य पर तरस भी आई। किन्तु वह आखिर क्या करता? उसने आदेश कर दिया, इस ब्राह्मण-दम्पति को प्रतिदिन एक-एक घर भोजन कराया जाए और दक्षिणा में एक मुहर दी जाए। चक्रवर्ती के आदेश से ब्राह्मण व उसकी पत्नी को पहले दिन चक्रवर्ती के यहीं भोजन कराया गया। सुसंस्कारित सुस्वाद भोजन से दोनों ही पति-पत्नी बड़े तृप्त हुए। अपने भाग्य को सराहने लगे। क्रमशः एक-एक बार वे प्रतिदिन नये-नये घरों में भोजन के लिए जाने लगे किन्तु भोजन इतना स्वादिष्ट नहीं लगता, जितना कि पहले दिन लगा था। रह-रहकर उन्हें वह भोजन याद आता और मन में पश्चात्ताप होता कि यदि चक्रवर्ती के घर का ही भोजन माग लेते तो कितना सुन्दर होता? किन्तु जब 'बाण' हाथ से निकल चुका तब क्या हो सकता है? वे रात-दिन झूरने लगे कि चक्रवर्ती के भोजन की बारी कब आए? चक्रवर्ती के राज्य मे तो हजारों बड़े-बड़े नगर व लाखों छोटे शहर, कस्बे व देहात थे। ब्राह्मण व उसकी पत्नी के कई जन्म भी पूरे हो जाए तो भी पुनः अवसर मिलना कठिन था।

पुण्ययोग से चक्रवर्ती का भोजन पुनः मिल सकता है, किन्तु बोधिरत्न यदि एक बार हाथ से निकल गया तो फिर मिलना कठिनतर है, अतः सम्यक्त्व के दोष, बोधि के नाशक जो तत्त्व हैं, उनसे बचते हुए अपने सम्यक्‌दर्शन, की रक्षा करो, और बार-बार यह चिन्तन करो--

बोही य से नो सुलहा पुणो-पुणो—

यह बोधि रत्न पुनः पुनः मिलना सुलभ नही है। यही बोधि दुर्लभ भावना का सार है।



खण्ड ५

विविध भावनाएं

योग भावनाएं

१. मैत्री भावना
२. प्रमोद भावना
३. कारुण्य भावना
४. माध्यस्थ भावना

जिनकल्प भावनाएं

१. तपोभावना
२. सत्त्व भावना
३. सूत्र भावना
४. एकत्व भावना
५. बल भावना

ज्ञानचतुष्क-भावनाएं

१. ज्ञान भावना
२. दर्शन भावना
३. चारित्र भावना
४. वैराग्य भावना

सद्धर्म ध्यान संध्यान-हेतव. श्री जिनेश्वरैः ।
मैत्रीप्रभृतयः प्रोक्ताश्चतस्रो भावनाः पराः ।।

—शांतसुधारस

श्री जिनेश्वरदेव ने चित्त को सद्धर्मध्यान में स्थिर करने की कारणभूत-मैत्री-प्रमोद-कारुण्य एव माध्यस्थ्य ये चार भावनाएं बताई है।



खेयविणोओ, साहसजओ, य लहुया तवो य असंगो अ ।
सद्धाजणणं च परे, कालन्नाणं च न ऽन्नत्तो ।।

—बृहत्कल्प भाष्य १२८६

खेद-विजय, भय-विजय, लघुता, तपःसाधन, तथा निःसंगता यह क्रमशः तपोभावना, सत्वभावना, श्रुतभावना, एकत्वभावना एवं बलभावना का फल है। इन भावनाओं से भावित आत्मा दूसरों को भी श्रद्धाशील बनाता हैं, स्वयं कालज्ञ (तथा अन्त में कालजयी) बन जाता है।



योग भावनाएँ

हृदय को वैराग्य रस में सराबोर करने वाली बारह भावनाओं का चिन्तन पिछले पृष्ठों पर किया गया है। इन भावनाओं के सतत चिन्त-मनन एवं अनुशीलन से हृदय एक प्रकार की निवृत्ति-निर्वेद तथा परम शांति का अनुभव करने लगता है। मन के विकार क्रोध, माना, माया, लोभ, ममत्व, मोह, शरीर एवं धन के प्रति आसक्ति स्वतः ही क्षीण होने लगती है। और संस्कारों में वैराग्य की जागृति होती है, इस कारण इन भावनाओं का सतत चिन्तन जीवन में आवश्यक है।

बारह वैराग्य भावनाओं के साथ-साथ चार भावनाएँ और भी हैं। कुछ ग्रंथों में तो सोलह भावनाओं का ही उल्लेख मिलता है। आचार्य उमास्वाति ने द्वादश अनुप्रेक्षाओं में बारह भावनाओं की चर्चा की है तथा—**१. मैत्री भावना, २. प्रमोद भावना, ३. कारुण्य भावना, ४. माध्यस्थ्य भावना,** इन चार भावनाओं का स्वतंत्र रूप में उल्लेख किया है। तथा कहा है—इन भावनाओं का—

जगत्कायस्वभावौ च संवेगवैराग्यार्थम्[1]

संवेग एव वैराग्य के लिए जगत् का तथा शरीर के स्वभाव का विचार करना चाहिए।

आचार्य उमास्वाति के बाद में होने वाले अनेक आचार्यों ने मैत्री आदि भावनाओं की चर्चा की है। पातंजल योग सूत्र में भी इन भावनाओं का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है —

मैत्री करुणा मुदितोपेक्षाणां सुख-दुःख पुण्यापुण्यविषयाणां भावनातः चित्त-प्रसादनम् ।[2]

मैत्री, करुणा, मुदिता (प्रमोद) उपेक्षा (मध्यस्थ) इन भावनाओं के आधार पर सुख, दुःख पुण्य-पाप आदि विषयों का चिन्तन करने से चित्त में प्रसन्नता व आल्हाद की जागृति होती है।

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र ७।७। (यहां ध्यान देने की बात है कि प्रशमरति प्रकरण में आचार्य उमास्वाति ने सिर्फ बारह भावनाओं का ही वर्णन किया है।)

२. पातंजल योगसूत्र ४।११७

आचार्य हेमचन्द्र ने इन चार भावनाओं का वर्णन ध्यान स्वरूप के साथ ही किया है, और इन्हें टूटे हुए ध्यान को पुनः ध्यानान्तर के साथ जोड़ने वाली अथवा ध्यान को पुष्ट करने वाली रसायन कहा है—

> मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि नियोजयेत् ।
> धर्म-ध्यानमुपस्कर्तुं तद्धि तस्य रसायनम् ।[1]

मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थ भावना के साथ आत्मा की योजना करनी चाहिए। ये भावनाएं रसायन की भांति ध्यान को परिपुष्ट बनाती है।

इससे पता चलता है कि बारह भावनाओं का सम्बन्ध मुख्यतः वैराग्य एवं निर्वेद की जागृति से रहा है, जबकि इन चार भावनाओं का सम्बन्ध योग के साथ जुड़ा है। योग साधना में मैत्री-प्रमोद आदि भावनाओं की विशिष्ट साधना प्रक्रिया चलती है। ऐसा लगता है कि इन चार योग भावनाओं को ही योग की आठ दृष्टियों के रूप में आचार्य हरिभद्र ने नई परिभाषाओं के साथ प्रस्तुत किया है।[2] क्योंकि इन दृष्टियों में भी योगोन्मुखी तत्प्रकार का चिन्तन और विचार प्रवाह बनता है। चित्त को मित्रता, प्रमोद, उपेक्षा आदि भावनाओं से आप्लावित करने का प्रयत्न योग प्रक्रिया में किया गया है। इसलिए जहाँ महाव्रतों की २५ भावनाओं का सम्बन्ध चारित्र से है, वहां १२ भावनाओं का सीधा सम्बन्ध वैराग्य, निर्वेद से है। जिसे हम 'दर्शन' कह सकते है। बारह भावनाओं में मुख्यतः दर्शन की विशुद्धि की ओर अधिक झुकाव है। प्रत्येक चिन्तन में श्रद्धा को निर्मल एवं स्थिर करने के ही उपादान वहां अधिक प्राप्त हुए है। और इन चार भावनाओं का विशिष्ट सम्बन्ध ज्ञान को पुष्ट करना मान लें तो कुल भावनाओं की फलश्रुति ठीक निष्पन्न हो जाती है—"ज्ञान दर्शन एवं चारित्र के विशुद्ध संस्कारों को स्थिर करना भावना का फल है।" क्योंकि मैत्री आदि भावनाएं एक प्रकार से ज्ञान योग की भावनाएँ है, इसलिए हम यहां इनकी संज्ञा योग भावनाएँ देकर आगे इनका वर्णन करेंगे। संज्ञा कुछ भी हो सकती है, विषय वस्तु में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए।

चार योग भावनाओं के सम्बन्ध में आचार्य अमितगति का एक श्लोक बहुत प्रसिद्ध है—

---

१. योगशास्त्र ४।११

२. मित्रा तारा बला दीप्रा स्थिरा कान्ता प्रभापरा ।
नामानि योगदृष्टीनां लक्षणं च निबोधत ॥
—योगदृष्टि समुच्चय १३

सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थ्यभावं विपरीत वृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव !

समस्त सत्व-जीवों पर मेरी मैत्री हो, गुणिजनों के प्रति प्रमोद भाव हो, उनके गुणों के प्रति अनुराग एवं सन्मान की भावना जगे, दुखी जीवों के प्रति करुणा भावना रहे, जो मुझसे विरोध या विपरीतता रखते हैं, उनके प्रति उपेक्षा या मध्यस्थ भावना रहे, अथवा प्रतिकूल प्रसंगों में भी राग-द्वेष के विकल्प से दूर तटस्थ रहूँ---मेरी आत्मा सदा इसप्रकार का चिन्तन करे।

यह चिन्तन वास्तव में ही एक योगी का चिन्तन है। वैरागी से अगली भूमिका योगी की है, अतः हम यह भी मान सकते हैं कि १२ वैराग्य भावनाओं से मन को संस्कारित कर लेने के बाद योग भावनाओं की अगली सीढ़ी पर चढना चाहिए। यह वैराग्य के बाद अगला आरोहण है।

उक्त श्लोक श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में प्रसिद्ध है, और सामायिक पाठ में इसको महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

आचार्य उमास्वाति ने चार योग भावनाओं के नाम संकेत यों दिए हैं—

मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थानि सत्वगुणाधिकक्लिश्यमानाऽविनेयेषु ।[1]

प्राणि मात्र पर मैत्रीभाव, गुणाधिकों पर प्रमोदभाव, दुःखितों पर करुणा-भाव एवं अविनीत जनों पर माध्यस्थ भाव रखना चाहिए।

जीवन में इन योग भावनाओं का विकास मनुष्य को मनुष्यता के श्रेष्ठतम शिखर पर पहुँचा देता है। इन भावनाओं का प्रयोग न केवल आध्यात्मिक जीवन में ही होता है, बल्कि व्यावहारिक जीवन में भी बहुत उपयोगी है। आज के जन जीवन में द्वेष-ईर्ष्या, संघर्ष और कलह का कारण इन भावनाओं का अभाव ही है। यदि हम मित्रता, गुणग्राहकता, करुणा और तटस्थता सीख लें तो मेरा विश्वास है—संसार की अधिकांश समस्याएं स्वतः ही सुलझ जायेंगी। बड़े-बड़े विचारकों ने आज यह माना है कि विश्व की समस्या—रोटी-कपड़ा और मकान की समस्या नहीं, यह तो बहुत ही साधारण समस्या है, अधिकांश समस्याएँ मानवीय हैं, मानवकृत हैं। मनुष्य के राग-द्वेष-अहंकार और स्वार्थ ने ही संसार में समस्याएं पैदा की है। यदि ये मिट जायें तो संसार की ९०% समस्याएं सुलझ जायें। तो इन मानवीय समस्याओं को सुलझाने के लिए इन योग भावनाओं का बहुत बड़ा योग हो सकता है। इसलिए आध्यात्मिक भावना के साथ-साथ मानवीय-शांति के लिए भी इन भावनाओं पर चिन्तन करना चाहिए।

---

१. तत्वार्थसूत्र ७।६

१. मैत्री भावना

संसार में 'मित्र' शब्द बहुत ही प्यारा शब्द है। किसी भी अनजान से अनजान अजनबी व्यक्ति को भी आप यदि पुकारना चाहें और कहें 'मित्र ! दोस्त !' तो वह यह शब्द सुनते ही प्रसन्न हो जायेगा और ऐसा अनुभव करेगा जैसे वास्तव में ही आप उसके मित्र हैं, उसके हितचिन्तक है। जैसे मां, बहन, भाई इन शब्दों में एक प्रकार का श्रुतिमाधुर्य एवं स्नेह का सूत्र जुड़ा है वैसा ही मित्र शब्द है। 'मित्र' शब्द मे एक चमत्कार है. जो सुनने वाले को तो प्रभावित करता ही है किन्तु बोलने वाले के मन की स्नेहधारा को भी आन्दोलित कर देता है।

जैनसूत्रों में आवश्यक सूत्र अति महत्व का है। जैन श्रमण और श्रमणी प्रतिदिन प्रातः और सायंकाल इस सूत्र का पाठ करते है। यही पाठ उनका नित्य कर्म है। इस सूत्र में कहा गया है—

मित्तीमे सव्वभूएसु वेरं मज्झ न केणइ।

जगत में जितने भी जीव हे चाहे वे अपने रिश्तेदार हों या गैर, चाहे अपने देश के है या विदेशी, चाहे मनुष्य है या पशु-पक्षी अथवा नारक और देव ! यही क्यों चाहे वे त्रस है, या स्थावर, जीवमात्र के प्रति मेरे मन में मैत्रीभाव है, कोई भी जीव मेरा शत्रु नही है, किसी के साथ मेरी दुश्मनी नही है। किसी के साथ मेरा वैर-विरोध नही है। मैं सब प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझता हूँ। यदि भूलचूक मे, प्रमादवश, अज्ञान वश किसी प्राणी का कोई अपराध हो गया हो, मेरे कारण किसी का अहित हो गया हो, मैंने किसी का कुछ नुकसान कर लिया हो तो—

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे।[1]

मैं उन सब जीवों को खमाता हूँ, उनसे अपने अपराध के लिए, अपनी भूल के लिए क्षमा चाहता हूँ, वे मुझे क्षमा प्रदान करें।

मैत्री भाव का यह उत्कृष्टतम आदर्श है। इसी मैत्री भाव में मित्रता का लक्षण और उसका स्वरूप भी स्पष्ट हो जाता है।

मित्रता : हितचिन्ता

'मित्रता' शब्द तो बहुत प्रसिद्ध है, पर मित्रता किसे कहते हैं इस पर

चिन्तन कम लोग करते है । अधिकांश लोग मित्र की इतनी क्षुद्र परिभाषा करते हैं कि उसे देखकर उनकी क्षुद्रता का ही बोध होता है । लोग समझते हैं जिनके साथ खाना-पीना, बोलना, उठना, हंसी-मजाक चलते हों, जिनसे हम प्रेम रखते हों, जो हमसे प्रेम रखते हों, इसी का नाम 'मित्रता' है ।

लेकिन यह तो एक प्रकार का स्वार्थ-सम्बन्ध है । स्वार्थ और मित्रता में बहुत अन्तर है । स्वार्थ जहर है, मित्रता अमृत है । स्वार्थ शहर की गंदी नाली है, मित्रता गंगा का पावन स्रोत है । मित्रता का अर्थ बहुत व्यापक है । आचार्यों ने बताया है—

मैत्री परेषां हितचिन्तनं यद्[1]

दूसरों के हित की चिन्ता करना, दूसरों के लिए मंगलकामना करना—यह मैत्री है ।

मैत्री की अनेक परिभाषाएँ और लक्षण बताये गये है । जिनमें कुछ इस प्रकार है ।

यह जीव ससार मे अनन्त काल से घटी यंत्र के समान चतुर्गतिमय संसार में परिभ्रमण कर रहा है । "इस ससार मे जितने भी प्राणी हैं, सभी के साथ मेरे सम्बन्ध जुड़े है सभी ने मुझ पर अनेक बार उपकार किये है, अतः वे सब मेरे कुटुम्बी व उपकारी है"—इस प्रकार का चिन्तन करना मैत्री है ।[2]

दूसरों को दुःख की उत्पत्ति न हो—ऐसी अभिलाषा करना मैत्री है ।[3]

जीवन्तु जन्तवः सर्वे क्लेशव्यसन वर्जिताः ।
प्राप्नुवंति सुखं, त्यक्त्वा वैरं पापं पराभवम् ।[4]

ससार के समस्त जीव क्लेश, कष्ट और आपत्तियों से दूर रहकर सुख पूर्वक जीए । परस्पर में वैर न रखें पाप न करें और कोई किसी को पराभव न दें । यह मैत्री भावना का लक्षण आचार्य शुभचन्द्र ने बताया है ।

आचार्य हेमचन्द्र ने मैत्री भावना का लक्षण निम्न बताया है—

मा कार्षीत्कोऽपि पापानि मा च भूत्कोऽपि दुःखितः ।
मुच्यतां जगदप्येषा मतिर्मैत्री निगद्यते ।[5]

१. शांतसुधारस भावना
२. भगवती आराधना मूल १६९६।१
३. परेषा दुःखानुत्पत्त्यभिलाषा मैत्री ।—सर्वार्थसिद्धि ७।११।३४९।७
४. ज्ञानार्णव २७।७
५. योगशास्त्र ४।११८

जगत का कोई भी प्राणी पाप न करें, कोई भी प्राणी दुःख का भाजन न हों, समस्त प्राणी दुःखों से मुक्त हो जायें और सुख का अनुभव करें—यह मैत्री भावना है।

इन परिभाषाओं के प्रकाश में हम यह जान सकते है कि मैत्री भाव की पहली शर्त है, प्रत्येक जीव के हित की चिन्तना करना, उसके जीवन के उत्थान और कल्याण की कामना करना तथा सभी पाप व दुःखों से मुक्त हो ऐसी भावना रखना।

मैत्रीभाव की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि

शास्त्र में बताया है यह जीव एक-एक गति में, एक-एक योनि में अनेक बार जन्मा है, एक-एक जीव के साथ अनेक प्रकार के सम्बन्ध बनाए है। कभी किसी का पुत्र बना है, कभी भाई, कभी पिता, कभी माता। जगत के प्रत्येक जीव के साथ सम्बन्ध और रिश्तेदारी हुई है—

सर्वे पितृ भ्रातृ पितृव्य मातृ
पुत्राङ्गजा स्त्री भगिनी स्नुषात्वम्।
जीवाः प्रपन्ना बहुशस्तदेतत्
कुटुम्बमेवेति परो न कश्चित्।[1]

संसार के सभी प्राणियों ने परस्पर पिता, भाई, भतीजा, माता, पुत्र, पुत्री, स्त्री, पुत्र-वधू आदि के सम्बन्ध परस्पर बनाये है। आज जो जीव अलग-अलग योनि और जाति के दीख रहे हैं वे कई बार तुम्हारे पुत्र-पत्नी आदि के रूप में आये है, फिर यह विचार करो कि आखिर पराया कौन है? यह संसार तो एक विशाल कुटुम्ब है—सब प्राणी इस कुटुम्ब के सदस्य है। ऐसा एक भी कुल व जाति नहीं है जहाँ तुम अनेक बार पैदा नहीं हुए हो?[2] तो जहा पैदा हुए, जिनके साथ सम्बन्ध बनाये क्या वे तुम्हारे कुटुम्बी जन नहीं है? तो फिर वसुधैव कुटुम्बकम् की बात पर क्यों नहीं विचार करते? वास्तव में ज्ञानी की दृष्टि से तो, आध्यात्म विचार की दृष्टि से तो सब आत्माएं एक समान है, और जो समान है वे परस्पर मित्र होते ही हैं **"समान शील व्यसनेषु सख्यम्"**—समान आचार विचार वालों में मित्रता होती है, जैसा स्वभाव, सुख, इच्छा, दुःख से घृणा, ज्ञान-दर्शन-स्वरूपता तुम्हारी है वैसी ही अन्य आत्मा की है।

१. शातसुधारस
२. न सा जाइ न सा जोणी न तं ठाणं न तं कुलं।
जत्थ जाय मए वा वि अयं जीवा अणंतसो।

क्या तुम्हारी आत्मा में या अन्य की आत्मा में आत्मा की दृष्टि से कोई अन्तर है ? आत्म-स्वरूप की दृष्टि से सिद्ध आत्मा और जीव आत्मा में भी कोई अन्तर नहीं है, फिर समझलें, सिद्ध कर्ममुक्त है, हम संसारी हैं तो संसारी आत्मा तो सभी समान हैं, सभी आठ कर्मों के चक्र में पड़े है, उन्हें सुख-दुःख भी समानता हैं, यह जीव मात्र की समानता, आत्मतुल्यता मैत्री का मुख्य आधार है। इस आधार पर चिन्तन करके भी तुम प्राणिमात्र के साथ मैत्री भाव रखो—

मेत्तिं भूएसु कप्पए

सभी प्राणियों से मित्रता की कल्पना करो, मैत्री भाव की वृद्धि करो।

मित्रता से शत्रु भी अपने

मित्रता का प्रारम्भ सर्व प्रथम अपने कुटुम्ब से करना चाहिए और क्रमशः उसका विस्तार करते-करते विश्व के समस्त मनुष्यों एवं अन्त में प्राणिमात्र के साथ मित्रता का भाव बढ़ाना चाहिए।

अंग्रेजी में कहावत है—चेरिटी बिगिन्स एट होम—दान या जन कल्याण का कार्य अपने घर से प्रारम्भ करो, इसी प्रकार—फ्रेन्डशिप बिगिन्स एट होम—मित्रता भी अपने घर से प्रारम्भ करनी चाहिए। शतावधानी रत्नचन्द्रजी महाराज ने लिखा है—

भ्रातृ भगिनी सुत जायाभिः स्वजनैः सम्बन्धिवर्गैः।
समानधर्मैः ज्ञातिजनैश्च क्रमशो मैत्री कार्या॥[1]

सर्वप्रथम अपने भाई, बहन, पुत्र, पत्नी, स्वजन और सम्बन्धि वर्गों के साथ मैत्री भाव बढ़ाएं। क्योंकि जिनके साथ अधिक सम्पर्क आता है, उनके साथ संघर्ष भी अधिक होता है। भाई-भाई में मैत्री रहना कठिन है, किन्तु दूर देश के परिचित के साथ मैत्री रहना आसान है। फिर पहले परिवार में, कुटुम्ब में, फिर अपने समान व्यवसाय वाले लोगों के साथ, फिर परिचितों के साथ, फिर समान धर्म वाले के साथ, फिर ग्राम वालों के साथ, अपने प्रांत, देश, राष्ट्र एवं विश्व के साथ यों क्रमशः मैत्री की सीमा का विस्तार करते जाना चाहिए। और अन्त में इस आदर्श को इतना व्यापक बनालो कि **"मित्ती मे सव्व भूएसु"** तुम्हारे अन्तर के कण-कण में गूंजने लग जाये।

आप अगर मैत्रीभाव का विस्तार करेंगे तो आपके शत्रु अपने आप समाप्त हो जायेंगे। कहते हैं, अमरीका के राष्ट्रपति अब्राहिम लिंकन अपनी निन्दा करने वालों के साथ भी मित्रता पूर्ण व्यवहार करते थे। यह देखकर

---

१. भावनाशतक, मैत्री भावना

उनके साथी बोले—जिनको हमें खत्म करना है, आप उन लोगों के साथ दोस्ती क्यों करते हैं ?

अब्राहिम बोले—मैं भी तो उन्हें खत्म ही कर रहा हूँ। फर्क इतना ही है तुम उन्हें जान से खत्म करना चाहते हो, मैं उनकी शत्रुता को खत्म कर रहा हूँ। मित्रता पूर्ण व्यवहार से शत्रु भी मेरे मित्र बन रहे है।

तो यह जीवन में मित्रता का प्रयोग है। शत्रु को मित्रता से ही जीता जा सकता है। आपके मन में यदि मित्रता है तो शत्रुता का भाव रखनेवाला आपका मित्र बन जायेगा।

मैत्री भावना का प्रभाव

यदि हम प्रत्येक जीव के प्रति मित्रता का भाव रखें तो कोई कारण नही कि फिर संसार मे कोई हमारा शत्रु और दुश्मन बने। क्योंकि जब हम सब का भला चाहें, भला सोचें तो हमारे इन विचारों का, हमारी इन भावनाओं का वायुमण्डल पर भी प्रभाव पड़ता है। हमारे सामने जो आता है उसके मन पर हमारी भावनाओं का प्रभाव ऐसे ही पड़ता है जैसे कैमरे के सामने जाने पर हमारी आकृति का फोक्स—प्रतिबिम्ब पड़ता है। प्राचीन साहित्य में एक कथा है—

एक देश में एक चन्दन का बहुत बड़ा व्यापारी रहता था। वह दूर-दूर देशो से चन्दन मगाता था। वह चन्दन खासकर बड़े सेठ-साहूकार या राजा आदि के काम में ही आता था। एकबार सेठ के व्यापार मे बहुत मदी आ गई। माल का स्टाक जमा हो गया, खरीददार नही मिल रहा था। सेठ इसी चिन्ता में उदास रहता था।

एक दिन उस नगर के राजा का जन्मदिन आया। राजा बड़ा न्यायी और प्रजावत्सल था। नगर के प्रमुख व्यक्ति राजा के जन्मदिन पर बधाई देने अनेक प्रकार के उपहार सजा कर ले जा रहे थे। औपचारिकता वस यह सेठ भी गया। राजा ने जैसे ही सेठ को देखा, उसके मन मे सेठ के प्रति बड़ी घृणा जगने लगी। मन ही मन उसके विचार उठा—इस सेठ को जेल मे बन्द करवा दूं या मरवा डालूँ। राजा ने मन के इन दुर्भावों को छिपाने की चेष्टा की और ऊपरी तौर पर सेठ के साथ सभ्य व्यवहार किया, व्यापार और सुख-दुख की बात पूछ कर विदा किया।

राजा बहुत देर तक सोचता रहा, अमुक सेठ ने कभी मेरा कोई अपराध नहीं किया, फिर उसे देखकर मेरे मन में उसके प्रति दुर्भावना क्यों आई ? उसे मरवा डालने का सकल्प आखिर मेरे मन में क्यों उठा। आखिर राजा ने मंत्री से यह बात कही और उसका कारण पूछा।

मंत्री ने भी कारण की खोज शुरू की। उसने सेठ से मित्रता बढ़ाई। दिल खुलने लगे। आखिर बात ही बात में सेठ ने बताया—व्यापार में बड़ी मंदी आ रही है, कोई सेठ-साहूकार, राजा-महाराजा मरे तो उसकी चिता में चन्दन लगे तब हमारी १०-२० मन की बिक्री हो। मंत्री सेठ के मन की बात समझ गया। एक दिन मन्त्री ने कहा—सेठजी! राजा जी के लिए वैद्यों ने बताया है—उनका भोजन चन्दन की लकड़ी से पकाया जायेगा। अतः जो बढ़िया से बढ़िया चन्दन हो वह पांच सेर चन्दन प्रतिदिन राजमहलों में पहुँचाने का ठेका आपको दिया जाता है। जीवन भर राजा जी को चन्दन की लकड़ी से पकी रसोई खानी है।

मंत्री की बात सुनते ही सेठ की उदासी दूर हो गई। मन में बड़ी प्रसन्नता हुई। अब वह सोचने लगा--"यह राजा पचासों वर्ष तक जीता रहे, जब तक राजा जीएगा मेरा धन्धा चलेगा। हे भगवान! राजा को चिरंजीवी बनाओ।" यही विचार मन में करने लगा।

दूसरे वर्ष फिर राजा का जन्मदिन आया। सभी लोगों के समान वह चन्दन वाला सेठ भी उपहार सजाकर राजदरबार में गया और भेंट करके राजा के दीर्घजीवन की कामना की।

राजा ने सेठ को जैसे ही देखा—मन में बड़ा प्रेम जगा, लगा जैसे कोई मेरा भाई ही है, इसे गले लगा लूं। मन के इन भावों को भी राजा ने छिपा लिया। मन्त्री से पुनः अपनी बात कही और इस परिवर्तन का रहस्य पूछा कि क्यों उस दिन इसके प्रति मेरे मन में दुर्भावना आई और क्यों आज प्रेम छलकने लगा?

मंत्री ने कहा—महाराज! जिस दिन यह सेठ आपके सामने आया था, इसके चन्दन में बहुत मन्दी आ रही थी, बिक्री नहीं थी, इसने सोचा अगर यह राजा मर जाये तो मेरा १०-२० मन चन्दन बिक जाय। उसके मन में आपके प्रति यह भाव था, तो आपके मन में भी उसको मारने के भाव आ गये। आज जब वह आया तो वह यही सोच रहा था—आप चिरंजीवी हों, जब तक आप जीते रहेंगे उसका धन्धा चलता रहेगा। आपकी शुभ कामना वह करता था, इसलिए आपके मन में भी उसके प्रति प्रेम उमड़ आया। यह तो मन का तार है, जैसा भाव होता है वैसा ही दूसरे हृदय पर अंकित हो जाता है।

तो इस घटना से यह मनोवैज्ञानिक तथ्य सामने आता है कि हम किसी के प्रति मित्र भावना रखेंगे तो दूसरा भी हमारे प्रति मैत्रीभाव रखेगा। भगवान के समवसरण में परस्पर जन्मजात शत्रु भी बैर भाव भूलकर एक साथ बैठते थे

गाय और सिंह एक स्थान पर बैठते थे, इसका क्या कारण है—भगवान महावीर की मैत्री भावना इतनी अति प्रभावशील थी, इतनी तेजस्विनी थी कि जन्मजात बैरी अपना बैर भूल जाते।

यदि किसी प्राणी के साथ आपका वैर है, अथवा प्रेम है तो इसके सस्कार जन्म-जन्म तक आपको प्रभावित करेंगे। भगवान महावीर ने त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में केसरी सिंह को मारा था, वह अनेक भवों के बाद सुदंष्ट्र नाम का देव होता है और भगवान महावीर जब दीक्षा लेकर साधना करते हुए गंगानदी पार करते है तो उसके मन में प्रभु को देखते ही द्वेष उमड़ आता है, वह भगवान सहित नाव को गगा में डुबाने का प्रयत्न करता है। क्यों? इस कारण कि उसके मन में उनके प्रति पूर्व जन्म में बधा हुआ वैर है, फिर वही सिंह का जीव एक किसान बनता है, भगवान गौतम स्वामी को उसे प्रतिबोध देने भेजते है, गौतम को देखते ही उसके मन में स्नेह जगता है क्योंकि गौतम उस समय त्रिपृष्ठ वासुदेव के सारथी थे, और मरते हुए सिंह को सांत्वना दी थी, प्रेम भरे वचन कहे थे। इस कारण गौतम के प्रति उसके मन में अनुराग जगता है, दीक्षा लेता है, किन्तु जैसे ही धर्म सभा में बैठे भगवान महावीर को देखता है, उसका मन भयभीत हो जाता है, पूर्व-द्वेष की स्मृति जाग जाती है और साधु का वेष छोड़कर भाग जाता है। इसका कारण भी पूर्व-बद्ध वैर है। तो जन्म-जन्मातर के प्रेम एव द्वेष के संस्कार आत्मा को पीड़ित करते रहते है। इस कारण सभी प्राणियों के साथ द्वेष के विकल्प छोड़कर मित्रता का संकल्प करना चाहिए। मित्रता के संकल्प की प्रेरणा देते हुए कहा है—

> **मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।**
> **मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे**
> **मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ।**[1]

सभी प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें।

मैं भी सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूं।

हम सब परस्पर एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखें।

वेदों का यह सूक्त जीवन मे चरितार्थ होना चाहिए। हमारी भावना में, दृष्टि में मित्रता होगी तो शत्रुभाव रखने वाला भी हमारा बुरा नहीं कर सकेगा, किन्तु धीरे-धीरे वह भी शत्रुता भूलकर मित्र बनता जायेगा। जीवन में मैत्री भावना साकार होने पर समस्त जगत, संपूर्ण ब्रह्माण्ड आपको एक मित्र की भांति दिखाई देगा।

तो मैत्रीभाव का चिन्तन हमें यह सिखाता है कि हम जगत के समस्त जीवो के प्रति प्रतिक्षण शुभ कामना करें, उनके हित की चिन्ता करें।

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥

जगत के सब जीव सुखी हों, सभी रोग-शोक आदि से मुक्त हों, सब अपना कल्याण देखें, अपने जीवन के अभ्युदय शिखर पर चढ़ें, कोई भी प्राणी दुःखी न हों।

हमारी यह भावना ही विश्वमैत्री या विश्वबंधुता का मूल है। यदि हम प्रतिपल इस प्रकार की भावनाएं करते रहें तो इसका निश्चित असर होगा कि हमारे मित्र, हितचिन्तक बढ़ेंगे, किसी से यदि शत्रुता और वैर विरोध भी है तो समाप्त होने लगेगा और शत्रु भी मित्र की भांति आपका हितैषी बन जायेगा।

☆

---

१. यजुर्वेद ३३।१८

२. प्रमोद भावना

संसार एक राजमार्ग है और जीवन एक यात्रा। यह यात्रा प्राणिमात्र को करनी पड़ती है। हम सभी यात्री है। हम सभी का लक्ष्य एक है, उद्देश्य एक है। जब सभी एक लक्ष्य के लिए गतिशील है तो उनमें भिन्नता कैसे हो सकती है ? उनमें एक दूसरे से मित्रता होना स्वाभाविक है। परस्पर में सहयोग, एक दूसरे के काम आने की भावना अपने आप पैदा हो जाती है। क्योंकि कहा है—

परस्परोपग्रहो जीवानाम्।[1]

एक दूसरे के काम आना, सहायता देना जीवमात्र का स्वभाव है। शारीरिक विभिन्नताओं से जीवों के भिन्न-भिन्न रूप होने पर भी एक दूसरे के प्रति समर्पित रहने का गुण उनमें है। इस समर्पण की भावना का दूसरा नाम मैत्री है। यद्यपि मित्रता के लाभों का वर्णन नही किया जा सकता है, उनका तो अनुभव भी वही कर सकता है जिसका हृदय प्रेम, सहानुभूति एवं सौजन्य से परिपूर्ण होता है। मित्रों का बनाना सरल है, जिसमे भी दो-चार बातें हुई, जान-पहचान बढी कि मित्रता हो गई। लेकिन यह मित्रता नही है, समय बिताने या बातचीत करने का माध्यम है। मित्रता का निर्वाह जीवन देकर ही किया जा सकता है—

नेह निभावन एकरस महाकठिन व्यवहार।

मित्रता का निर्वाह तभी हो सकता है जब हृदय में सच्चा प्रेम हो जाये। एक दूसरे के सुख-दुःख मे काम आएँ, गुणों पर दृष्टि हो, गुणों को देखकर मन में उल्लास बढ़े और समान आचार-विचार हो। सिर्फ प्रेम बढ़ाओ या हमारे मित्र बन जाओ, इतना कहने मात्र से न तो किसी के हृदय में प्रेम जगाया जा सकता है और न मित्र बनाया जा सकता है। उसके लिये व्यवहार की जरूरत है। मैत्री भावना में समस्त जगत के प्रति मित्रता की भावना करने की प्रेरणा दी गई है। किन्तु यह मैत्री कैसे बढ़े ?

व्यवहार में मैत्री को साकार रूप देने का उपाय है, प्रमोदभाव अर्थात् अपनी

१. तत्त्वार्थसूत्र ५।२१

आंतरिक प्रसन्नता को, कृतज्ञता को हित-मित-प्रिय मिष्ट वाणी द्वारा अभिव्यक्त करना। आन्तरिक अनुराग को शारीरिक प्रवृत्ति के द्वारा प्रगट करना। यह अभिव्यक्ति अनेक प्रकार से की जा सकती है। जैसे कि आदर देकर, गुणों का वर्णन कर, भोजन-पान आदि से सत्कार कर, एक दूसरे के सुख-दुःख को पूछ कर, दुःख दूर करने के उपाय कर आदि। दूसरे शब्दों में कहें कि मित्रता को जताने के लिये, मैत्री को सबल बनाने के लिये प्रमोद भावना होना जरूरी है।

तत्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि वृत्ति में प्रमोद भाव का अर्थ बताया है—

वदनं प्रसादादिभिरभिव्यज्यमानान्तर्भावितरागः प्रमोदः।[1]

—मुख की प्रसन्नता, अन्तरंग की भक्ति एवं अनुराग को व्यक्त करन प्रमोद है।

गुणों का विचार करके उन गुणों में हर्ष मानना—प्रमोद भावना का लक्षण है।[2]

उपाध्याय विनयविजय जी ने बताया है—

भवेत् प्रमोदो गुणपक्षपातः।[3]

—गुणों के प्रति पक्षपात अर्थात् गुणों के प्रति अनुराग रखना प्रमोद भाव है।

मैत्री की तरह प्रमोद भाव भी साहजिक परिणति है, गुणानुराग की वृत्ति है। संसार में कोई भी प्राणी अकेला नहीं जी सकता है। मनुष्य संसार में श्रेष्ठ प्राणी है, पर वह भी अकेला नहीं जीता है। समाज के साथ उसका सम्बन्ध है, परिवार भी उसके साथ होता है। पास पड़ौस में होने वाली घटनाओं की प्रतिक्रिया भी उसके मन में होती है, तब मानवीय चेतना में अच्छे बुरे विचार भी आते है। यदि आपकी चेतना का ऊर्ध्वमुखी विकास हो रहा है तो किसी उन्नतिशील व्यक्ति को देखकर, उसके व्यक्तित्व का ऊर्ध्वमुखी विकास होते देखकर अवश्य ही आपको प्रसन्नता होगी। आप उसके गुणो की प्रशंसा करेंगे, प्रमोद से पुलक उठेंगे, आंखों में तेज और ओज की ज्योति चमक उठेगी। ऐसा होना ही जीवन है, जीवन के लिए आनन्द का मार्ग है। गुणों का स्वागत करना, किसी के विकास को प्रोत्साहित करना, आध्यात्मिक चेतना

---

१. सर्वार्थसिद्धि ७।११।३४६
२. भगवती आराधना वृत्ति १६९६।१५१६।१५ —जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३, पृ० १४७
३. शांतसुधारस भावना १३।३

का ऊर्ध्वीकरण है। आगमों में श्रावकों का वर्णन किया है, वहाँ श्रावकों के लिये विशेषण दिया है—"अट्ठिमिञ्ज पेमाणुरागरत्ते"[1] उनकी अस्थि और मज्जा भी धर्म के प्रेमानुराग में रंजित थी। प्रेमानुराग का अर्थ है गुणों के प्रति अनुराग, गुणी जनों की प्रशंसा और धर्मानुराग-धर्म के शाश्वत सत्य के प्रति एक निष्ठा। यह दोनों जीवन के एक महत्वपूर्ण अंग हैं। सद्‌गुणों के कल्पवृक्ष को लहलहाते देखकर कोई भी सज्जन उसकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता है। यह प्रशंसा जहाँ दूसरों को उत्साहित करती है, वहाँ अपने को भी प्रसन्न व निर्भय बना देती है और 'स्व' तब इतना व्यापक हो जाता है कि 'पर' का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता है अथवा पर इतना निष्क्रिय, अस्तित्वहीन हो जाता है कि 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का ही रूप सर्वत्र दिखाई देता है।

प्रत्येक पदार्थ गुणयुक्त है

विश्व में पदार्थ अनन्त है। वे गुणों से हीन नहीं हैं। प्रत्येक में अपनी-अपनी विशेषता है और यही विशेषता उनको प्रसिद्धि देती है। जिन्हें हमें गुण-हीन या व्यर्थ समझकर फेंक देना चाहते है, वे भी गुणों से युक्त है। यह बात दूसरी है कि हम उनके गुणों को न जानते हों अथवा हमारी दृष्टि दोष-दर्शन की ओर हो, जानते-बूझते भी गुण-दर्शन नहीं करना चाहते हों। इससे पदार्थों में गुणों का नाश नहीं हो जाता है, किन्तु—

गुण न हिरानौ गुणगाहक हिरानौ है।

हम घास को तुच्छ समझ कर फेंक देते या जला देते हैं, लेकिन उसके भी अपने गुण हैं। उसमें भी अपार शक्ति भरी हुई है। उनका संयोग मदोन्मत्त हाथी को बाँध सकता है। संखिया जहर है, लेकिन वह शुद्ध होकर अमृत भी बन जाता है। दीपक में रोशनी कम है, लेकिन पथिकों को अपने गंतव्य की ओर प्रेरित करने का गुण तो हैं ही। इसी बात की ओर संकेत करते हुए कवि कहता है—

कस्यापि कोऽप्यतिशयोऽस्ति स तेन लोके,
ख्यातिं प्रयाति नहि सर्वविदास्तु सर्वे।
किं केतकी फलति किं पनसः सुपुष्पः,
किं नागवल्ल्यपि सुपुष्प-फलैरुपेता॥[2]

---

१. सूत्रकृतांग २।२।३९

२. सुभाषित रत्न भांडागार

प्रत्येक पदार्थ में कोई न कोई विशेषता होती है और उसी से वह जग में प्रसिद्ध हो जाता है। केवड़े पर फल, पनस (कटहल) पर फूल और नाग-वल्ली—पान की बेल पर फल-फूल नहीं आते, फिर भी वे अपने-अपने गुण से प्रसिद्ध हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक पदार्थ में अपने-अपने गुण हैं और जो उनके गुणों की ओर दृष्टि रखता है, वह सदैव प्रसन्न रहेगा और गुणार्जन के लिये प्रयत्नशील होगा।

संसार में गुणज्ञ की अपेक्षा दोष देखने वाले अधिक हैं। मक्खी जैसे मिठाई को छोड़कर विष्ठा पर बैठती है, तथा शूकर जैसे चावल के कुण्ड को छोड़कर उकूरडी पर जाता है—**कणकुण्डगं चइत्ता णं विट्ठं भुंजइ सूयरे**—इसीप्रकार दोषदर्शन करने वाला गुणों की उपेक्षा कर बुराई देखता है। शास्त्र में कहा है, ऐसा व्यक्ति जो—

> **एवं तु अगुणप्पेही गुणाणं च विवज्जओ।**
> **तारिसो मरणंते वि नाराहेइ संवरं।**[1]

गुणों की उपेक्षा व अनादर कर अवगुण देखता रहता है। दूसरों के छिद्र, दोष और अपराधों पर ही विचार करता है, वह मृत्यु तक भी संवर धर्म की आराधना नहीं कर सकता।

संसार में जो मनुष्य गुणों की परीक्षा करने में अक्षम हैं, अथवा ईर्ष्या, द्वेष-वश दोषों की ओर देखने को प्रवृत्त हैं वे गुणों में भी दोषों को देखते रहेंगे। वे तो अपना जीवन व्यर्थ खोते हैं और इस भूमि पर जन्म लेकर सिर्फ भूमि का भार ही बढ़ाते हैं। उनके बारे में एक उर्दू शायर ने ठीक ही कहा है—

> **सीरत नहीं जो अच्छी सूरत फिजूल है।**
> **जिस गुल में बू नहीं वह कागज का फूल है ॥**

जिसमें स्वयं गुण नहीं और गुणों को ग्रहण करने की आकांक्षा नहीं वह आकृति से सुन्दर होते हुए भी बिना खुशबू के फूल के समान है। इसीलिए जो अपने जीवन को प्रसन्न रखना चाहता है, उन्हें गुणार्जन की वृत्ति रखना चाहिए और इस गुणार्जन की भावना का ही दूसरा नाम 'प्रमोद भावना' है।

गुणज्ञ की दृष्टि

जिनकी गुणों की ओर दृष्टि है और गुणार्जन के लिए उत्सुक होते हैं वे सदैव गुणों को ही देखते हैं, गुणीजनों से प्रेम करते हैं और संतुष्ट होते हैं। वे यह नहीं देखते कि गुणज्ञ पुरुष नीचवर्ण या उच्चवर्ण का है, स्त्री है या पुरुष है या बालक है। गुणज्ञ की दृष्टि होती है कि—

---

१. दशवैकालिक ५।४१

अनन्तशास्त्रं बहुला च विद्याः अल्पश्च कालो बहुविघ्नता च।
यत्सारभूतं तदुपासनीयं हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात् ॥[1]

शास्त्रों का ज्ञान अनन्त है, विद्याएँ भी अनन्त हैं, समय अल्प है, विघ्न-बाधाएँ बहुत हैं। अतः जैसे हंस जल मिश्रित दूध में से दूध पी लेता है, वैसे ही जो पदार्थ सारभूत लगे, उसे तत्काल ग्रहण कर लो।

भगवान महावीर ने कहा है—

कंखे गुणे जाव सरीरभेऊ।[2]

जब तक शरीर भेद (मृत्यु) नहीं होता है, तब तक गुणों की आराधना करते रहो।

जहां भी गुण दीखे, पहले उसे देखकर प्रसन्नता व्यक्त करो, फिर उसे अपनाने का प्रयत्न करो। गुण देख कर यह मत सोचो कि यह मेरा विरोधी है, यह नीच जाति का है, यह छोटा है, मैं इसके गुणों की प्रशंसा कैसे करूँ? ऐसा विचार करना तो स्वयं का छोटापन है। उदार व्यक्ति वस्तु के महत्व को समझता है, वह यह नहीं देखता कि वस्तु किस की है? कहाँ रखी है? जौहरी हीरे का मूल्य करते समय क्या यह सोचता है कि यह हीरा सेठ-साहूकार का है या किसी गरीब का है? यह मखमल की डिबिया में रखा है या कागज की पुड़िया में, या मिट्टी में पड़ा है। वह तो हीरे का मूल्य करता है। कहा है—

विषादप्यमृतं ग्राह्यं अमेध्यादपि कांचनं।
नीचादप्युत्तमां विद्यां स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥[3]

विष में भी अमृत मिलता हो तो ले लेना चाहिए। गन्दी जगह पर भी यदि सोना पड़ा हो तो उसे नहीं छोड़ना चाहिए। नीच के पास भी यदि श्रेष्ठ विद्या हो और निम्न कुल में भी यदि स्त्री रत्न मिलता हो तो उसे ग्रहण कर लेना चाहिए। यह नीतिकार का कथन है। उक्त कथन का भाव यही है कि तुम गुण को देखो, व्यक्ति को नहीं। कौटिलीय अर्थशास्त्र में कहा है—

म्लेच्छानामपि सुवृत्तं ग्राह्यम्,
शत्रोरपि गुणा ग्राह्याः ।

म्लेच्छों का भी सदाचरण सीख लेना चाहिए।

शत्रु के पास भी यदि गुण है तो लेना चाहिए। एक कवि ने कहा है—

---

१. चाणक्यनीति १५।१०
२. उत्तराध्ययन ४।१३
३. चाणक्यनीति १।१६

हम तो ग्राहक हैं चन्दन के भले साँप लिपटे हों।
मुग्ध हैं पुष्प सुरभि पर हमें कांटों से क्या मतलब ?
गोल मोती के गर्जी हैं, सीप बांकी से क्या मतलब ?
काम तकिए की रू से है, हमें खोली से क्या मतलब ?

तो मतलब यह कि जहां भी मिले, जिस कदर मिले, गुण देखना चाहिए और खुले मन से उसे स्वीकार करना चाहिए। व्यक्ति एक-एक गुण का संग्रह करके ही तो गुणी बनता है।

इसलिए हम सबको गुणों का सम्मान करना चाहिए, जहाँ भी गुण मिलें और जिस प्रयत्न से मिलें, सदा गुणों की आराधना में लगे रहना चाहिए। चाहे आप धनवान हों, विद्यावान हों, बलवान हों, लेकिन गुणों का अनादर न करें और जीवन के अन्तिम क्षण तक भी गुणसाधना में लगे रहें। इसी बात को तुलसीदास जी के शब्दों में कहेंगे—

ज्ञान गरीबी गुण धरम नरम वचन निरदोष।
तुलसी कबहुं न छोड़िये शील, सत्य, सन्तोष॥

जहाँ गुणग्राहकता की दृष्टि है, वहीं आत्म-विकास होता है। काम, क्रोध, मद, मात्सर्य आदि आत्मविकारों का प्रवेश न होने से जीव सुख प्राप्ति की ओर अग्रसर हो जाता है। गुणी व्यक्ति की संगति करने से व्यावहारिक शिष्टता, सभ्यता का ज्ञान होता है और दूसरे व्यक्ति सन्मान करते हैं। मन में उल्लास बना रहता है। कहा है—

स्तोकोऽपि गुणिसंसर्गो श्रेयसे भूयसे भवेत्।

गुणी जनों का थोड़ा-सा संसर्ग भी महान कल्याणकारी होता है।

गुणज्ञता दुर्लभ

इस संसार में अगर कोई सबसे दुर्लभ गुण है तो वह गुणज्ञता ही है। नीतिशास्त्र में कहा है—

गुणी च गुणरागी च विरलः सरलो जनः।

जो स्वयं गुणी हो और गुणों का अनुरागी हो ऐसे सरल पुरुष संसार में विरले ही होते हैं।

गुणी व्यक्ति फिर भी संसार में मिल जाते हैं किन्तु गुणों से प्रेम करने वाला तो बहुत ही दुर्लभ है।

गुणी सैकड़ों में कहीं, मिल जाते वो एक।
लाखों में मिलना कठिन गुणग्रष्टा सुविवेक।

गुणी होने से भी बड़ा है—गुणज्ञ होना।

वास्तव में गुणज्ञ होना ही सबसे बड़ा गुण है। यदि आपमें गुणदृष्टि है तो संसार में आप कहीं भी रहें, आपको गुण मिल जायेंगे और आप उन गुणों के दर्शन से स्वयं को आनन्दित करेंगे। यदि गुणदृष्टि नहीं है तो आपके सामने हजारों गुणी बैठे हैं, फिर भी आप उनसे कोई लाभ नहीं ले सकते। कविवर कालिदास ने गुणज्ञ-दृष्टि पर एक उत्प्रेक्षा की है—

> गुणिनि गुणज्ञो रमते, नागुणशीलस्य गुणिनि परितोषः।
> अलिरेति वनात् पद्मं, न दर्दुरस्त्वेकवासोऽपि।

गुणों का पारखी गुणी व्यक्ति ही गुणीजनों से प्रेम करता है, गुणहीन गुणियों से सन्तुष्ट नहीं होता। भौंरा वन से चलकर सरोवर स्थित कमलों के पास आकर मकरन्द रस लेता है, किन्तु उसी सरोवर में बैठे मेंढक को कमल की सुगन्ध का क्या मूल्य?

उत्तराध्ययन सूत्र में दो प्रसंग आते है। पहला एक प्रसंग है—अनाथी मुनि जब मण्डिकुक्षि उद्यान में ध्यानस्थ खड़े है, उनके चेहरे पर अपूर्व तपस्तेज दमक रहा है। उधर घूमते हुए मगधराज श्रेणिक उन्हें देखते है। वे गुणज्ञ थे, गुणों के पारखी थे, मनुष्य के अन्तरंग को समझने वाली दृष्टि थी, वे तुरन्त उन अपरिचित जैन मुनि के पास आते हैं, और पहले ही क्षण उनके गुणों की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

> अहो! वण्णो अहो! रूवं, अहो! अज्जस्स सोमया।
> अहो! खंती अहो! मुत्ती अहो! भोगे असंगया॥[1]

अहो! मुनि का कैसा सुन्दर वर्ण है, कितना अद्भुत रूप है। अहो! आर्य की कैसी सौम्यता है, कैसी अद्भुत क्षांति है, कितनी अपूर्व निष्पृहता है। अहो! भोगों के प्रति कैसी असंगता है।

अब तक मगधराज श्रेणिक का और अनाथी मुनि का कोई परिचय नहीं था। यही नहीं, बल्कि श्रेणिक जैनधर्म अनुयायी भी अब तक नहीं बने थे। वे जैन श्रमणों के विरोधी भी थे। इतना होते हुए भी मुनि की गुण-सम्पदा देखकर उनका हृदय कमल खिल उठा। आंखें प्रसन्नता से नाच उठीं और वे मुनि के चरणों में आकर उपस्थित हो गये। मेरा चिन्तन है, यदि श्रेणिक में गुण-दृष्टि न होती तो शायद वे जिनधर्म का बहुमूल्य रत्न जीवन में न पा सकते, इसी

---

१. उत्तराध्ययन २०।६

गुणज्ञता ने ही उन्हें मंगलकारी धर्म की शरण दी। उनका जीवन बदला, जीवन दृष्टि बदली।

दूसरा एक प्रसंग है केशी-गौतम का। गौतम गणधर महान ज्ञानी थे तो केशीश्रमण भी कम नहीं थे। वे भी चतुर्दश पूर्वधर थे। पर दोनों ही बड़े गुणज्ञ थे। एक दूसरे की बात सुनकर प्रसन्न होते थे। केशीश्रमण प्रश्न करते हैं, गौतम उत्तर देते हैं। उनके उत्तरों से सन्तुष्ट होकर केशीश्रमण कहते हैं—

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो।
नमो ते संसयाईय ! सव्वसुत्त महोयही ![1]

—हे गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है, तुमने मेरे ये सब सन्देह दूर कर दिये। हे संशयातीत ! हे सर्वश्रुत के महोदधि ! तुम्हें मेरा नमस्कार है।

आपको ज्ञात ही है, केशी एवं गौतम दोनों ही दो अलग-अलग परम्परा के कर्णधार है, किन्तु एक दूसरे के गुणों का आदर करते है, गुणी हैं, गुणज्ञ हैं। एक दूसरे से ज्ञान प्राप्त कर अपने को धन्य समझते हैं और ज्ञानदाता को नमस्कार करते हैं।

गौतम गणधर की गुणज्ञता तो बहुत ही उत्कृष्ट है। स्कन्दक संन्यासी को जब भगवान के समवसरण में आते देखते हैं तो उसके भी स्वागत के लिए उठते हैं और प्रसन्नता व्यक्त करते है।[2] अतिमुक्तक राजकुमार जैसे बालक की सरलता और सुलभबोधिता देखकर उनके साथ-साथ घर जाते हैं और उसे अपने साथ भगवान महावीर के पास लाकर दर्शन कराते हैं, जिससे उसका जीवन बदल जाता है।[3]

गुणज्ञता के ये एक-दो शास्त्रीय उदाहरण आपके सामने रखे गये हैं कि जो स्वयं गुणी है वह दूसरों में गुण देखकर प्रसन्न हो जाता है, उसका आदर करता है।

कहते हैं कि गुणीजनों में मत्सरता होती है, वे एक-दूसरे से ईर्ष्या करते है। पर मेरा अनुभव है, यह अधूरा गुणीपन है। यदि गुणों की गम्भीरता हो, तो गुणी गुणी को देखकर कभी नहीं जलता, अपितु अन्तःकरण से प्रसन्न होता है। जो दूसरों के गुणों का आदर करता है, उसके स्वयं के गुण और अधिक दीप्त होते हैं।

---

१. उत्तराध्ययन २३।८५
२. भगवती २।१
३. अन्तकृत् दशा वर्ग ६

स्थानांग सूत्र में बताया है—मनुष्य के गुण चार प्रकार से अधिक दीप्त होते हैं—[1]

१ विद्या अभ्यास करते रहने से,
२ दूसरों के अनुकूल व्यवहार रखने से,
३ अपना कार्य कुशलतापूर्वक सिद्ध करने से,
४ कृतज्ञता प्रकट करने से।

यह कृतज्ञता ही गुणानुराग है, प्रमोदभाव है। अतः प्रमोद भावना से हृदय की प्रसन्नता के साथ-साथ स्वयं के गुणों का प्रकाश भी होता है।

गुणज्ञ द्वारा प्रमोद प्रदर्शन की वृत्ति

प्रमोद, प्रसन्नता भावात्मक है और बाहर में उसका कोई भी रूप नही बताया जा सकता है। फिर भी गुणज्ञ व्यक्ति अपने जीवन, इन्द्रियों, शरीर आदि की प्राप्ति की सफलता इसमें मानता है कि—

> जिह्वे ! प्रह्वी भव त्वं सुकृति-सुचरितोच्चारणे सुप्रसन्ना,
> भूयास्तामन्यकीर्ति श्रुतिरसिकतया मेऽद्य कर्णौसुकर्णौ।
> वीक्ष्याऽन्यप्रौढ़लक्ष्मीं द्रुतमपचिनुतं लोचने रोचनत्वं,
> संसारेऽस्मिन्नसारे फलमिति भवतां जन्मनो मुख्यमेव।[2]

हे जिह्वे ! अत्यन्त प्रसन्न होती हुई तू पुण्यशाली मनुष्यों के दान, शील, तप आदि सद्गुणों का वर्णन करने में अतीव आसक्त हो अर्थात् धार्मिकजनों की प्रशंसा करने में तत्पर हो। मेरे कान दूसरों के यश को सुनने में प्रेम वाले बनकर अपने नाम की सार्थकता सिद्ध करें। दिनोदिन बढ़ते हुए दूसरों के ऐश्वर्य को देखकर मेरे दोनों नेत्र खुशी से हर्षित होवें, क्योंकि इस संसार में उत्पन्न होने वाली जीभ, कान, नेत्र आदि इन्द्रियों के होने का एकमात्र यही मुख्य शुभ फल है।

इसीलिये गुणज्ञ व्यक्ति सर्वत्र गुणों को ही देखता है और उनके वैभव आदि को पुण्य का फल मानकर प्रशंसा करता है। उसकी दृष्टि में एक ही बात होती है कि प्रत्येक प्राणी सुखी हो, कोई शत्रु न हो किन्तु मित्र ही मित्र हों और जगत में दुःख का नाश हो जाए एवं मुझमें इतनी शक्ति जागृत हो जाये कि प्रत्येक प्राणधारी के दुःखों का नाश करने में समर्थ हो सकूं।

गुणज्ञ व्यक्ति की इस भावना में अहंकार नही होता है। वह कृतज्ञ होता

---

१ स्थानांग सूत्र ४।४।२८४
२. शांतसुधारस, प्रमोद भावना ६

है और गुणीजनों के गुणगान करके उनके गुणों का आस्वादन करने के लिये लालायित होता है—'सद्गुणपाने सक्तं मे मनः।' इसीलिये वह अरिहंत, सिद्ध, साधु, श्रावक, साधारण जन, यहाँ तक कि छोटे छोटे प्राणियों में भी गुणों को देखते हुए चिन्तन करता रहता है कि वे अरिहंत भगवंत धन्य हैं—

अध्यारुह्यात्मशुद्ध्या सकलशशिकलानिर्मलध्यानधारा,
मारान्मुक्तेः प्रपन्नाः कृतसुकृतशतोपार्जिताऽर्हन्त्य-लक्ष्मीं।[1]

जो आत्मशुद्धि द्वारा एवं पूर्ण चन्द्र की कांति के समान अत्यन्त उज्ज्वल ध्यानधारा पर आरूढ़ होकर कर्मफल से मुक्त हो गये हैं और पूर्व जन्म में किये सैकड़ों पुण्य कर्मों के फलस्वरूप इस आर्हत्यलक्ष्मी (केवलज्ञान-दर्शन आदि लक्ष्मी) को प्राप्त किया है। आपके समान ही हमें यह लक्ष्मी प्राप्त हो, जिससे जन्म-मरण के दुखों से सदा के लिये छूटकर अपना इष्ट प्राप्त कर सकें। आप धन्य है और हमारे अभिवंदनीय है।

मस्तक आदि आठ अंगों की प्राप्ति तभी सफल मानी जायेगी जब अनन्त ज्ञान, दर्शन आदि गुणों से युक्त सिद्ध भगवन्त जैसी अवस्था प्राप्त हो जाये। उन्हीके चिन्तन-मनन में मन, वाणी आदि का उपयोग होता रहे। इसके सिवाय इन्द्रियों द्वारा होने वाली अन्य वृत्तिया व्यर्थ है, मूर्खों का प्रलाप मात्र जैसी हैं।

वे धर्मधारी संत जन धन्य है, जो दिनरात मन को एकाग्र कर समभाव में लीन रहते है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतों का पालन करते हैं। स्वयं शान्ति-सुधारस का पान करते हुये दूसरों को भी उसी का पान कराते है। शान्त, दान्त एव जितेन्द्रिय होकर जगत में जिनेन्द्र शासन को प्रदीप्त, प्रकाशमान करने में लीन हैं। ये महान आत्मजयी महामुनि धन्य हैं। वह घडी आये, जब इनके मार्ग का अनुकरण कर आत्मबोध प्राप्ति के लिये उद्यत हो सकूं।

वे श्रावक धन्य हैं, जो देश-धर्म और समाज की सेवा करने के साथ आत्मोत्थान में निरत है, न्याय नीति पूर्वक आजीवीकोपार्जन कर परिवार का पालन-पोषण करते है। धर्म श्रद्धा इतनी सुदृढ़ है कि प्रलोभनों के वश होकर भी अपने न्याय मार्ग से विचलित नहीं होते हैं। यश की आकांक्षा से दूर रहकर तन मन धन से सेवा कार्यों में सबसे आगे रहते हैं। गुण-ग्रहण में सदैव तत्पर है। जब तक मै सर्व सावद्य कार्यो से विरति नहीं ले लेता, तब तक इन जैसी मेरी वृत्ति हो जाय तो भी मैं अपने मनुष्य जीवन को सफल मानूंगा। इनके

---

१. शांतसुधारस, प्रमोद भावना १

मार्ग पर चलने की थोड़ी-सी भी शक्ति मुझे प्राप्त हो जाये तो भी मेरा कल्याण होना संभव है।

वे दानी धन्य है, जो अपने न्यायोपार्जित धन द्वारा लोक कल्याण के कार्यों को करते है और दूसरों को भी वैसे कार्य करने की प्रेरणा देते हैं। धन की तीन अवस्थाएँ हैं—दान, भोग और नाश। दानी पुरुष धन का दान कर भावी जन्म के लिये पुण्योपार्जन कर रहे हैं। उनकी बुद्धि सन्माननीय है, जिन्होंने इन्द्रिय विषयों की पूर्ति के लिए धन का प्रयोग न कर जीवों के दुखों के हरण में उपयोग कर रहे हैं। उन जैसी वृत्ति सभी की बन जाये तो फिर दुनिया में कोई भी दुखी न रहे।

मैं गुणवानों के गुणों की सराहना करने के साथ उनकी भी सराहना करता हूँ जिनके साथ मेरा कभी सम्पर्क नही हुआ, मिलना भी न हुआ हो अथवा जो जिन मार्ग पर आरूढ़ नहीं होकर भी परोपकारिता, सत्यवादिता, प्रामाणिकता, सन्तोष, क्षमा, आदि-आदि अनेक गुणों से युक्त हैं। उनमें विद्यमान गुणों के अनुरूप मेरी भी वृत्ति हो जाये तो भी इस मानव जीवन का पाना सार्थक समझूंगा।

जिस व्यक्ति का मन गुणानुराग से आप्लावित है। प्रत्येक परिस्थिति में आनन्द मानने वाला है, वह द्वेष, मात्सर्य, ईर्ष्या आदि दुर्गुणों को त्याग कर देता है। दूसरों की वृद्धि को उनके पुण्य का फल मानकर सुकृत करने की ओर अग्रसर होता है। पापभीरू होता है। अपने-पराये की भावना न होने से स्वार्थों पर विजय प्राप्त कर लेता है और सोचता है कि मेरा यह जीवन कितने दिनों का है? यह शरीर, यौवन तो कुछ काल तक टिकने वाला है, अतः उन महापुरुषों का अनुसरण करूँ जो संसार के स्वरूप को समझकर, भोगों को छोड़कर आत्मार्थी बने है और गुणों की प्राप्ति कर कर्मसमूह को नष्ट कर दिया है। इस प्रकार गुणज्ञ व्यक्ति प्रत्येक गुणी व्यक्ति के गुणों का चिन्तन-मनन कर उसके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता है और उनके गुणों को जीवन में आत्मसात् करने की भावना करता है।

आज के लोक जीवन में यदि यह गुणज्ञ दृष्टि आ जाये तो संसार की आधी समस्याएँ स्वतः सुलझ सकती हैं।

किसी के गुणों की प्रशंसा करना, गुणों के प्रति अनुराग व्यक्त करने के लिये मधुर शब्दों का प्रयोग करना चापलूसी नहीं है। चापलूसी में शब्दों का आडम्बर होता है, शब्द घड़े जाते हैं, लेकिन गुणों के अनुराग को व्यक्त करने में शब्दों की अपेक्षा नही होती है, वे तो सहज रूप में निकल पड़ते हैं।

प्रमोद भावना के अनुचिन्तन से व्यक्ति का हृदय इतना विनम्र हो जाता है कि वह कहीं भी गुणी को देखता है तो उसके आदर में मस्तक झुक जाता है और हृदय बोल उठता है—

नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यो ।
नमो युवभ्यो नम आशिनेभ्यः ।[1]

हम बड़े (गुणों से श्रेष्ठ), छोटे (गुणों में कम) युवा और वृद्ध—सभी गुणी जनों को नमस्कार करते हैं ।

येषां मन इह विगतविकारं ये विदधति भुवि जगदुपकारम् ।
तेषां वयमुचिताऽऽचरितानां, नाम जपामो वारंवारम् ॥[2]

इस लोक में जिन महामानवों का मन, रागद्वेष आदि विकारों से रहित हो गया है और प्राणी मात्र के कल्याण के लिए सदैव तैयार रहते हैं । ऐसे योग्य महापुरुषों के नाम हम बार-बार स्मरण करते है । अगर हमें भी महापुरुष बनना है, अपने जीवन को सफल बनाना है और शान्तसुधारस का पान करना है तो गुणनिधान महापुरुषों के गुणगान करने में मन को लगा दो । गुणानुवाद रूपी प्रकाश मे अपने आपको आलोकित कर लो । जीवन के उत्थान का यही सरलतम मार्ग है । 'प्रमोद भावना' की यही उपलब्धि है । हम गुणों के उपासक बनें । वेदों की भाषा में कहें तो—**मिथः सन्तु प्रशस्तयः**[3]—हम सब परस्पर एक-दूसरे के प्रशंसक बनें ।



---

१. ऋग्वेद १।२७।१३
२. शांतसुधारस भावना, प्रमोद भावना
३. ऋग्वेद १।२६।९

३. कारुण्य भावना

जो व्यक्ति स्वयं गुणी होता है, उस गुणी व्यक्ति की एक ही दृष्टि होती है, सभी जीव गुण-पूजक बनें और गुणार्जन के लिए अपनी सम्पूर्ण क्षमता का उपयोग करें। लेकिन आश्चर्य तब होता है कि गुणार्जन जीवन में सुखकारी होते हुए भी व्यक्ति दूसरों के दोष-दर्शन में लगे रहते हैं जोकि अत्यन्त कष्टदायी है। उन कष्टों के कारण जगत पीड़ित होता है। उन जीवों को दुःख पाते देखकर मन में जो अनुकम्पा, दया आती है उसे करुणा कहा गया है। द्रवित और अनुकम्पित मन का चिन्तन ही करुणा भावना है। करुणार्द्र आत्मा चिन्तन करता है—

> एकेन्द्रियाद्या ! अपि हन्तः जीवाः,
> पंचेन्द्रियत्वमधिगम्य सम्यक्।
> बोधिं समाराध्य कदा लभन्ते,
> भूयोभवभ्रान्तिभिया विरामम्॥[१]

हे चेतन ! वह दिन कब आयेगा जिस दिन एकेन्द्रिय आदि सभी प्रकार के जीव पांच इन्द्रियों से युक्त मनुष्य शरीर को प्राप्त कर तथा बोधि-सम्यक्त्व भाव की सफलता पूर्वक आराधना करके संसार भ्रमण में उत्पन्न होने वाले दुःखों के अन्त को प्राप्त कर सकेंगे, अर्थात् सांसारिक दुःखों के कारण काम, क्रोध, मान, मात्सर्य, राग, द्वेष आदि हैं और इनके कारण ही जीव नाना योनियों में उत्पन्न होकर अनेक प्रकार से दुःखों का अनुभव करते हैं। अतः वे कारण शीघ्र ही नष्ट हो जाये और जीव इन दुःखों से निवृत्ति प्राप्त कर सदा सर्वदा के लिये सुखी होवें।

दुःखी जीवों के दुःख के प्रति द्रवित होना, मन में अनुकम्पालाकर उनके सुख का विचार करना—यही तो करुणा भाव है। गुणहीन, बलहीन, साधनहीन जीवों को देखकर संसार की अवस्था एवं करुणाजनक स्थिति का चिन्तन करुणा भावना में किया जाता है।

सांसारिक दुःखों के विविध रूप और कारण

इस संसार के सभी जीव सुख चाहते हैं और दुःख से भयभीत हैं—

---

१. शान्तसुधारस, मैत्री भावना ७

सब्बे सुहसाया दुह पडिकूला[1]—

सभी को सुख प्रिय है, अनुकूल लगता है और दुःख अप्रिय है, प्रतिकूल लगता है, किन्तु चाहते हुए भी सुख मिलता नही है, अनचाहा भी दुःख आ जाता है। इसका कारण क्या है ? दुःख के स्वरूप व कारणों पर विचार करने से दीखता है—कोई धन की कमी से पीड़ित है, तो किसी को खाने-पीने के साधन भी नहीं जुट पाते हैं। किसी के सन्तान नहीं है, तो कोई सन्तान के अयोग्य होने से दुखी है। किसी को सभी प्रकार के ऐन्द्रियक-भोग प्राप्त होने पर भी अन्तराय कर्म वश उनका भोग नहीं कर पाते है। इस प्रकार से और भी अनेक दुःख के रूप हैं और स्वस्थता को अनुभव करने की इच्छा रखते हुए भी मन को स्थिर नहीं कर पाते है। एक इच्छा पूरी हुई कि मन दूसरी अनेक इच्छाओं के जाल में फँस जाता है। इन इच्छाओं की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हुए वह समय आ जाता है कि सब कुछ धन-माया को यहाँ छोड़कर चल देना पड़ता है।

लेकिन आश्चर्य की बात तो यह है कि संसार की इस स्थिति में भी कई प्राणी मानवश एक-दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न कर रहे है, कई क्रोधवश दूसरे के प्राणों का नाश करने अथवा अन्य प्रकार से कष्ट पहुँचाने से नहीं झिझकते हैं। मन में माया व कुटिलता को रखते है और दूसरों से छल-कपट करने से बाज नही आते हैं। कई लोभ के वश होकर धन प्राप्ति के लिए विदेश भटक रहे हैं और पग-पग दुःख उठा रहे है। इतना ही नहीं, दुःख के कारणो को समझते हैं, लेकिन जानते-बूझते हुए भी दुःखों के अन्ध-कूप में गिरने के लिए अग्रसर है। कोई उन्हें सद्बोध देकर पतन के मार्ग पर जाने से रोकता है तो उसका अपमान कर क्षणमात्र भी हेयोपादेय का विवेक नहीं करते हैं, उस सद्बोध-दाता को शत्रु मानकर हर तरह से हानि पहुँचाने के लिए संकल्प कर बैठते है और उसे दुःख पहुँचाते भी हैं।

संक्षेप में सांसारिक दुःखों के लिए कहा जाये तो यहाँ जन्म का, मरण का, वृद्धावस्था का, रोग का और इनके साथ ही शत्रु का, मानसिक भय का दुःख है। ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जो इन दुःखों से पीड़ित न हो। फिर भी अज्ञानवश संसारी जीव सुखों की कल्पना में डूबा सोचा करता है कि—मैं दुःखी हूँ, वह व्यक्ति मुझसे सुखी है।

छोड़कर निःश्वास कहता है नदी का यह किनारा,
उस किनारे पर जमा है जगत भर का हर्ष सारा।
वह किनारा किन्तु लम्बी सांस लेकर कह रहा है,
हाय रे! हर एक सुख उस पार ही क्यों बह रहा है ?

---

१. आचारांग १।२।३

नदी का यह किनारा निःश्वास लेकर कहता है—जल की सब शीतलधारा तो उस किनारे पर ही बह रही है और वह किनारा भी लम्बी सांस भरकर कह रहा है—अरे ! सुख और आनन्द तो सब उसी किनारे पर है, उधर ही सब रत्नराशि पड़ी है। इस किनारे पर तो सिर्फ सीप और घोंघे, मिट्टी और कंकर ही हैं।

तो इसका कारण क्या है ? तो कारण यही है कि मोहमयी प्रमाद मदिरा को पीकर संसार मतवाला हो रहा है। जिससे सूर्य उदय-अस्त के साथ आयुक्षय को भी आयु में वृद्धि समझता है। सांसारिक कार्यों में लगे रहकर समय का ध्यान नहीं करता और जन्म-मरण, वृद्धावस्था को देखकर भी भयभीत नहीं होता है। दुःख को भी सुख समझकर यह सारा संसार दीवाना हो रहा है।

ज्ञानीजनों का चिन्तन

लेकिन ज्ञानीजन संसार के स्वरूप और सांसारिक जीवों की प्रवृत्ति को देखकर चिन्तन करते है कि—

नाटक सम संसार, जुगल पार्ट सब कर रह्या।
एक-एक रे लार, मंच छोड़ सब चालसी॥

यानी यह सब संसार तो एक रंगमंच है जिसपर जीव अपने-अपने करतबों का प्रदर्शन कर रहे है। सबको यहाँ से आजकल में जाना है। इसलिए यहां अनासक्त रहना चाहिए। सुख-दुःख पर वस्तुओं में नही किन्तु आत्मा में है और प्राप्त अवसर का आत्म-प्राप्ति के लिए उपयोग करना चाहिए। वे स्वयं आत्मदर्शन कर सुख का अनुभव करते है, और साथ ही उन्मार्गगामी दुःखी जीवों को देखकर करुणार्द्र चित्त होकर उनके दुःखों को दूर करने के लिए भी तत्पर हो जाते है। वे दुःखी जीवों के बारे में कभी यह नही सोचते कि इन्हें अपने कृत-कर्मों का फल मिल रहा है। अतः दुख पाने दो इन्होंने पाप किये है, अतः उसका फल तो मिलना ही चाहिए, जिससे कि भविष्य मे पुनः पाप न करें। किन्तु इसके विपरीत वे उन दुःखी जीवों को देखकर उन्हें दुःख से उबारने के लिए चिन्तन करते है कि ये अज्ञानी जीव वस्तु के यथार्थ स्वरूप को नहीं समझने के कारण दुःखी हो रहे है। अज्ञानी एवं नास्तिक जनों के वचनों पर विश्वास कर तथा राग-द्वेष, मिथ्यात्व-प्रमाद आदि के वश होकर अन्यथाप्रवृत्ति करने से विभिन्न योनियो में जन्म मरण के असह्य दुख उठा रहे है। इन्हें कभी धर्मश्रवण का अवसर नहीं मिला है, और यदि कभी मिला भी तो तदनुकूल आचरण नही किया। यद्यपि उन जीवों द्वारा किये गये कार्य खेदजनक हैं, लेकिन मेरा कर्त्तव्य है कि इनको सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करूँ और बताऊँ कि जन्म-जरा-मरण

आदि रोगों की औषधि धर्म है। धर्म के पालन तथा असद् कार्यों के त्याग-प्रत्याख्यान से ही संसार से छुटकारा मिल सकता है।

ज्ञानी जन अपने चिन्तन को कार्यान्वित करने के लिए सर्वप्रथम तो संसारी जीवों को संबोधित करते हैं कि—

सद्गुत इह किं भवकान्तारे, गदनिकुरम्बमपारम् ॥
अनुसरताऽहित जगदुपकारं जिनपतिमगदंकारम् ॥[1]

हे प्राणियो ! इस संसार रूपी भयंकर वन में तुम क्यों दुःख सहन कर रहे हो ? इस पर विचार करो, और इस दुःख से बचने के लिए औषधि लो। औषधि एवं उपचार बताने वाले वैद्य आपके समक्ष है, उन्हें किसी प्रकार का राग-द्वेष नहीं है, और वे बदले में आपसे कुछ नहीं चाहते हैं, वे तो जन-कल्याण के लिए तत्पर हैं। उन वैद्यराज का नाम है जिनेश्वर, जिनेन्द्र देव ! उनकी शरण लेने से, उनकी बताई हुई औषधि को लेने से निस्संदेह अवश्य ही निरोग हो जाओगे। शीघ्रता करो, जल्दी से जल्दी उनके समीप पहुँच जाओ। उनकी बताई औषधि और पथ्य का सेवन करो। वे औषधि और पथ्य के रूप में आपको बतायेंगे—

परिहरताऽश्रव विकथा गौरव, मदनमनादि वयस्यम् ।
क्रियतां सांवरसांप्तपदीनं ध्रुवमिवमेव रहस्यम् ॥[2]

—उनके द्वारा बताया गया पथ्य है कि चिरकाल के साथी काम-विकार, मिथ्यात्व आदि आश्रव तथा विकथाओं से दोस्ती व अभिमान की संगति सदा के लिए छोड़ दो। तुम्हारे रोग बढ़ने के कारण यही संगी साथी मित्र है। जिनके साथ रहकर किसी प्रकार का विचार नहीं किया, स्वास्थ्य पर ध्यान नहीं दिया और जो कुछ भी उन्होंने कहा वही किया। जिस समय इनसे परहेज करना शुरू कर दोगे तो समझ लो आधा रोग दूर हो गया। और शेष रहे रोग के लिए दी जाने वाली औषधि का नाम है 'संवर'—यानी कषायों योगों, का निग्रह ! इन काम-विकार आदि दोस्तों के त्याग और संवर रूप औषधि के ग्रहण करने से निश्चित रूप से निरोग हो जाओगे। स्वास्थ्य प्राप्ति का यही उपाय है। यह उपाय निश्चित है और इसके लिए किसी भी प्रकार के विचार करने की जरूरत नहीं है।

करुणा से आप्लावित ज्ञानी जन दुःखीजनों के दुःख के कारणों का चिन्तन ही नहीं करते हैं, किन्तु विचारों को व्यवहार में उतारते हैं। वे यह अच्छी तरह

---

१. शान्तसुधारस, करुणाभावना ७

२. वही

समझते हैं कि सबको अपना जीवन प्रिय है, सुख अनुकूल और दुःख प्रतिकूल। इसीलिए प्राणीमात्र को अपना जैसा मानकर प्रवृत्ति करते हैं और प्राणोत्सर्ग करके भी जीवों की रक्षा के लिए तत्पर रहते हैं।

इसके लिए धर्मरुचि अनगार और राजा मेघरथ जैसे महापुरुषों के उदाहरण हमारे सामने हैं। धर्मरुचि अनगार ने तो कड़वी तूंबड़ी के शाक की एक बूंद से चींटियों को मरते देखकर असंख्यात जीवों की रक्षा के लिए शाक को उदरस्थ कर संलेखना पूर्वक शरीर का त्याग कर दिया था और राजा मेघरथ ने अपने शरण में आये कबूतर की रक्षा के लिए अपना जीवन ही अर्पण कर दिया। करुणा और दया के ये दो उत्कृष्ट उदाहरण हमारे सामने हैं।

तो उक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है करुणार्द्र व्यक्ति दूसरों के दुःखों को दूर करने के लिए अपने आपको बलिदान कर डालने के लिए तत्पर हो जाते है। वे स्वयं के प्रति, शरीर के प्रति निरीह, उदासीन होकर सोचते हैं कि यह शरीर परोपकार के लिए प्राप्त हुआ है। अगर संसार के दुःखों को दूर करने में यह शरीर, धन-सम्पत्ति अथवा अन्य प्राप्त वैभव का उपयोग हो गया तो इन सब की प्राप्ति और जीवन सफल है।

करुणा की महिमा और प्रवृत्तियां

करुणा मानवीय भावना है और प्राणिमात्र में इसका निवास है। निष्ठुर और क्रूर माने जाने वाले प्राणियों में भी करुणा की अमियधारा कुछ न कुछ अविकल रूप से बहती रहती है। भूखे को रोटी देना, प्यासे को पानी पिलाना, रोगी को औषधि देना आदि छोटे से लेकर बड़े तक जो भी परोपकार के कार्य दुनिया में हो रहे हैं, उन सबका एकमात्र प्रेरक कारण करुणावृत्ति ही है। यदि माता जन्म देकर बालक का लालन पालन न करे तो उसका जीवन नहीं रह सकता है। इसीलिये करुणा की महानता बतलाने के लिए कहा गया है—

पर दुःख विनाशिनी करुणा।[1]

करुणा दूसरों के दुःखों को दूर करने वाली है। करुणा को ही हम दया कहते हैं। करुणा की परिभाषा करते हुए कहा है—

दीनानुग्रहभावः कारुण्यम्।[2]

दीनों पर दया भाव रखना करुणा है।

१. धर्मबिन्दु
२. राजवार्तिक ७।११।३।५३८।१६

आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

दीनेष्वार्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम्।
प्रतीकारपरा बुद्धिः कारुण्यमभिधीयते ॥[1]

दीन, दुःखी, भयभीत और प्राणों की भीख चाहने वाले प्राणियों के दुःख को दूर करने की भावना होना 'कारुण्य' है। करुणा की इस परिभाषा को और अधिक व्यापक रूप देते हुए बताया है—

शारीरं, मानसं, स्वाभाविकं च दुःखमसह्याप्नुवतो दृष्ट्वा हा वराका! मिथ्यादर्शनेनाविरत्या कषायेणाऽशुभेनयोगेन च समुपार्जिताशुभकर्मपर्याय पुद्गलस्कन्धतदुपोद्भवा विपदो विवशाः प्राप्नुवन्ति इति करुणा—अनुकम्पा।[2]

—शारीरिक, मानसिक और स्वाभाविक ऐसी असह्य दुःखराशि (पीड़ा) प्राणियों को सता रही है, यह (पीड़ित प्राणी की दशा) देखकर अहह! इन दीन प्राणियों ने मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और अशुभ योग से जो कर्म उपार्जन किया था, वह कर्म उदय में आकर इन जीवों को दुःख दे रहा है। ये कर्म के कारण दुःखित हो रहे है। इस प्रकार उनके दुःख से द्रवित होना अनुकंपित होना करुणा है।

वस्तुतः यह संसार तो दुःखमय है ही। इसके दुःख से न तो धनवान बचा और न निर्धन, बलवान भी दुःखी है और निर्बल भी और उनके दुःखों के अनेक रूप भी है। इनमें से जो ज्ञान-विवेक युक्त है, शरीर और इन्द्रियों से परिपूर्ण हैं, उनके दुःखों को दूर करने के लिए सद्ज्ञान, सत्शिक्षा की जरूरत हैं। विवेकशील व्यक्ति तो सद्बोध प्राप्त करके ही अपने दुःखों को दूर करने की सामर्थ्य रखता है। फिर भी अनेक ऐसे प्राणी है जो असहाय है, अज्ञान है, दुःख दूर करने में समर्थ नहीं हैं और जीवन का भार वहन कर रहे हैं। इनके दुःखों को दूर करने से ही करुणा का सही रूप प्रकट होता है। उनके दुःख दूर करने के अनेक उपाय है।

मनुष्यों की दृष्टि से दुःखियों को देखा जाय तो सर्वप्रथम उन अनाथ बालकों पर ध्यान जाता है जो माता पिता का वियोग हो जाने से असहाय हैं, अभिभावकों के नहीं होने से दुर्गुणी बन रहे हैं। वे वृद्ध जन हैं, जिनके युवा पुत्रों का स्वर्गवास हो गया है और जीवन निर्वाह के साधन न मिलने से अधमरे जैसे अपने अन्तिम दिन पूरे कर रहे हैं। वे विधवा बहिनें हैं,

१. योगशास्त्र ४।१२८
२. भगवती आराधना वि० १६९६।१५१६।१३

जो युवावस्था में पति का वियोग हो जाने से जीवन की प्रसन्नता से दूर है, और पराश्रित जैसी बनकर जीवन व्यतीत कर रही हैं। इसी प्रकार से कितने ही अन्धे, बहरे, अपंग, रोगी आदि के रूप में मनुष्य शरीर धारण करके भी अनन्त पुण्यों से प्राप्त इस मानवभव को व्यर्थ गँवा रहे हैं। ये सभी दया के पात्र हैं। इनके जीवन को सुधारना मानव मात्र का कर्त्तव्य है।

पशु-पक्षी तो जन्मजात दुःखी हैं। विषयांध मनुष्य उन्हें एक खिलौना जैसा समझता है। उनका वध कर देना, बंधन में डाल देना आदि तो साधारण-सी बात है। इसके सिवाय भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि के भी अनेक दुःख है। उनके दुखों की गणना नहीं की जा सकती है।

इस प्रकार के दुखी जीवों के दुख दूर करने में ही करुणा का सही रूप दिखता है और दुःख दूर करने के उपाय रूप कुछ कार्य इस प्रकार हो सकते हैं जिनका संकेत करुणा को संबोधित करते हुये किया गया है—

हे करुणा माता ! तू उन माता-पिता से विहीन बालकों को अपनी गोदी में ले ले जो निवास स्थान के न होने से दर-दर भूखे-प्यासे भटक रहे है। उनके आवास स्थान की व्यवस्था कर और उसके बाद उन्हें इतना विद्वान और सद्गुणी बना दे कि अपने जैसों के सहायक बनकर नव जीवन प्रदान कर दें। ये सद्गुणी बालक ही तेरे सपूत कहलायेंगे।

करुणादेवी, तेरी छत्र-छाया सिर्फ बालकों पर ही न हो, वरन् उन वृद्ध मात-पिताओं पर भी हो, जो युवापुत्र के वियोग से आश्रय-विहीन हो गये है। आजीविका विहीन होने से आर्थिक सहायता के इच्छुक हैं। अतः उनके आवास और भोजन के लिये वृद्धाश्रम जैसे सुख शान्ति दायक स्थानों की रचना कर।

विधवा बहिनें तो तुम्हारे वर्ग की हैं। उनको तुम दुःखी और अपमानित होते कैसे देख सकती हो। अतः करुण हृदय ! उनके योग्य अभ्यास पठन पाठन के लिये प्रबन्ध करो। ऐसी शिक्षण शालाओ की स्थापना कराओ जिनमें शिक्षा और आजीविका का साधन सुलभ हो तथा स्वावलंबी बनकर जीवन व्यतीत कर सकें।

रोगी, अपंग, बहरे, मूक आदि मनुष्यों को तो करुणा का ही सहारा है। वे इतने पराश्रित है कि करुणा की कृपा न हो तो क्षण मात्र में काल के ग्रास बन सकते है। वे परिवार, समाज से बहिष्कृत जैसा जीवन व्यतीत कर रहे हैं। जीवित ही नारकीय वेदनाएं भोग रहे है अतः उनकी सेवा शुश्रूषा और रक्षा के लिये यत्र तत्र अंध-शालाओं मूक बधिर शालाओं, औषधालयों आदि बनाने की और अग्रसर बनो, जिससे उनका रक्षण हो सके, निरोग हो सकें और यथायोग ज्ञान प्राप्त करने लायक बन सकें।

अपराधी के प्रति भी करुणा हो

दीन-दुःखी असहाय प्राणियों के प्रति जहाँ मन में दया भाव आता है वहाँ अपने अपराधी और अहितकर्त्ता के प्रति भी मन में प्रेम और करुणा की वृत्ति आनी चाहिए। अपराधी जो, हमारा अहित कर रहा है, वह भी पुराने कर्मों के वश हुआ है, वह मोहग्रस्त है, द्वेषग्रस्त है या अज्ञान के वशीभूत होकर कर रहा है, विचारा वह भी दया का पात्र है, यदि उसकी आँखों पर से मोह-द्वेष व अज्ञान का पर्दा हटेगा तो वह स्वयं ही अपनी करनी पर पछतायेगा।

भगवान महावीर को संगम देव ने कितने मारणांतिक कष्ट दिये, पर उनके मन में तो उसके प्रति करुणा ही जगी। संगम देव छह मास तक कष्ट देकर जब हार कर जाने लगा तो भगवान की आंखें करुणार्द्र हो गई कि यह विचारा अज्ञानी जीव मुझे निमित्त बनाकर कितने घोर कर्मों से भारी हो गया है? पर-भव में यह कितने भयंकर दुःख व वेदनाएं भोगेगा?

अपराधी के प्रति करुणा भाव रखना उत्तम कोटि की करुणा है। उसके लिए भी संत जन करुणा स्निग्ध मन मे यही कामना करते हैं—उन्हें भी ज्ञान प्राप्त हो, सद्बुद्धि मिले—

सब को सन्मति दे भगवान

क्योंकि जो हमारा बुरा करता है, वह वास्तव दोषी नहीं है, किन्तु उसके अज्ञान का दोष है। अतः उसका अज्ञान दूर हो, ताकि वह भी किसी का अहित न करें।

अभयदान

करुणा की गंगा हजारों धाराओं में प्रवाहित होती है, सेवा, शुश्रूषा, चिकित्सा, दान, सहयोग उद्धार की प्रार्थना ये सब करुणा के ही रूप हैं। इन्हीं रूपों में एक रूप है— अभयदान! करुणार्द्र व्यक्ति संसार के मनुष्यों के प्रति ही नहीं किन्तु मूक-पशु पक्षियों के प्रति भी करुणा से आर्द्र होकर उन्हें अभय-दान देता है। स्वयं तो किसी मूक जीव की घात नहीं करता किन्तु किसी को घात करते देखकर भी उसका हृदय द्रवीभूत हो जाता है। भगवान अरिष्टनेमि मूक पशुओं का क्रन्दन सुनकर करुणा विगलित हो गये। वे सोचने लगे—

जइ मज्झकारणा एए हम्मिहिंति बहू जिया।
न मे एयं तु निस्सेसं परलोगे भविस्सइ॥[1]

—यदि मेरे निमित्त से इन बहुत से मूक प्राणियों का वध होता है तो यह

१. उत्तराध्ययन २२।१९

परलोक में मेरे लिए श्रेयस्कर नहीं होगा। इस करुणामय चिन्तन से द्रवित हो, वे विवाह मंडप से वापस फिर गये। सामने वरमाला लिये खड़ी सुन्दरी को त्याग दिया, पर करुणा को नहीं छोड़ा। समस्त प्राणि जगत को अभयदान देकर साधना पथ पर बढ़ गये।

संजति राजा को गर्दभालि मुनि ने अभय का उपदेश देते हुए कहा है—

अभओ ! पत्थिवा ! तुब्भं अभयदाया भवाहि य।[1]

हे राजन् ! मेरी ओर से तुम को अभयदान है, तुम भी जीव मात्र को अभयदान देने वाले बनो।

अभयदान, जीवनदान, औषधिदान, वस्त्रदान, ज्ञानदान, आदि दानों के मूल में करुणा ही है। करुणा भावना का सतत चिन्तन करने वाले व्यक्ति का हृदय फूलों-सा कोमल हो जाता है। वह किसी का कष्ट व दुःख देख नहीं सकता। यदि कहीं किसी को दुःखी-पीड़ित-भयभीत और अज्ञान-मोह संग्रस्त देखता है—तो "**साणुक्कोसयाए**"—करुणा से अनुप्रेरित होकर, अपना सर्वस्व निछावर कर दूसरे जीवों का दुःख दूर करता है। यही करुणा भावना की सच्ची उपलब्धि है।



---

१. उत्तराध्ययन १८।११

४. माध्यस्थ्य भावना

हम दुखी क्यों

संसार में कीड़ी से लेकर स्वर्ग के इन्द्र तक में एक प्रबल इच्छा रहती है– सुख प्राप्ति की ! कीड़ी-कुंजर-नारक-देव, तिर्यंच और मनुष्य सभी चेतन प्राणी- सुखी रहना चाहते हैं, दुःख कोई नहीं चाहता-**सर्वेऽपि सुखमिच्छन्ति**—सभी सुख चाहते हैं। दुःख से छुटकारा पाना चाहते है।

प्रश्न होता है, जब सभी जीव सुख चाहते हैं तो फिर सुख क्यों नहीं मिलता ? और दुःख नहीं चाहते, वह दुःख अनचाहे ही "मान न मान मैं तेरा मेहमान" क्यों बन जाता है ? इसी प्रश्न के उत्तर में समस्त दर्शनों का जन्म हुआ है। जितने भी ज्ञानी और महापुरुष हुए हैं सभी ने इस प्रश्न का उत्तर खोजने की चेष्टा की है।

भगवान महावीर ने एक बार अनेक श्रमणों को सम्बोधित करके पूछा— "श्रमणो ! संसार में प्राणी किससे भय खाता है ? जीव के लिए भय क्या है ?

किं भया पाणा ?

भगवान ने स्वयं ही समाधान किया—

दुक्खभया पाणा।

दुख से प्राणी भयभीत है ?

कोई भी प्राणी दुःख नहीं चाहता, दुःख से डरता है, कतराता है और उससे बचने की चेष्टा करता है। फिर प्रश्न उठा—

दुक्खे केण कडे ?

यह दुख पैदा किसने किया ?

प्रभु ने समाधान किया—

जीवेण कडे, पमाएणं[1]

स्वयं जीव ने, आत्मा ने ही अपनी भूल से, प्रमाद से, राग-द्वेष के आचरण से दुःख पैदा किया है।

---

१. स्थानांगसूत्र ३।२

संसार में सुख-दुःख का देने वाला कोई अन्य नहीं है।

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा

सुख-दुःख देने वाला आत्मा के सिवाय अन्य कोई नहीं हैं। दूसरा हमें दुःख देता है, यह कल्पना ही भ्रांत है। कुबुद्धि है। अज्ञान और मूढ़ता है। दुःख का कर्त्ता आत्मा स्वयं है।

आश्चर्य की बात है, हम जिस चीज से भय खाते हैं, जिससे बचना चाहते हैं, उसे अपने लिए स्वयं ही पैदा करते जा रहे हैं। यह तो ऐसी बात हुई, आदमी मौत से डरता भी है, और मौत को बुलाता भी रहता है, श्मशान के नाम से कांपता है और अपने हाथ अपनी कब्र खोदता जाता है। दुःख से बचना भी चाहता है, और दुःख को पैदा भी करता जाता है। इसका कारण क्या है? कारण है—मोह! प्रमाद! राग-द्वेष!

संसार में समस्त दुःखों की जड़ है- राग और द्वेष! राग के वश हुआ जीव मूढ़ दशा को प्राप्त करता है, द्वेष के वश-क्रूर बन जाता है। राग मनुष्य को कामी, लोभी, लोलुपी और मायावी बना देता है, द्वेष—क्रोधी अहंकारी और ईर्ष्यालु! इस प्रकार मूढ़ता और क्रूरता के कारण वह अपने लिए दुःख की शूलें बोता जाता है। दुःख से यदि बचना है तो उसे राग और द्वेष से बचना होगा।

राग-द्वेष को कैसे जीतें ?

अब प्रश्न होता है राग और द्वेष से कैसे बचा जाय! आत्मा में इतनी तो अभी सामर्थ्य नहीं है कि संकल्प करते ही वीतराग दशा प्राप्त करलें। राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करलें! सोचते ही तो सब कुछ नहीं हो सकता। हां, इसके लिए प्रयत्न और साधना करना होगा। राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करने हेतु भावनाओं की विधि बताई गई है। भावनाओं में राग के और द्वेष के हेतुओं पर गंभीर चिन्तन करके उनसे बचने का प्रयत्न किया जाता है।

पिछले प्रकरण में आपके सामने मैत्री, प्रमोद एवं कारुण्यभावना की चर्चा की गई है। इनमें राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करने का ही मार्ग बताया गया है।

राग को जीतने के दो उपाय है—

१. समभाव का विस्तार

२. उपेक्षावृत्ति

राग को क्षुद्र बनाने से, छोटा बनाने से वह गहरा होता है, यदि उसे व्यापक बना दिया जाय, तो उसका उदात्तीकरण हो जाता है। रंग का जितना

विस्तार हो, वह उतना ही हल्का होता है, इसी प्रकार राग जितना व्यापक बनेगा, उतना ही हलका हो जायेगा। अपने शरीर पर जो राग होता है, वह बहुत क्षुद्र राग है, इसका विस्तार करें, इसे व्यापक बनाये। शरीर से परिवार पर, परिवार से समाज पर, समाज से देश पर, देश से संपूर्ण विश्व पर, मनुष्य जाति से समस्त प्राणिजगत पर ! राग का विस्तार होते-होते वह उदात्त और व्यापक बन जाता है, उसका दोष नष्ट होने लगता है। राग को व्यापकता देने के तीन साधन पिछली भावना में बताये हैं—

१ मैत्री, २ प्रमोद, और ३ करुणा।

जीव मात्र के साथ मित्रता की अनुभूति करना, प्रत्येक प्राणी को अपना मित्र समझना राग का उदात्त व प्रशस्त रूप है।

जहां भी गुण दीखे, भलाई दीखे, उसे देखकर प्रसन्न होना, गुण को प्रोत्साहन देना, गुणीजनों की प्रशंसा करना-राग को निर्मल बनाने की दूसरी प्रक्रिया है।

तीसरी प्रक्रिया है—करुणा ! मोह मनुष्य को मूढ बनाता है, करुणा उसे सचेतन करती है। दुःखी जीवों के प्रति द्रवित होना, उनके कल्याण की कामना और प्रयत्न करना-राग को धर्मानुराग में बदलने की प्रक्रिया है।

इन तीनों भावना में समता भाव का विस्तार करके राग को प्रशस्त करने का प्रयत्न किया गया है, प्रशस्त राग अन्त में वीतराग दशा तक पहुँचा सकता है। अर्थात् वीतरागता तक पहुँचने का क्रम है—पहले अशुभ राग को जीतो फिर शुभराग को। राग जीता जाय तो द्वेष अपने आप जीता जा सकता है।

राग को जीतने का यह पहला उपाय है—समताभाव का विस्तार ! और दूसरा उपाय है उपेक्षावृत्ति ! राग-द्वेष के प्रसग पर तटस्थ हो जाना। समभाव में स्थिर हो जाना। इसे मध्यस्थता, तटस्थता, उपेक्षा या समभाव भी कह सकते हैं। मध्यस्थ दशा का अभ्यास करने के लिए 'माध्यस्थ भावना' का सहारा लेना होगा।

राग-द्वेष क्यों करें ?

मनुष्य की वृत्ति है, मन के अनुकूल कोई वस्तु मिलती है तो उस पर राग करता है, अच्छा रंग-रूप देखने को मिला, तो बड़ी आतुरता के साथ देखने लगता है, स्वादिष्ट भोजन मिल गया तो बड़ी रसिकता के साथ खाता है। अनुकूल प्रिय वस्तु का संयोग होने पर वह प्रसन्न होता है, आनन्द मनाता है। इसके विपरीत यदि मन के प्रतिकूल वस्तु का संयोग मिल जाता है तो क्रोध करने लगता है, घृणा व द्वेष से मन को कुंठित करने लग जाता है। प्रति-

कूल संयोग की स्थिति में वह दुःखी हो जाता है। भगवान महावीर ने अपने अन्तिम उपदेश में कहा है—

> **एगन्तरत्ते रुइरंसि भावे**
> **अतालिसे सो कुणइ पओसं।**
> **दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले,**
> **न लिप्पइ तेण मुणी विरागो।**[1]

—जो मनोज्ञ (मन के अनुकूल) भावों में अत्यन्त आसक्त होता है, वह मन के प्रतिकूल भाव मिलने पर उनमें द्वेष भी करने लगता है। इस प्रकार वह अज्ञानी कभी राग से पीड़ित होता है, कभी द्वेष से—दोनों ही स्थितियों में वह दुःख का अनुभव करता हुआ छटपटाता है। किन्तु जो अनुकूल-प्रतिकूल स्थिति में आसक्त नहीं होते, वे मुनि वीतराग सदा सुखी रहते है।

मनुष्य जिस वस्तु पर राग करता है पहले उसके स्वरूप का विचार करना चाहिए कि—

> **स्याद्यदि किञ्चित् स्थायि वस्तु**
> **तत्र रुचिः स्यादुचिता।**
> **नास्ति स्थिरं किञ्चिदपि दृश्यम्**
> **तस्मात् स्यात् साऽनुचिता।**[2]

—इस जगत में यदि कोई स्थायी वस्तु हो, सदा काल स्थिर रहने वाली हो, उस पर यदि कोई राग करे, प्रेम करे तो एक समझ में आने वाली बात है, किन्तु जो वस्तु अभी है, और अगले क्षण का कोई भरोसा नहीं। लहर की तरह चंचल और पवन की तरह अस्थिर है, उस पर कोई मेरा-मेरा करके राग या अपनत्व करता है तो वह एक प्रकार की मूर्खता ही है, अनुचित व अयोग्य बात है। समुद्र की लहर को पकड़ने की चेष्टा, हवा को हाथों में भरने की कोशिश करना मूर्खता है, वैसे ही नश्वर वस्तु पर, अस्थिर वस्तु पर राग करना एक प्रकार की मूर्खता या मूढ़ता है। अनित्यता आदि भावनाओ में पदार्थ के स्वरूप पर विस्तार के साथ विचार किया गया है कि पदार्थ पुद्गल-अस्थिर है, क्या शरीर ! क्या धन, वैभव, क्या भोग-विलास की सामग्री, सभी वस्तुएँ अनित्य है, नश्वर है, तो फिर इनके साथ राग का सूत्र जोड़ना, ममता का बंधन बांधना और उनकी प्राप्ति पर खुशी मनाना, वियोग पर दुःख मनाना कैसी समझदारी है ?

---

१. उत्तराध्ययन ३२।६१

२. भावना शतक, माध्यस्थ्य भावना-२

तो माध्यस्थ्य भावना का पहला चिन्तन है—संसार की अनित्य, अध्रुव क्षणिक वस्तु के प्रति रागद्वेष का संकल्प न करें। सुख आता है, तो सोचे—यह भी चला जायेगा, दुख आता है तो सोचे—यह भी चला जायेगा। न सुख स्थायी है, न दुःख स्थायी! घड़ी की सुई की तरह सुख-दुःख का चक्र चलता रहता है। धूप-छांह की भाँति संयोग-वियोग है। जो संयोग में प्रसन्न होता है उससे वियोग में दुःख भी पाना पड़ता है। जो काम-भोग की लालसा रखता है उसे अनचाहे ही दुर्गति में जाना पड़ता है—

कामे पत्थेमाणा अकामा जंति दुग्गइं ?[1]

—काम भोग की लालसा में, मनुष्य को दोनों तरफ दुःख हैं, यदि उनकी प्राप्ति होती है तो उनके भोग से नये कर्म बंधते है, परभव में दुख होगा और उनके वियोग पर भी दुःख होगा। यदि प्राप्ति नहीं होती है तो उनकी चिन्ता में झूरता रहेगा। शोक एवं चिन्ता करता रहेगा, तो इस प्रकार राग-द्वेष के विकल्प मनुष्य को सदा ही दुःखी बनाते है, वस्तु की प्राप्ति में भी; अप्राप्ति में भी! अतः जो इन विकल्पों से दूर रहता है वही—

एगंतसुही होइ मुणी वीयरागो

जो उनसे वीतराग है, वही एकान्त सुखी होता है। इस प्रकार वीतरागता का चिन्तन करते हुए विषय भोगों से उपरति लाना मध्यस्थ भावना का प्रथम सूत्र है।

उपेक्षावृत्ति

इन्द्रियों का स्वभाव है विषय को ग्रहण करना, कान शब्द सुनते है, आख रूप देखती है, किन्तु न शब्द में यह शक्ति है कि वह हमें दुःखी करें और न रूप में। सुख-दुःख देने की शक्ति शब्द-रूप आदि में नहीं है, किन्तु मन में है। जब मन शब्द में राग करेगा, रूप पर मोह करेगा तो सुख का अनुभव होगा, द्वेष करेगा तो दुःख का अनुभव होगा। यदि मन को उन विषयो से, शब्द-रूप आदि से दुःखी-सुखी न होने देना है तो उसका मार्ग एक ही है—

राग-दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खु परिवज्जए[2]

उन विषयों के प्रति राग और द्वेष न करके तटस्थ वृत्ति से रहे। मन में खुशी भी नहीं हो, गम भी नहीं हो, तो मनुष्य स्वस्थ व सुखी रह सकता है।

कभी-कभी ऐसा प्रसग आता है कि विषयों के प्रति तो मनुष्य आसक्त नहीं होता, मन को विषयों से मोड़कर तटस्थ रखता है, पर मन इच्छित कार्य

---

१. उत्तराध्ययन ६।५३

२. आचारांग २।३।१५।१३१

न होने से उसे द्वेष व क्रोध आ जाता है। आप किसी व्यक्ति को पापाचार करते हुए देखते हैं, आपका मन द्रवित होता है, उसे उपदेश देते हैं। समझाते हैं और कुमार्ग में जाने से रोकना चाहते हैं। किन्तु वह व्यक्ति आपकी हित शिक्षा, नेक सलाह नहीं मानता और वही विपरीत आचरण करता जाता है। ऐसी स्थिति में बहुत सम्भव होता है, प्रायः होता भी है, आपको क्रोध आ जाता है, आप आवेश में कह जाते हैं—"गधा कहीं का, इतनी अच्छी बातें कही, पर एक समझ में नहीं आई, सिर में गोबर भरा है, या हिया डिया फूटा है, भाग्यहीन है," आदि कठोर शब्द आपके मुंह से निकल जाते हैं और फिर लाभ की जगह अलाभ, अशान्ति व क्लेश खड़ा हो जाता है। बहुत बार आप उपदेश देकर भला करना चाहते हैं पर, उपदेश नहीं मानने पर उल्टा आपको ही क्रोध आ जाता है और मन खिन्न हो जाता है। कभी कभी आवेग भी आ जाता है। तो इस स्थिति से बचने का चिन्तन भी माध्यस्थ भावना में किया जाता है—उपेक्षा वृत्ति से। मध्यस्थता का यह दूसरा पक्ष है—उपेक्षाभाव !

क्रूर कर्मसु निःशंकं देवता गुरु-निन्दिषु।
आत्मशंसिषु योपेक्षा तन्माध्यस्थ्यमुदीरितम्।[1]

अभक्ष्य भक्षण करने वाला, मद्य आदि पीने वाला, परस्त्रीगमन, द्यूत आदि व्यसन सेवन करने वाला तथा हिंसा-वध-बंधन आदि करने वाला, देव, गुरु धर्म की निन्दा करने वाला, अपनी बड़ाई हाँकने वाला—ऐसा कोई व्यक्ति आपके सामने आये, आप उसे उपदेश व शिक्षा दें पर वह न माने, तो उस समय उस पर किसी भी प्रकार का रोष न करके उपेक्षा कर देना—माध्यस्थ्य वृत्ति है। क्योंकि धर्म हृदय परिवर्तन में है, यदि हृदय परिवर्तन नहीं होता है तो जबर्दस्ती किसी को बुराई से नहीं बचाया जा सकता, और यह उचित भी नहीं है, क्योंकि बलात्कार तो हिंसा है। किन्तु ऐसे प्रसंगों पर साधक को तटस्थ वृत्ति या उपेक्षा वृत्ति रखना चाहिए। सोचना चाहिए—

मिथ्याशंसन् वीर तीर्थेश्वरेण
रोद्धुंशेके न स्वशिष्यो जमालिः।
अन्यः को वा रोत्स्यते केन पापा-
त्तस्मादौदासीन्यमेवात्मनीनम्।[2]

भगवान महावीर के समक्ष उन्हीं का शिष्य (और उनका दामाद भी) जमालि जब मिथ्या प्ररूपणा करने लगा तो भगवान ने क्या किया ? क्या उसे

---

१. योगशास्त्र ४।१२१
२. शांतसुधारस भावना १६।३

जबर्दस्ती रोका, डांटा या उसके साथ कोई बल प्रयोग किया ? वे तो अनन्त बली थे, अगणित देव-देवेन्द्र उनकी सेवा में थे। वे जो चाहते वही कर सकते थे, किन्तु नहीं, उन्होंने कभी भी उसे जबर्दस्ती रोकने का प्रयत्न नहीं किया, बल्कि उसके प्रति उपेक्षा भाव दिखाया। तो जब तीर्थंकर भगवान भी विपरीत गामी को रोक नहीं सके तो दूसरा कौन किसी को रोक सकता है ? इसलिए हे आत्मन् ! विपरीत विचार वालों प्रति सदा उदासीनता-तटस्थता का आचरण कर।

आचार्य का आगे कथन है कि अनन्तशक्ति सम्पन्न तीर्थंकर देव चाहते तो बलपूर्वक सब संसार को धर्ममार्ग में प्रवृत्त करा सकते थे, भय-प्रलोभन-शक्ति के द्वारा समस्त संसार को धार्मिक बना सकते थे, पर उन्होंने ऐसा कभी नहीं किया, कभी सोचा भी नहीं, जिसने उपदेश सुना, और जिसने हृदय में धारण किया, उसी का कल्याण हुआ, तो फिर तुम संसार को धार्मिक बनाने की चिन्ता में क्यों स्वयं उद्विग्न हो रहे हो ? दूसरों को धर्मोपदेश देने से पहले यह उपदेश स्वयं को ही क्यों नहीं दे देते कि—

योऽपि न सहते हितमुपदेशं
तदुपरि मा कुरु कोपं रे।
निष्फलया किं पर जन तप्त्या
कुरुषे निज सुख लोपं रे !

जो तुम्हारी हित शिक्षा नहीं सुनता है, उस पर कोप मत करो, उसे बुरा-भला न कहो। इसमें तुम्हारा लाभ क्या है, यदि वह हितशिक्षा सुनेगा तो उसका कल्याण होगा, तुम्हारा उसमें क्या कोई कमीशन है ? दूसरे के सदाचरण से तुम्हारा कल्याण होने वाला नहीं, दूसरे के पापाचरण से तुम्हारा अहित होने वाला नहीं, किन्तु यदि तुम उस पर क्रोध करोगे, जबर्दस्ती उसे मनाने की चेष्टा करोगे, तो तुम्हारी शांति भंग होगी, तुम्हारा सुख नष्ट हो जायगा। जबर्दस्ती दूसरे का भला करने में तुम्हारा नुकसान है। यह सोच कर तटस्थभाव से रहो—जैसे फकीर आवाज लगाता है—"जो दे उसका भला, न दे उसका भी भला," इसी प्रकार तुम सोचो, तुम्हारा उपदेश सुने, उसका भी भला हो, न सुने उसका भी भला हो, पर स्वयं राग-द्वेष के चक्कर में न पड़ो।

विरोधी के प्रति उपेक्षा

मध्यस्थ भाव का दूसरा रूप हुआ जो आपका उपदेश न माने उसके प्रति भी द्वेष न करें तथा तीसरा रूप है—तितिक्षा। विरोधी के प्रति, प्रतिकूल व्यक्ति के प्रति जो उपेक्षा की जाती है, उसे हम उदारता भी कह सकते हैं। भगवान महावीर ने कहा है—

उवेह एणं बहिया य लोगं
से सव्व लोगम्मि जे केइ विण्णू ।[1]

अपने धर्म के विपरीत रहने वाले व्यक्ति के प्रति भी उपेक्षा का भाव रखो। क्योंकि जो कोई विरोधी के प्रति उपेक्षा-तटस्थता रखता है, उसके कारण उद्विग्न नहीं होता, वह विश्व के समस्त विद्वानों में अग्रणी है, सिरमौर है।

भगवान महावीर की भाषा में विरोधी के प्रति उपेक्षा-तटस्थता रखने वाला सबसे बड़ा विद्वान हैं। क्योंकि उसके मन में अपने विचारों का आग्रह नहीं होता है कि "मेरे विचार सबको मानने ही चाहिए" यह आग्रह भी परिग्रह है, विग्रह का मूल है। अपने विचार को ही सबको मनाने का संकल्प वैचारिक तानाशाही है, भिक्षु या सत्यगवेषी व्यक्ति तो सच्चा लोकतांत्रिक होता है, उसका विश्वास सत्य में है, प्रेम में है, न्याय में है, किन्तु बलात्कार या आग्रह में नहीं। इसलिए वह मन से उदार होता है, विशाल होता है, यदि कोई विरोधी उसके विचारों की निन्दा करते है, उस पर झूठे आक्षेप करते हैं, तब भी वह उनका अज्ञान समझकर उस पर उपेक्षा करता है। भगवान महावीर के समक्ष गोशालक ने कहा—"तुम जिन नहीं हो, मैं जिन हूं, सर्वज्ञ हूं।" पर भगवान ने उसकी मूढ़ता समझकर उपेक्षा कर दी। संसार समझ लेता है—सच्चा कौन, झूठा कौन?

एक शूकर ने आकर सिंह से कहा —सिंह! तुम मेरे साथ युद्ध करो।

सिंह ने कहा—तेरी मेरी क्या बराबरी! युद्ध तो बराबर वालों मे होता है।

शूकर—नहीं, या तो तुम मुझसे युद्ध करो अन्यथा मैं अभी जंगल में जाकर सबको कह देता हूं कि सिंह मुझसे हार गया। सिंह ने कहा—

गच्छ शूकर! भद्रं ते, वद सिंह जितो मया।
सर्वे एव हि जानन्ति सिंह-शूकरयो बलम्।

जा, सबसे कह दे, मैंने सिंह को जीत लिया। जानने वाले तो सब जानते हैं, सिंह और शूकर में कौन बलवान है? व्यर्थ ही क्यों तेरे साथ विग्रह कर अपनी हीनता प्रदर्शित करूं।

तो सत्य का साधक अपने विरोधी के प्रति उपेक्षा भाव रखता है, वह जानता है, यदि सत्य मेरे पास है तो विरोधी के कहने से मै कोई झूठा नहीं हो सकता, लेकिन उसके साथ यदि झगड़ा करने लग गया, बराबरी के विग्रह, कलह और संघर्ष में उतर गया तो इसमें मेरे अन्तःकरण की कलुषता, अहम्मन्यता

---

१. आचारांग १।४।३

और अनुदारता ही प्रकट होगी। इस प्रकार का विचार कर साधक विरोधी के प्रति भी उपेक्षा या वैचारिक उदारता दिखाता है।

वैचारिक उदारता को हम परधर्म-सहिष्णुता भी कह सकते है। विचार सब के अपने अपने है। कोई ईश्वर को निराकार मानता है, कोई साकार ! कोई उसे कर्त्ता मानता है कोई नहीं ! ये सब अपनी धारणाएँ हैं, अपने विश्वास हैं। इन विचारों को लेकर झगड़ना, या दूसरे को झूठा बताना, दूसरों पर आक्षेप करना, यह तो द्वेषाकुलता है, अहंकार का उग्र रूप है। माध्यस्थ भावना—हमें तटस्थता की शिक्षा देती है, धार्मिक, वैचारिक, सामाजिक सभी क्षेत्रों में उदारता सिखाती है, सहिष्णुता सिखाती है। तितिक्षा और मध्यस्थता सिखाती है।

आज के जन-जीवन में जितनी अशांति है, कलह है, द्वेष, ईर्ष्या और असूया की आग धधक रही है, उसका मूल कारण—यह असहिष्णुता है। वैचारिक असहिष्णुता, अतितिक्षा तथा अपनी ही बात सबको मनवाने का आग्रह—यह आज की अशान्ति का मूल कारण है। पूज्यपाद तिलोकऋषि जी ने कहा है—

जाण रो अजाण होजे, तंत लीजे ताणी।
आगलो आगन होवे, तो आप होजे पाणी।

जो अपनी ज्यादा बड़ाई देखता है, उसके सामने मौन होकर कुछ सारभूत बात लगे तो ले लेना चाहिए। यदि सामने वाला आग हो रहा है, तो स्वयं पानी बन जाओ, आग अपने आप शांत हो जायेगी। तो अग्नि के सामने पानी होने की कला है—मध्यस्थवृत्ति। राग-द्वेष, ईर्ष्या, वैर-विरोध के महासागर में भी तैरते हुए सुखपूर्वक यात्रा करने का एक मात्र साधन है—माध्यस्थ-भाव। उपेक्षावृत्ति, तटस्थता और सहिष्णुता—यही सुख का मूलमंत्र है। जो हमें माध्यस्थ्य भावना के अनुशीलन से प्राप्त हो सकता है।



जिनकल्प भावना

'कल्प' जैन संस्कृति का मुख्य शब्द है। जैन आगमों में व टीका ग्रन्थों में इसके अनेक अर्थ किये गये है। उन पर विचार करने से संक्षेप में कल्प शब्द के अर्थ होते हैं—

१. आचार,

२. मर्यादा (विधि),

३. समाचारी।

साधु व श्रावक की आचार विधि, व्रतों की मर्यादा और उनकी वर्तना विधि (समाचारी) कल्प कही जाती है। वैसे 'कल्प' शब्द मुख्यतः साधु की आचार-मर्यादा के लिए ही प्रयुक्त होता है। आचार्य उमास्वाति ने कहा है—"जो कार्य ज्ञान, शील, तप आदि का उपग्रह (वृद्धि) करता है तथा दोषों का निग्रह करता है वह निश्चय दृष्टि से कल्प है और शेष अकल्प।"[1] कल्पसूत्र की व्याख्या के अनुसार—**"कल्प शब्देन साधुनामाचारो प्रकथ्यते"**[2] कल्प शब्द के द्वारा साधुओं के आचार का वर्णन किया जाता है।

दो प्रकार के कल्प

आगमों में साधुओं का आचार दो प्रकार का बताया है, १ जिनकल्प और २. स्थविरकल्प। जिनकल्प का शब्दार्थ है—जिन (वीतराग) देवों के अनुरूप जिनका कल्प—आचार है वे जिनकल्प मुनि है **"जिन इव विहरन्ति इति जिन कल्पिका**[3]—"जो राग-द्वेष और मोह पर विजय कर उपसर्ग परीषहों को सहते है तथा वीतरागदेव की भांति विहार करते हैं—उन्हें जिनकल्पी मुनि कहा जाता है।

इसके विपरीत आगमों मे साधु का जो सामान्य आचार बताया है उस आचार का विधिपूर्वक यथारुचि निर्दोष पालन करने वाले स्थविर कल्पी मुनि होते है। जिनकल्पी एकाकी रहते, स्थविरकल्पी संघ में रहकर साधना करते है।

---

१. प्रशमरति प्रकरण १४३

२. पर्युषणा कल्पसूत्रम् (केशर मुनि)

३. भगवती आराधना, वृत्ति १५५।३५६।१७

जिनकल्पिक मुनि की अनिवार्य विशेषताएँ निम्न बताई हैं—[1]

१. वज्रऋषभ नाराच संहनन वाला हो,

२. कम से कम नवपूर्व की तृतीय आचार वस्तु का पाठी हो,

३. परीषह एवं उपसर्ग सहने में सक्षम हो।

प्रत्येक जिनकल्पिक श्रमण पहले स्थविरकल्पी होता है, स्थविरकल्प में आचार आदि की निर्दोष परिपालना करते हुए जब उसे विशेष तप, विशेष कर्म-निर्जरा करने की भावना होती है तब वह संघ का परित्याग कर एकाकी विहारी होता है और तप एवं संयम की विशिष्ट साधना करता है। जिनकल्पी मुनि का आचार अत्यन्त कठोर एवं उग्र होता है। परीषहों को सहने की अद्भुत तितिक्षा उनमें होती है।

बृहत्कल्प भाष्य में बताया गया है कि स्थविरकल्पी मुनि दीर्घकाल तक संयम, आचार पालने के बाद यह चिन्ता करता है—

> अणुपालिओ य दीहो परियाओ वायणा वि मे दिन्ना।
> निप्फाइया य सीसा सेयं खु महऽप्पणो काउं।[2]

"मैंने दीर्घ काल तक शुद्ध संयम पाला है, अनेक ज्ञान पिपासुओं को वाचना दी है, ज्ञान दान किया है, अनेक व्यक्तियों को दीक्षा दी है, शिष्य बनाये हैं। अब मुझे अपने कर्मों का ऋण मोचन करने के लिए विशिष्ट तप आदि का आचरण करना श्रेयस्कर है।"

तप आदि की साधना में विशेष आत्मबल की अपेक्षा रहती है। आत्मबल की जागृति भावों से होती है। अतः जिनकल्प का आचरण करने के लिए अन्य बातों के साथ तप, सत्व, आदि भावनाओं का विधान किया गया है।

पिछले प्रकरणों में जो भावनाएं बताई हैं वे सामान्यतः प्रत्येक अध्यात्म-रसिक साधनाशील व्यक्ति के जीवन में उपयोगी होती हैं। किन्तु यहां पर जो भावनाएं बताई जाती हैं—वे विशेषकर जिनकल्प की साधना में प्रवृत्त के होने के उत्सुक साधकों के लिए हैं। इसलिए आचार्य ने इन भावनाओं को भावना के स्थान पर 'तुलना' कहा है।

> तुलणा पंचहा वुत्ता जिणकप्पं पडिवज्जओ।[3]

---

१. विशेषावश्यक भाष्य भाषान्तर भाग १ पृ० १२

२. बृहत्कल्प भाष्य १२८१

३. बृहत्कल्प भाष्य १३२८

जिनकल्प के इच्छुक साधक के लिए पांच तुलना बताई गई हैं।

'तुलना' इसलिए कहा है कि इससे साधक अपनी आध्यात्मिक शक्ति, मनोबल, ज्ञानबल, विचारबल आदि का परीक्षण कर उन्हें तोलता है और उनमें यदि कमी प्रतीत हुई तो इन भावनाओं के सहारे उनकी शक्ति बढ़ाता है। अधिक विस्तार में न जाकर यहां हम जिनकल्प की पांच भावनाओं का वर्णन करते हैं। आचार्य संघदासगणी ने इनका वर्णन बृहत्कल्प भाष्य में बहुत विस्तार के साथ किया है।[1]

पांच भावनाओं का नामोल्लेख करते हुए बताया है—

तवेण सत्तेण सुत्तेण एगत्तेण बलेण य।
तुलणा पंचहा वुत्ता जिण कप्पं पडिवज्जओ॥ १३२८

जिकल्प धारण करने वाले साधक को तप से, सत्व से, सूत्र से, एकत्व से, तथा बल से इन पांचों भावनाओं के द्वारा पहले अपने आपको तोलना चाहिए।

तपोभावना

सर्व प्रथम साधक तपोनुष्ठान के द्वारा आत्मा को तोलने का प्रयत्न करता है। वह तप के लाभ, तप की महिमा का चिन्तन कर मन को तप के लिए तैयार करता है। मानसिक तैयारी हो जाने पर क्रमशः तप का अनुष्ठान प्रारंभ करता है। उपवास से लेकर अनेक प्रतिमाएं आदि करता हुआ छहमास तक के तप का अनुष्ठान करे। आचार्य ने बताया है—तपश्चरण करते हुए इस बात का ध्यान रखे कि साधक की दैनिक क्रियाविधि तथा आवश्यक अनुष्ठान की हानि न हो, अर्थात् तप के द्वारा इतनी अशक्ति न आ जाये कि वह तप तो करे, किन्तु अन्य कुछ भी कार्य न कर सके, आवश्यक ध्यान आदि क्रियाएं छूट जायें ऐसा तपोनुष्ठान भी न करे—**हाणी न होइ जइआ**—तप करते हुए विहित अनुष्ठान की हानि न हो। इसलिये आत्मा को धीरे-धीरे तप के द्वारा साधना चाहिए। यह उत्कृष्ट तप छहमास का होता है। इसमें देवता आदि का उपसर्ग भी हो सकता है, जैसे पारणा में आहार लेने गये, किसी देवकृत उपसर्ग के कारण एषणीय आहार न मिला, भिक्षु अनेषणीय आहार ग्रहण नहीं करता है, अतः पुनः

१. (क) बृहत्कल्प भाष्य गाथा १२८० से १२९० तथा १३२८ से १३५७
(ख) द्रष्टव्य—भगवती आराधना मूल गाथा १८७ से २०३। ये गाथाएं प्रायः बृहत्कल्प की गाथाओं से अक्षरशः मिलती है।
पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति १७३।२५४।१३, नियमसार मूल १०२। भावपाहुड मूल ५९। जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३ पृष्ठ २३५

तप प्रारंभ कर दिया। इस प्रकार यदि एषणीय आहार न मिले तो उपवास आदि तप करता जाये, पर उपसर्ग के सामने घुटने न टेके।

तपोभावना का फल

तपोभावना का आचरण करते-करते भिक्षु की इन्द्रियां विषयों से पराङ्-मुख हो जाती हैं, क्षुधा आदि परीषह को सहन करने की क्षमता बढ़ती है, तितिक्षा बल में वृद्धि होती है, और आहार आदि मधुर रस के प्रति सर्वथा उदासीनता हो जाती है।[1] तथा अन्तः करण में इन्द्रियों की स्थिरता के कारण अपूर्व समाधि अनुभव होती है। तपोभ्यास के द्वारा खेद विनोद (खेय विणोओ) परिश्रम कष्ट आदि को सहन करने की अपूर्व शान्ति प्राप्त होती है। भगवती आराधना में कहा है—

तव भावणाए पंचिंदियाणि दंताणि तस्स वसमेंति।[2]

तपोभावना के द्वारा, तपश्चरण से इन्द्रियों का मद नष्ट हो जाता है, इन्द्रियाँ वश में हो जाती है। इसका विशिष्ट फल क्षुधाविजय है—"**तपसां क्षुधाजयः।**" इस भावना से साधक के शरीर को इस प्रकार की तालीम हो जाती है कि महीनों तक आहार आदि न करने पर ग्लानि, दुर्बलता तथा अशक्तता अनुभव नहीं होती। साधक सब प्रकार से भूख पर विजय पा लेता है, और शरीर को अन्न के बिना भी क्रियाशील रहने की तालीम देता है। यह तपो भावना का फल है। धन्ना अणगार, काली महाकाली आदि साध्वियों ने तपो-भावना के द्वारा क्षुधा पर विजय प्राप्त की।

सत्वभावना

सत्व भावना एक प्रकार की अभय भावना है। इस भावना के द्वारा देव, मनुष्य, तिर्यंच, तस्कर, राक्षस, सर्प, सिंह आदि के भय पर विजय पाने का अभ्यास किया जाता है।

साधना में भय सबसे बड़ा प्रतिबन्ध है। भगवान ने कहा है—**भीओ भूएहिं घिप्पइ**[3]—भयभीत मनुष्य भूतों का बलि बन जाता है। भयभीत कोई भी बड़ा कार्य नहीं कर सकता, उसे हर स्थान पर 'भय-भय' दिखाई देता है। अभय ही आत्मा का सबसे बड़ा बल है। इसलिए साधक को अभय की भावना करनी चाहिए। सत्व का अर्थ है—पौरुष, साहस। पौरुष पुरुष का गुण है, अर्थात् साहस मनुष्य का गुण है। साधक, जिसके कोई घर-बार नहीं है, नये-नये

१ बृहत्कल्प० गा० १३३१
२. भगवती आराधना १८८
३. प्रश्नव्याकरण।

गाँवों में, जंगलों में, वन-पर्वत आदि गुफाओं में, शून्य घरों में, श्मशान आदि में कहीं भी कोई स्थान मिले वहीं उसे ठहरना होता है। उन स्थानों पर एकाकी रहना, रात्रि की घोर भयानकता में ध्यान में स्थिर होना, बिना साहस के कैसे हो सकता है। श्मशान में एक ओर चिताएँ जल रही हैं, भयावना दृश्य है, रात्रि का घोर अन्धकार है, जंगल में चारों ओर जानवरों की भयानक आवाजें आ रही हैं, सिंह दहाड़ रहे हैं, गीदड़ रो रहे हैं—ऐसे भयानक वातावरण में जंगल में, श्मशान या शून्यागार में एकाकी खड़ा रहना, साहसिक व्यक्ति का काम है, जिसका आत्मबल प्रचण्ड होता है, जो भय का नाम ही नहीं जानता, मरने का जिसे भय नहीं, वह साधक ऐसे भयंकर स्थानों में जाकर ध्यान, तप, प्रतिमा आदि करता है और स्वयं अभय बना रहता है। भगवान महावीर जो महान साहस के पुतले थे, कैसे-कैसे भयंकर स्थानों पर गये—शूलपाणियक्ष, चंडकौशिक नाग, सुदंष्ट्रदेव के उपसर्ग, संगम की प्राणांतक पीड़ा व उपसर्ग और कटपूतना राक्षसी का महान उपसर्ग, दिगम्बर आचार्यों के अनुसार भगवान ने उज्जयनी के महाकाल श्मशान में जाकर ध्यान किया, वहां रात्रि में घोर उपसर्ग हुए, उनमें अविचल रहे। तो यह सब घटनाएँ उनकी परम साहसिकता और उदग्र सत्वभावना की परिचायक हैं। बालक गजसुकुमाल मुनि—महाकाल श्मशान में जाकर अकेले प्रतिमा लेकर खड़े होते है। सुकौशल मुनि—सिंहनी सामनेझपटकर आती है और स्थिर, अभय उसके समक्ष डटकर खड़े हो जाते हैं। भूखी व्याघ्री नखों से उनके शरीर को चीर डालती है, पर मुनि परम सत्व भावना के साथ उपसर्ग में अविचल रहते हैं। ये उदाहरण सत्व भावना के हैं।

पाँच प्रतिमाएँ

सत्व भावना में पाँच प्रतिमाएँ बताई गई हैं—प्रथम प्रतिमा उपाश्रय में, दूसरी उपाश्रय के बाहर, तीसरी चौराहे पर, चौथी शून्य गृह में और पांचवीं श्मशान में की जाती है। इन प्रतिमाओं में साधक गहरे अन्धकार की जगह पर, किसी कोठे में या एकांत में जागृत रहकर ध्यान करता है। कायोत्सर्ग करता है। उस ध्यानावस्था में, चूहे काट लें, बिल्ली झपट जाये, कुत्ते, सियार आदि काटें तथा राक्षस आदि निशाचरों के भ्रमण से मन में किसी प्रकार का रोमांच न हो, कंपकपी न छूटे तथा उनके अट्टहास आदि सुनकर पलायन न करे—इस प्रकार का अभय, सत्व, साहस मन मे आना चाहिए। इन प्रतिमाओं की साधना क्रमशः की जाती है, जिनमें धीरे-धीरे सत्व की परीक्षा होती है और अभय भावना का विकास होता जाता है।

सत्व भावना का फल

सत्व भावना का फल है अभय ! भय विजय ! आचार्य ने कहा है—

तो सत्त भावणाए, वहइ भरं निब्भओ सयलं[1]

सत्व भावना का अभ्यास करने से जिनकल्प का भार वहन करने की योग्यता और निर्भयता आ जाती है। किसी भी प्रकार देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यंचकृत उपसर्ग में वह चंचल नहीं होता, कंपित नहीं होता[2] किन्तु साहसपूर्वक उपसर्ग का सामना कर उस पर विजय प्राप्त करता है। इसलिए सत्वभावना का फल हुआ—

सत्व भावनया भयं निद्राश्च पराजयेत

भय एवं निद्रा पर विजय प्राप्त करना। सत्व भावना वाला साधक भय विजेता भी बन जाता है तथा निद्राजयी भी। भगवान महावीर ने १२॥ वर्ष की छद्मस्थ अवस्था में एक मुहूर्त से भी कम नींद ली। सत्व भावना के द्वारा उन्होंने भय के साथ-साथ नींद पर भी विजय प्राप्त करली थी और रात्रि में खड़े-खड़े ध्यान किया करते थे।

सूत्र भावना

सूत्र का अर्थ है श्रुत ! ज्ञान। ज्ञान का अभ्यास करना, वाचना, पृच्छना आदि के द्वारा प्रारंभ में मन को ज्ञान में अनुरक्त किया जाता है, और धीरे-धीरे मन को प्रतिक्षण ज्ञानाभ्यास में ही लीन कर लिया जाता है। शास्त्रों का बार-बार अवलोकन, चिन्तन-मनन-परावर्तन करते रहने से मन को स्थिर करने का अभ्यास बढ़ता है, तथा स्वाध्याय के द्वारा ज्ञानावरणीय कर्म क्षीण होता है, श्रुतज्ञान का नया प्रकाश मिलता है और क्रमशः ज्ञानाभ्यास करते-करते साधक केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है।

सूत्र भावना के सतत अभ्यास के द्वारा-श्रुतज्ञान अव्यवहित शंकारहित, बाधारहित हो जाता है, प्रज्ञा निर्मल होती है, बुद्धि प्रखर बनती है, और जिन-वचनों में अडिगता, स्थिरता और धर्म श्रद्धा की अविचलता—यह सूत्र भावना का फल है। इसीके साथ बृहत्कल्प में सूत्र भावना के अभ्यास से कालज्ञान की प्राप्ति होना भी बताया है, साधक सूत्रों का परावर्तन करता है तो प्रत्येक श्वासोच्छ्वास की मात्रा के साथ गाथा आदि का उच्चारण करता है, इस से श्वास, स्तोक, घटी, पोरुषी आदि का ज्ञान हो जाता है। उसे न घड़ी की जरूरत रहती है और न सूर्य प्रकाश की। किंतु स्वाध्याय से उसके श्वासोच्छ्वास का प्रमाण इतना नियमित हो जाता है कि स्वतः ही बिना किसी बाह्य साधन के कालज्ञान होता रहता है।

---

१. बृ० भा० १३३६
२. मनोनुशासन ७।४

नाहिइ कालं विणा छायं

बिना छाया के ही काल का ज्ञान प्राप्त कर अपनी आवश्यक क्रियाएँ समय पर कर लेता है।

काल ज्ञान के साथ अन्य लाभ भी होते है—

एगग्गया, सुमहू निज्जरा, य नेव मिणणम्मि पलिमंथो ।
न पराहीणं नाणं, काले जह मंसचक्खूणं ॥[1]

श्रुताभ्यास के द्वारा चित्त की एकाग्रता बढ़ती है, एकाग्रता से महान् कर्म निर्जरा होती है। स्वाध्याय, कर्म निर्जरा का महान साधन है। काल-पौरुषी आदि छाया मापने में भी उसे कोई व्यवधान नहीं होता। उसका ज्ञान पराधीन नहीं होता, स्वतः जाग्रत रहता है। पुराना सीखा हुआ भूलता नहीं, विस्मृति दोष से बचता है, तथा जैसे अन्य छद्मस्थों का ज्ञान पराधीन—काल आदि की अपेक्षा रखता है वैसे सूत्र भावना वाले का ज्ञान पराधीन नहीं होता।

एकत्व भावना

एकत्व भावना में साधक अपनी आत्मा को 'एकमेव' सबसे भिन्न अनुभव करने लगता है। साधक घर-परिवार का त्याग करता है तो पूर्व स्वजन (पूर्व संयोग) माता-पिता आदि का स्नेह सम्बन्ध तो छोड़ देता है। किंतु साधु संघ में आकर गुरु-शिष्य, श्रावक-वस्त्र-पात्र आदि के साथ नया सम्बन्ध बनाता है, यद्यपि इनके साथ ममत्व बन्धन उतना नहीं होता, किंतु फिर भी रात-दिन सहवास के कारण उनके प्रति स्नेह राग हो ही जाता है, और क्या, गौतम जैसे ज्ञानी महापुरुष भी भगवान महावीर से राग करने लग गये। राग का बन्धन बड़ा सूक्ष्म है। स्नेह को **सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे** कहा है, तो दीक्षा के बाद जिन गुरु शिष्य, उपाश्रय, वस्त्र, पात्र आदि के साथ स्नेह भाव रहता है उनको भी 'एकत्व भावना' के द्वारा कम करना होता है। वह सोचता है—

एगोऽहं नत्थि मे कोई नाहमन्नस्स कस्सइ ।

मैं एक हूँ, मेरा कोई नहीं है, मैं भी किसी का नहीं हूँ। यह एकत्व भाव पहले बाह्य स्थूल वस्तुओं के प्रति होता है, फिर धीरे-धीरे देह के प्रति भी—

देहे य न सज्जए पच्छा[2]

देह के प्रति भी अनुराग या ममत्व न करे। क्योंकि वास्तव में देह भी पर है और जो पर है, वह त्यागने योग्य है, पर को अपना मानना अज्ञान है, मोह है, बन्धन है। इसलिए एकत्व भावना का अभ्यासी मुमुक्षु धीरे-धीरे देह की ममता को भी छोड़ता हुआ देहातीत भावना का अनुभव करने लगता है।

१. बृ० गाथा १३४३ २. गाथा १३४७

एकत्व भावना का यही फल है परम निस्संगता, सर्वथा अनासक्ति "अवि-अप्पणो वि देहम्मि नायरंति ममाइयं"[1] अपनी देह में, मेरापन अनुभव नहीं करना यह एकत्व भावना का फल है।

बल (धृति) भावना

जिन कल्प की पाँचवीं बल भावना है, इसे धृति भावना भी कहा है। बल दो प्रकार का है—शारीरिक और मानसिक। साधक शारीरिक बल की उपेक्षा कर मानसिक बल को बढ़ाता है। मनोबल ही सबसे बड़ा बल है। मनोबल को ही 'धृति' या धैर्य कहा है। धृति का अर्थ है—धैर्य ! मन की निश्चलता। संकट एवं उपसर्ग के समक्ष अकंपित होकर उनका सामना करना धैर्य है ! इस भावना के अनुचिन्तन में बताया गया है—जब साधक को भूख, प्यास, शीत, उष्ण, दंश, मशक आदि बाईस परीषह के उपसर्ग—दुःख आकर घेरते हैं, शत्रु सेना की भाँति साधक पर जब आक्रमण करते है तब अल्पशक्ति वाला साधक घबरा जाता है, कायर सैनिक शत्रु सेना को देखकर युद्ध भूमि से पलायन कर जाता है वैसे ही कायर साधक परीषहों से घबराकर साधु धर्म छोड़कर भाग जाता है, अथवा वे अल्पशक्ति वाले श्रमण उन परीषहों से भयभीत होकर बचने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु भगवान ने कहा है—साधक को परीषहों के सामने डट जाना चाहिए—**दुक्खेण पुट्ठे धुवमायएज्जा**[2] दुःख आने पर ध्रुवता, धैर्य, धारण करना चाहिए और —संगामसीसे जह नागराया—जैसे हाथी युद्ध भूमि में भयंकर प्रहार सहकर भी डटा रहता है, वैसे ही साधक परीषहों की चोटें सहकर डटा रहे, मन में धैर्य धारण करे, कि ये परीषह अधिक से अधिक मेरे शरीर का नाश कर सकते हैं, तो यह शरीर तो नाशवान है—

पच्छा पुरा व चइयव्वं

पहले या पीछे—एक दिन छोड़ना ही है, फिर इस शरीर का मोह कैसा ? क्यों ? परीषह से घबरा कर धर्म का ध्वंस करने से तो आत्मा का पतन हो जायेगा, उससे फिर भव भ्रमण, संसार परिभ्रमण करना होगा। इस प्रकार धृति भावना का आश्रय लेकर साधक धैर्य रूप शस्त्रो से समृद्ध होकर परीषह चमू—परीषह रूप शत्रु सेना को जीतकर मुनि विजयी बनें तथा सिद्धि के मनोरथों को सफल करें।

धृति भावना का फल

आचार्य ने बताया है—जितनी भी भावनाएँ है वे सब धृतिबल की अपेक्षा रखती है—

---

१. दशवैकालिक ६ २. सूत्रकृतांग १।७।२९

धिइ बल पुरस्सराओ, हवंति सव्वा वि भावणा एता।
तं तु न विज्जइ सज्झं जं धिइमंतो न साहेइ।[1]

ये सभी भावनाएँ धृतिबल-पुरस्सर है, अर्थात् बिना धैर्य बल के कोई भी भावना सफल नहीं हो सकती। तपश्चरण, अभय, ज्ञानाभ्यास में एकाग्रता, स्थिरता तथा परीषह विजय-सभी धैर्य बल की अपेक्षा रखते हैं। संसार में ऐसा कोई भी साध्य-कार्य नहीं है जिसे धृतिमान व्यक्ति सिद्ध नहीं कर सकता हो।

महाकवि कालिदास ने कहा है—

अंगनवेदी वसुधा, कुल्या जलधिः स्थली च पातालम्।
वल्मीकश्च सुमेरुः कृतप्रतिज्ञस्य धीरस्य।[2]

अपनी प्रतिज्ञा पालने में दृढ़ पुरुष (धैर्य शील) के लिए—पृथ्वी आंगन की वेदी के समान है, समुद्र एक नाली के समान, पाताल समतल भूमि के समान, और मेरु पर्वत वल्मीक (कीड़ों के पर्वत) के समान होता है अर्थात् कठिन से कठिन कार्य उनके लिए सरल हो जाता है।

धृतिबल की महिमा गाते हुए एक कवि ने कहा है।

विजेतव्या लंका चरणतरणीयो जलनिधिः
विपक्षो लंकेशो रणभुवि सहायाश्च कपयः।
तथा प्येको रामः सकलमवधीद् राक्षसकुलं,
क्रिया सिद्धिः सत्वे वसति महतां नोपकरणे।[3]

राम को लंका पर विजय करनी थी, समुद्र को पैरों से तैरना था, रावण जैसा महाबली दुश्मन था, और इधर रणभूमि में सहायक थे—सिर्फ वानर। साधनों की इतनी विसदृशता, अल्पता और अपूर्णता होते हुए भी अकेले राम ने समूचे राक्षस कुल को नष्ट कर दिया। क्योंकि क्रिया की सिद्धि, सफलता उपकरणों या साधनों में नहीं होती, किंतु महापुरुषों के मनोबल, सत्व व धैर्य बल में होती है। धीर पुरुष की लकड़ी ही तलवार बन जाती है।

तो इसलिए साधकों को धृति भावना का सतत अभ्यास करना चाहिए। धैर्य बल ही सब बलों का मूल है।

समस्त तपश्चरण का मूल धृति है—

तवस्स मूलं धिती[4]—धृति के बिना न तप होता है, न ध्यान!

---

१. बृ० गाथा १३५७
२. अभिज्ञान शांकुतल
३. सुभाषित रत्न भांडागार, पृष्ठ ५४
४. निशीथचूर्णि ८४

उपसंहार

ये पांच भावनाएँ मुख्यतः जिन कल्पिक मुनियों के लिए बताई गई हैं। क्योंकि जिनकल्पी मुनि का मार्ग, साधना पथ बड़ा विकट होता है, उपसर्गों को निमन्त्रित करके बुलाया जाता है। जिनकल्पी आत्मबल की परीक्षा के लिए—

जिनकल्पी मुनिवर कष्ट उदीरी ने लेय

कष्ट की उदीरणा करके लेते हैं, इसलिए उनका आत्मबल, ज्ञानबल और वैराग्यबल बहुत ही तेजस्वी होना चाहिए तभी वे इस महान कठोर साधना मार्ग पर सफल हो सकते हैं।

किंतु सामान्यतया ये भावनाएँ प्रत्येक साधक के लिए भी उपयोगी हैं; क्योंकि धृति, अभय, ज्ञान, वैराग्य और तपोबल के बिना कोई भी व्यक्ति जीवन में विकास नहीं कर सकता। आत्मविकास के इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति को यथा शक्ति इन भावनाओं की अभ्यास करना चाहिए।



ज्ञान-चतुष्क भावना

भावनाओ के विशाल परिवार का विवेचन पिछले पृष्ठों पर किया गया है। जैन साहित्य के विविध ग्रन्थों में विद्वान आचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि से भावनाओं का वर्णन किया है। वास्तव में भावना के विवेचन में जो मुख्य लक्ष्य है, वह सबका ही प्रायः समान है कि भावना के द्वारा मन को अशुभ से हटाकर शुभ में स्थिर करना, तथा शुभ में रमण करने की ट्रेनिंग या तालीम देना। इसी के लिए अनेक दृष्टियों से चिन्तन प्रस्तुत किया गया है।

भावना परिवार में ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं वैराग्य भावना के रूप में चार भावनाओ का वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। आचार्य हरिभद्र ने ध्यानशतक में तथा आचार्य जिनसेन ने आदि पुराण में चार भावना का वर्णन किया है, वह निम्न प्रकार से हैं—

१. ज्ञान भावना
२. दर्शन भावना
३. चारित्र भावना
४. वैराग्य भावना

दोनों ही आचार्यों ने इन भावनाओं मे ध्यान की योग्यता प्राप्त करने का निर्देश किया है—

भावणाहि झाणस्स जोग्गयमुवेइ[1]

इन भावनाओं मे ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है।

भावनाभिरसंमूढो मुनिर्ध्यानस्थिरो भवेत्[2]

इन भावनाओ के अनुचिन्तन से मुनि मोह की स्थिति पर विजय कर ध्यान में स्थिर होता है।

ज्ञान भावना

आचार्य हरिभद्र के अनुसार ज्ञान भावना में साधक श्रुत ज्ञान के अभ्यास में लीन होता है। श्रुताभ्यास में लीनता प्राप्त करने से मन अशुभ वृत्ति से

१. ध्यानशतक ३०
२. आदिपुराण २१।६५

हटकर विशुद्ध चिन्तन में रमण करने लगता है। क्योंकि ज्ञान के बिना तत्त्वा-तत्त्व का विवेक प्राप्त नहीं होता, जीव-अजीव आत्मा-अनात्मा का भेद विज्ञान श्रुताध्ययन से ही प्राप्त होता है, और इस भेद विज्ञान के आधार पर ही आत्मा ध्यान में स्थिर होता है, इसलिए ज्ञान भावना के द्वारा साधक मन को श्रुताध्ययन में तल्लीन बनाता हैं।[1]

आचार्य जिनसेन ने ज्ञान भावना के पांच प्रकार बताए हैं जिनके द्वारा श्रुत-अभ्यास आगे से आगे विकसित होता है। वे पांच प्रकार हैं—

१. **वाचना**—शास्त्रों को स्वयं पढ़ना।

२. **पृच्छना**—जो अर्थ स्वयं की समझ में न आये। उसे ज्ञानी जनों से पूछना।

३. **सानुप्रेक्षण**—पदार्थ के स्वरूप का चिन्तन करना।

४. **परिवर्तना**—आगमों की गाथा श्लोक आदि कण्ठस्थ करना और इन्हें बार-बार दुहराना।

२. **धर्म-उपदेश**—धर्म के सम्यव् तत्त्व का उपदेश करना।[2] स्थानांग[3] एवं उत्तराध्ययन[4] आदि में धर्म कथा एवं स्वाध्याय के ये ही पांच भेद बताये गये हैं। इन पांचों विधियों से मन को धर्म ध्यान में स्थिर करने का प्रयत्न करना तथा अपने श्रुतज्ञान को वृद्धिगत करना तथा प्राप्त ज्ञान को स्थिर करना—यह ज्ञान भावना का फल है।

दर्शन भावना

दर्शन का अर्थ है सम्यक् दर्शन। सम्यक् श्रद्धा। दर्शन भावना में सम्यक्त्व की विशुद्धि के विविध हेतुओं का चिन्तन-मनन कर उसे शुद्ध तथा दृढ़ बनाया जाता है। सम्यक्त्व के सम्बन्ध में संवर भावना में विस्तार पूर्वक बताया गया है। अतः यहाँ पुनरावृत्ति करना ठीक नहीं। आचार्य हरिभद्र ने बताया है—दर्शन की विशुद्धि के लिए शंका, कांक्षा- विचिकित्सा आदि दोषों का परिहार किया जाता है। मन को संशयमुक्त एवं स्थिर बनाने के लिए पीछे

१. नाणे णिच्चब्भासो कुणइ मणो धारणं विसुद्धिं च।
नाणगुणमुणियसारो तो झाइ सुनिच्चलमईओ॥

—ध्यानशतक ३१

२. आदिपुराण २१।९६

३. स्थानांग ४

४. उत्तराध्ययन ३०

बताई गई भावनाओं का चिन्तन मनन उपयोगी होता है। वास्तव में संशय ही सबसे बड़ा दोष है। भगवान ने कहा है—

कहं कहं वा वितिगिच्छ तिण्णे[1]

इस संशय रूपी महागर्त से किसी भी प्रकार पार हो जाना चाहिए। क्योंकि—

वितिगिच्छा समावन्नेणं अप्पाणेणं नो लहइ समाही[2]

शंका शील आत्मा समाधि को प्राप्त नहीं होता। आत्मा को संशय से मुक्त कर सत्श्रद्धा में स्थिर करना सम्यक्त्व का प्रमुख लक्षण है। सम्यक् श्रद्धा से प्रशम (वैराग्य) और स्थैर्य आदि गुणों का उद्दीपन होता है, मन अमूढ़ भाव को अर्थात् निर्मोह वीतराग दशा को प्राप्त कर ध्यान में स्थिर होता है।

आचार्य जिनसेन ने सम्यग् दर्शन की सात भावनाएं बतायी हैं—

१. **संवेग**—संसार से भय (पाप का भय)
२. **प्रशम**—वैराग्य या शान्त रस की अनुभूति
३. **स्थैर्य**—धीरता या तत्व में दृढ़ श्रद्धा रखना।
४. **असंमूढ़ता**—मूढ़ता (धर्म विषय में व्यामोह) का त्याग करना।
५. **अस्मय**—अहंकार का त्याग करना।
६. **आस्तिक्य**—आत्मा-पुनर्जन्म आदि में विश्वास करना।[4]
७. **अनुकंपा**—जीव मात्र के प्रति दया, करुणा भाव रखना।

आचार्य कुन्द-कुन्द ने सम्यग्दर्शन के आठ गुणों का वर्णन किया है—

(१) संवेग, (२) निर्वेद, (३) आत्मनिन्दा, (४) गर्हा (पापों के प्रति घृणा), (५) उपशम (कषायों की मन्दता), (६) गुरुभक्ति, (७) वात्सल्य और (८) दया।[5]

सम्यग्दर्शन के इन गुणों पर बार-बार चिन्तन करना, मन को इन गुणों में रमाना दर्शन भावना है।

३. चारित्र भावना

चारित्र का अर्थ है 'चयरित्त करणं चरित्तं'—कर्मों के संग्रह को रिक्त करना आत्मा को कर्मों से खाली करना और इनका जो उपाय है वह चारित्र है।

---

१. सूत्रकृतांग १।१४।६
२. आचारांग १।५।५
३. ध्यानशतक ३२
४. संवेग प्रशमस्थैर्यमसंमूढत्वमस्मयः।
आस्तिक्यमनुकम्पेति ज्ञेयाः सम्यक्त्व भावनाः॥
—आदिपुराण २१।९७
५. समयसार १७७

पाँच महाव्रतात्मक धर्म चारित्र के अन्तर्गत है। श्रावक का द्वादश व्रतात्मक गृहस्थ धर्म भी चारित्र का ही भेद है। इन व्रतों की शुद्धि और स्थिरता के लिए प्रयत्नशील होना चारित्र भावना का लक्ष्य है।

नये कर्मों के आगमन का द्वार रोकना तथा पुराने कर्मों की निर्जरा करना चारित्र का लक्षण है।

आचार्य जिनसेन ने चारित्र भावना के निम्न लक्षण बताये है—

१-५. पांचसमिति—इर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण, प्रतिष्ठापन

६-८ तीन गुप्ति—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति

९. परीषहजय—को जीतना।

ये नौ भेद चारित्र भावना के हैं। समिति गुप्ति का पालन करना तथा परीषहों को जीतने का अभ्यास करना चारित्र भावना का गुण है।

चारित्र भावना का विशेष वर्णन चारित्र की २५ भावनाओं के प्रकरण में किया गया है।

वैराग्य भावना

वैराग्य का अर्थ है—वि+राग अर्थात् राग को छोड़ना एवं मोह को जीतना। राग, द्वेष से भी बड़ा शत्रु है। द्वेष को जीतना सरल है, राग को जीतना कठिन है। इसीलिए तो अरिहंत देव को **वीतराग** कहा जाता है। वीतराग दशा प्राप्त करने का प्रयत्न वैराग्य भावना है। जगत् के अनित्य स्वभाव का चिन्तन करना, शरीर एवं परिवार आदि की असारता एवं अशरणता का विचार करना, मन को असंग—आसक्ति से रहित कर, आशा-आकांक्षा से मुक्त करना वैराग्य भावना का लक्षण है।[1]

वैराग्य भावना के सन्दर्भ में पिछले प्रकरण में बताई गई बारह भावनाओं का बार-बार चिन्तन करना चाहिए।

उपसंहार

इस प्रकार ज्ञान-दर्शन-चारित्र एवं वैराग्य रूप इन ज्ञान चतुष्क भावनाओं का वर्णन यहां किया गया है।

जैन सूत्र एवं साहित्य में वर्णित भावनाओं के विविध पहलुओं पर प्रस्तुत में एक विहंगावलोकन किया गया है। इन पर जितना गहरा चिन्तन किया जाय उतना ही अधिक विस्तार हो सकता है, और विचार के नये-नये सूत्र मिल

---

१. आदिपुराण २१।९९

सकते हैं। यह पाठक पर अवलम्बित है कि वह इनके चिन्तन में कितना गहरा उतरे और कितनी समाधि प्राप्त कर सके। वास्तव में इन भावनाओं के चिन्तन का फल है—आत्मा को आत्मा में रमाना। आचार्य हेमचन्द्र ने भावना योग की फलश्रुति बताते हुए कहा है—

आत्मानं भावयन्नाभि र्भावनाभि र्महामतिः।
त्रुटितामपि संधत्ते विशुद्धध्यानसन्ततिम् ॥[१]

इन भावनाओं के अनुचिन्तन से अपनी आत्मा को भावित करने वाला महाप्राज्ञ टूटी हुई, भंग हुई विशुद्ध ध्यान की धारा को फिर से आत्मा के साथ जोड़ सकता है।

आत्मा जब ध्यान योग में स्थिर हो गया तो फिर देहासक्ति रूप बंधन अपने आप छूट जाता है—

झाण जोगं समाहट्टु कायं विउसेज्ज सव्वसो।[२]

ध्यान योग का अवलम्बन लेकर देह भाव का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। और देह भावना छूटी कि देहातीत दशा प्राप्त हुई—बस, यही भावना की चरम फलश्रुति है, परम आनन्द दशा है। इसी दशा को प्राप्त करने के लिए भावना योग का यह विवेचन प्रबुद्ध जिज्ञासुओं के लिए किया गया है।



---

१. योगशास्त्र ४।१२२
२. सूत्रकृतांग १।८।२६

परिशिष्ट

[भावनाओं पर प्रतिदिन चिन्तन,
मनन और स्वाध्याय करने योग्य
वैराग्य एवं शिक्षा - प्रधान
आगम पाठ तथा अन्य पद्य संग्रह]

१. अनित्य भावना

१ अच्चेइ कालो तूरन्ति राइओ,
न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा।
उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति,
दुमं जहा खीणफलं व पक्खी ॥

—उत्तराध्ययन १३।३१

काल बीता जा रहा है। रात्रियां भागी जा रही है। ये मनुष्यों के काम भोग नित्य नहीं है। जैसे पक्षी क्षीण फलवाले वृक्ष को छोड़कर चले जाते हैं उसी तरह कामभोग पुरुष को छोड़ देते हैं।

२ हत्था मे पाया मे, वाहा मे, उरू मे, उयरं मे, सीसं मे सीलं मे, आऊ मे, वलं मे, वण्णो मे, तया मे, छाया मे, सोयं मे, घाणं मे, जिब्भा मे, फासा मे, ममाइज्जइ, वयाउ पडिजूरइ। तंजहा-आउओ बलाओ वण्णाओ तयाओ छायाओ सोयाओ जाव फासाओ। सुसंधिओ संधी विसंधी भवइ, वलिय तरंगे गाए भवति, केसा किण्हा पलिया भवंति। तंजहा—जंपि य इमं सरीरगं उरालं आहारोवइयं एयं पि य अणुपुव्वेणं विप्पजहियव्वं भविस्सइ।

—सूत्रकृतांग २।१।१३

ये मेरे हाथ हैं, ये मेरे पैर हैं, ये मेरी भुजाएँ हैं, यह मेरी जाँघें हैं, यह मेरा पेट है, यह मेरा सिर है, यह मेरा शील है, यह मेरी आयु है, यह मेरा बल है, यह मेरा वर्ण है, यह मेरी त्वचा है, यह मेरी कान्ति है, यह मेरे कान है, यह मेरे नेत्र है, यह मेरी नासिका है। यह मेरी जीभ है, यह मेरा स्पर्श है। इस प्रकार प्राणी इनमें ममता करता है। परन्तु वय आने पर ये सब जीर्ण हो जाते हैं। मनुष्य—आयु, बल, वर्ण, त्वचा, कान्ति, कान तथा स्पर्श पर्यन्त सभी इन्द्रियों से हीन हो जाता है। उसकी दृढ़ सन्धियाँ ढीली हो जाती हैं, शरीर में सर्वत्र चमड़ा संकुचित होकर तरंग की रेखा

के समान हो जाता है, काले केश सफेद हो जाते है। यह जो आहार से वृद्धि प्राप्त उत्तम शरीर है, इसे भी क्रमशः अवधि पूरी होने पर छोड़ देना पड़ेगा।

३ गब्भाइ मिज्जंति बुयाबुयाणा,
नरा परे पञ्चसिहा कुमारा।
जुवाणगा मज्झिम थेरगा य,
चयंति ते आउखए पलीणा ॥

—सूत्रकृतांग १।७।१०

कई जीव गर्भावस्था में ही मर जाते है, कई स्पष्ट बोलने की अवस्था में तथा कई बोलने की अवस्था आने के पहले ही चल बसते है। कई कुमार अवस्था में, कई युवा होकर, कई आधी उम्र के होकर और कई वृद्ध होकर मर जाते हैं। मृत्यु हर अवस्था में आ घेरती है।

४ डहरा बुड्ढा य पासह, गब्भत्था वि चयन्ति माणवा।
सेणे जह वट्टयं हरे, एवं आउखयम्मि तुट्टई ॥

—सूत्रकृतांग १।२।१।२

देखो! युवक और बूढ़े यहाँ तक कि गर्भस्थ बालक तक चल बसते हैं। जैसे बाज पक्षी को दबोच लेता है वैसे ही आयु क्षेप होने पर काल जीव को दबोच लेता है।

५ ठाणी विविह ठाणाणि, चइस्संति न संसओ।
अणियए अयं वासे, नायएहिं सुहीहि य ॥
एवमायय मेहावी, अप्पणो गिद्धिमुद्धरे।
आरियं उवसंपज्जे, सव्वधम्ममकोवियं ॥

—सूत्रकृतांग १।८। १२-१३

विविध स्थानों में स्थित प्राणी एक-न-एक दिन अपने स्थान को छोड़कर जाने वाले हैं—इसमें जरा भी संशय नहीं है। ज्ञाति और मित्रों के साथ यह संवास भी अनित्य है। उपरोक्त सत्य को जानकर विवेकी पुरुष अपनी आसक्ति को हटा दे और सर्व शुभ धर्मों से युक्त मोक्ष ले जाने वाले आर्य धर्म को ग्रहण करे।

६ उवणिज्जई जीवियमप्पमाय, वण्णं जरा हरइ नरस्स रायं।
पञ्चालराया! वयणं सुणाहि, मा कासि कम्माइं महालयाइं ॥

—उत्तराध्ययन १३।२६

आयुष्य निरन्तर क्षय होता जा रहा है, जरा मनुष्य के वर्ण—रूप—सुन्दरता को हर रही है। हे पंचाल राज ! मेरी बात सुनो ! पाप कर्मों को मत करो।

७ जया सव्व परिच्चज्ज, गन्तव्वमवसस्स ते ।
अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं रज्जम्मि पसज्जसि ॥

—उत्तराध्ययन १८।१२

हे राजन् ! सब चीजों को छोड़कर तुम्हें एक दिन परवशता से अवश्य जाना है, फिर इस अनित्य लोक में इस राज्य पर तुम्हें आसक्ति क्यों है ?

८ जीवियं चेव रूवं च, विज्जुसंपायचञ्चलं ।
जत्थ तं मुज्झसि रायं, पेच्चत्थं नाव बुज्झसि ॥

—उत्तराध्ययन १८।१३

जिसमें तुम मूर्छित हो रहे हो—वह जीवन और रूप विद्युतसम्पात (बिजली की चमक) की तरह चंचल है। हे राजन् ! परलोक में क्या अर्थकारी—हितकर है, यह क्यों नहीं समझते ?

९ ताले जह बंधणच्चुए एवं आउखयम्मि तुट्टइ ।

—सूत्रकृतांग १।२।१।६

जिस प्रकार ताल का फल वृक्ष से टूटकर नीचे गिर जाता है, उसी प्रकार आयु क्षीण होने पर प्रत्येक प्राणी जीवन से च्युत हो जाता है।

१० वओ अच्चेति जोव्वणं च ।

—आचारांग १।२।१

आयु और यौवन प्रतिक्षण बीता जा रहा है।

११ दुमपत्तए पडुयए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए ।
एवं मणुयाणजीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

—उत्तराध्ययन १०।१

जिस प्रकार रात्रियों के बीतने पर वृक्ष का पत्ता पीला होकर गिर जाता है, उसी तरह मनुष्यों का जीवन है, अतः हे गौतम ! समयमात्र भी प्रमाद मत कर !

१२ कुसग्गे पणुन्नं निवइय वाएरियं एवं बालस्स जीवियं ।

—आचारांग ५।१

डाभ की अणी पर ठहरा हुआ जलबिन्दु हवा से प्रेरित होकर जैसे गिर पड़ता है, वैसे ही अज्ञानी का जीवन नष्ट हो जाता है।

१३ उवणिज्जइ जीवियमप्पमायं मा कासि कम्माइं महालयाइं।

—उत्तराध्ययन १३।२६

यह जीवन शीघ्रातिशीघ्र मृत्यु की तरफ चला जा रहा है, अतः महती दुर्गति देने वाले कर्म मत कर!

१४ तरुणे वाससयस्स तुट्टइ, इतरवासे य बुज्झह!

—सूत्रकृतांग २।३।८

सौ वर्ष की आयुवाले जीव की आयु भी युवावस्था में टूट जाती है, अतः यहां अल्पकाल का ही निवास समझो!



२. अशरण भावना

१ जहेह सीहो व मियं गहाय, मच्चू नरं नेइ हु अन्त काले।
न तस्स माया व पिया व भाया, कालम्मि तम्मिं सहरा भवति॥

—उत्तराध्ययन १३।२२

निश्चय ही अन्तकाल में मृत्यु मनुष्य को वैसे ही पकड़ कर ले जाती है, जैसे सिंह मृग को। अन्तकाल के समय माता-पिता या भाई-बन्धु कोई उसके भागीदार (सहारा) नहीं होते।

२ वित्तं पसवो य नाइयो, त बाले सरणं ति मन्नई।
एए मम तेसु वी अहं, नो ताण सरणं न विज्जई॥

—सूत्रकृतांग १।२।३।१६

मूर्ख मनुष्य धन, पशु और जातिवालों को अपनी शरण-आश्रय-स्थान मानता है और समझता है—'ये मेरे है, और 'मैं उनका हूँ'। परन्तु उनमें से कोई भी आपत्ति काल में त्राण तथा शरण देने वाला नहीं।

३ अब्भागमियम्मि वा दुहे, अहवा उक्कमिए भवन्तिए।
एगस्स गई या आगई, विदुमन्ता सरणं न मन्नई॥

—सूत्रकृतांग १।२।३।१७

दुःख आ पड़ने पर मनुष्य अकेला ही उसे भोगता है। आयुष्य क्षीण

होने पर जीव अकेला ही गति-आगति करता है। विवेकी पुरुष धन, पशु, सगे-सम्बन्धियों को जरा भी शरण रूप नहीं समझता।

४ माया पियाण्हुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा।
नालं ते मम ताणाय, लुप्पंतस्स सकम्मुणा ॥

—उत्तरा० ६।३

विवेकी पुरुष सोचे—'माता, पिता, पुत्र-वधू, भाई, भार्या तथा और स-पुत्र- ये कोई भी अपने कर्मों से दुःख पाते हुए मेरी रक्षा करने में समर्थ नहीं है।'

५ सव्वं जगं जइ तुहं, सव्वं वा वि धणं भवे।
सव्वं पि ते अपज्जत्तं, नेव ताणाय त तव ॥

—उत्तरा० १४।३९

यदि सारा जगत और यह सारा धन भी तुम्हारा हो जाय, तो भी वे सब अपर्याप्त ही होंगे। और ये सब तुम्हारा रक्षण करने में समर्थ नहीं होंगे।

६ चिच्चा वित्तं च पुत्ते य, णाइओ य परिग्गहं।
चिच्चा ण णंतग सोयं, निरवेक्खो परिव्वए ॥

—सूत्र० १।९।७

विवेकी मनुष्य धन, पुत्र, ज्ञाति और परिग्रह तथा अन्तर शोक को छोड़कर निरपेक्ष हो संयम का अनुष्ठान करे।

७ मरिहिसि रायं जया तया वा, मणोरमे कामगुणे पहाय।
एक्को हु धम्मो नरदेव ! ताणं, न विज्जई अन्नमिहेह किंचि ॥

—उत्तरा० १४।४०

हे राजन् ! यदा-कदा इन मनोरम कामभोगों को छोड़कर तुम्हें चल बसना है। इस संसार में धर्म ही त्राण है। धर्म के सिवा अन्य वस्तु नहीं जो दुर्गति से रक्षा कर सके।

८ इह खलु काम-भोगा नो ताणाए वा, सरणाए वा ।
पुरिसे वा एगया पुव्विं काम-भोगे विप्पजहइ,
काम-भोगा वा एगया पुव्विं पुरिसं विप्पजहंति ।
से किमंग पुण वयं, अन्नमन्नेहिं काम-भोगेहिं मुच्छामो ?

—सूत्रकृतांग श्रु० २-अ० १।१३

इस संसार में निश्चय ही—ये काम-भोग दुःखों से रक्षा करने वाले नहीं हैं। कभी तो पहले ही पुरुष इन्हें छोड़कर चल देता है एवं कभी ये पुरुष को छोड़ चलते हैं, फिर हम इन काम-भोगों में मूर्च्छित क्यों हो रहे हैं?

९ इह खलु ! नाइसंजोगा नो ताणाए वा, नो सरणाए वा।
पुरिसे वा एगया पुव्विं नाइसंजोगे विप्पजहइ,
नाइसंजोगा वा एगया पुव्विं पुरिसं विप्पजहंति।
से किमंग पुण वयं अन्नमन्नेहिं नाइसंजोगेहिं मुच्छामो?

—सूत्र० श्रु० २-अ० १।१३

इस संसार में ज्ञाति-स्वजनों के संयोग भी दुःखों से रक्षा करने वाले नहीं हैं। कभी पहले ही पुरुष इन्हें छोड़कर चल देता है एवं कभी ये पुरुष को छोड़ चलते हैं। फिर अपने से भिन्न—इन ज्ञाति-संयोगों में हम मूर्च्छित क्यों हो रहे है?

१० जाया य पुत्ता न हवंति ताणं।

—उत्तराध्ययन १४।१२

पुत्र होने पर भी वे शरणभूत नहीं होते।

११ जम्मजरामरणभए अभिद्दुए, विविहवाहिसंतत्ते।
लोगम्मि नत्थि सरणं, जिणिंदवरसासणं मुत्तुं॥

—मरणसमाधि प्रकीर्णक ५७८

जन्म, जरा व मरण के भय से पूर्ण तथा विविध व्याधियों से संतप्त इस लोक में जिनशासन को छोड़कर (अथवा आत्मा को छोड़कर) अन्य कोई शरण नही है।

१२ संगं परिजाणामि सल्लंपि, य उद्धरामि तिविहेणं।
गुत्तीओ समिईओ, मज्झं ताणं च सरणं च॥

—मरणसमाधि प्रकीर्णक २६७

धन, कुटुम्ब आदि संसर्गों की अशरणता को मैं अच्छी तरह जानता हूँ, तथा माया। मिथ्या व निदान (कामना) इन तीन मानसिक शल्यों का मन, वचन, काय से त्याग करता हूँ। तीन गुप्ति व पांच समिति ही मेरे रक्षक व शरण है।

☆

३. संसार भावना

१ जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसन्ति जंतवो ।।

—उत्तरा० १६।१६

यहाँ जन्म का दुःख है, जरा का दुःख है, रोगों का दुःख है, मरण का दुःख है ; इस तरह इस संसार में दुःख ही दुःख है, जहाँ बेचारे प्राणी नाना प्रकार के क्लेश पाते हैं।

२ सारीरमाणसा चेव, वेयणाओ अणन्तसो ।
मए सोढाओ भीमाओ, असइं दुक्खभयाणि य ।।

—उत्तरा० १६।४६

इस आत्मा ने अनन्त बार तीव्र शारीरिक और मानसिक वेदनाएँ भोगी हैं और अनन्त दुःख और भय से वह पीड़ित हुई है।

३ जरामरणकन्तारे, चाउरन्ते भयागरे ।
मए सोढाणि भीमाणि,जम्माणि मरणाणि य ।।

—उत्तरा० १६।४७

इस जन्म-मरण रूपी कान्तार (अटवी) और चारगति रूप भय के धाम में मैंने अनन्त बार तीव्र दुःख पूर्ण जन्म और मरण किये हैं।

४ निच्चं भीएण तत्थेण, दुहिएण वहिएण य ।
परमा दुहसंबद्धा, वेइणा वेइया मए ।।

—उत्तरा० १६।७१

अत्यन्त भय, त्रास, दुःख और व्यथा का अनुभव करते हुए मैंने नित्य घोर दुःखदायी वेदनाएँ वेदी हैं—भोगी हैं।

५ जारिसा माणुसे लोए, ताया दीसंति वेयणा ।
एत्तो अणतंगुणिया, नरएसु दुक्ख वेयणा ।।

—उत्तरा० १६।७४

मनुष्य लोक में जैसी वेदनाएँ दिखायी देती है, उनसे अनन्त गुणी दुःखदायी वेदनाएँ नरक में है।

६ सव्व भवेसु असाया, वेयणा वेइया मए।
निमेसतरमित्तं पि, ज साया नत्थि वेयणा ॥

—उत्तरा० १९।७५

सब भवों में मैंने असाता वेदना—दुःख ही दुःख भोगे। सुख का तो निमेष मात्र भी नहीं, केवल वेदना ही है।

७ मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो, जराए परिवारिओ।
अमोहा रयणी वुत्ता एव ताय! विजाणह ॥
अब्भाहयम्मि लोगम्मि, सव्वओ परिवारिए।
अमोहाहिं पडन्तीहि गिहंसि न रइं लभे ॥

—उत्तरा ० १४।२१-२३

हे तात! यह लोक मृत्यु से पीड़ित है, जरा से घिरा हुआ है, जाते हुए रात-दिन अमोघ शस्त्र हैं। इस पीड़ित, सर्व ओर से घिरे हुए तथा अमोघ शस्त्रों की घात से सत्रस्त लोक में—(घर मे) हम जरा भी आनन्द नहीं पाते।

८ जहा गेहे पलित्तम्मि, तस्स गेहस्स जो पहू।
सार भण्डाणि नीणेइ, असारं अवउज्झइ ॥
एवं लोए पलित्तम्मि, जराए मरणेण य।
अप्पाणं तारइस्सामि, तुब्भेहिं अणुमन्निओ ॥

—उत्तरा० १९।२३२४

जैसे घर में आग लगने पर गृहपति सार वस्तुओं को निकालता है और असार को छोड़ देता है उसी तरह जरा और मरणरूपी अग्नि से जलते हुए इस संसार में अपनी आत्मा का उद्धार करूँगा।

९ अत्थि एगो महादीवो, वारिमज्झे महालओ।
महाउदगवेगस्स, गई तत्थ न विज्जई ॥

—उत्तरा० २३।६६

उदधि के बीच एक विस्तृत महाद्वीप है, जहाँ पर महान उदक—समुद्र के प्रवाह की पहुँच नहीं होती।

१० जरामरणवेगेणं, बुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ॥

—उत्तरा० २३।६८

जरा और मरणरूपी जल के वेग से बहते हुए प्राणियों के लिए धर्म ही द्वीप, प्रतिष्ठान, गति और उत्तम शरण है।

११ हा ! जह मोहियमइणा, सुग्गइमग्गं अजाणमाणेणं।
भीमे भवकंतारे, सुचिरं भमियं भयकरम्मि ॥

—मरणसमाधिप्रकीर्णक ५९०

हा ! मोक्षमार्ग अर्थात् धर्म को नही जानता हुआ यह मोहित मति जीव अनादिकाल से इस भयंकर तथा भीम भव-वन में भटक रहा है।

१२ सो णत्थि इहोगासो, लोए वालग्ग कोडिमित्तोऽपि।
जम्मणमरणा बाहा, अणेगसो जत्थ ण य पत्ता ॥

—मरणसमाधिप्रकीर्णक ५९४

इस लोक में बाल के अग्र भाग जितना भी कोई क्षेत्र ऐसा नहीं है, जहाँ मैंने जन्म-मरण आदि अनेक बाधाएँ न उठायी हों।

१३ जह निंबदुमुप्पण्णो, कीडो कडुयंपि मण्णए महुरं।
तह मुक्ख मुहपरूक्खा, संसार दुहं मुहं विंति ॥

—मरणसमाधिप्रकीर्णक ६५५

जिस प्रकार नीम के वृक्ष में उत्पन्न कीड़ा उसके कड़ुवे स्वाद को भी मधुर मानता है, उसी प्रकार मोक्षगत परमार्थ सुख से अनभिज्ञ प्राणी इस संसार-दुःख को ही सुख कहता है।

१४ दवग्गिणा जहा रण्णे, डज्झमाणेसु जंतुसु।
अण्णे सत्ता पमोयंति, रागद्दोसवसं गया ॥
एवमेव वयं मूढा, कामभोगेसु मुच्छिया।
डज्झमाणं ण बुज्झामो, रागद्दोसऽग्गिणा जगं ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र १४।४२-४३

जिस प्रकार वन में अग्नि लग जाने पर उसमें जलते हुए जीवों को देखकर दूसरे जीव रागद्वेष-वश प्रसन्न होते है, उसी प्रकार काम-भोगों में मूर्च्छित हम सब मूर्ख जन यह नहीं समझते कि (हम सहित) यह सारा संसार ही राग-द्वेषरूपी अग्नि से नित्य जला जा रहा है।

१५ सेअसइं उच्चागोए असइं णीयागोए, णो हीणे णो अइरित्ते।
णो पीहए इह संखाए, को गोयावाई को माणावाई ॥

—आचारांग २।१।३

यह जीव अनेक बार उच्च गोत्र में उत्पन्न हो चुका है और अनेक बार निम्न गोत्र में जन्म ले चुका है। परन्तु वस्तुतः न तो आज तक यह कभी हीन हुआ है और न कभी कुछ वृद्धि को ही प्राप्त हुआ है। अतः हे श्रमण ! तू उच्च जाति आदि को प्राप्त करने की इच्छा न कर। क्योंकि इस तथ्य को जानकर भी कौन पुरुष उच्च गोत्र की इच्छा अथवा उसका अभिमान करेगा ?



४. एकत्व भावना

१. से मेहावी जाणेज्जा बहिरगमेयं। इणमेव उवणीययरागं, तं जहा—माया मे, पिया मे, भाया मे, भगिणि मे, भज्जा मे, पुत्ता मे, धूया मे, पेसा मे, नत्ता मे, सुण्हा मे, सुहा मे, पिया मे, सहा मे, सयण संगन्थसंथुया मे, एए खलु मम नायओ अहंमवि एएसि। एवं से मेहावी पुव्वामेव अप्पणा एवं समभिजाणेज्जा। इह खलु मम अन्नयरे दुक्खं रोगायंके समुप्पजेज्जा अणिट्ठे, जाव दुक्खे नो सुहे। से हंता भयंतारो ! णायओ इमं मम अन्नयरं दुक्ख रोगायंकं परियाइयह अणिट्ठं जाव णो सुहं, ता अहं दुक्खामि वा, सोयामि वा, जाव परितप्पामि वा, इमाओ मे अन्नयराओ दुक्खाओ रोगायकाओ परिमोएह अणिट्ठाओ जाव णो सुहावो, एवमेव लद्धपुव्वं भवइ। तेसिं वा वि भयंताराणं मम नायणाणं अन्नयरे दुक्खे रोगायके समुपज्जेज्जा अणिट्ठे जाव णो सुहे, से हंता अहमेएसि भयन्ताराणं नाययाणं इमं अन्नयरं दुक्खं रोगायकं परिणाइयामि अणिट्ठं जाव णो सुहे, म मे दुक्खंतु वा जाव मा मे परितप्पंतु वा, इमाओ णं अन्नयराओ दुक्खाओ रोगायंकाओ परिमोएमि अणिट्ठाओ जाव णो सुहाओ, एवमेव णो लद्धपुव्वं भवइ। अन्नस्स दुक्खं अन्नो न परियाइयइ, अन्नेण कडं अन्नो नो पडिसंवेदेइ पत्तेयं, जायइ, पत्तेयं मरइ पत्तेयं चयइ, पत्तेयं उववज्जइ, पत्तेयं झंझा, पत्तेयं सन्ना, पत्तेयं मन्ना एवं विन्नू वेयणा।

—सूत्रकृतांग २।१।१३

बुद्धिमान पुरुष सोचे कि ये कामभोग तो बहिरंग पदार्थ हैं। इनसे निकट सम्बन्धी तो सब अन्य हैं जैसे कि—यह मेरी माता है, यह मेरा पिता है, यह मेरे भाई हैं, यह मेरी बहिन है, यह मेरी स्त्री है, यह मेरे पुत्र हैं, यह मेरी पुत्री है, यह मेरे दास हैं, यह मेरा नाती है, यह मेरी पुत्रवधू है, यह मेरा मित्र है, यह मेरे पहले और पीछे के परिचित सम्बन्धी हैं। निश्चय ही ये सब ज्ञाति मेरे है और मैं उनका हूं। परन्तु बुद्धिमान् पुरुष को पहले अपने आप विचार कर लेना चाहिए कि यदि कभी मुझको किसी प्रकार का दुःख या रोग उत्पन्न हो, जो अनिष्ट और दुःखदायी है, और उस समय मैं अपने ज्ञातिवर्ग से यदि कहूँ कि—हे भय से रक्षा करने वाले ज्ञातिवर्ग ! मेरे इस अनिष्ट और अप्रिय दुःख तथा रोग में आप लोग हिस्सा बटाएँ, क्योंकि—मैं इस दुःख से पीड़ित हूँ, शोकाकुल हूँ, बहुत ताप भोग रहा हूं ; आप इस अनिष्ट दुःख तथा रोग से मुझको मुक्त करें तो वे ज्ञातिवर्ग इस प्रार्थना को सुनकर दुःख तथा रोग को बँटा लें या मुझको दुःख और रोग से मुक्त कर दे ऐसा कभी नहीं होता। अथवा भय से मेरी रक्षा करने वाले इन ज्ञातियों को ही कोई दुःख या रोग उत्पन्न हो जाय, जो अनिष्ट और असुखकर हो, और मैं चाहूं कि भय से रक्षा करने वाले इन ज्ञातियों के अनिष्ट दुःख या रोग को बँटा लूँ, जिससे ये मेरे ज्ञातिवर्ग दुःख तथा परिताप न भोगें, और इनको दुःख तथा अनिष्ट रोग से मुक्त कर दूँ तो यह मेरी इच्छा कभी पूरी नहीं होती है।

दूसरे के दुःख को दूसरा नही बँटा सकता।

दूसरे के कर्म का फल दूसरा नहीं भोग सकता।

मनुष्य अकेला ही मरता है, अकेला ही अपनी सम्पत्ति का त्याग करता है, अकेला ही सम्पत्ति को स्वीकार करता है, अकेला ही कषायों को ग्रहण करता है, अकेला ही पदार्थों को समझता है, अकेला ही चिन्तन करता है, अकेला ही विद्वान होता है, और अकेला ही सुख-दुःख भोगता है।

२ तेणावि जं कयं कम्मं सुहं वा जइ वा दुहं।
कम्मुणा तेण संजुत्तो, गच्छई उ परं भवं ॥

—उत्तरा० १८।१७

जीव जो शुभ अथवा अशुभ—सुखरूप व दुखरूप व कर्म करता है, उन कर्मों से संयुक्त वह पर लोक को जाता है।

३ आघायकिच्चमाहेऊं, नाइयो विससासिणो ।
अन्ने हरंति तं वित्तं, कम्मी कम्मेहि किच्चई ॥

—सूत्र० १।९।४

दाह संस्कार आदि अन्तिम क्रियायें करने के पश्चात् विषयैषी ज्ञाति और अन्य लोग उसके धन को हर लेते हैं और पापकर्म करने वाला अकेला ही अपने किए हुए कृत्यों द्वारा संसार में पीड़ित होता है ।

४ न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ,
न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा ।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं,
कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ॥

—उत्तरा० १३।२३

ज्ञाती सम्बंधी मित्र वर्ग, पुत्र और बान्धव उसके दुःखों में भाग नहीं बटाते । मनुष्य को स्वयं अकेले को ही दुःख भोगना पड़ता है । कर्म, करने वाले का ही पीछा करता है, करने वाले को ही कर्म-फल भोगना पड़ता है ।

५ चिच्चा दुपयं च चउप्पयं च, खेत्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं ।
सकम्मबीओ अवसो पयाइ, परं भवं सुन्दर पावगं वा ॥

—उत्तरा० १३।२४

द्विपद और चतुष्पद, क्षेत्र और गृह, धन और धान्य-इन सबको छोड़कर पराधीन जीव केवल अपने कर्मों को साथ लेकर ही अकेला अच्छे या बुरे पर भव में जाता है ।

६ एगब्भूओ अरण्णे वा, जहा उ चरई मिगे ।
एवं धम्मं चरिस्सामि, संजमेण तवेण य ॥

—उत्तरा० १९।७८

जैसे मृग अरण्य में अकेला ही चर्या करता है, उसी तरह मैं चारित्र रूपी वन में तप और संयम रूपी धर्म का पालन करता हुआ एकार्थ विहार करूंगा ।

७ एगमप्पाणं संपेहाए धुणे कम्म सरीरगं ।

—आचारांग १।४।३

आत्मा को शरीर से पृथक जानकर भोग लिप्त शरीर (कर्म) को धुन डालो ।

८ एगे अहमंसि न मे अत्थि कोइ,
न याऽहमवि कस्स वि ।

—आचारांग १।८।६

मैं एक हूँ—अकेला हूं ।
न कोई मेरा है, और न मैं किसी का हूं ।

९ एगस्स गती य आगती ।

—सूत्रकृतांग १।२।३।१७

आत्मा परिवार आदि को छोड़कर परलोक में अकेला ही जाता है ।

१० एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजुओ ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोग लक्खणा ।।

—आतुरप्रयास्यानप्रकीर्णक २६

ज्ञान, दर्शन युक्त अकेली यह शास्वत आत्मा ही मेरी है, जगत के अन्य सर्व बाह्याभ्यन्तर पदार्थ व भाव संयोग हैं और इसलिए मेरे स्वरूप से बाह्य हैं ।

११ संजोगमूला जीवेण, पत्ता दुक्खपम्परा ।
तम्हा संजोग संबन्धं, सव्वभावेण वोसिरे ।।

—आतुरप्रत्याख्यानप्रकीर्णक २७

आत्मस्वरूप से बाह्य संयोगमूलक ये सभी बाह्याभ्यन्तर पदार्थ, जीव के द्वारा प्राप्त कर लिए जाने पर क्योंकि उसके लिए दुःख परम्परा के हेतु हो जाते है, इसलिए सभी प्रकारके शारीरिक व मानसिक संयोग सम्बन्धों को मैं मन, वचन, काय से छोड़ता हूँ ।

१२ अप्पा नइ वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहाधेणु, अप्पा मे नंदणं वणं ।।

—उत्तरा० २०।२६

आत्मा ही वैतरणी नदी है और आत्मा ही शाल्मली वृक्ष । आत्मा ही कामधेनु है और आत्मा ही नन्दनवन ।

१३ अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय —सुपट्ठियो ।।

—उत्तरा० २०।२७

आत्मा ही अपने सुख व दुख को सामान्य तथा विशेष रूप से करने वाला है, और इसलिए वही अपना मित्र अथवा शत्रु है। सुकृत्यों में स्थित वह अपना मित्र है और दुष्कृत्यों में स्थित अपना शत्रु।

१४ जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ।
जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ॥

—आचारांग ३।४।२

जो एक को जानता है वह सब को जानता है और जो सबको जानता है वह एक को जानता है।

१५ भिन्नाः प्रत्येकमात्मानो, विभिन्नाः पुद्गला अपि।
शून्यः संसर्ग इत्येवं यः पश्यति स पश्यति॥

—अध्यात्मसार ८।२१

प्रत्येक आत्मा तथा शरीर मन आदि सभी पुद्गल भी परस्पर एक दूसरे से भिन्न हैं। देह व जीव का अथवा पिता पुत्रादि का संसर्ग कोई वास्तविक नहीं है। जो ऐसा देखता है वही वास्तव में देखता है।

१६ अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसण णाण मइओ सदाऽरुवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तं वि॥

—समयसार ३८

तत्त्वतः मैं एक हूं, शुद्ध हूं, दर्शन ज्ञानमय हूं। और सदा अरूपी हूं। मेरे सिवाय अन्य कुछ परमाणु मात्र भी यहां मेरा नहीं है।

☆

५. अन्यत्व भावना

१ इह खलु पुरिसे अन्नमन्नं ममट्ठाए एवं विप्पडिवेंति तं जहा— खेत्तं मे, वत्थू मे, हिरण्णं मे, सुवण्णं मे, धणं मे धन्नं मे, कंसं मे, दूसं मे, विपुलधणकणगरयमणि-मोत्तिय संखसिलप्पवाल रत्तरयणं संतसारसावएणं मे। सद्दा मे, रुवा मे, गंधा मे, रसा मे, फासा मे एए खलु मे कामभोगा अहमंवि एएसिं।

—सूत्रकृतांग २।१।१३

इस मनुष्य लोक में पुरुषगण अपने से सर्वथा भिन्न पदार्थों को झूठ ही मानकर ऐसा अभिमान करते है कि खेत मेरा है, घर मेरा है, चाँदी मेरी है, सोना मेरा है, धन मेरा है, धान्य मेरा है, कांसा मेरा है, लोहादि मेरे हैं, ये बहुत से धन, सोना, रत्नमणि, मोती, शंखशिला, मूँगा, लाल रत्न, उत्तमोत्तम मणि और पैतृक धन मेरे हैं। शब्द मेरे हैं, रूप मेरे हैं, सुगन्ध मेरी है, रस मेरे हैं, स्पर्श मेरे हैं—ये काम-भोग मेरे हैं और मैं इनका हूँ।

२ से मेहावी पुव्वामेव अप्पणो एवं समभिजाणेज्जा तं जहा—इह खलु मम अन्नयरे दुक्खे रोगायंके समुप्पज्जेज्जा अणिट्ठे अकंते अप्पिए असुभे अमणुन्ने अमणामे दुक्खे णो सुहे। से हंता भयन्तारो! कामभोगाइं मम अन्नयरं दुक्खं रोगायंकं परियाइयह अणिट्ठं अकंतं अप्पियं असुभं अमणुन्नं अमणामं दुक्खं णो सुहं। ता अहं दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामि वा इमाओ मे अन्नयराओ दुक्खाओ रोगायंकाओ पडिमोयह अणिट्ठाओ अकन्तओ अप्पियाओ असुभाओ अमणुन्नाओ अमणामाओ दुक्खाओ णो सुहाओ एवामेव णो लद्धपुव्वं भवइ। इह खलु कामभोगा णो ताणाए वा णो सरणाए वा। पुरिसे वा एगया पुव्विं कामभोगे विप्पजहइ, कामभोगा वा एगया पुव्विं पुरिसं विप्पजहइत्ति अन्नेखलु कामभोगा अन्नो अहमंसि। से किमंग पुण वयं अन्नमन्नेहिं कामभोगेहिं मुच्छामा?

—सूत्रकृतांग २।१।१३

परन्तु बुद्धिमान पुरुष को पहले से ही यह सोच लेना चाहिए कि जब मुझको किसी प्रकार का दुःख या रोग उत्पन्न होता है, जो इष्ट नहीं है, प्रीतिकर नहीं है, किन्तु अप्रिय है, अशुभ है, अमनोज्ञ है, विशेष पीड़ा देने वाला है, दुःख रूप है, सुख रूप नहीं है, उस समय यदि मैं यह कहूँ कि—हे भय से रक्षा करने वाले मेरे धनधान्य आदि कामभोगो! मेरे इस अनिष्ट, अप्रिय तथा अत्यन्त दुःखद रोग में हिस्सा बँटावें—क्योंकि मैं इस रोग से बहुत दुःखित हो रहा हूँ, शोक में पड़ा हूँ, आत्म-निन्दा कर रहा हूँ, कष्ट पा रहा हूँ, बहुत वेदना पा रहा हूँ—आप लोग मुझको इस अप्रिय, अनिष्ट तथा दुःखद रोग और दुःख से मुक्त कर दें तो यह कभी नहीं होता।

वस्तुतः धनधान्य और क्षेत्र आदि मनुष्य की रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं। कभी तो पुरुष पहले ही इन कामभोगों को छोडकर चल देता है और कभी कामभोग ही पुरुष को छोड़कर चल देते हैं।

ये काम भोग अन्य है और मैं अन्य हूं।

फिर हम क्यों अन्य वस्तु में आसक्त हो रहे है ?

३ इह खलु नाइसंजोगा नो ताणाए वा नो सरणाए वा, पुरिसे वा एगया पुव्वि नाइसंजोगे विप्पजहइ नाइसंजोगा वा एगया पुव्वि पुरिसं विप्पजहंति, अन्ने खलु नाइसंजोगा अन्नो अहमंसि से किमंग पुण वयं अन्नमन्नेहिं नाइ संजोगेहि मुच्छामो ?

—सूत्र० २।१।१३

इस लोक मे ज्ञाति-संयोग दुःख से रक्षा करने में और मनुष्य को शान्ति देने में समर्थ नहीं है। कभी मनुष्य ही पहले ज्ञाति-संयोग को छोड़ देता है, और कभी ज्ञाति-संयोग ही पुरुष को पहले छोड़ देता है। अतः ज्ञाति-संयोग दूसरा है और मैं दूसरा हूँ। तब फिर हम अपने मे भिन्न ज्ञाति-संयोग में हम क्यों आसक्त हो ?

४ तं एक्कगं तुच्छ सरीरगं से, चिईगयं दहिय उ पावगेणं।
भज्जा य पुत्तो वि य नायओ वा, दायारमन्नं अणुसंकमन्ति ॥

—उत्तरा० १३।२५

मनुष्य के अकेले तुच्छ शरीर को चिता में रखकर अग्नि से जला दिया जाता है और उसकी भार्या, पुत्र और बांधव—किसी अन्य दातार का अनुसरण करते है।

५ दाराणि य सुया चेव, मित्ता य तह बन्धवा।
जीवन्तमणुजीवन्ति, मयं नाणुव्वयन्ति य ॥

—उत्तरा० १८।१४

स्त्री और पुत्र, मित्र और बांधव जीवन काल में ही पीछे-पीछे चलते है, मरने के बाद वे साथ नहीं देते।

६ नीहरन्ति मयं पुत्ता, पियरं परमदुक्खिया।
पियरो वि तहा पुत्ते, बन्धू रायं तवं चरे ॥

—उत्तरा० १८।१

जैसे अत्यन्त दुःखी हुए पुत्र मृत पिता को घर के बाहर निकाल देते

हैं, वैसे ही माता-पिता भी मृत पुत्र को बाहर निकाल देते हैं। सगे सम्बन्धियों के विषय में भी यही बात है। हे राजन् ! यह देखकर तू तपस्या कर।

७ अन्नो जीवो, अन्नं सरीरं।

आत्मा अन्य है, शरीर अन्य है।

—सूत्रकृतांग २।१।९

८ अन्नं इमं सरीरं, अण्णो जीवुत्ति निच्छयमइओ ।
दुक्खपरिकेसकरं, छिंद ममत्तं सरीराओ ॥

—मरणसमाधि प्रकीर्णक ४०२

यह जीव अन्य है और शरीर इससे अन्य है, इस प्रकार की निश्चित बुद्धिवाला व्यक्ति, शरीर को दुःख तथा क्लेश का कारण जानकर उसका ममत्व छोड़ देता है।

९ जावइयं किंचि दुहं, सारीरं माणसं च संसारे ।
पत्ता अणंतखुत्तो, कायस्स ममत्तदोसेणं ॥

—मरणसमाधि प्रकीर्णक ४०३

इस संसार मे शारीरिक व मानसिक जितने भी दुःख हैं, वे सब शरीर-ममत्व रूपी दोप के कारण ही प्राप्त होते हैं। (इसलिए मैं इस ममत्व का त्याग करता हूँ।)



६. अशौच-भावना

१ मंसट्ठियसंघाए, मुत्तपुरीस भरिए नवच्छिद्दे ।
असुइ परिस्सवंते, सुहं सरीरम्मि किं अत्थि ॥

—मरणसमाधि प्रकीर्णक ६०८

मांस व अस्थि के पिंडभूत तथा मूत्रपुरीष के भण्डार अशुचि इस शरीर में शुभ है ही क्या ? जिसमें कि नव द्वारों से सदा मल भरता रहता है। (अतः मै इसके ममत्व का त्याग करता हूँ।)

२ जहा अंतो तहा बाहिं ।
जहा बाहिं तहा अंतो ॥

—आचारांग १।२।५

यह शरीर जैसा अन्दर में (असार) है वैसा ही बाहर में (असार) है। जैसा बाहर में (असार) है वैसा ही अन्दर में (असार) है।

३ इमं सरीरं अणिच्चं असुई असुइसंभवं।

—उत्तराध्ययन १९।१३

यह शरीर अनित्य है, अशुचि है, और अशुचि—(रज-वीर्य) से उत्पन्न हुआ है।

४ माणुसत्ते असारम्मि वाहीरोगाण आलए।
जरा-मरण-घत्थम्मि खणं पि न रमामहं॥

—उत्तरा० १९।१५

यह मनुष्य का शरीर असार है, रोग और व्याधियों का आलय-घर है। जरा और मरण से घिरा हुआ है, मैं इसमें एक क्षण भी सुख व चैन अनुभव नहीं कर पा रहा हूँ।

कामभोग भावना

[अनेक ग्रंथों में अशौच भावना के स्थान पर कामभोग भावना का वर्णन भी मिलता है। इसमें कामभोग की अशुचि प्रधानता एवं असारता के चिन्तन से निर्वेद (वैराग्य) की उत्पत्ति होती है। आगमों में इस सम्बन्ध में काफी उपदेशप्रद गाथाएँ मिलती हैं, कुछ इस प्रकार हैं—]

५ तं मा णं तुब्भे देवाणुप्पिया, माणुस्सएसु कामभोगेसु,
सज्जह, रज्जह, गिज्झह, मुज्झह, अज्झोववज्जह ॥

—ज्ञाता० अ० ८

अतः हे देवानुप्रिय ! तुम मनुष्य सम्बन्धी कामभोगों में आसक्त न बनो, रागी न बनो, गृद्ध न बनो, मूर्छित न बनो और अप्राप्त भोगों को प्राप्त करने की लालसा मत करो।

६ उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई ॥

—उत्तरा० २५।४१

भोग से ही कर्मों का लेप—बन्धन—होता है। भोगी को जन्म-मरण रूपी संसार में भ्रमण करना पड़ता है, जबकि अभोगी संसार से छूट जाता है।

७ उल्लो सुक्खो य दो छूढा, गोलयामट्टियामया।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सो तत्थ लग्गई ।।
एवं लग्गन्ति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा।
विरत्ता उ न लग्गन्ति, जहा सुक्को उ गोलओ ।।

—उत्तरा० २५।४२-४३

जिस तरह सूखे और गीले दो मिट्टी के गोलों को फेंकने पर उनमें से गीला ही दीवार पर चिपकता है और सूखा नहीं चिपकता, उसी प्रकार जो कामलालसा में आसक्त और दुष्ट बुद्धिवाले मनुष्य होते है, उन्हीं को संसार का बन्धन होता है पर, जो कामभोगों से विरत होते हैं, उनके ऐसा नहीं होता।

८ खणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा,
पगामदुक्खा अणिगामसुक्खा।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया,
खाणि अणत्थाण उ कामभोगा ।।

—उत्तराध्ययन १४।१३

कामभोगों में क्षणिक (इन्द्रिय—) सुख होता है और दीर्घकालीन आत्मिक दुःख। उनमें सुखानुभव तो अणि—नाममात्र है और दुःख का कोई ठिकाना नहीं। ससार से छुटकारा पाने में बाधक—विघ्नकारी है। कामभोग अनर्थों की खान है।

९ जहा य किंपागफला मणोरमा, रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा, एओवमा कामगुणा विवागे ।।

—उत्तरा० ३२।२०

जिस तरह किंपाकफल खाते समय रस और वर्ण में मनोरम होने पर भी पचने पर जीवन का अन्त करते है। उसी तरह से भोगने में मनोहर काम-भोग विपाक काल में—फल देने की अवस्था में अधोगति के कारण होते हैं।

१० सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।
कामे य पत्थेमाणा, अकामा जंति दोग्गइं ।।

—उत्तरा० ९।५३

कामभोग शल्य रूप हैं । कामभोग विष रूप है। कामभोग जहरी

नाग (दृष्टिविष सर्प) के सदृश्य है। भोगों की प्रार्थना करते-करते जीव बेचारे उनको प्राप्त किये बिना ही दुर्गति में चले जाते है।

११ सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडम्बियं।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा ॥

—उत्तरा० १३।१६

सर्व गीत विलाप है, सर्व नृत्य बिडम्बना हैं, सर्व आभूषण भार हैं और सर्व कामभोग दुःख रूप है।

१२ कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं, सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।
जं काइयं माणसियं च किंचि, तस्सऽन्तगं गच्छइ वीयरागो ॥

—उत्तरा० ३२।१९

देवों सहित सर्वलोक मे जो सब कायिक और मानसिक दुःख हैं वे सब कामभोगों की आसक्ति से ही उत्पन्न है। वीतराग पुरुष ही उन सबका अन्त ला सकता है।

१३ गिद्धोवमा उ नच्चाणं, कामे संसार वड्ढणे।
उरगो सुवण्णपासेव्व, संकमाणो तणुं चरे ॥

—उत्तरा० १४।४७

कामभोग ससार को बढ़ाने वाले है। गिद्ध पक्षी के दृष्टान्त को जानकर विवेकी पुरुष, गरुड़ के समीप सर्प की तरह (अर्थात् जैसे गरुड़ के सामने सर्प डरता हुआ चलता है) कामभोगों से सशंकित रहता हुआ डर-डर कर चले।

१४ इह कामाणियट्टस्स, अत्तट्ठे अवरज्झई।
सोच्चा नेयाउयं मग्गं, जं भुज्जो परिभस्सई ॥

—उत्तरा० ७।२५

इस संसार मे कामभोगों से निवृत्त न होने वाले पुरुष का आत्म-प्रयोजन नष्ट हो जाता है। मोक्षमार्ग को सुनकर भी वह उससे पुनः-पुनः भ्रष्ट हो जाता है।

१५ जे गिद्धे कामभोगेसु, एगे कूडाय गच्छई।
'न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खुदिट्ठा इमा रई' ॥

—उत्तरा० ५।५

जो मनुष्य शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श—इन पाच प्रकार के

कामभोगों में आसक्त होते है वे नाना पापकृत्य में प्रवृत्त होते है। जब उन्हें कोई धर्म की बात कहता है तो वे कहते हैं:— "हमने परलोक नहीं देखा और इन काम भोगों का आनन्द तो आंखों से देखा है—प्रत्यक्ष है।"

१६ हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया।
को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ॥

—उत्तरा० ५।६

"ये वर्तमान काल के कामभोग तो हाथ में आए हुए है। भविष्य के कामभोग कब मिलेंगे—कौन जानता है और यह भी कौन जानता है कि परलोक है या नहीं।"

१७ जणेण सद्धिं होक्खामि, इइ बाले पगब्भइ।
कामभोगाणुराएण, केसं संपडिवज्जइ ॥

—उत्तरा० ५।७

"मै तो अनेक लोगों के साथ रहूंगा"—मूर्ख मनुष्य इसी प्रकार धृष्टता भरी बाते कहा करते है। ऐसे मनुष्य काम भोगों के अनुराग—आसक्ति से इस लोक और परलोक में क्लेश की प्राप्ति करते है।

१८ तओ से मरणन्तम्मि, बाले संतस्सई भया।
अकाममरणं मरई, धुत्ते व कलियणा जिए ॥

—उत्तरा० ५।१६

कामभोगों मे आसक्त मूर्ख मनुष्य मरणान्त के समय भय से संत्रस्त हो आखिर एक ही दाव में हार जाने वाले जुआरी की तरह अकाम मृत्यु से मरता है।

१९ जे इह सायाणुगा नरा, अज्झोववन्ना कामेहि मुच्छिया।
किवणेण समं पगब्भिया, न वि जाणंति समाहिमाहियं ॥

—सूत्र० १।२।३।४

इस संसार में मनुष्य सुखशील है—समृद्धि, रस और सुख में गृद्ध हैं, जो कामभोग में मूर्च्छित है, जो इन्द्रिय-विषय से पराजित होकर क्लीव की तरह धृष्ट हैं वे वीतराग पुरुषों के बताये हुए समाधिमार्ग को नहीं जानते।

२० वाहेण जहा व विच्छए, अबले होइ गवं पचोइए।
से अन्तसो अप्प थामए नाइवहे अबले विसीयइ ॥

एवं कासेमेणविऊ, अज्जसुए पयहेज्ज संथवं ।
कामी कामे न कामए, लद्धे वा वि अलद्धं कण्हुई ॥

—सूत्र० १।२।३।५।६

जिस तरह वाहक द्वारा त्राम देकर हांका जाता हुआ बैल थक जाता है और मारे जाने पर भी अल्प बल के कारण आगे नहीं चलता और आखिर रास्ते में ही कष्ट पाता है ।

उसी तरह से क्षीण मनोबल वाला अविवेकी पुरुष सद्बोध पाने पर भी कामभोग रूपी कीचड़ से नहीं निकल सकता । आज या कल इन कामभोगों को छोड़ूंगा, वह केवल यही सोचा करता है । सुख चाहने वाला पुरुष कामभोगों की कामना न करे और प्राप्त हुए भोगों को भी अप्राप्त हुआ करे—त्यागे ।

२१ मा पच्छ असाधुता भवे, अच्चेही अणुसाम अप्पग ।
अहियं च असाहु, सोयई से थणई परिदेवई बहु ॥

—सूत्र० १।२।३।७

"कहीं परभव में दुर्गति न हो, इस विचार से आत्मा को विषय-सग से दूर करो और उसे अकुश में रखो । असाधु कर्म से तीव्र दुर्गति में गया हुआ जीव अत्यन्त सोच करता है, आक्रन्दन करता है और विलाप करता है ।

२२ इह जीवियमेव पासहा, तरुणे वा ससयस्स तुट्टई ।
इत्तरवासे य बुज्झह, गिद्धा नरा कामेसु मुच्छिया ॥

—सूत्र० १।२।३।८

संसार में और पदार्थ की तो बात ही क्या, इस अपने जीवन को ही देखो ! यह पल पल क्षीण हो रहा है । कभी आयु तरुणावस्था में ही पूरा हो जाता है और अधिक हुआ तो सौ वर्ष के छोटे से काल में । यहाँ कितना क्षणिक निवास है ? हे जीव ! समझो ! कितना आश्चर्य है कि आयुष्य का भरोसा न होते हुए भी विषयासक्त पुरुष कामों—भोगों में मूर्च्छित रहते हैं ।

२३ न य संखयमाहु जीवियं, तह विय बालजणो पगब्भई ।
पच्चुप्पन्नेण कारियं, को दट्ठू परलोगमागए ॥

—सूत्र० १,२।३।१०

टूटा हुआ आयु नहीं संध सकता—ऐसा सर्वज्ञों ने कहा है, तो भी

मूर्ख लोग धृष्ठता पूर्वक पाप करते रहते है और कहते हैं—"हमें तो वर्तमान से ही मतलब है। परलोक कौन देखकर आया है ?"

२४ अदक्खुव दक्खु वाहियं, तं सद्दहसु अदक्खु दंसणा।
हंदि हु सुनिरुद्धदंसणे, मोहणिएण कडेण कम्मुणा॥

—सूत्र० १, २। ३।१०

हे नहीं देखने वाले पुरुषो ! त्रिभुवन को देखने वाले ज्ञानी पुरुषो के वचनों पर श्रद्धा करो। मोहनीय कर्म के उदय से अवरुद्ध दर्शन शक्ति वाले अंध पुरुषो ! सर्वज्ञों के वचनों को ग्रहण करो।

२५ पुरिसो रम, पावकम्मुणा, पलियन्तं मणुयाण जीवियं।
सन्ना इह काममुच्छिया, मोहं जन्ति नरा असंवुडा॥

—सूत्र० १, २। १।१०

हे पुरुष ! पाप-कर्मों से निवृत्त हो। यह मनुष्य जीवन शीघ्रता से दौड़ा जा रहा है। जो लाभ लेना हो वह ले लो। भोग रूपी कीचड़ में फंसा हुआ और काम भोगो में मूर्च्छित अजितेन्द्रिय मनुष्य हिताहित विवेक को खोकर मोह ग्रस्त होता है।

२६ इमं च मे अत्थि इमं च णत्थि,
इमं च मे किच्च इमं अकिच्चं।
तं एवमेव लालप्पमाणं
हरा हरंति त्ति कहं पमाए॥

—उत्तराध्ययन १४।१५

'यह वस्तु तो मेरे पास है और यह नही है। यह काम तो मैंने कर लिया है और यह अभी करना शेष है।' इस प्रकार के विकल्पों से लालायित उसको काल हर लेता है। कौन प्रमाद करे ?

२७ भोगामिसदोसविसण्णे, हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे।
बाले य मंदिए मूढ़े, वज्झइ मच्छिया व खेलम्मि॥

—उत्तराध्ययन ८।५

भोग रूपी दोष में लिप्त व आसक्त होने के कारण, हित व निःश्रेयस् (मोक्ष) की बुद्धि का त्याग कर देने वाला, आलसी, मूर्ख व मिथ्या-दृष्टि ज्यों-ज्यों संसार से छूटने का प्रयत्न करता है, त्यों-त्यों कफ में पड़ी मक्खी की भाँति अधिकाधिक फंसता जाता है।

☆

७. आश्रव भावना

१ ते चक्खु लोगंसिह नायगा उ, मग्गाणुसासन्ति हियं पयाणं ।
तहा तहा सासयमाहु लोए, जंसी पया माणव संपगाढा ।।

—सूत्रकृतांग १।१२।१२

वे अतिशय ज्ञानी तीर्थंकर आदि लोक के नेत्र के समान हैं । वे धर्मनायक है। वे प्रजाओं को कल्याण मार्ग की शिक्षा देते हैं। वे कहते है—"हे मनुष्यो ! ज्यों ज्यों मिथ्यात्व बढ़ता है, त्यों त्यों संसार भी शाश्वत होता जाता है। संसार की वृद्धि इसी तरह होती है जिसमें नाना प्राणी निवास करते है।"

२ जे रक्खसा वा जमलोइया वा, जे वा सुरा गंधव्वा य काया ।
आगासगामी य पुढोसिया जे, पुणो पुणो विप्परियासुवेंति ।।

—सूत्र० १।१२।१३

जो राक्षस हैं, जो यमपुरवासी है, जो देवता हैं, जो गन्धर्व हैं, जो आकाशगामी व पृथ्वी निवासी है वे सब मिथ्यात्वादि कारणों मे ही वार-बार भिन्न-भिन्न रूपों मे जन्म धारण करते है।

३ जमाहु ओहं सलिलं अपारगं, जाणाहि णं भवगहणं दुमोक्खं ।
जंसी विसन्ना विसयंगणाहि, दुहओऽवि लोयं अणुसंचरन्ति ।।

—सूत्र० १।१२।१४

जिस संसार को अपार सलिल वाले स्वयंभूरमण समुद्र की उपमा दी गई है, वह भिन्न-भिन्न योनियों के कारण बड़ा ही गहन और दुस्तर है। विषय और स्त्रियों में आसक्त जीव स्थावर और जंगम दोनों जगत में बार-बार भ्रमण करते हैं ।

४ ते तीय उप्पन्न मणागयाइं, लोगस्स झाणति तहागयाई ।
नेयरो अन्नेसि अणन्नणेया, बुद्धा हु ते अंतकडा भवन्ति ।।

—सूत्र० १।१२।१६

उपरोक्त भावों को जिन्होंने कहा है वे जीवों के भूत, वर्तमान और भविष्य को जानने वाले, जगत के अनन्य नेता और ससार को अंत करने वाले बुद्ध - ज्ञानी—पुरुष हैं ।

५ जे आसवा ते परिस्सवा,
जे परिस्सवा ते आसवा ।

—आचारांग १।४।२

जो आस्रव (बन्धन) के हेतु हैं, वे ही कभी मोक्ष के हेतु भी हो सकते हैं। और जो मोक्ष के हेतु हैं वे ही कभी आस्रव (बन्धन) के हेतु भी हो सकते है।

६ रागद्दोसपमत्तो, इंदियवसओ करेइ कम्माइं।
आसवदारेहिं, अविगुहेहि, तिविहेण करणेणं ।।

—मरणसमाधि ६१२

राग-द्वेष से प्रमत्त जीव इन्द्रियों के वश होकर मन, वचन व काय इन तीन कारणों के द्वारा सदा कर्म करता रहता है। कर्मों का यह आगमन ही 'आस्रव' शब्द का वाच्य है, जिसके अनेक द्वार है।

७ इंदियकसाय अव्वय, जोगा पंचचउपंचतिन्नि कमा।
किरिआओ पणवीसं, इमाउ ताओ अणुक्कमसो ।।

—नवतत्व प्रकरण ६०

पांच इन्द्रिय, क्रोधादि चार कषाय, हिंसा, असत्य आदि पाँच अव्रत तथा पचीस प्रकार की सावद्य क्रियायें, ये सब आस्रव के द्वार है। इनके कारण ही जीव कर्मों का संचय करता है।

८ आसवदारेहिं सया, हिंसाईएहिं कम्ममासवइ।
जह नावाइ विणासो, छिद्दे हि जलं उयहिमज्झे ।।

—मरणसमाधि ६१८

हिंसादिक इन आस्रवों के मार्ग से जीव के चित्त में कर्मों का प्रवेश इसी प्रकार होता रहता है, जिस प्रकार समुद्र में सच्छिद्र नौका जल-प्रवेश के कारण नष्ट हो जाती है।

९ जो सम्मं भूयाइं पासइ, भूए य अप्पभूए य।
कम्ममलेण ण लिप्पइ, सो संवरियासव दुवारो ।।

—मरणसमाधि ६२४

जो आत्मभूत और अनात्मभूत सभी पदार्थों को तत्त्वदृष्टि से देखता है, वह कर्म-मल से लिप्त नहीं होता, क्योंकि उसके समस्त आस्रव द्वार रुक जाते है।

१० सोवण्णियं पि णियलं, बंधहि कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं, सुहमसुहं वा कदं कम्मं ।।

—समयसार १४६

जिस प्रकार लोहे की बेड़ी पुरुष को बांधती है, उसी प्रकार सोने की बेड़ी भी बांधती है। इसलिए परमार्थतः शुभ व अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्म जीव के लिए बन्धनकारी हैं।



८ संवर भावना

१ तिउईट्ट उ मेहावी, जाणं लोगंसि पावगं।
तुट्टंति पावकम्माणि, नवं कम्ममकुव्वओ॥

—सूत्रकृतांग १।१५।६

पाप कर्म को जानने वाला बुद्धिमान पुरुष संसार में रहता हुआ भी पाप से छूट जाता है। जो पुरुष नये कर्म नहीं करता उसके सभी पाप कर्म छूट जाते हैं।

२ जं मयं सव्वसाहूणं, तं मयं सल्लगत्तणं।
साहइत्ताण तं तिण्णा, देवा वा अभविंसु ते॥

—सूत्र० १।१५।२४

सर्व साधुओं को मान्य जो संयम है वह पाप को नाश करने वाला है। इस संयम की आराधना कर बहुत जीव संसार से पार हुए हैं और बहुतों ने देवभव को प्राप्त किया है।

३ अकुव्वओ णवं णत्थि, कम्मं नाम विजाणइ।
विन्नाय से महावीरे, जेण जाई ण मिज्जई॥

—सूत्र० १।१५।७

जो नहीं करता उसके नये कर्म नहीं बंधते। कर्मों को जानने वाला महावीर पुरुष उनकी स्थिति और अनुभाग आदि को जानता हुआ ऐसा कार्य करता है जिससे वह संसार में न तो कभी उत्पन्न होता है और न कभी मरता है।

४ पंडिए वीरियं लद्धुं, निग्घयाय पवत्तग।
धुणे पुव्वकडं कम्मं, णवं वावि ण कुव्वई॥

—सूत्र० १।१५।२२

पंडित पुरुष कर्मों को विदारण करने में समर्थ वीर्य्य को प्राप्त करके नवीन कर्म न करे और पूर्वकृत कर्मों को धुन डाले।

५ अभविंसु पुरा धीरा, आगमिस्सा वि सुव्वया ।
दुन्निबोहस्स मग्गस्स, अंतं पाउकरा तिण्णे ।।

—सूत्र० १।१५।२५

पूर्व समय में बहुत से धीर पुरुष हो चुके हैं और भविष्य काल में भी ऐसे सुव्रती पुरुष होंगे जो दुर्निबोध—दुष्प्राप्य—मोक्ष मार्ग की अन्तिम सीमा पर पहुँचकर तथा उसे दूसरों को प्रकट कर इस संसार सागर से तिरे हैं या तिरेंगे ।

६ रुंधिय छिद्दसहस्से, जलजाणे जह जलं तु णासवदि ।
मिच्छत्ता इअ भावे, तह जीवे संवरो होई ।।

—नयचक्र बृहद् १५६

जिस प्रकार नाव का छिद्र बन्द हो जाने पर उसमें जल प्रवेश नहीं करता, उसी प्रकार मिथ्यात्व, अविरति, कषाय व प्रमाद आदि पूर्वोक्त आस्रव-द्वारों के रुक जाने पर कर्मों का आस्रव भी रुक जाता है और यही उनका संवरण या संवर कहलाता है ।

७ पंचसमिओ तिगुत्तो, अकसाओ जिइंदिओ ।
अगारवो य निस्सल्लो, जीवो हवइ अणासओ ।।

—उत्तराध्ययन सूत्र ३०।३

पांच समिति, तीन गुप्ति कषायनिग्रह, इन्द्रिय-जय, निर्भयता, निश्शल्यता इत्यादि संवर के अंग हैं, क्योंकि इनसे जीव अनास्रव हो जाता है ।

८ जे अणासवा ते अपरिस्सवा ।
जे अपरिस्सवा ते अणासवा ।।

—आचारांग १।४।२

जो संवर के हेतु है वे कभी-कभी संवर के हेतु नहीं भी हो सकते हैं । और जो आस्रव के हेतु हैं वे कभी-कभी आस्रव के हेतु नहीं भी हो सकते हैं ।

९ समुप्पायमजाणन्ता कहं नायंति संवरं ।

—सूत्रकृतांग १।१।३।१०

जो दुःख की उत्पत्ति के कारणों को नहीं जानता वह उसके संवर (निरोध) का उपाय भी कैसे जानेगा ?

☆

९. निर्जरा भावना

१ पाणिवहमुसावाया, अदत्तमेहुणपरिग्गहा विरओ।
राईभोयणविरओ, जीवो भवइ अणासवो ॥

—उत्तराध्ययन ३०।२

प्राणिवध—हिंसा, मृषावाद—झूठ, मैथुन और परिग्रह तथा रात्रि भोजन से विरत जीव अनाश्रव—नये कर्म-प्रवेश से रहित हो जाता है।

२ नो कित्तिवण्ण सद्द सिलोगट्ठयाए तव महिट्ठिज्जा,
नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा ।

—दशवै० १०

यश, कीर्ति पद प्रतिष्ठा- पारलौकिक एव इह लौकिक सुखों के लिए तप नहीं करना चाहिए किन्तु कर्म निर्जरा के लिए तप करना चाहिए।

३ जहा महातलायस्स, सन्निरुद्धे जलागमे ।
उस्सिंचणाए तवणाए, कमेणं सोसणा भवे ।।
एव तु संजयस्सावि, पावकम्मानिरासवे।
भवकोडिसंचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ ।।

—उत्तराध्ययन ३०।५-६

जिस तरह जल आने के मार्गों को रोक देने पर बडा तालाब पानी के उलीचे जाने और सूर्य के ताप से क्रमश: सूख जाता है उसी तरह आस्रव (पाप-कर्म के प्रवेश मार्गों) को रोक देने वाले संयमी पुरुष के करोड़ों भवों—जन्मो—के संचित कर्म तप के द्वारा जीर्ण होकर झड जाते हैं।

४ सो तवो दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भन्तरो तहा।
वाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भन्तरो तवो ।।

—उत्तराध्ययन ३०।७

यह तप बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का कहा गया है। बाह्य तप छ: प्रकार का कहा गया है और आभ्यन्तर तप भी उतने ही प्रकार का।

५ अणसणमूणोयरिया, य भिक्खायरिया रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया, य बज्झो तवो होइ ।।

—उत्तराध्ययन ३०।८

अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचर्या, रसपरित्याग, कायक्लेश और संलीनता—ये बाह्य तप हैं।

६ पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं च विउस्सग्गो, ऐसो अब्भिन्तरो तवो॥

—उत्तरा० ३०।३०

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग—ये आभ्यन्तर तप के छः भेद है।

७ धुणिया कुलियं व लेववं।
किसए देहमणसणा इह॥

—सूत्रकृतांग१।२।१।१४

जैसे लेपवाली भित्ति लेप गिराकर क्षीण कर दी जाती है, उसी तरह अनशन आदि तप द्वारा अपनी देह को कृश कर देना चाहिए।

८ कसेहि अप्पाणं।
जरेहि अप्पाण।

—आचारांग १।४।३।५

आत्मा को कसो—दमन करो। आत्मा को जीर्ण करो—पतली करो।

९ इह आणाकंखी पंडिए।
अणिहे एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरगं॥

—आचारांग१।४।३।४

सत्पुरुषों की आज्ञा पालन की चाह रखने वाला पण्डित पुरुष, आत्मा को अकेली समझकर, अमोह भाव से शरीर को तप से क्षीण करे।

१० जहा जुन्नाइं कट्ठाइं हव्ववाहो पमत्थिति।
एवं अत्तसमाहिते अणिहे॥

—आचारांग १,४।३।६

जिस तरह अग्नि पुराने सूखे लकड़ों को शीघ्र जलाती है, उसी तरह आत्मनिष्ठ और स्नेहरहित जीव के कर्म शीघ्र जलते है।

११ न कम्मुणा कम्म खवेंति वाला।
अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा॥

—सूत्र० १।१२।१५

मूर्ख जीव कर्म (सावद्यानुष्ठान) कर कर्मों का क्षय नहीं कर सकते। वीर पुरुष अकर्म द्वारा कर्मों का क्षय करते हैं।

१२ सउणी जह पंसुगुण्डिया, विहुणिय धंसयई सियं रयं।
एवं दविओवहाणवं, कम्मं खवइ तवस्सि माहणे॥

—सूत्र० १।२।१।१५

जैसे शकुनिका पक्षिणी अपने शरीर में लगी हुई रज को पंख झाड़कर दूर कर देती है, उसी तरह से जितेन्द्रिय अहिंसक तपस्वी अनशन आदि तप कर अपने आत्म-प्रदेशों से कर्म को झाड़ देता है।

१३ खवेत्ता पुव्वकम्माइ, संजमेण तवेण य।
सव्वदुक्खपहीणठ्ठा, पक्कमन्ति महेसिणो॥

—उत्तराध्ययन २८।३६

संयम और तप के द्वारा पूर्व कर्मों का क्षय कर महर्षि सर्व दुःखों से रहित जो मोक्ष-पद है, उसके लिए पराक्रम करते हैं।

१४ तवनाराय जुत्तेण, भित्तूण कम्मकंचुय।
मुणी विगयसंगामो, भवाओ परिमुच्चए॥

—उत्तरा० ६।२२

तप रूपी बाण से संयुक्त हो, कर्म रूपी कवच को भेद करने वाला मुनि, संग्राम का अन्त ला, संसार में जन्म जन्मान्तर से मुक्त हो जाता है।

☆

१०. धर्म भावना

१ धम्मो मङ्गलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसन्ति, जस्स धम्मे सया मणो॥

—दशवैकालिक १।१

धर्म उत्कृष्ट मंगल है। अहिंसा, संयम और तप—यही धर्म है। जिसका मन सदा धर्म में रहता है उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

२ पच्छा वि ते पयाया, खिप्पं गच्छन्ति अमरभवणाइं।
जेसिं पियो तवो, संजमो अ खन्ती अ बंभचेरं च॥

—दशवैकालिका ४।२८

जिन्हें तप, संयम, क्षमा और ब्रह्मचर्य प्रिय है, वे शीघ्र अमर भवन को प्राप्त करते हैं, भले ही उन्होंने पिछली अवस्था में ही संयम ग्रहण क्यों न किया हो।

३ सव्वं सुचिण्णं सफलं नराणं, कडाणकम्माण न मोक्ख अत्थि।
अत्थेहि कामेहि य उत्तमेहिं, आया ममं पुण्णफलोववेए ॥
—उत्तरा० १३।१०

मनुष्यों के सब सदाचार सफल होते हैं। किए हुए शुभाशुभ कर्मों के फल से कोई छुटकारा नहीं पा सकता। उत्तम कामभोग और सम्पत्ति के रूप में मुझे भी अपने शुभ कर्म—पुण्यों का फल मिला है।

४ इह जीविए राय असासयम्मि, धणियं तु पुण्णाइं अकुव्वमाणो।
से सोयई मच्चुमुहोवणीए, धम्मं अकाऊण परंमिलोए ॥
—उत्तरा० १३।२१

हे राजन् ! यह जीवन अशाश्वत है। जो इसमें पुण्य—सत्कृत्य और धर्म नहीं करता वह मृत्यु के मुख में पड़ने के समय पश्चात्ताप करता है तथा परलोक में भी दुःखित होता है।

५ अद्धाणं जो महंतं तु, अप्पाहेओ पवज्जई।
गच्छन्तो सो दुही होइ, छुहातण्हाए पीडिओ ॥
एव धम्मं अकाऊणं, जो गच्छइ परं भवं।
गच्छन्तो सो दुही होइ, वाहीरोगेहि पीडिओ ॥
अद्धाणं जो महंतं तु, सपाहेओ पवज्जई।
गच्छन्तो सो सुही होइ, छुहातण्हाविवज्जिओ ॥
एवं धम्मं पि काऊणं, जो गच्छई परं भवं।
गच्छन्तो सो सुही होइ, अप्पकम्मे अवेयणे ॥
—उत्तरा० १९।१९-२२

जैसे कोई लम्बी यात्रा के लिए निकले और साथ में अन्न-जल (पाथेय) न ले तो आगे जाकर क्षुधा-तृषा से पीड़ित होकर दुःखी होता है, वैसे ही जो धर्म न कर परभव को जाता है, वह जाता हुआ व्याधि और रोग से पीड़ित होने पर दुःखी होता है। जैसे कोई लम्बी यात्रा के लिए निकलता हुआ अन्न-जल आदि साथ में ले लेता है तो क्षुधा-तृषा से पीड़ित

नहीं होता हुआ सुखी रहता है, वैसे ही धर्म कर परभव को जाता हुआ प्राणी अल्पकर्म और अवेदना के कारण सुखी होता है।

६ जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
अहम्म कुणमाणस्स, अफला जन्ति राइओ ॥
जा जा वच्चई रयणी, न सा पडिनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जन्ति राइओ ॥

—उत्तरा० १४।२४-२५

जो जो रात्रि जाती है, वह लौटकर नहीं आती। अधर्म करने वाले की रात्रियाँ निष्फल जाती है। जो जो रात्रि जाती है वह लौटकर नहीं आती। धर्म करने वाले की रात्रियाँ सफल जाती है।

७ जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ।
जाविंदिआ न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥

—दशवैकालिक ८।३६

जरा जब तक पीड़ित नहीं करती, व्याधियाँ जब तक नहीं बढ़तीं। इन्द्रियाँ जब तक हीन (शिथिल) नहीं होतीं तब तक धर्म का अच्छी तरह आचरण कर लेना चाहिए।

८ जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वत्थि पलायणं।
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया ॥

—उत्तरा० १४।२७

जिस मनुष्य की मृत्यु से मैत्री हो, जो उसके पंजे से भाग निकलने का सामर्थ्य रखता हो, जो नहीं मरूंगा यह निश्चय रूप से जानता हो, वही कल—आगामी कल—का भरोसा कर सकता है।

९ अज्जेव धम्मं पडिवज्जयामो, जहिं पवन्ना न पुणब्भवामो।
अणागयं नेव य अत्थि किंचि, सद्धाखम णे विणइत्तु रागं ॥

—उत्तरा० १४।२८

हम तो आज ही धर्म अंगीकार करेंगे, जिसके स्वीकार करने से पुनर्भव नहीं होता। ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो हमने नहीं भोगा। धर्म-श्रद्धा हमें राग से मुक्त करेगी।

१० एगो हु धम्मो नरदेव ! ताणं।

—उत्तरा० १४।४०

हे राजन् ! संसार में धर्म ही एक आत्मा की रक्षा करने वाला है।

११ धम्मो ताणं धम्मो सरणं धम्मो गइ पइट्ठा य।
धम्मेण सुचरिएण लब्भइ अयरामरं ठाणं॥
पीइकरो वण्णकरो भासकरो जसकरो रइकरो य।
अभयकरो निव्वुइकरो परस्स वि अज्जिओ धम्मो॥

—तन्दुलवैचारिक ३३-३४

धर्म त्राण है, और शरण रूप है। धर्म ही गति एवं आधार है। धर्म की सम्यग् आराधना करने से जीव अजर-अमर स्थान को प्राप्त होता है।
यह आर्य धर्म इह-परलोक में प्रीति, वर्ण—कीर्ति या सौन्दर्य, तेजस्विता, मधुर वाणी, यश, रति, अभय एवं निवृत्ति—आत्मिक सुख देने वाला है।

१२ अहिंस सच्चं च अतेणगं च,
तत्तो य बंभं अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि,
चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विऊ॥

—उत्तराध्ययन २१।१२

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पंच महाव्रत धर्म को ग्रहण करके जिन-उपदिष्ट मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।

१३ अन्ताणि धीरा सेवन्ति, तेण अन्तकरा इह।
इह माणुस्सए ठाणे, धम्ममाराहिउं नरा॥

—सूत्र० १।१५।१५

वीर पुरुष अन्त का सेवन करते हैं—जीवन-धुरा को वास्तविक तत्वों के छोर पर चलाते हैं और ऐसा कर ही वे संसार से पारगामी होते है। इस मनुष्य लोक में धर्म की आराधना के लिए ही हम मनुष्य हुए हैं।

१४ असुयाणं धम्माणं सम्मं सुणणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवति।
सुयाणं धम्माणं ओगिण्हणयाए उवधारणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवति॥

—स्थानांग ८

अब तक नही सुने हुए धर्म को सुनने के लिए तत्पर रहना चाहिए।
सुने हुए धर्म को ग्रहण करने, उस पर आचरण करने के लिए तत्पर रहना चाहिए।

१५ चइज्ज देहं न हु धम्मसासणं।

—दसवै० चूलिका १।१७

आवश्यकता होने पर शरीर को भले ही छोड़ दो, किन्तु धर्म को मत छोड़ो।

१६ जीवदया सच्चवयणं परधण परिवज्जणं सुसीलं च ।
खंति पंचिंदियनिग्गहो, य धम्मस्स मूलाइं ।।

—दर्शनशुद्धि तत्त्व

जीव दया, सत्य वचन, परधन का त्याग, ब्रह्मचर्य, क्षमा, पांच इन्द्रियों का निग्रह—ये धर्म के मूल है—इन्ही मे धर्म की उत्पत्ति होती है।



११. लोक भावना

१ नत्थि लोए अलोए वा नेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि लोए अलोए वा एवं सन्नं निवेसए ।।

—सूत्रकृतांग २।५।१२

लोक, अलोक आदि नहीं हैं, ऐसी संज्ञा—विश्वास मत करो। लोक है, अलोक है, ऐसा विश्वास करो।

२ जे लोगं अब्भाइक्खति से अत्ताणं अब्भाइक्खति ।
जे अत्ताणं अब्भाइक्खति से लोगं अब्भाइक्खति ।।

—आचारांग १।१।३

जो लोक (जीव समूह) का अपलाप करता है, वह आत्मा का अपलाप करता है। जो आत्मा का अपलाप करता है, वह लोक का अपलाप करता है।

३ धम्मो अहम्मो आगासं, कालो पुग्गलजंतवो ।
एस लोगो त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ।।

—उत्तरा० २८।७

धर्म, अधर्म, आकाश, काल, अनन्त पुद्गल और अनन्त जीव, ये छः प्रकार के स्वतः सिद्ध द्रव्य है। उत्तम दृष्टि सम्पन्न जिनेन्द्र भगवान ने इनके समुदाय को ही लोक कहा है।

४ जीवादि पयत्थाणं, समवाओ सो णिरुच्चए लोगो ।
तिविहो हवेइ लोगो, अहमज्झिम उड्ढ भेएण ।।

—बारस अणुवेक्खा ३६

जीवादि छह द्रव्यों के समुदाय को लोक कहते हैं। यह त्रिधा विभक्त है—अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक। (अधोलोक में नारकियों का वास है, मध्यलोक में मनुष्य व तिर्यंचों का और ऊर्ध्वलोक में देवों का।)

५ असुहेण णिरय तिरियं, सुह उवजोगेण दिविजणरसोक्खं।
सुद्धेण लहइ सिद्धिं, एवं लोयं विचिंतिज्जो ।।

—बारस अणुवेक्खा ४२

अशुभ उपयोग से नरक व तिर्यंच लोक की प्राप्ति होती है, शुभोपयोग से देवों व मनुष्यों के सुख मिलते हैं और शुद्धोपयोग से मोक्षलाभ होता है। इस प्रकार लोक-भावना का चिन्तन करना चाहिए।



१२. बोधि दुर्लभ भावना

१ सबुज्झह किं न बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
नो हू वणयन्ति राइयो, नो सुलभं पुणरावि जीवियं ।।

—सूत्र० १।२।१।१

समझो ! तुम समझते क्यों नहीं ? मनुष्य भव बीत जाने पर सद्बोधि—ज्ञान प्राप्त होना निश्चय ही दुर्लभ है। बीती हुई रातें नहीं लौटती और न मनुष्य-जीवन बार-बार सुलभ होता है।

२ संबुज्झा जंतवो ! माणुसत्तं, दट्ठुभयं बालिसेणं अलंभो !
एगंत दुक्खे जरिए व लोए, सकम्मुणा विप्परियासुवेइ ।।

—सूत्र० १।७।११

हे जीवो ! समझो ! मनुष्यभव दुर्लभ है। नरक-तिर्यंच गतियों में केवल भय है। विवेकहीन जीवों को शीघ्र बोध नहीं होता। यह संसार ज्वराक्रांत की तरह एकान्त दुःखी है। सुख की कामना करता हुआ जीव अपने किये हुए कर्मों से ही दुःख पाता है।

३ निट्ठियट्ठा व देवा वा, उत्तरीए इयं सुयं।
सुयं च मेयमेगेसिं, अमणुस्सेसु नो तहा ।।

—सूत्र० १।१५।१६

लोकोत्तर धर्म की आराधना करने वाला या तो पंचम गति—मोक्ष को पाता है या देवगति को। मैंने सुना है कि मनुष्येतर जन्म में ऐसा होना सम्भव नहीं।

४ अन्तं करन्ति दुक्खाणं, इह मेगेसिमाहियं।
आघायं पुण एगेसिं दुल्लभेयं समुस्सए ॥

—सूत्र० १।१५।१७

कई कहते है कि देव ही दुःखों का अन्त कर सकते है परन्तु ज्ञानियों ने बार-बार कहा है कि यह मनुष्यभव दुर्लभ है। जो प्राणी मनुष्य नहीं, वे अपने समस्त दुःखों का नाश नहीं कर सकते।

५ इओ विद्धं समाणस्स, पुणो संबोहि दुल्लहा।
दुल्लाहो तहच्चाओ, जे धम्मट्ठं वियागरे ॥

—सूत्र० १।१५।१८

एक बार मनुष्यभव ध्वंस हुआ कि फिर उसका पाना सरल नहीं होता। उसके बिना सद्‌बोध पाना दुर्लभ होता है और ऐसी चित्तवृत्ति भी दुर्लभ होती है जिससे धर्म की आराधना हो सके।

६ चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमंमि य वीरियं ॥

—उत्तरा० ३।१

इस संसार में प्राणियो के लिए चार परम अंग (चार मूल्यवान वस्तुएँ) दुर्लभ है —मनुष्य जन्म, सद्‌धर्म का श्रवण, श्रद्धा और संयम में पुरुषार्थ।

७ माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा।
जं सोच्चा पडिवज्जंति, तवं खंतिमहिंसयं ॥

—उत्तराध्ययन ३।८

(चतुर्गति रूप इस संसार में भ्रमण करते हुए प्राणी को मनुष्य तन की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है) सौभाग्यवश मनुष्य जन्म पाकर भी श्रुत-चारित्र रूप धर्म का श्रवण दुर्लभ है, जिसको सुनकर प्राणी तप, कषायविजय व अहिंसादि युक्त संयम को प्राप्त कर लेते हैं।

८ आहच्च सवणं लद्धुं, सद्धा परमदुल्लहा।
सोच्चा नेआउयं मग्गं, बहवे परिभस्सई ॥

—उत्तराध्ययन ३।९

कदाचित् धर्मश्रवण का लाभ हो जाय तो भी धर्म में श्रद्धा होना दुर्लभ है, क्योंकि सम्यग्दर्शन आदि रूप इस न्याय-मार्ग को सुनकर भी अनेक व्यक्ति (श्रद्धायुक्त चारित्र अंगीकार करने के बजाय ज्ञानाभिमानवश स्वच्छन्द व) पथ-भ्रष्ट होते देखे जाते है।

९ सुइं च लदधुं सद्धं च, वीरिय पुण दुल्लहं।
वहवे रोयमाणा वि, नो एणं पडिवज्जए।।

—उत्तराध्ययन ३।१०

और यदि बड़े भाग्य से धर्म सुनकर श्रद्धा हो जाय तो भी चारित्र पालने के लिए वीर्योल्लास का होना दुर्लभ है। क्योंकि अनेक व्यक्ति सद्धर्म का ज्ञान व रुचि होते हुए भी उसका आचरण करने में समर्थ नहीं होते हैं।

१० सुदपरिचिदाणुभूया, सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो, णवरि ण सुलहो विहत्तस्स।।

—समयसार ४

कामभोग व बन्ध की कथा तो इस लोक में सबकी सुनी हुई है, परिचित है और अनुभव में आयी हुई है। परन्तु निज स्वरूप में एक तथा अन्य सर्व पदार्थों से पृथक् ऐसे आत्मतत्त्व की कथा ही यहाँ सुलभ नहीं है।

११ बोहीय से नो सुलहा पुणो-पुणो।

—दशवै०चू०१।१४

संसार में सद्बोध प्राप्त करने का अवसर बार-बार मिलना सुलभ नहीं है।



१३. मैत्री भावना

१ मित्ती मे सव्व भूएसु वेरं मज्झ न केणइ।

—आवश्यक सूत्र ४

मेरी समस्त जीवों के साथ मित्रता है, किसी के साथ वैर-विरोध नहीं है।

२ डहरे य पाणे, वुड्ढे य पाणे।
अत्तओ पासइ सव्वलोए।।

—सूत्रकृतांग १।१०।७

जगत के छोटे और बड़े सब प्राणियों को आत्मा के समान समझो!

३ मेत्ति भूएसु कप्पए।

—उत्तरा० ६।२

सब जीवों के प्रति मैत्रीभाव रखना चाहिए।

४ न विरुज्झेज्ज केणइ।
मेत्ति भूएहिं कप्पए।।

—सूत्रकृतांग १।१५।१३

किसी भी जीव के साथ विरोध मत करो, सब प्राणियों के साथ मित्रता रखो।

५ तुमंसि नाम स चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि।

—आचारांग १।५।५

हे आत्मन्! जिसे तू मारना चाहता है वह कोई और नहीं, तू स्वयं ही है।

६ पुरिसा! तुममेव तुमं मित्तं
किं बहिया मित्तमिच्छसि?

—आचारांग १।३।३

हे पुरुष! तू ही तेरा मित्र है, बाहर मे क्यों किसी मित्र की खोज कर रहा है?

७ सर्वे पितृभ्रातृ-पितृव्यमातृ-पुत्राङ्गजा स्त्रीभगिनीस्नुषात्वम्।
जीवाः प्रपन्नाः बहुशस्तदेतन् कुटुम्बमेवेति परो न कश्चित्।।

—शांतसुधारस १३

संसार के सभी प्राणियों ने माता, पिता, काका, भाई, पुत्र-पुत्री, पत्नी, बहन और पुत्रवधु के रूप में संसार में अनेक बार सम्बन्ध जोड़े हैं। इसलिए ये सब प्राणी तो तुम्हारे कुटुम्बी जन ही हुए। इनमे पराया कौन है? तुम्हारा शत्रु कोई नहीं, सब मित्र है।

☆

१४. प्रमोद भावना

१ जिह्वे ! प्रह्वी भव त्वं सुकृति सुचरितोच्चारणे सुप्रसन्ना,
भूयास्तामन्यकीर्तिश्रुतिरसिकतया मेऽद्यकर्णौ सुकर्णौ ।
वीक्ष्याऽन्य प्रौढ लक्ष्मीं द्रुतमुपचिनुतं लोचने रोचनत्वं,
संसारेऽस्मिन्नसारे फलमिति भवतां जन्मनो मुख्यमेव ।।

—शांतसुधारस १४

हे जीभ ! अत्यन्त प्रसन्न होती हुई तू पुण्यशाली मनुष्यों के दान-शील और तप आदि सद्गुणों का वर्णन करने में तत्पर हो और धार्मिक पुरुषों की प्रशंसा करने में प्रसन्नता अनुभव कर। इस जन्म में तेरे ये दोनों कान, दूसरों के यश को सुनने में प्रेममग्न हों, इसी में तेरे कानों की सार्थकता है। दूसरों की लक्ष्मी, ऐश्वर्य तथा उन्नति देखकर आँखें खुशी से नाचने लग जाये। क्योंकि इस असार संसार में जीभ, कान और आँखों का यही सार है कि वे जहाँ भी गुण देखें प्रसन्नता से झूम उठे।

२ सुस्सूमाणो उवासेज्जा सुप्पन्नं सुतवस्सिय ।

—सूत्रकृतांग १।६।३३

सुप्रज्ञावान और सुतपस्वी पुरुष की सदा उपासना एवं सेवा करनी चाहिए।

३ गुणेहि साहू, अगुणेहिंऽसाहू
गिण्हाहि साहू गुणमुंचऽसाहू ।

—दशवै० ६।३।११

सद्गुण से साधु कहलाता है, दुर्गुण से असाधु। अतएव दुर्गुणों का त्याग करके सद्गुणों को ग्रहण करो।

४ कंखे गुणे जाव सरीरभेऊ ।

—उत्तरा० ४।१३

जब तक जीवन है, सद्गुणों की आराधना करते रहो।

☆

१५. कारुण्य भावना

१ तिसिदं वा भुक्खिदं वा, दुहिदं दट्ठूण जो हि दुहिदमणो ।
पडिवज्जदि तं किवया, तस्सेसा होदि अणुकंपा ॥

—प्रवचनसार २६।६ प्रक्षेपक

भूख, प्यासे अथवा किसी दुखी प्राणी को देखकर जिसका मन दुखी हो गया है, ऐसा जो मनुष्य उसकी कृपा-बुद्धि से रक्षा व सेवा करता है, उसको अनुकम्पा होती है ।

२ जह ते न पियं दुक्खं, जाणिअ एमेव सव्वजीवाणं ।
सव्वायरमुवउत्तो, अत्तोवम्मेण कुणसु दयं ॥

—भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक ९०

जिस प्रकार तुम्हें दुःख प्रिय नहीं है, उसी प्रकार सभी जीवों को नहीं है, ऐसा जानकर अत्यन्त आदर-भाव से सब जीवों को अपने समान समझकर उन पर दया करो ।

३ सव्वेसिं जीवियं पियं, नाइवाएज्ज कंचणं ।

—आचारांग १।२।३

सभी प्राणियों को अपना जीवन प्रिय है, अतः किसी भी जीव की हिंसा मत करो ।

४ सव्वेसिं जीवाणं, सव्वेसिं सत्ताणं,
असायं अपरिनिव्वाणं महब्भयं दुक्खं ।

—आचारांग १।४।२

जगत के समस्त जीवों को, समस्त सत्वों को दुःख—असाता—अशांति देने वाला है, महा भय का कारण है ।

५ जीववहो अप्पवहो, जीवदया अप्पणो दया होइ ।

—भक्तपरिज्ञा ९३

किसी भी जीव का वध वस्तुतः अपना ही वध है, और अन्य जीव की दया अपनी ही दया है ।

☆

१६. माध्यस्थ भावना

१ अणुक्कसे अप्पलीणे मज्झेण मुणि जावए ।

—सूत्रकृतांग १।१।४।२

अहंकार रहित एव अनासक्त भाव से मुनि को राग-द्वेष के प्रसंगों में तटस्थ यात्रा (मध्यस्थ रहकर) करनी चाहिए ।

२ उवेह एणं बहिया य लोगं ।
से सव्व लोगम्मि जे केइ विण्णू ।।

—आचारांग १।४।३

अपने धर्म से विपरीत रहने वालों के प्रति भी उपेक्षा का भाव रखो । अर्थात् मध्यस्थ होकर रहो ।

जो कोई विरोधियों के प्रति उपेक्षा—तटस्थता रखता है, उद्विग्न नहीं होता है, वह समग्र विश्व के विद्वानों में अग्रणी विद्वान है ।

३ समो य जो तेसु स वीयरागो ।

—उत्तरा० ३२।६१

जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द आदि इन्द्रिय-विषयों में समभाव रखता है, तटस्थ रहता है, वह वीतराग है ।

४ जो राग-दोसेहिं समो स पुज्जो ।

—दशवै० १०

जो राग और द्वेष में सम है, शान्त और मध्यस्थ है, वही संसार में पूज्य है ।

५ सव्वं जगं तु समयाणुपेही,
पियमप्पियं कस्सवि नो करेज्जा ।।

—सूत्र० १।१०।६

समस्त जगत को समभाव पूर्वक देखते हुए किसी का प्रिय व अप्रिय नही करके मध्यस्थ भाव में रहे ।

६ महप्पसाया इसिणो हवंति न हु मुणी कोवपरा हवंति ।

—उत्तरा० १२।३१

ऋषि-मुनि सदा प्रसन्नचित्त रहते हैं । कभी किसी पर क्रोध नही करते ।

७ अणेगछन्दा इह माणवेहिं ।

—उत्तरा० २१।१६

ससार में मनुष्यों के विचार (रुचियाँ) भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं (अतः किसी पर राग-द्वेष न करें)।

८ मज्झत्थो निज्जरापेही ।

साधक मध्यस्थ रहकर निर्जरा की अभिलाषा रखें, किन्तु किसी पर राग और द्वेष का भाव न लायें।

९ तओ आयरक्खा पण्णत्ता-
धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोएत्ता भवइ
तुसिणीओ वा सिया
उट्ठित्ता वा आयाए एगंत मवक्कमेज्जा ।

—स्थानांग ३।३।१७२

आत्मा को राग-द्वेष से बचाने के तीन उपाय है (आत्मरक्षक है)—
धार्मिक उपदेश द्वारा प्रतिबद्ध करें।
उपेक्षा करें या मौन रहे।
उस स्थान का त्यागकर अन्यत्र चले जाये।

१० योऽपि न सहते हितमुपदेशं तदुपरि मा कुरु कोपं रे !
निष्फलया किं परजनतप्त्या, कुरुषे ! निज सुखलोपं रे !
अनुभव विनय ! सदा सुखमनुभव, औदासीन्यमुदारं रे !

—शान्तसुधारस १६।३

जो कोई तुम्हारे कल्याणकारी उपदेश को सुनकर उसे स्वीकार न करे, तो कोई बात नहीं। तुम व्यर्थ ही उस पर क्रोध मत करो, क्योंकि इससे तुम्हें कुछ भी लाभ नहीं होगा। उलटा दूसरों की व्यर्थ चिन्ता से तप्त होकर अपनी शान्ति का नाश करके चिन्ता मोल लेनी है। इसलिए हे आत्मन् ! सदा सुख का अनुभव करने वाले औदासीन्य भाव—तटस्थता का सेवन कर !

☆

बारह भावना

१—अनित्य भावना

राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार।
मरना सब को एक दिन, अपनी-अपनी बार ।।

२—अशरण भावना

दल-बल देवी देवता, मात-पिता परिवार।
मरती विरियाँ जीव को, कोई न राखनहार ।।

३—संसार भावना

दाम विना निर्धन दुखी, तृष्णा-वश धनवान।
कहूँ न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान ।।

४—एकत्व भावना

आप अकेला अवतरे, मरे अकेला होय।
यों कबहूं या जीव को, साथी सगो न कोय ।।

५—अन्यत्व भावना

जहाँ देह अपनी नहीं, तहाँ न अपना कोय।
घर-संपति पर प्रकट ये, पर हैं परिजन लोय ।।

६—अशुचि भावना

दिपै चाम चादर मढ़ी, हाड़ पींजरा देह।
भीतर या सम जगत में, और नहीं घिन-गेह ।।

७—आस्रव भावना

जग-वासी घूमें सदा, मोह नींद के जोर।
सब लूटें नहीं दीसता, कर्म-चोर चहुँ ओर ।।

८—संवर भावना

मोह नींद जब उपशमे, सतगुरु देय जगाय।
कर्म चोर आवत रुकें, तब कुछ बने उपाय ।।

९—निर्जरा भावना

ज्ञान-दीप तप-तेल भर, घर शोधे भ्रम छोर।
या विधि बिन निकसे नहीं, पैठे पूरब चोर ।।
पंच महाव्रत संचरण, समिति पंच प्रकार।
प्रबल पंच इन्द्रियविजय, धार निर्जरा सार ।।

१०—लोक भावना

चौदह राजु उतंग नभ, लोक पुरुष-संठान।
तामें जीव अनादि तें, भरमत है बिन ज्ञान ।।

११—बोधि-दुर्लभ भावना

धन-जन-कंचन राज-सुख, सबहिं सुलभ कर जान।
दुर्लभ है संसार में, एक यथारथ ज्ञान ।।

१२—धर्म भावना

जाचे सुरतरु देय सुख, चिन्तित चिन्ता रैन।
बिन जाचे बिन चिंतिये, धर्म सदा सुख दैन ।।

✩

पूज्यपाद श्री तिलोक ऋषिजी महाराज द्वारा
रचित

बारह भावना

अनित्य भावना

तन धन परिवार अनित्य विचार जैसे,
दामणी चमक जैसे संझा को सोवान है।
ओस बिंदु जल बुदबुदो ज्यों धनुष्य जान,
पीपलको पान जैसे कुंजरको कान है ॥
स्वप्न माही ऋद्धि जैसे बादलको छाया मान,
सलिलको पूर जैसो सागर तोफान है।
ऐसी जगरीत भाई भावना भरतजीए,
कहत तिलोक भावसे ही निरवान है ॥ १ ॥

अशरण भावना

जन्म जरा रोग मृत्यु दुःख सुख दीन एह,
वेदनीके वश जीव होवत हैरान है।
मात पिता भ्रात नारी पुत्र परिवार सब,
नहीं है सहाई गिने आतम समान है ॥
जिनराज धर्म तोय तारण शरण गति,
एहि बिना कर्म करे अधिक तोफान है।
ऐसी अनाथी ऋषिजी भाई शुद्ध भावना ये,
कहत तिलोक भावे सोही शिवस्थान है ॥ २ ॥

संसार भावना

नर्कमें सिधायो जम तोड तोड खायो,
पड्यो पड्यो विललायो कोई आडो नहीं आयो है।
कीट पर्यंत जंत सह्यो है अत्यंत दुःख,
नर भव नीच जात पुण्य हीन पायो है।।
नीची सुरगति पाई और को रिझायो अति,
धर्म में न रीझ्यो चउगत भयो कायो है।
धन्ना शालिभद्र ऐसी भावना भाई है सिरे,
कहत तिलोक भावे सोही जन डायो है।। ३।।

एकत्व भावना

एकलो ही आयो अरु एकलो ही जासी जीव,
आयो मुठी बांधके पसार हाथ जायगो।
महल अटारी पट सारी तात मात नारी,
धन धान आदि कछु साथ नहीं आयगो।।
स्वारथ सगाई जग अंत समे कौन तेरो,
धरम आराध भाई संकट पुलायगो।
भावना एकत्व ऐसी भाई नमिराजऋषि,
कहत तिलोक भावे सोही सुख पायगो।। ४।।

अन्यत्व भावना

जैसे मनोरम वृक्ष दल फल फूल युत,
नाना भांत पंखी आवे स्वारथ विचार के।
सिरी विरलाए तव कोई नहीं बैठे आय,
दीखत विरूप रूप देखी पतझार के।।
तैसे तेरे पुण्य के प्रभाव आवे धन धान,
चावे सब सयण सुहावे परिवार के।
पुण्य दे उत्तर तव कोई नहीं देगा साथ,
भाई मृगापुत्र ऐसी भावना सुधार के।। ५।।

अशुचि भावना

करत है स्नान अरु मन में गुमान आने,
सोचे नहीं गर्भ मांही ऊंधे मुख लटक्यो।
शरीर असार रस्सी रुद्र मांस हाड मींजी,
चरम शुक्र नसा - जाल बंध जटक्यो।
अशुचि अपावन को थान देह गेह यह,
करे सिणगार शठ जोवन के मटक्यो।
विनसत वार नहीं सनतकुमार ऐसी,
भावना से दीक्षा ग्रही संसार से छटक्यो ॥ ६ ॥

आश्रव-भावना

आश्रव है महादुःखदायी भाई जगमांही,
श्रोतेन्द्रिय वश मृग मरत अकाल है।
नेत्र से पतंग, भृङ्ग घ्राण, जीभ मीन जाण,
मतंग फरस मन महिय बेताल है ॥
एक-एक इंद्रिवश मरत अनेक जीव,
पंचेन्द्रिय वश ताको कहो कौन हाल है।
ऐसे अभिप्राय से ही दीक्षा ली समुद्रपाल,
कहत तिलोक भावे होत सो निहाल है ॥ ७ ॥

संवर-भावना

आडंबर तज भज संवर को सार यार,
ममता निवार तज विषय विकार है।
राग-द्वेष खार परिहार चार कषायों को,
बारे भेदे तप धार एही तंत सार है ॥
भावना विचार ठार पर प्राणी आतमा,
छोड़के सागार अनगार पद तार है।
ऐसी हरिकेशी भाई भावना भरम टार,
कहत तिलोक भावे सो ही लहे पार है ॥ ८ ॥

निर्जरा भावना

तपस्या के किये बिना छूटे न करम पुञ्ज,
इह लोक अरथे सो तप नहीं करवो।
परलोके इन्द्रादिक पदवी न चहे भव,
जस कीरति के लिये सोही परिहरवो ॥
करम कलेस लेस तस नाश करवा को,
निर्जरा प्रमाण अरु पाप सेती डरवो।
भावना अर्जुनमाली भाई पाये शिवपद,
कहत तिलोक भावे जाके जग तरवो ॥ ६ ॥

लोक भावना

वेगे वेगे करे कहाँ संठाण आलोच लोक,
नीचे है नरक सात वेदना अपार है।
भवनपति तथा त्रिय लोक में व्यंतर नर,
ज्योतिषी तिर्यच द्वीप सागर विचार है ॥
ऊर्ध्वलोक कल्प अहमिंद्र अनुत्तर सुर,
सिद्धशिला ऊर्ध्वदिश सिद्ध निराकार है।
करत सज्झाय ऐसी नमिराज ऋषि भाई,
भावना तिलोक भावे सोहि लहे पार है ॥१०॥

धर्म भावना

अहो चिदानंद परछंद फंद भयो कहाँ,
देख तु सिद्धांत संध बंध दुःखदाई है।
देव गुरु धर्म तीन निश्चै व्यवहार चीह्न,
समकित सत्य गिन नोम ए भराई है ॥
एहो तंत सार यार तजे सो ख्वार होत,
एक बार फरसे तो निश्चै शिव पाई है।
आदीश्वर नंद सुखकंद भाई भावना ए,
कहत तिलोक भावे सोहि मुक्ति जाई है ॥

जेते जगवासी कर्म फांसी सासी,
रासी गृही पुद्गल सो चाहे सुख सही है।
मरण न चाहे सब जीवणो उमाहे भाई,
जैसी निज आतमा है तैसी पर मही है॥
करके विचार षट्काय प्रतिपाल सदा,
सुख होय तोए दुख, कुछ चाय नहीं है।
मरुदेवा माय तथा भाई धर्मरुचि ऋषि,
कहत तिलोक भावे सोही धन मही है॥११॥

☆

कविवर श्री अमीऋषि जी कृत पद्य

अनित्य भावना

मात पिता नारी सुत, भ्रात परिवार देह,
सेना गढ़ कोट पूर, भूमिगत माया है।
भरित घडित हेम, मानिक जडित पट,
भूषण अनेक विधि, विघतें निपाया है॥
जे जे दृष्ट कृत्रिम सो, अवश्य विनसि जाय,
अस्थिर अनित्य जिन-बेण दरसाया है।
कहे अमीरिख यों विचार के भरत तजी,
सर्वरिद्ध लही केवलपद पाया है॥ १ ॥

अशरण भावना

अशुभ असाता उदे, आवे तब चेतन के,
मित्र परिवार कोऊ, होत ना सहाई है।
सब देहधारी वश कालके विहाल भये,
तिहु लोक मांही याकी, फिरत दुहाई है॥
शरण सहाई जिनराजको धरम एक,
त्यागिके भरम उर धारो सुखदाई है।
कहे अमीरिख भाई भावना अनाथी तप,
संयम कमाई भव भ्रमण मिटाई है॥ २ ॥

संसार भावना

चारुं गति माहे जीव भम्यो है अनादि काल,
लही ऊंच नीच भव, नाना रूप धारे हैं।
करम आधीन दीन संकट सहे हैं त्योंही,
जनम-मरण जरा व्याधि दुःख न्यारे हैं॥
पुद्गल परिवरतन जूं अनंत किये,
एक जिनमत भव वासतें निकारे हैं।
या विध विचार पाये शालिभद्र देवगति,
अमीरिख धन्ना मुनि मोक्षमें पधारे हैं॥ ३॥

एकत्व भावना

आवे जीव एकलो सिधावे फिर एकलो ही,
भ्रमे जगमाहीं न सहाई कोउ और है।
संपदा के भागी परिवार जीव सहे आप,
सुख दुःख शुभाशुभ संचितके जोर है।
दुष्कृत प्रताप आप कष्ट कुगतिके सहे,
सुकृत कमाय करे ऊरध को दौर है।
कहे अमीरिख नमिराय यों विचारी चित्त,
करम हटाय रिख पाये शिव ठौर है॥ ४॥

अन्यत्व भावना

चिदानन्द भिन्न पुद्गल से स्वरूप तेरो,
अमल अमित-ज्योति भानु के समान है।
अनंत चतुष्टय विराजे घटमांही यातें,
सिद्ध सम आतम अपार ऋद्धिवान है॥
भरमतें भूलिके स्वरूप जड संग राची,
करम कमाय सहे संकट समान है।
यातें मृगापुत्र निजरूप में मगन भये,
कहे अमीरिख पद, पाये निरवाण है॥ ५॥

अशुचि भावना

परम अशुचि-गेह देह है अनित्य सदा,
मल मूत्र व्याधि निंद्य भरित विकार है।
पूतिगंध भर्त्स कलेवर सप्त धातुमय,
कृमि कीट राशि यामें, स्रवे सब द्वार है ॥
अधिक असार नाम लेत उपजावे घिन,
तप जप क्रिया शिव साधन ही सार है।
अमीरिख सनतकुमार यों स्वभाव लखी,
त्यागी ऋद्धि धारी तप पामे भवपार है ॥ ६ ॥

आश्रव भावना

शिवसुख घायक, दायक भव भ्रमण को,
संसार समुद्र में डुवावनकूं घाट है।
आपद निशानी दुःखखाणी गुणहानि करे,
कुगति को पंथ शिव स्वर्गको कपाट है ॥
याते हित जानी सार संवर पिछानी ज्ञानी,
आश्रव को दाटी तब पामें शिववाट है ॥
कहे अमीरिख भाई भावना समुद्रपाल,
करम कलंक मेटी, पाये सुखठाट है ॥ ७ ॥

संवर भावना

संवर की क्रिया परमोत्तम बखानी जिन,
संवर मारग दुःख दोषको हरन है।
वारण करम दल, ठारन निजातम का,
जारन विपद मुद मंगल करन है ॥
भव जल तरण हरण अघपुंज यही,
सरण सहाई उर सुबुद्धि भरन है।
कहे अमीरिख हरिकेशी ऋषिराय धन्य,
संवर आराधी मेट्या जनम मरन है ॥ ८ ॥

निर्जरा भावना

निरजरा परम प्रधान जिन शासन में,
शिवसुख दाता यही जिनजी बखानी है।
जनम मरण गद औषधी अनूप अघपंक-
नीर भव तरु छेदन कृपानी है ।।
करम हटावन कटावन जगत बंध,
दु:ख की घटावन आनन्द की निशानी है।
कहे अमीरिख अर्जुनरिख धारी तप,
निरजरा करी आप भये निरवानी है ।। ६ ।।

लोकाकार भावना

लोकाकार हिये में विचारो शिवचाहो जन,
नीचे है नरक सात, दश भौनवासी है।
मध्यलोक व्यंतर मनुष्य तिरयंच पुनि,
ज्योतिषी असंख्य द्वीप सागर प्रकाशी है ।।
ऊरध कलप अहमिंद्र अनुत्तर देव,
सिद्ध शिला उपे वसे, सिद्ध अविनाशी है।
कहे अमीरिख यों सेलकराय रिसि ध्याय,
भये शिववासी सब काटी भवफांसी है ।।१०।।

बोधि बीज भावना

पामिवो मुलभ जग. पुद्गल जनित सुख,
दुरलभ एक बोधिबीज समकित है।
याके बिन क्रिया सब, अक बिन शून्य सम,
छार पर लींपन ज्यों जानिये अहित है ।।
ये ही भव वासते निकासी शिव-वासी करे,
हरे दु:ख दोप भरे कोश निज वित्त है।
भाई शुद्ध भावना यों, ऋषभजिनंद नंद,
पाये अमीरिख शिव संपत्ति अमित है ।।११।।

धर्म भावना

जग में अनेक भांति, धरम बखाने जन,
जाने ना धरम कौन, सत्यमत सार है।
जामें जीवदया मूल, सोही अनुकूल लखि,
धारो निज हृदे, दृढ़ निरधार है॥
याके बिन भम्यो भव चक्र में अनादि जीव,
यही शिवसुर सुख संपति दातार है।
कहे अमीरिख मरुदेवीजी धरमरुचि,
आराधी शुद्ध हुये पाये भवपार है ॥१२॥

समुच्चय १२ भावना

जग है अनित्य, नही शरण संसार माही,
भ्रमत अकेलो जीव, जड़ दोउ भिन्न है।
परम अशुचि लखी, देह तजी आश्रवको,
संवर निर्जरा ही तें, होय भव छिन्न है॥
चित्त में विचारी लोकाकार बोधवीज सार,
सम्यक् धरम उर, धारो निश दिन है।
कहे अमीरिख बारे भावना यों भाव उर,
धारे जिनवेण एन, ताको धन धन है ॥१३॥



भावना प्रवाह

—पं० श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल

चेतन ! रह निगोद में तूने काल अनन्त गँवाया,
एक श्वास में बार अठारह जन्म-मरण दुख पाया।
निकला यदि निगोद से पाकर किसी भांति छुटकारा,
पृथ्वी पानी तेज वायु या हरित काय तन धारा ॥१॥

बादर और सूक्ष्म हो होकर काल असंख्य बिताया,
पुण्य-योग से चिन्तामणि सम तब त्रस जीवन पाया।
पाकर त्रस पर्याय हुआ विकलेन्द्रिय जीव अजाना,
इस प्रकार दुर्लभ है भाई ! पाँच इन्द्रियाँ पाना ॥२॥
अतिशय पुण्य योग से पाँचों अगर इन्द्रियाँ पाई !
तो मन के बिन वह भी कहिये अधिक काम क्या आई !
निर्दय हिंसक क्रूर हुआ पशु या पक्षी मन पाकर,
विविध वेदनाएँ तब भोगीं घोर नरक में जाकर ॥३॥
दीर्घकाल के बाद निकल कर फिर भी पशु गति पाई,
वध बंधन की पीड़ाए तब स्वागत करने आई।
मूक भाव से पशु पक्षी अति कष्ट सहन करते हैं,
भूखे-प्यासे रहकर भी वे भार वहन करते हैं ॥४॥
प्रवल पुण्य का उदय हुआ तब मानव भव पाया है,
किन्तु असाता कर्म-उदय के रोग-ग्रमित काया है।
हो काया नीरोग मगर मिथ्यात्व-मल्ल ने मारा,
मिला दिया मिट्टी में तेरा सम्यग्ज्ञान विचारा ॥५॥
आर्य खंड में जन्म गोत्र उत्तम कुल उत्तम पाया,
तो जीवन की रक्षा में ही जीवन सकल बिताया।
कभी सधन भी बन पाया तो लूला लँगड़ा काना,
होकर जीवन-भार उठाया कष्ट सहन कर नाना ॥६॥
अंगोपांग पूर्ण होने पर भी चिर जीवन पाना,
चिर जीवन पाकर भी सुन्दर शील-युक्त हो जाना।
चिन्तामणि के सदृश परम सम्यक्त्व-रत्न सुखदाई,
दुर्लभ है, दुर्लभतर है रे ! समझ सयाने भाई ॥७॥

☆

प्रस्तुत 'भावना योग' में उद्धृत

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

१. अथर्ववेद
२. अध्यात्मसार
३. अनुत्तरौहपातिक
४. अनुयोगद्वार सूत्र (टीका)
५. अन्तकृद्दशा
६. अध्यात्मरामायण
७. अभिधान राजेन्द्रकोष
८. अभिज्ञान शाकुन्तल
९. आचारांग सूत्र
१०. आचारांग सूत्र, टीका
११. आतुर प्रत्याख्यान प्रकीर्णक
१२. आदिपुराण
१३. आवश्यक निर्युक्ति
१४. आवश्यक सूत्र (टीका)
१५. उत्तराध्ययन सूत्र
१६. उत्तराध्ययन सूत्र (टीका)
१७. उपासक दशा
१८. ऋग्वेद
१९. ओघनिर्युक्ति
२०. औपपातिक सूत्र
२१. कल्याणमन्दिर स्तोत्र
२२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा
२३. ज्ञातृधर्म कथांग सूत्र
२४. ज्ञानार्णव
२५. चन्द चरित्र
२६. चाणक्यनीति
२७. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र
२८. जीवाभिगम सूत्र
२९. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष
३०. तत्त्वार्थसूत्र
३१. तत्त्वार्थाधिगम भाष्य
३२. तत्त्वार्थ-राजवार्तिक
३३. तन्दुलवैचारिक
३४. दशवैकालिक सूत्र
३५. दर्शनशुद्धितत्त्व
३६. दशाश्रुतस्कन्ध
३७. धर्मबिन्दु
३८. ध्यानशतक (हरिभद्र सूरि)
३९. नन्दीसूत्र
४०. नयचक्र वृहद्
४१. नवतत्त्वप्रकरण
४२. नियमसार
४३. निशीथचूर्णि
४४. निशीथभाष्य
४५. नीतिवाक्यामृत
४६. पन्नवणासूत्र
४७. पर्युषणा कल्पसूत्र
४८. पचाशक
४९. प्रवचनसार
५०. प्रशमरति प्रकरण

५१. प्रश्नव्याकरण सूत्र
५२. पातंजल योग सूत्र
५३. पासणाह चरियं
५४. बारस अणुवेक्खा
५५. बृहत्कल्प भाष्य
५६. बृहद्द्रव्यसंग्रह
५७ भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक
५८. भगवती सूत्र
५९. भगवती आराधना मूल (वृत्ति)
६०. भावपाहुड़
६१. भावना शतक
६२. मनोनुशासनम्
६३. मरण-समाधि प्रकीर्णक
६४. मूलाचार
६५. यजुर्वेद
६६. यशस्तिलक चम्पू
६७. योगदर्शन (व्यास भाष्य)
६८. योगदृष्टि समुच्चय
६९. योगवाशिष्ठ
७०. योगशास्त्र
७१. रामचरितमानस
७२. लोकप्रकाश
७३. विष्णुपुराण
७४. व्यवहार भाष्य
७५. षट्प्राभृत (चारित्र प्राभृत)
७६. समयसार
७७. समवायांग सूत्र
७८. सर्वार्थसिद्धि वृत्ति
७९. स्थानांग सूत्र
८०. स्याद्वाद मंजरी
८१. सुभाषित रत्न भाण्डागार
८२. सूत्रकृताग सूत्र (टीका)
८३. श्रमणसूत्र
८४. श्रीमद्भगवद्गीता
८५. श्रीमद्भागवत

